हिन्दी

नाट्यशास्त्र

सुधा रस्तोगी



कृष्णदास अकादमी · वाराणसी

कृष्णदास संस्कृत सीरीज-१०५

नाट्यशास्त्रम्

सटिप्पण 'नाट्यचन्द्रिका' हिन्दीव्याख्यासहितम्

सम्पादिका व्याख्याकर्त्री

डॉ० श्रीमती सुधा रस्तोगी

(प्रथम भागः)

कृष्णदास संस्कृत सीरीज
१०५

******

श्रीमद्भरतमुनिप्रणीतं सचित्रं

ना ट्य शा स्त्र म्

सटिप्पण 'नाट्यचन्द्रिका'-हिन्दी-व्याख्यासहितम्
परिशिष्ट-समीक्षात्मकबृहद्भूमिकादिभिर्विभूषितश्च
(गायकवाड-संस्करणानुसारि)

सम्पादिका व्याख्याकर्त्री च
सुधा रस्तोगी
एम० ए०, पी-एच्० डी० (लखनऊ)

प्रथमो भागः
(दशमाध्यायान्तः)



कृष्णदास अकादमी, वाराणसी-२२१००१
१९८९

प्रकाशक : कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि. सं. २०४६
मूल्य : रू० १००-००

पो० बा० नं० ११९८
चौक, (चित्रा सिनेमा बिल्डिङ्ग), वाराणसी-२२१००१
[भारत]

अपरं च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
के० ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
पो० बा० १००८, वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : ६३१४५

KRISHNADAS SANSKRIT SERIES

105

****

NĀṬYAŚĀSTRA

OF

BHARATA MUNI

(Based on Baroda recension)

Edited with 'Nātyacandrikā' Hindi translation, Introduction and various Indices

By

Sudha Rastogi

M. A., Ph. D. (*LUCKNOW*)

FIRST PART

(Chapters 1 to 10)



KRISHNADAS Academy

VARANASI–221001

1989

Oriental Publishers & Distributors

Post Box No. 1118

Chowk, (Chitra Cinema Building), Varanasi-221001

(INDIA)

First Edition

1989

Price : Rs. 100-00



Also can be had from

Chowkhamba Sanskrit Series Office

K. 37/99, Gopal Mandir Lane

Post Box No. 1008, Varanasi-221001 (India)

Phone : 63145

सचित्रं

ना ट्य शा स्त्र म्

आमुख

भारतीय नाटकों के परिप्रेक्ष्य में "नाट्यशास्त्र" तथा भरतमुनि ये दो ऐसे नाम हैं जो कदाचित् गीता तथा व्यास की भाँति जनमानस में अक्षुण्ण रूप से विराजमान हैं। परम्परागत प्रसिद्धि के अनुसार "नाट्यशास्त्र" की रचना भरत मुनि ने की थी। इतिहास में दशरथ-पुत्र भरत, दुष्यन्त पुत्र भरत, मान्धाता के परपोते भरत एवं जड़ भरत का उल्लेख मिलता है। किन्तु इनमें से किसी को भी "नाट्यशास्त्र" का रचयिता नहीं माना जा सकता। "ऋग्वेद" में भी कई स्थलों पर "भरत" शब्द का प्रयोग एक जाति के रूप में होता रहा है। किन्तु "नाट्यशास्त्र" के सन्दर्भ में भरत नाम किसी ऐतिहासिक व्यक्ति का ही सूचक प्रतीत होता है। सम्पूर्ण "नाट्यशास्त्र" भरत नामक एक व्यक्ति की ही कृति है—इस धारणा को निर्विरोध मान्यता नहीं मिली है। भरत की एकता और अनेकता को लेकर दो धारणाएँ स्पष्टतौर पर मिलती हैं। एकव्यक्तिवादी पक्ष की पुष्टि में सबसे प्रबल प्रमाण है कि अभिनवगुप्त, जो कि लोकविश्रुत "अभिनवभारती" नामक टीका के यशस्वी प्रेणता हैं, के काल तक यह भावना व्याप्त हो चुकी थी कि "नाट्यशास्त्र" भरत-प्रणीत है। तभी तो अभिनव को तत्कालीन एक वर्ग में प्रचलित इस धारणा का खण्डन करने की आवश्यकता हुई कि "नाट्यशास्त्र" का प्रथम प्रणयन सदाशिव, फिर ब्रह्मा और अन्त में भरत मुनि ने किया। उनके अनुसार, वस्तुतः सदाशिव, ब्रह्मा और भरत ने तीन स्वतन्त्र ग्रन्थों का निर्माण किया था। वर्तमान "नाट्यशास्त्र" तो मुख्यतः ब्रह्मा के मत को उपजीव्य मानकर अन्य मतों के निराकरणपूर्वक भरतपूर्व की सारी परम्परा का आकलन करता है—एतेन सदाशिवब्रह्मभरतमतत्रयविवेचनेन ब्रह्ममत-सारताप्रतिपादनाय मतत्रयीसारासारविवेचनं तद्ग्रन्थखण्डप्रक्षेपेण विहितमिदं शास्त्रम्। (नाट्यशास्त्र, प्रथम गायकवाड संस्करण, भाग १ पृष्ठ ८) भावप्रकाश के अनुसार "नाट्यशास्त्र" की द्वादशसाहस्रीं संहिता की रचना आदि भरत ने की थी—तथा भरतवृद्धेन कथितं गद्यमीदृशम्। (भावप्रकाश, पृ० ३६) इसी प्रकार काव्यमीमांसा में राजशेखर ने रूपकाधिकरण के कर्तृत्व का श्रेय भरत को दिया है। दूसरी ओर, भरत के अनेकत्व के पक्ष में 'नाट्यशास्त्र' के वे अंश सहायक सिद्ध होते हैं जहाँ भरत का प्रयोग अभिनेता, सूत्रधार, नट, विदूषक, आभरणकृत्, मालाकार आदि नाट्य-प्रयोक्ताओं के लिए हुआ है। वस्तुतः जिस बृहत् एवं सांगोपांग रूप में नाट्यशास्त्र आज प्राप्य है उससे वह एक व्यक्ति की कृति माने

जाने की संभावना में सन्देह सहज हो जाता है। इस प्रकार की प्रयोग-मूलक, वैज्ञानिक और विराट् फलक वाली कृति अनेक जीवनव्यापी साधनाओं से ही निष्पन्न हो सकती है। क्या यह सम्भावना नहीं हो सकती कि भरत नामक एक ऐतिहासिक व्यक्ति की मूल रचना "नाट्यशास्त्र" के अभिधान से प्रसिद्ध रही हो, तथा काल के सतत प्रवाह में नाट्यशास्त्रीय अनुशीलन करने वाले नाट्याचार्यों की अक्षुण्ण परम्परा को भी भरत संज्ञा अथवा भरत उपाधि प्राप्त होती रही हो (जैसा कि आज कल शंकराचार्य पीठ पर अभिषिक्त व्यक्ति की उपाधि शंकराचार्य हो जाती है) और उन्हीं भरतों की परम्परा ने मूल भरत कृत आदि "नाट्यशास्त्र" को वर्तमान परिवर्धित तथा सुसंस्कृत रूप प्रदान किया हो। फिर भी वस्तुस्थिति क्या थी, यह निश्चयपूर्वक कह सकना कठिन है। जहाँ तक अभिनव का प्रश्न है वह निश्चय ही उसे भरतमुनि प्रणीत मानते हैं।

"नाट्यशास्त्र" की परम्परा का अवलोकन करते हुए इस सन्दर्भ में यह संकेत करना परमावश्यक है कि भरतकृत "नाट्यशास्त्र" नामक ग्रन्थ ही इस दिशा में पहला प्रयास नहीं है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण है नाट्यशास्त्र की रचना शैली। जिस प्रकार पाणिनीय "अष्टाध्यायी" में पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का उल्लेख मिलता है उसी भाँति "नाट्यशास्त्र" के भी आनुवंश्य श्लोक एवं आर्याएँ आदि भी पूर्ववर्ती आचार्यों की ओर संकेत करती हैं। "नाट्यशास्त्र" में शब्द-लक्षण के प्रसंग में पूर्वाचार्य, गान्धर्व के प्रसंग में स्वास्ति, छन्द निरूपण के सन्दर्भ में गुह, ध्रुवाओं की परिचर्चा में नारद, अङ्गहार एवं करणों की व्याख्या के अवसर पर तण्डु तथा नन्दी एवं मानवीय गुणों के प्रसंग में बृहस्पति इत्यादि आचार्य भरत से पूर्व नाट्यशास्त्रकारों के रूप में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त पाणिनि ने शिलालिन् एवं एवं कृशाश्व प्रणीत नटसूत्रों का उल्लेख किया है जो आज अप्राप्य होने पर भी भरत मुनि से पूर्व नाट्यशास्त्रीय परम्परा की अक्षुण्णता के द्योतक हैं।

भरत मुनि के लगभग समकालीन या थोड़ा बहुत आगे पीछे भी अनेक नाट्यशास्त्रकार हुए हैं, जिनका प्रासंगिक नामोल्लेख अनुचित न होगा। इनमें प्रमुख हैं—कोहल, नान्दी या तण्डु, तुम्बुरु, काश्यप, दत्तिल, अश्मकुट्ट बादरायण एवं शातकर्णी। इन व्यक्तियों के नाम 'नाट्यशास्त्र' के अतिरिक्त अन्य नाट्य ग्रन्थों में भी उल्लिखित होने के कारण नाट्यशास्त्र के आचार्य के रूप में अप्रमाणित नहीं रहते। इसके अतिरिक्त वात्स्य, शाण्डिल एवं शेषतन्त्र के नाम भी नाट्यशास्त्र में मिलते हैं, किन्तु इनकी किसी कृति का उद्धरण या अतिरिक्त साक्ष्य न मिलने से इनकी प्रामाणिकता अतिरिक्त पुष्टि की अपेक्षा करती है।

इस प्रकार भारतीय नाट्यशास्त्र के सम्बन्ध में एकमात्र प्राप्य एवं नितान्त सम्पूर्ण ग्रन्थ भरतकृत "नाट्यशास्त्र" ही मिलता है। यों "अभिनवभारती" की अध्यायगत पुष्पिकाओं में इसका स्मरण "भारतीय नाटचशास्त्र" के रूप में ही किया गया है। प्रतिपाद्य विषयों की व्यापकता और तद्गत विवेचन की सांगोपांगता को देखते हुए यह ग्रन्थ इतना विलक्षण तथा अद्भुत है कि अध्येता के मन को बरबस इसके प्रणेता के प्रति श्रद्धावनत कर देता है। नाट्य के विषय में भरत का कथन है—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥

(ना० शा० १.११७-१८)

(ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग अथवा कर्म नहीं है जो इस नाट्य में प्रदर्शित न किया जाता हो)।

यह सम्पूर्ण उक्ति स्वयं 'नाट्यशास्त्र' के प्रति पूरी तरह सटीक बैठती है। संसार का कोई ऐसा विषय नहीं है जिसकी चर्चा 'नाटचशास्त्र' नामक विश्वकोष में न की गयी हो। प्रायः 'षट्साहस्री संहिता' के नाम से प्रसिद्ध इस ग्रन्थ में अधिकतर ३६ अध्याय एवं ६००० श्लोक मानने की परम्परा चली आ रही है।

इन श्लोकों को सामान्यतः ३६ अध्यायों में विभक्त किया गया है। ३६वें अध्याय में नाट्य के पृथ्वीतल पर अवतरण और राजा नहुष की प्रार्थना पर स्वर्गस्थ नाट्य के भूलोक में आविर्भाव की कथा दी गयी है। परन्तु अनेक संस्करणों में ३७ अध्याय भी मिलते हैं, वहाँ नाट्यावतार ३६ वें की और नहुष का आख्यान ३७ वें की विषत-वस्तु बनते हैं। अभिनवभारती के अध्यायगत मंगल एवं अन्त्य श्लोकों को सरसरी तौर पर ही देखने से पता चल जाता है कि इस विषयानुरूप अध्याय-विभाजन में अभिनवगुप्त काश्मीर शिवाद्वयवाद के छत्तीस (सैंतीसवां परमशिव) तत्त्वों की अनुस्यूति मानते प्रतीत होते हैं। विषयान्तर दोष के कारण इस बात को यहीं छोड़ना उचित होगा। यद्यपि प्रस्तुत प्रथम खण्ड का सम्बन्ध पहले दस अध्यायों से है अतः सारे अध्यायों की विषयवस्तु का आकलन आमुख के अनावश्यक विस्तार के भय से यहाँ करना सम्भवतः प्रयोजनीय न होगा। फिर भी इतना उल्लेख आवश्यक होगा कि नाट्य प्रयोग, नाट्य-व्यवहार, नाट्य-सामग्री और नाट्यानुभव की दृष्टि से सम्भवतः कोई भी विषय, चाहे वह बड़े से बड़ा हो या छोटे से छोटा, ऐसा नहीं होगा जिसे भरत की आर्ष मेधा का पूत संस्कार या स्पर्श न मिला हो।

आज के नाट्य प्रयोक्ता, जो पारम्परिक रूप से नाट्य प्रयोग न करके नए प्रयोगों एवं मौलिक विधाओं पर बल देना चाहते हैं, उनके लिये भरत के "नाट्यशास्त्र" के जो अध्याय विशेष रूप से दृष्टव्य हैं, वे इस प्रकार हैं—प्रेक्षागृह के निर्माण एवं व्यवस्था से सम्बन्धित दूसरा अध्याय, नाटक के लक्ष्य रसानुभूति और रस की व्याख्या करने वाला छठा अध्याय, भावाध्याय नामक सातवाँ अध्याय, स्वर के उतार चढ़ाव से अभिनय में प्रभाव डालने वाला उन्नीसवाँ अध्याय, रूपकों के भेद बताने वाला बीसवाँ अध्याय तथा व्यक्तियों को उनके अनुरूप भूमिका प्रदान करने वाला पैंतीसवाँ अध्याय। छत्तीस अध्यायों में आबद्ध नाट्यशास्त्र के प्रतिपाद्य विषय का वर्गीकरण करने पर जो मुख्य तत्त्व प्राप्त होते है उन्हें हम नीचे देखेंगे—

१. भरत की दृष्टि में नाट्य-परम्परा का आदि स्रोत वही है जो भारतीय संस्कृति का मूल उत्स है, अर्थात् वेद। उनके अनुसार चारों वेदों से एक एक अंग लेकर नाट्योत्पत्ति हुई है।[1] उस नाट्य को प्रस्तुन करने के लिए एक उपयुक्त एवं सुरुचिपूर्ण नाट्य मण्डप के निर्माण की विधि बतायी गयी है तथा वास्तविक नाट्य प्रयोग के पूर्व की जाने वाली क्रियाओं को पूर्वरंग कहा गया है।

२. नाट्य प्रयोग का प्रमुख उद्देश्य है उद्विग्न, श्रान्त या दुःखी मन को शान्ति पहुँचाना—

दुःखार्तानां श्रमार्ताना शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद्भविष्यति ॥
(ना०शा० १-११४)

यद्यपि इस स्थल पर विश्रान्ति पद का शाब्दिक अर्थ भरत प्रतिपादित "रस" नहीं है, किन्तु आगे भारतीय काव्यशास्त्र में रस के लिए संविद्विश्रान्तिमय स्वरूप का विकास हुआ उसका बीज इस श्लोक में विद्यमान है। इस दृष्टि से आज का नाटककार भी भरत की आत्मा से दूर नहीं है क्योंकि आज भी कला का सर्वोच्च लक्ष्य है सर्वोच्च आह्लादकता, मन एवं प्राण को मिलने वाली एक अनोखी स्फूर्ति तथा समस्त बाह्य उपकरणों को हटाकर आत्मा को प्राप्त होने वाली निर्वृति।

३. नाट्य के उद्देश्य तक पहुँचाने के लिये उसकी प्रयोग विधि के सम्यक् ज्ञान की आवश्यकता है। एतदर्थ एक ओर तो भरत ने चतुर्विध अभिनय का सांगोपांग विवेचन किया है तो दूसरी ओर प्रयोग के विषय नाट्य के रूपकादि दसों भेदों तथा उनके उपभेदों व अङ्गों आदि का पूर्ण विश्लेषण किया है। इसी के साथ

---

१. जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥ (ना०शा० १-१७)

नाटच से अभिन्न छन्द शास्त्र तथा संगीतशास्त्र की भी विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। इस प्रकार नाटच सिद्धान्तों का शास्त्रीय विश्लेषण करने के साथ-साथ नाटच को प्रस्तुत करने के क्रियात्मक पक्ष का भी नाट्यशास्त्र में अत्यन्त विस्तृत पर्यवेक्षण हुआ है। भरत की दृष्टि नाटच प्रयोक्ता की रही है। अतः परवर्ती काल में रस एवं रूपक के दसों भेदों को लेकर चाहे कितनी ही काव्यशास्त्रीय परम्परायें चली हों परन्तु भरत के "नाटचशास्त्र" में संसार के अनुकीर्तन रूप नाटच के सम्यक् प्रयोग द्वारा आनन्द को प्रस्फुटित करने पर ही बल दिया गया है—'त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाटचं भावानुकीर्तनम्।' (ना०शा० १-१०७)

४. नाटचशास्त्र में नाटच कला एवं तत्सम्बन्धी अन्य विधाओं का जैसा विस्तृत विवेचन मिलता है वैसा संसार की किसी अन्य भाषा में अप्राप्य है।[1] प्रतिपाद्य विषयों की सम्पूर्णता एवं विविधता, स्पष्टता एवं उपयोगिता की दृष्टि से यह ग्रन्थ अपने आप में अद्वितीय है।

इसकी सीमाओं का प्रसार चतुर्दिक् है। वास्तुकला की तरह नाटच मण्डप के स्वरूप; भाषाविज्ञान तथा शब्द शास्त्र की भांति स्वरों के स्थान तथा शब्द-प्रभेद; काव्यशास्त्र की तरह रस, गुण, अलंकार; छन्दःशास्त्र की तरह छन्द एवं वृत्त; ललित नृतत्त्वविज्ञान की तरह लोकधर्मी परम्परा और लोकानुजीवी भाषा, वेशभूषा तथा अलंकरण; संगीतशास्त्र की तरह गान एवं वाद्य; नृत्य शास्त्र की तरह नृत्त एवं नृत्य; सौन्दर्यशास्त्र की तरह नाटचानुभूति; समाजशास्त्री की तरह मानवीय प्रकृति, पुराशास्त्र की तरह से सांस्कृतिक परम्पराओं; ठोस भूतशास्त्र की तरह वे रासायनिक विधियों; साथ ही नाटच के उपांगों और उपादेय अवान्तर अनुषंगों और आनुषंगिकों का इतना गहरा, सूक्ष्म, व्यापक और अद्यावधि प्रासंगिक विवेचन हुआ है कि उसका समकालीन उपमान ढूढना असंभव है।

५. नाटचशास्त्र के सन्दर्भ में यह बात विशेष रूप से याद रखने वाली है कि भरत की दृष्टि प्रयोग परक है। वस्तुतः नाटचशास्त्र उन पाँच प्रश्नों का उत्तर है जो ऋषियों ने भरत से किये थे। वे प्रश्न हैं—१–नाटचशास्त्र की रचना क्यों एवं किसके लिए की गयी, २–इसके कितने विभाग हैं, ३–इसके कितने अङ्ग हैं, ४–इन अङ्गों को जानने के प्रमाण क्या हैं, ५–नाटक के उपदिष्ट अङ्गों का

1. This work is probably unique in the world's literature on dramaturgy. Hardly any work on dramaturgy in any language has the comprehensiveness, the sweep and literary artistic flair of Natya Shastra.
—P. V. Kane, History of Sanskrit Poetics, pp. 39-40.

प्रदर्शन करते हुए नाट्य का प्रयोग किस भाँति करना चाहिये—"स कथमुत्पन्नः केन प्रयोजनप्रकारेणोत्पन्नः, तत्प्रयोजनस्य वेदेभ्य एव सिद्धेः।.........कस्याधिकारिणः कृते,.........कत्यंगः.........किम्प्रमाणश्चेति.........अस्येति नाट्यस्य कीदृक् प्रयोगः (अभिनवभारती, ना० शा०, भा० १, पृ० ६-७)। इन प्रश्नों का उत्तर जिन नियमों का प्रणयन करते हैं उनका मूल प्रयोजन है प्रयोक्ता का मार्गदर्शन करना। दूसरे शब्दों में नाट्य वस्तु का कैसे मंचावतरण किया जाये इस दिशा में प्रयोगकर्ता का उपकार करना—"तावन्नानेन किंचिदुपदिश्यते तं प्रत्युपकाराद्‌ऋते"। (वही, पृ० ४)।

इन नियमों में भरत बड़े आधुनिक हैं। आधुनिकता का अर्थ है गतिशीलता—देश और काल के आग्रह, धर्म और सीमाओं के साथ सामंजस्य कर सकना। अतः भरत ने अपने नियमों को कहीं भी अन्तिम मानने पर जोर नहीं दिया है—वह केवल दिशा संधान करते हैं। भरत के नियम अन्तिम न होने पर भी इतने व्यापक हैं कि परवर्ती सारे नाट्यशास्त्र के बहु आयामी विकास और विस्तार का बीज भरत में खोजा जा सकता है।

भरत के सम्बन्ध में जो अन्य बात याद रखने की है वह है नाट्यकला के प्रति उनका समर्पित व्यक्तित्व। उनके लिये नाट्यकला मात्र एक ललित कला ही नहीं है अपितु वह एक अखण्ड, सम्पूर्ण कला है जिसका उपजीव्य सम्पूर्ण और अखण्ड, जीवन। इसीलिये सारी ललित कलायें—काव्य, संगीत और वास्तु-विद्यायें और उप-विद्यायें नाट्य कला में अन्तर्भूत हो जाते हैं। सच पूछा जाये तो भरत के लिये नाट्यकला एक जीवनानुगुण्यमयी कला है जो केवल हमें मनस्तोष ही नहीं प्रदान करती अपितु हमारी चेतना का संस्कार भी करती है।

ऊपर की पंक्तियों से इतना तो स्पष्ट है कि भरत के नाट्यशास्त्र को भारत की सांस्कृतिक कलात्मक सर्जनात्मकता का विश्वकोश कहने में कोई अत्युक्ति न होगी। प्रस्तुत ग्रन्थ के स्थापन में यही बात लेखिका के लिए मूल प्रेरणा का काम करती रही है। इस ग्रन्थ का आरम्भ आज से लगभग १४ वर्ष पूर्व स्नातकोत्तर (पोस्ट डॉक्टोरल) अध्ययन के प्रसंग से हुआ था। विषय था "भरत के नाट्यशास्त्र का सानुवाद आलोचनात्मक अध्ययन"। उसी की प्रथम परिणति के रूप में यह ग्रन्थ आकार ग्रहण कर सका है।

नाट्यशास्त्र के विद्यार्थी इस तथ्य से परिचित हैं कि भरत का नाट्यशास्त्र केवल कलेवर में ही भारी भरकम नहीं है वह एक अत्यन्त दुरूह ग्रन्थ भी है। यही सम्भवतः कारण है कि न तो उसका कोई मानक संस्करण ही अब तक निकल पाया है और न ही किसी भी भारतीय भाषा में पूरा अनुवाद।

प्रो० मनमोहन घोष का अंग्रेजी अनुवाद दो खण्डों में अनेक वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ। बड़े श्रम से किए जाने पर भी उसके पुनरीक्षण और परिसंस्करण की आवश्यकता उस समय अनुभव की गयी थी। इस बीच में हिन्दी में अनेक अच्छे अनुवाद सामने आए हैं पर वे सभी आंशिक है। प्रस्तुत प्रयास एक तो पूर्ण नाटचशास्त्र का अनुवाद सामने रखने की चेष्टा करता है, जिसके पहले खण्ड में १० अध्याय पहली कड़ी के रूप में प्रकाशित हो रहे हैं। दूसरे, अब तक की उपलब्ध सामग्री, जिसमें अभिनवगुप्त की लोकविश्रुत अभिनव भारती भी शामिल है, के आलोक में अनुवाद की प्रकृति को विशुद्ध विश्लेषणात्मक रखने की चेष्टा की गयी है। अनुवाद भर में फैली प्रभूत टिप्पणियाँ इस बात को प्रमाणित करेंगी। मुख्य प्रयत्न इस बात का रहा है कि दोनों ही—सामान्य तथा शोधार्थी-पाठक इसे उपयोगी पाएँ।

पूरे अनुवाद को तीन खण्डों में विभाजित किया गया है। पहले खण्ड में १० अध्याय हैं। मुख्यतः प्रथम अध्याय में नाटच की दिव्य उत्पत्ति तथा प्रथम नाट्या॰भिनय का वर्णन है। द्वितीय अध्याय में नाटच को जहाँ प्रस्तुत किया जाता है उस प्रेक्षागृह का बड़ा ही सम्यक् निरूपण हुआ है। चौकोर (चतुरस्र), आयत (विप्रकृष्ट) एव तिकोने (त्र्यस्र) प्रेक्षागृहों के अनेक अङ्गों का वर्णन, प्रकाश एवं ध्वनि की समायोजना, प्रेक्षकों के बैठने की व्यवस्था तथा प्रेक्षागृह की सजावट आदि तथ्यों की विशद विवेचना इस अध्याय में की गयी है। इस प्रसंग में भरत द्वारा उठायी गयी समस्यायें और उनके विवेचन बड़े आधुनिक हैं और रंगमंच के प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से उनका महत्त्व असंदिग्ध है। तृतीय अध्याय में रंगदैवत पूजन का विवरण है। रंगस्थापना के पश्चात् नाटच प्रयोग के पहले पूर्वरंग के अन्तर्गत विविध देवताओं की पूजा का इसमें उल्लेख है। आज की दृष्टि से आपाततः इन अर्चनाओं का अधिक महत्त्व नहीं है। परन्तु प्रबुद्ध नाटच-प्रयोक्ता इसमें वातावरण की सर्जना के अतिरिक्त न केवल नई सांस्कृतिक चेतना का अनुसंधान करते हैं प्रत्युत नए प्रयोगों की अनेक सम्भावनाओं के द्वार भी उन्मुक्त पाते हैं। चतुर्थ अध्याय में नाटच के अत्यन्त उपकारक विषय नृत्य के अन्तर्गत करणों, अंगहारों, ताण्डव इत्यादि की विवेचना की गयी है। पाँचवें अध्याय में नाटच प्रयोग के समारम्भ से पहले किये जाने वाले पूर्वरंग, नान्दी, प्रस्तावनादि का विधान किया गया है। नाटचशास्त्र का छठा अध्याय ही वह प्रसिद्ध अध्याय है जिसमें रस-निरूपण के माध्यम से नाटचानुभव की प्रकृति और प्रक्रिया का विचार किया गया है। उत्तरकालीन रस मीमांसा का प्रधान उपजीव्य भरत का लोक-समादृत रससूत्र "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" इसी अध्याय में है। काव्यशास्त्र के इतिहास में इस सूत्र की विविध व्याख्याओं के

आधार पर विभिन्न सिद्धान्तों की स्थापना और विविध प्रस्थानों का संधान किया गया है। परवर्ती सम्पूर्ण रस-चेतना के वैज्ञानिक विश्लेषण के निमित्त सारा भारतीय साहित्य नाट्य-शास्त्र के इस अध्याय का ऋणी है। इस अध्याय की समसामयिक प्रासंगिकता भी निर्विवाद है। सातवें अध्याय में रस प्रकरण के ही अन्तर्गत भाव, विभाव, स्थायी भाव आदि का विवेचन किया गया है। इसे भावाध्याय कहा जाता है। आठवें अध्याय से अभिनय का वर्णन प्रारम्भ हो जाता है। आंगिक, वाचिक, आहार्य एवं तात्त्विक–ये चार अभिनय के भेद बताये गये हैं जिसमें से आंगिक अभिनय के अन्तर्गत उपांगाभिनय का अध्ययन किया गया है। दृष्टि को अभिनय की आत्मा बताते हुये लगभग ३७ प्रकार की दृष्टियों के अभिनय का सूक्ष्म चित्रण किया गया है। नवें अध्याय में हस्ताभिनय का निरूपण करते हुये असंयुक्त व संयुक्त हस्तों के भेदों का कलात्मक वर्णन करते हुए हस्त मुद्राओं की उपयोगिता की विवेचना की गई है। तदुपरान्त वक्ष, कटि आदि के अभिनय का प्रतिपादन किया गया है। दसवें अध्याय में चारी का विधान किया गया है। केवल एक अङ्ग के उत्तम अभिनय से अभिव्यक्ति की उत्कृष्टता असम्भव है। इसके लिए भरत हाथ, पैर, कमर, वक्ष आदि सभी से किए जाने वाले अभिनय के समानीकरण या चारी का उल्लेख करते हैं 'तयोः समानकरणात् पादचारीं प्रयोजयेत्' (ना० शा० ९.२८२)।

चारी के निरूपण के साथ अभिनय का वर्णन एक प्रकार से पूर्ण हो जाता है। "एक प्रकार से" इसीलिए कह रही हूँ क्योंकि अभिनय के अन्य आयामों का वर्णन आगे हुआ है। अतः आकार और विषय दोनों दृष्टियों से पहले खण्ड को दसवें तक सीमित रखने का निर्णय पूर्णतः अयौक्तिक नहीं लगना चाहिए।

संदर्भ-निष्ठा और अध्ययन-सौकर्य की दृष्टि से यहाँ पर यह उल्लेख आवश्यक होगा कि प्रस्तुत अनुवाद में प्रथम सात अध्यायों में गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज आफ् बड़ौदा से १९२६ में प्रकाशित नाट्यशास्त्र के प्रथम भाग के प्रथम संस्करण और अन्तिम तीन अध्यायों में १९३४ में प्रकाशित द्वितीय भाग के प्रथम संस्करण, जिसका संपादन मनवल्ली रामकृष्ण कवि ने बड़ी योग्यतापूर्वक किया था, का उपयोग आधारग्रन्थ के रूप में किया गया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि उसके सारे पाठ यथावत् स्वीकार कर लिए गए हैं। जहाँ आवश्यक हुआ है वहाँ स्वीकृत पाठ की अन्वर्थता पर भरपूर विचार किया गया है। दो तीन स्थानों पर मूल संस्करण के घोषित प्रक्षिप्तांशों या भ्रमवशात् पुनर्मुद्रित श्लोकों को दृष्टि में रखकर आवश्यक संशोधन की स्वतंत्रता भी ली गयी है। आशा है पाठकों को यह सुविधाजनक प्रतीत होगा। विज्ञ पाठक जन देखेंगे कि भरत की क्रमागत प्रायः सभी

महत्त्वपूर्ण धारणाओं का आलोचनात्मक अध्ययन करने का लेखिका का सतत प्रयास रहा है। फिर भी पाठ से अधिक आग्रह धारणा–या प्रत्यय-बोध पर रहा है। साथ ही यह भी दृष्टि रही है कि अनुवाद सर्वजनगम्य हो। इस उद्देश्य की प्राप्ति की दिशा में लेखिका की एक चेष्टा यह रही है कि मूल ग्रन्थ में न होने पर भी संबन्ध अंश के प्रारम्भ में विषय के परिचायक शीर्षक/उपशीर्षक दे दिए जाएँ। प्रारम्भ की अध्यायगत विषयानुक्रमणिका इसी प्रयत्न का परिचायक है। इसी दृष्टि से परिशिष्ट में अनेकों सूचियाँ देने का उपक्रम हुआ है जिन्हें सुधी पाठक अध्ययन प्रसंग में उपयोगी पाएँगे। इनमें करणों, अङ्गहारों, रस-भेद, तद्गत वर्ण, देवता तथा भाव, उपांगकर्णों, हस्तकर्णों, चारियों, स्थानकों एवं न्यायों आदि की सूचियाँ प्रमुख हैं। संदर्भ-ग्रन्थ सूची भी, आशा है, विद्वानों को नितान्त निरुपयोगी नहीं लगेगी।

प्रस्तुत प्रयास की कथा अपने छात्र जीवन के सहपाठी भाई कामेश्वर (डॉ० कामेश्वर नाथ मिश्र, प्रोफेसर, संस्कृत तथा पालि विभाग, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ) के उल्लेख के बिना अधूरी रह जाएगी। यह उनका ही आग्रह था कि आज यह पुस्तक प्रकाश में आ रही है। सच बात तो यह है कि मुद्रण के पीछे उनके प्रयत्न ही निमित्त रहे हैं। ऐसे कल्याण-बन्धु को धन्यवाद देकर उनकी गरिमा को लेखिका कम नहीं करना चाहती। अन्त में कृष्णदास अकादमी के निदेशकों का कृतज्ञतापूर्वक उल्लेख आवश्यक है। उन्होंने प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर दिया था कि विलम्ब भले ही हो जाए पर वह प्रकाशन को स्तरीय ही रखेंगे। मुझे विश्वास है कि पाठकजन इस आश्वासन को सच पायेंगे।

लेखिका को अपनी सीमाओं और अपने इस प्रयास की कमियों का एहसास है। विद्वानों से अनुरोध है कि इस प्रयास को अभिनव-भारतीकार के शब्दों में नाट्यशास्त्र के अर्थावबोध की "ऊर्ध्वोर्ध्वारोहणमयी" प्रक्रिया में केवल एक सोपान, वह भी नीचे का, के रूप में लें। यदि यह भी हो सका तो लेखिका अपने अकिंचन प्रयत्न को कृतार्थ मानेगी।

लखनऊ —सुधा रस्तोगी

आश्विन शुक्ल नवमी, सं० २०४३

त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ।

—ना० शा० १.१०७

विषयानुक्रम

प्रथम अध्याय—

आठवाँ अध्याय—

परिशिष्ट-खण्ड—

—०—

न तथा गन्धमाल्येन देवास्तुष्यन्ति पूजिताः ।
यथा नाट्यप्रयोगज्ञैस्तुष्यन्ति स्तुतिमङ्गलैः ॥

—ना० शा० ३७.२९

एतच्छास्त्रं प्रयुक्तं तु नराणां बुद्धिवर्धनम् ।
त्रैलोक्यक्रिययोपेतं सर्वशास्त्रनिदर्शनम् ॥
माङ्गल्यं ललितश्चैव ब्रह्मणो वदनोद्भवम् ।
सुपुण्यश्च पवित्रश्च शुभं पापविनाशनम् ॥

—ना० शा० ३७.२५-२६

॥ श्रीः ॥

नाट्यशास्त्रम्

सटिप्पण-हिन्दीव्याख्योपेतम्

प्रथमोऽध्यायः

मङ्गलाचरणम्

प्रणम्य[1] शिरसा देवौ पितामहमहेश्वरौ ।
नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि ब्रह्मणा यदुदाहृतम् ॥ १ ॥

पितामह[2] (ब्रह्मा) एवं महेश्वर[3] को सिर झुकाकर प्रणाम करके[4] मैं उस नाट्य-

---

१. ग्रन्थ की निर्विघ्न-समाप्ति के लिए विधीयमान मंगलाचरण-त्रय (नमस्कारात्मक, वस्तुनिर्देशात्मक एवं आशीर्वादात्मक) में से प्रथम का प्रयोग नाट्यशास्त्र के आदि-श्लोक के रूप में हुआ है।

२. पितामह शब्द का अभिधेयार्थ तो पिता का पिता है किन्तु यहाँ यह ब्रह्मा के लिये प्रयुक्त हुआ है। अंगिरा, भृगु, दक्ष एवं मरीचि आदि पितृगण माने गये हैं। ब्रह्मा उनके भी जनक होने के कारण—मानव जाति के पितामह माने गये हैं।

३. महेश्वर शब्द का तात्पर्य यहाँ किसी आश्रयदाता राजा से न होकर भगवान् शिव से है।

नाट्यशास्त्र के मंगलाचरण के रूप में इन दोनों देवों की स्तुति नितान्त तर्कसङ्गत है क्योंकि नाट्यशास्त्र का वह उद्धरण उल्लेखनीय है जिसके अनुसार इन्द्रादि देवताओं के अनुरोध पर ब्रह्मा ने ही ऋग्वेद से कथावस्तु, साम से संगीत, यजुष् से अभिनय एवं अथर्व से रस लेकर नाट्यशास्त्र की रचना की थी। शिव से नाट्य-

शास्त्र[1] का वर्णन करूँगा[2] जिसे ब्रह्मा ने बतलाया था ॥ १ ॥

शास्त्र के सम्बन्ध का उद्घोष पाणिनीय शिक्षा में हुआ है, जिसमें नृत्त के अवसान पर नटराज द्वारा आनन्दप्राप्ति-बोधक ढक्का-निनाद का उल्लेख हुआ है। यद्यपि विष्णु नाट्य में उपादेय वृत्तियों के निर्माता हैं तथापि वह ब्रह्मा एवं शिव के समान नाट्य के लिए उपजीव्य नहीं हैं क्योंकि वे स्वकर्तव्यमात्रनिष्ठ हैं।

४. नमस्कार के त्रिविध रूप हैं—कायिक, वाचिक एवं मानसिक। शिरसा पद से कायिक एवं देवौ पद से वाचिक तथा मानसिक प्रणाम ध्वनित होते हैं। इसके अतिरिक्त, नाट्यशास्त्र के विधान के अनुसार अभिनय चतुर्विध होता है। उसमें से आंगिक अभिनय का बोध शिरसा शब्द से और वाचिक अभिनय का बोध देवौ शब्द से होता है। इन दोनों सार्थकताओं के अतिरिक्त देवौ पद की उपयोगिता पितामह-महेश्वरौ के उपपद के रूप में भी है, क्योंकि वन्दनीय देव का नाम-स्मरण सोपपद होना उचित ही है। "पितामह-महेश्वरौ" पद में शब्द का विशेष-क्रम छेकानुप्रास का विधान करता है।

१. नाट्शास्त्र शब्द की अनेक व्युत्पत्तियों का अभिनवगुप्त ने उल्लेख किया है—'नाट्यस्य, नटवृत्तस्य शास्त्रं शासनोपायः ग्रन्थः।' (अभि० भा० पृ० ३)

इसके अतिरिक्त नाट्यवेद एवं नाट्यशास्त्र को पर्याय मानने वाला एक अन्य मत भी है, किन्तु यह व्याख्या तर्कसंगत नहीं है क्योंकि इस प्रकार 'नाट्यशास्त्र' नामक ग्रन्थ का यहाँ पर 'करण' होना सिद्ध होता है—'प्रवचन' नहीं। व्याख्यान और करण में परस्पर भेद है जैसा कि 'कठेन प्रोक्तम्' इस उदाहरण से स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त यदि नाट्यवेद और नाट्यशास्त्र को अपर पर्याय मान लिया जाय तो दोनों के प्रवृत्तिनिमित्त की भी एकरूपता होना अपेक्षित है, जो कि नहीं है। 'नाट्यशास्त्र' में कहा गया है—'दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत्' (१-११) तथा 'जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्' [१-१७]। इनसे नाट्यवेद का पार्थक्य सिद्ध होता है। इस प्रकार ग्रन्थ की असंगति और उत्तर ग्रन्थ की उपपत्ति हीने के कारण उक्त व्याख्या अमान्य प्रतीत होती है। ['नाट्यशास्त्र' की व्युत्पत्ति 'नाट्यं च तच्छास्त्रं च।' करना ही समीचीन है]। नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति से सम्बन्धित प्रश्न नाट्यवेद के विषय हैं नाट्यवेदशास्त्र के नहीं।

भट्टनायक के अनुसार परमात्मा ने जिसको निस्सार भेद के ग्रहण के लिए उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया, वह नाट्य है ["ब्रह्मणा परमात्मना यदुदाहृतमविद्या-विरचितं निस्सारभेदग्रहे यदुदाहरणीकृतं तन्नाट्यं तद्वक्ष्यामि।"—[अभि० भा०, पृ० ५]।

२. प्रवक्ष्यामि में 'लट्' का प्रयोग वर्तमान के अर्थ में हुआ है, जो इस तथ्य

नाट्यवेद की उत्पत्ति के विषय में मुनियों का भरत से प्रश्न—

समाप्तजप्यं व्रतिनं स्वसुतैः परिवारितम् ।
अनध्याये कदाचित्तु भरतं नाट्यकोविदम् ॥ २ ॥

किसी समय नाट्याचार्य भरतमुनि अनध्याय के दिन व्रत धारण किए हुए थे तथा जप कार्य समाप्त करके अपने पुत्रों (शिष्यों) के साथ बैठे हुए थे ॥ २ ॥

मुनयः पर्युपास्यैनमात्रेयप्रमुखाः पुरा ।
पप्रच्छुस्ते महात्मानो नियतेन्द्रियबुद्धयः ॥ ३ ॥

उस समय इन्द्रियों तथा बुद्धि को संयमित कर लेने वाले महात्मा आत्रेय आदि मुनिगण उन (भरत) के पास आए एवं पूछने लगे ॥ ३ ॥

योऽयं भगवता सम्यग्ग्रथितो वेदसम्मितः ।
नाट्यवेदः कथं ब्रह्मन्नुत्पन्नः कस्य वा कृते ॥ ४ ॥

हे ब्रह्मन् ! वेदों के तुल्य तो यह आपके द्वारा निबन्धित नाट्यवेद है—वह कैसे[1] एवं किसके लिए[2] उत्पन्न हुआ ? ॥ ४ ॥

कत्यङ्गः किंप्रमाणश्च प्रयोगश्चास्य कीदृशः ।
सर्वमेतद्यथातत्त्वं भगवन्वक्तुमर्हसि ॥ ५ ॥

इसके कितने भेद हैं[3], इसका आकार क्या है[4] तथा लोक में इसका प्रयोग किस

का परिचायक है कि ब्रह्मा के द्वारा उच्चरित नाट्यवेद को ही मुनि ने यथावत्रूप से निरूपित किया है। नाट्यवेद ब्रह्मणोदाहृत है एवं तद्विषयक शास्त्र नाट्यशास्त्र, उसी का परिपाटीबद्ध निरूपण करता है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र का भी परम्परया ब्रह्मणोदाहृत होना सिद्ध हो जाता है ।

१. कथमुत्पन्नः—नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति किस प्रयोजन से एवं किस प्रकार हुई ? क्या यह प्रयोजन वेद चतुष्टय से ही नहीं सिद्ध हो सकता था ? यदि यह वेद के ही समान पद-पदार्थ से युक्त है तो इसके उत्पत्ति से क्या लाभ है ?

२. कस्य कृते—इसका प्रादुर्भाव किसके निमित्त हुआ है ? अर्थात् इस शास्त्र के पठन-पाठन तथा प्रयोग के कौन अधिकारी हैं ? जो व्यक्ति वेदाध्ययन के अधिकारी हैं, वे ही या इतर जन भी ? यदि वेदाधिकारी ही इसे प्रयोग में ला सकते हैं तो इसका निबन्धन निष्प्रयोजन है ।

३. कत्यङ्गः—नाट्य की अंगीरूप में भी कुछ स्थिति है अथवा अङ्ग समुदाय मात्र को नाट्य कहते हैं यह जिज्ञासा इस प्रश्न से जागृत होती है ।

४. किं प्रमाणम्—यों तो नाट्य का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होना सिद्ध ही

भाँति अपेक्षित हैं[1] — इन सब तथ्यों को आप भली प्रकार; बताने की

है; जैसी उक्ति है—'दृश्यं श्रव्यं च यत् ।'

तथापि यह जिज्ञासा होती है कि नाट्य का कौन-सा अंग किस प्रमाण से ज्ञात होता है, तथा किस प्रमाण से यहाँ अङ्गाङ्गिभाव का नियम ज्ञेय है ?

अथवा इस प्रश्न का यह अर्थ भी हो सकता है कि नाट्य के अन्तर्भूत रूपक इत्यादि एवं पाठ्य, अभिनय, रस और गीत आदि का क्या प्रमाण है तथा उनकी संख्या कितनी है ?

५. **अस्य कीदृशः प्रयोगः**—इसके प्रयोग की सम्भावना कहाँ तक है ? इसके अंगों का प्रयोग तो युगपत् किया जाता है, जो भिन्न-भिन्न इन्द्रिय ग्राह्य होते हैं। इन सबकी युगपत् संवेदना न हो सकने के कारण नाट्य की एकता का बोध कैसे होगा ? क्रम-प्रयोग में भी एकता किस प्रकार रहेगी ?

इन पाँच प्रश्नों के उत्तर के अनुरूप नाट्यशास्त्र ग्रंथ की विशालता एवं विविधता का अनुमान किया जा सकता है।

यहाँ अभिनवगुप्त ने प्रश्न उठाया है कि 'नाट्यशास्त्र' का व्याख्यान क्या नाट्य के कर्ता कवि, प्रयोक्ता, अभिनेता और द्रष्टा आदि सब सामाजिक के लिए हुआ है ? इसका उत्तर यह है कि यह ग्रंथ कवि एवं प्रयोक्ता के लिये उपदेश-परक है सामाजिक परक नहीं। अयोग्य होने के कारण सामाजिक का बोध इससे नहीं होता है। किन्तु यदि प्रेक्षक भी शिक्षाभ्यास कुशल है तो उसे भी तज्ज्ञानसम्भव आनन्दानुभूति होगी।

१. पञ्चम श्लोक में यथातत्त्व शब्द की ध्वनि है कि प्रश्नकर्त्ता का आग्रह अपने प्रश्नों के क्रम और उनकी इयत्ता के प्रति न होकर शंकाओं के सम्यक् समाधान के प्रति है—अर्थात् जो प्रश्न न पूछे गए हों, पर जिनका ज्ञान आवश्यक हो अथवा पूछे गये प्रश्नों में कोई व्यतिक्रम हो तो उनका संशोधन करके मुनि नाट्य-शास्त्रविषयक सम्पूर्ण ज्ञान का प्रवचन करें।

नाट्यशास्त्र में इन प्रश्नों के उत्तर किस भाँति हैं इस विषय में दो मत हैं। कुछ लोग तो यह मानते हैं कि प्रथम अध्याय में ही उपर्युक्त पञ्चप्रश्न का समाधान कर दिया गया है एवं शेष पैंतीस अध्याय उसके लक्षण एवं लक्षणपरीक्षणपरक हैं। अन्य विद्वानों के मत में पूर्वरङ्गविधान पर्यन्त प्रथम पाँच अध्यायों में प्रथम तथा द्वितीय प्रश्नों का और सामान्याभिनय व चित्राभिनयान्त शेष अध्यायों में तृतीय, चतुर्थ और पंचम प्रश्नों के उत्तर दिये गए हैं। आचार्य अभिनवगुप्त का इस विषय में कथन

कृपा करें[1] ॥ ५ ॥

भरत मुनि द्वारा मुनियों के प्रश्नों का उत्तर—

तेषां तु वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतो मुनिः ।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं नाट्यवेदकथां प्रति ॥ ६ ॥

मुनियों के इस कथन को सुनकर भरतमुनि ने नाट्यवेद के विषय में प्रवचन दिया[2] ॥ ६ ॥

है कि प्रश्नों के उत्तर में कोई क्रम नहीं है। पूरी "षट्साहस्री" [नाट्यशास्त्र] महावाक्य की भाँति प्रयुक्त हुई है जिसमें पाँच प्रश्न का सर्वत्र निरूपण किया गया है, [नात्र क्रमः कश्चित् । अपि तु यथावसरं महावाक्यात्मना षट्सहस्रीरूपेण प्रधानतया प्रश्नपञ्चकनिरूपणपरेण शास्त्रेण तत्त्वं निर्णीयते । —अभि० भा०, ना० शा० पृ० ९] ।

१. उपर्युक्त पाँच श्लोक इस तथ्य के बोधक हैं कि भरत के काल में नाट्य एक पूर्ण शास्त्र के रूप में मान्य था तथा नियमतः इसका पठनपाठन किया जाता था। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इन पञ्च जिज्ञासाओं का उत्तर नाट्यशास्त्र में इसी क्रम में न होकर तत्तद्विषय के प्रतिपादन की आकांक्षावश हुआ है ।

२. यहाँ शंका उठती है कि भरत मुनि का कथन अब प्रारम्भ होता है तो अभी तक ग्रंथ का कर्ता कौन था ? इस पर कुछ व्याख्याकारों का मत है कि भरतमुनि ने अपने को ही अन्य जन मानकर प्रथम श्लोक व षष्ठ में अपने लिए प्रथम पुरुष का प्रयोग किया है। अन्य विचारकों का सुझाव है कि इतने श्लोक भरत के किसी शिष्य की कृति है। भरत द्वारा अपने लिए 'ब्रह्मन्' एवं "भवद्भिः-शुचिभिः" आदि का प्रयोग भी कुछ लोगों को तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है और वे कहते हैं कि पूरे छत्तीस अध्यायों में जहाँ भी प्रश्न, प्रतिवचन तथा योजनवचन हैं, वे सब शिष्य वचन हैं ।

इन 'विसम्वादों' को 'असत्' कहकर अभिनवगुप्त ने इनका समाधान इस प्रकार किया है कि एक ग्रन्थ के अनेक वक्तृ-वचन-सन्दर्भमय होने में कोई प्रमाण नहीं है। एक व्यक्ति द्वारा रचित स्मृति, व्याकरण, तर्क आदि शास्त्रों में भी पूर्व एवं उत्तर पक्ष के रूप में द्वैविध्य दृष्टव्य है। इसी भाँति नाट्यशास्त्र का व्याख्यान भी एक ही व्यक्ति, भरतमुनि ने स्व पर व्यवहार से किया है और यह प्राचीन, परिपाटी सम्मत एवं युक्तिसंगत है। इससे नास्तिक उपाध्यायों के इस कथन की व्यर्थता सिद्ध हो जाती है कि 'नाट्यशास्त्र' का निर्माण किसी अन्य व्यक्ति ने सदाशिवब्रह्मा

भवद्भिः शुचिभिर्भूत्वा तथाऽवहितमानसैः ।
श्रूयतां नाट्यवेदस्य सम्भवो ब्रह्मनिर्मितः ॥ ७ ॥

आप लोग पवित्र होकर एवं मनोयोगपूर्वक ब्रह्मा द्वारा निर्मित[1] नाट्यवेद की उत्पत्ति का वृत्तान्त सुनें ॥ ७ ॥

नाट्यवेद की उत्पत्ति का वर्णन—

पूर्वं कृतयुगे विप्रा वृत्ते स्वायम्भुवेऽन्तरे ।
त्रेतायुगेऽथ सम्प्राप्ते मनोर्वैवस्वतस्य तु ॥ ८ ॥

ग्राम्यधर्मप्रवृत्ते तु कामलोभवशं गते ।
ईर्ष्याक्रोधादिसंमूढे लोके सुखितदुःखिते ॥ ९ ॥

देवदानवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगैः ।
जाम्बूद्वीपे समाक्रान्ते लोकपालप्रतिष्ठिते ॥ १० ॥

महेन्द्रप्रमुखैर्देवैरुक्तः किल पितामहः ।
क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत् ॥ ११ ॥

न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु ।
तस्मात्सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम् ॥ १२ ॥

हे मुनियो ! पूर्वकल्पों में स्वायम्भुव मन्वन्तर[2] में एवं इस वैवस्वत

व भरत के मतों का सारासारविवेचन करके ब्रह्ममत का गौरव प्रतिपादित करने के लिए किया है—

'एतेन सदाशिवब्रह्मभरतमतत्रयविवेचन ब्रह्ममतसारताप्रतिपादनाय मतत्रयीसारासारविवेचनं तद्ग्रन्थप्रक्षेपेन विहितमिदं शास्त्रम्' । —(अभि० भा०, पृ० ९) ।

१. घटादि की उत्पत्ति कुलादि से अभिगम्य होने के कारण व्यवहारसिद्ध है । इस कारण "घटः क्रियते" यह प्रयोग युक्तियुक्त है । किन्तु नाट्य की उत्पत्ति की प्रक्रिया घटोत्पत्ति की भाँति नहीं । उसकी उत्पत्ति तो ब्रह्म द्वारा होती है । यही कारण है कि 'सम्भवो ब्रह्मनिर्मितः' कहा गया है । यहाँ कुछ विचारक वेद की भाँति नाट्य को भी 'अनादि' कहने की इच्छा से 'सम्भव' शब्द का स्मरण, अभिव्यंजन आदि अर्थ मानते हैं ।

२. मन्वन्तर—भारतीय ज्योतिष में युगों का जो कालमान निर्धारित किया गया है; तदनुसार ब्रह्मा का एक दिन एक कल्प के तुल्य होता है । एवं कल्प में १४ मन्वन्तर हैं । प्रत्येक का सम्बन्ध एक मनु से होता है । १४ मनुओं के नाम

मन्वन्तर में भी सतयुग बीत जाने पर जब त्रेतायुग आया, तो काम एवं लोभ के वशीभूत होकर जनसमुदाय गँवारों की भाँति[1] आचरण करने लगा ; लोगों की मति ईर्ष्या एवं क्रोध के कारण भ्रष्ट हो गयी (फलतः) उनके ऐकान्तिक सुख पर दुःख का प्रभाव होने लगा। लोकपालों द्वारा नियोजित

इस प्रकार हैं—१. स्वायंभुव, २. स्वारोचिष, ३. औत्तमि, ४. तामस, ५. रैवत, ६. चाक्षुष, ७. वैवस्वत, ८. सावर्णि, ९. दक्षसावर्णि, १०. धर्मसावर्णि, १२. रुद्रसावर्णि, १३. रौच्यसावर्णि, और १४. इन्द्रसावर्णि। प्रत्येक मन्वन्तर में सतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग एवं कलियुग—चारों युग ७१ बार बीतते हैं। यथा—

'चतुर्युगसहस्राणि ब्रह्मैकदिनमुच्यते।'

युगों की वर्ष-संख्या अलग-अलग है। कलि की वर्ष-संख्या से द्वापर की वर्ष-संख्या दुगुनी, द्वापर एवं कलि के योग के तुल्य त्रेता की तथा त्रेता एवं कलि के योग के तुल्य सतयुग की वर्ष संख्या होती है। अभिनवगुप्त की व्याख्या के अनुसार अष्टम श्लोक का तात्पर्य यह है कि नाट्य की उत्पत्ति प्रत्येक कृत्य के प्रत्येक मन्वन्तर की कृतयुग-समाप्ति व त्रेता-प्रारम्भ की संधिवेला में होती है। प्रस्तुत नाट्यशास्त्र, जो कि भरतमुनि द्वारा व्याख्यात है, यह सातवें (वैवस्वत) मन्वन्तर की घटना है।

जहाँ तक प्रति त्रेता में दुःखागमन के निवारणार्थ देवताओं द्वारा ब्रह्मा से प्रार्थना किए जाने की बात है ; वहाँ हमारा कोई विरोध नहीं, किन्तु प्रत्येक बार समाधान के रूप में नाट्य का ही पञ्चम वेद के रूप में आगमन कुछ अधिक तर्क संगत नहीं प्रतीत होता।

प्रस्तुत अंश को श्री घोष ने इस प्रकार लिया है कि प्राचीन काल में स्वायम्भुव मनु के शासन काल के साथ ही कृतयुग की समाप्ति, एवं वैवस्वत मनु के आगमन के साथ त्रेतायुग के प्रारम्भ होने पर नाट्यवेद की उत्पत्ति हुई। अर्थात् वे बारम्बार नाट्यवेद की उत्पत्ति न मान कर एक बार ही उसका प्रादुर्भाव मानते हैं।

हमारे मत में भी नाट्यवेद के बार-बार प्रादुर्भूत होने की कल्पना समीचीन नहीं प्रतीत होती और यदि इसे अर्थ में लेना ही है तो पञ्चम वेद के रूप में संगीत एवं वाद्य (क्योंकि इन्हें भी कहीं कहीं पञ्चम वेद कहा गया है) आदि का प्रादुर्भाव तथा सातवें (वैवस्वत) मन्वन्तर में नाट्यवेद का उद्भव मानना होगा।

१. **ग्राम्यधर्म**—अभिनवगुप्त के मत में वेद और शास्त्रों द्वारा विहित आचरण का पालन न करना ग्राम्यधर्म है (ग्राम्यो श्रुतशास्त्रार्थंजनाकीर्णदेशोचितो

जम्बूद्वीप को देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस एवं विकराल सर्पों ने आक्रान्त कर लिया। तब इन्द्र के नेतृत्व में देवताओं ने ब्रह्मा से कहा,—'हमलोग मनोरंजन का ऐसा साधन चाहते हैं जो देखा जा सके और सुना भी जा सके। क्योंकि शूद्रजन वेदश्रवण के अधिकारी नहीं हैं, अतः कृपा करके ऐसे पाँचवें वेद की रचना कीजिए जो समस्त वर्णों के लिए सुलभ हो ॥ ८-१२ ॥

एवमस्त्विति तानुक्त्वा देवराजं विसृज्य च।
सस्मार चतुरो वेदान्योगमास्थाय तत्त्ववित् ॥ १३ ॥
(नेमे वेदा यतः श्राव्याः स्त्रीशूद्राद्यासु जातिषु।
वेदमन्यत्ततः स्रक्ष्ये सर्वश्राव्यं तु पञ्चमम् ॥)

परमविज्ञ ब्रह्मा ने उन (देवताओं) से कहा—"ऐसा ही हो" और देवाधिपति इन्द्र को विदा करके योगक्रिया द्वारा वेदचतुष्टय का युगपत् स्मरण किया॥ १३ ॥

(क्योंकि स्त्री-जन एवं शूद्र इत्यादि जातियाँ इन चारों वेदों के श्रवण की अधिकारी नहीं हैं अतः मैं ऐसे पाँचवें वेद की रचना करूँगा जो सर्वसुलभ (सबके सुनने योग्य हो।)

धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च सोपदेश्यं ससङ्ग्रहम्।
भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम् ॥ १४ ॥
सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रवर्तकम्।
नाटचाख्यं पञ्चमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम् ॥ १५ ॥

मैं नाट्य नामक इस पञ्चम वेद की रचना कर रहा हूँ जो इतिहास से युक्त है। यह धर्म, अर्थ एवं यश का प्रेरक है, (अतः) उपदेश दिए जाने के योग्य है। इसमें विविध विद्याओं का संकलन किया गया है। आगामी पीढ़ियों के लिए यह हर क्षेत्र में पथप्रदर्शक सिद्ध होगा। यही नहीं, इसमें प्रत्येक शास्त्र का तत्त्व समाहित है और समस्त ललित कलाओं[1] का समीक्षण किया गया है॥ १४-१५ ॥

धर्मः स्वधर्माननुपालनलक्षणः—अभि० भा०, पृ० १०)। श्री घोष के अनुसार ग्राम्यधर्म में प्रवृत्त होने का अर्थ भौतिक सुखों में लीन होने से है।

ग्राम्य शब्द के विरोधी पद के रूप में संस्कृत जन का तात्पर्य उन लोगों से है जो आचार व्यवहार एवं विचारादि में शालीन हों। इस दृष्टि से देखने पर ग्राम्यधर्म कदाचित् उच्छृङ्खलता, अनुशासनविहीनता, मतिभ्रम और सुरुचिविहीनता का दूसरा रूप भासित होता है।

१. सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रवर्तकम्—अभिनवगुप्त के अनुसार शास्त्र से तात्पर्य गीतवाद्यनृत्यादि कलाओं से है तथा शिल्प का तात्पर्य चित्रकलादि से है।

एवं संकल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन् ।
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम् ॥ १६ ॥

इस प्रकार का दृढ़ निश्चय करके उन महात्मा ने सभी वेदों का बारम्बार स्मरण करते हुए उस नाट्यवेद की रचना की जो चारों वेदों[1] के अंगों से उत्पन्न हुआ है ॥ १६ ॥

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥ १७ ॥
वेदोपवेदैः सम्बद्धो नाट्यवेदो महात्मना ।
एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा सर्ववेदिना ॥ १८ ॥

ब्रह्मा ने ऋग्वेद (के उपाख्यानों) से पाठ्य[2] (कथावस्तु) लिया; सामवेद से

हमारी प्रतीति के अनुसार शास्त्र पद द्वारा किसी भी कला या ज्ञान के पारिभाषिक साहित्य का बोध होता है, और शिल्प द्वारा वास्तु एवं चित्रकलादि के क्रियात्मक पक्ष का बोध होता है। किन्तु यहाँ शास्त्र शब्द समस्त ललित कलाओं के साहित्य का भी बोधक है एवं तदेतर साहित्य का भी। इसी भाँति यहाँ प्रयुक्त शिल्पपद का तात्पर्य समस्त ललित कलाओं के क्रियात्मक पक्ष से है।

१. **चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्**—अभिनवगुप्त के मत में इसका अर्थ है, "चत्वारो वेदाः, अङ्गानि पाठ्यादीनां सम्भवी यस्य"—अर्थात् चारों वेद जिसके अङ्ग हो गए हैं। किन्तु इसका अर्थ यह भी किया जा सकता है कि इसकी उत्पत्ति वेदों और वेदाङ्गों से हुई है अर्थात् पाठ्यादि के लिए तो नाट्यशास्त्र ऋग्वेदादि संहिताओं का आभारी है, साथ ही भाषा, स्वर आदि के प्रयोग के लिए इस पर वेदाङ्गों का भी ऋण कम नहीं है।

२. **पाठ्य**—पाठ्य शब्द पठ् धातु से व्युत्पन्न है। नाट्य में पाठ्य ही मुख्य एवं अधिक होने के कारण सर्वप्रथम पाठ्य का ही उल्लेख हुआ है। स्वयं नाट्यशास्त्र की उक्ति है—

वाचि यत्नस्तु कर्तव्यो नाट्यस्यैष तनूः स्मृता ।
अङ्गनैपथ्यसत्त्वानि वाक्यार्थं व्यञ्जयन्ति हि ॥
—(ना०शा०, १४-२)

यही कारण है कि अभिनय के अन्तर्भूत रहने पर भी पाठ्य पृथगुपात्त हैं। वह ऋग्वेद से गृहीत है। अपने कथानक एवं काकु आदि स्वर-संधान के लिए नाट्य मूलतः ऋग्वेद के उपाख्यान एवं उसकी मुख्य विशिष्टता—तीन स्वरों (उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित) पर आश्रित है।

संगीत[1] लिया, यजुर्वेद (के कर्मकाण्ड विधान) से अभिनय[2] का ग्रहण किया तथा अथर्ववेद से रसों[3] को लेकर सर्वज्ञ महात्मा ब्रह्मा ने ऋग्वेदादि संहिताओं तथा आयुर्वेदादि उपवेदों[4] से सम्बन्धित नाट्यवेद का निर्माण किया ॥ १७-१८ ॥

---

१. **गीत**—श्लोक में (गीतमेव च) "च" पद का विधान यह प्रदर्शित करने के लिए हुआ है कि नाट्य में गीत का स्थान भी पाठ्य के तुल्य ही है। उक्ति है—"गीतं प्राणाः प्रयोगस्य"। "एवं" पद के प्रयोग से सामवेद से ही गीत के ग्रहण किये जाने का संकेत मिलता है क्योंकि गीत का वेद साम ही है (गीतिषु सामाख्या)। किन्तु गीत के आधारभूत ध्रुवा (वर्णविन्यास) एवं पदयोजना (प्रादि) का ग्रहण ऋग्वेद से किया गया है। घन-वाद्य (मंजीरा आदि) और अवनद्ध-वाद्य (मृदङ्गादि) रूप सामगान की प्रक्रिया के प्राणभूत उपकरणों के तालमेल रूप में मान्य तालसामान्य का समावेश भी ऋग्वेद में ली गयी सामग्री में हो जाता है। तत (तारयुक्त वीणादि) तथा तुषिर (छिद्रयुक्त बाँसुरी आदि) वाद्य भी स्वर-प्रधान होने के कारण ऋग्वेद से गृहीत हैं।

२. **अभिनय**—अभिनय चार प्रकार का होता है—आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक एवं आहार्य। शारीरिक अंगों का गतिशील होना 'आंगिक' अभिनय है। 'वाचिक' अभिनय पात्रों के संवाद में होता है। मूर्छा, निद्रा आदि भावों के अभिनय को 'सात्त्विक' एवं व्यक्ति-विशेष के वस्त्राभूषण धारण करने को 'आहार्य' अभिनय कहते हैं। यजुर्वेद से इस चतुर्विध अभिनय की प्रेरणा इस कारण हुई कि इसमें यज्ञ-प्रक्रिया के अन्तर्गत नानाविध विधिनिषेधपूर्वक कर्म करने में गतिशील रहता है।

३. **रस**—विभावानुभाव-व्यभिचारि-भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है (विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः)। भरत के मत में रस आठ प्रकार के हैं—

> शृङ्गार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर-भयानकाः ।
> बीभत्साऽद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥ (६.१५)

अथर्ववेद में कारणादि कर्मों का विधान है, जिसकी सिद्धि के लिए ऋत्विक् यज्ञों में उन-उन भावों को जागृत करने का उपाय करते हैं और इसके लिए जो कारण एकत्रित किये जाते हैं वह विभावादि वत् कार्य करते हैं। यही कारण है कि अथर्ववेद को रस का मूलस्रोत माना गया है।

४. **वेदोपवेद**—वेद शब्द के द्वारा सामान्यतः ऋक्, सामन्, यजुष् एवं अथ-

ब्रह्मा और इन्द्र का संवाद—

उत्पाद्य नाट्यवेदं तु ब्रह्मोवाच सुरेश्वरम् ।
इतिहासो मया सृष्टः स सुरेषु नियुज्यताम् ॥ १९ ॥
कुशला ये विदग्धाश्च प्रगल्भाश्चजितश्रमाः ।
तेष्वयं नाट्यसंज्ञो हि वेदः संक्राम्यतां त्वया ॥ २० ॥

नाट्यवेद की रचना करके ब्रह्मा ने इन्द्र से कहा—मैंने इतिहास[1] का सृजन किया है। तुम देवताओं से इसका अभिनय करवाओ। जो देवता चतुर[2], विज्ञ, वाक्पटु एवं परिश्रमी हों उनमें इसका प्रचार करो।

वेंन् इन चार संहिताओं का बोध होता है। जिससे वेदार्थों के उपस्कारक अर्थ का ज्ञान होता है, उसे उपवेद कहते हैं। प्रत्येक वेद का उपवेद नियत है। इस भाँति ऋक् का आयुर्वेद, यजुष् का धनुर्वेद, साम का गन्धर्व तथा अथर्व का स्थापत्य-वेद है।

कुछ व्याख्याकारों का मत है कि श्लोक में आए "सब" पद के द्वारा नाट्य के प्रयोजन, अधिकारी व अंग-विषयक मुनियों के प्रश्नत्रय का समाधान होता है।

१. इतिहास—आचार्य अभिनवगुप्त ने इतिहास का तात्पर्य दशरूपक (नाटक) माना है। डा० घोष ने इतिहास शब्द पर जो टिप्पणी दी है, तदनुसार कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' की परिभाषानुसार इतिहास में पुराण तथा इतिवृत्त का समावेश है। विन्टरनिट्ज का विचार है कि इतिवृत्त 'ऐतिहासिक घटना' का द्योतक है और पुराण "पुराकथाशास्त्रीय वृत्तान्त" का। पार्जिटर महोदय के मत में कुछ पुराणों में इतिहास के ठोस तत्त्व मिलते हैं (दृष्टव्य है उनकी कृति—ऐन्शेन्ट इन्डियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन्स, लंदन, १९२२)। भारतीय विचारधारा के अनुसार भूत-काल की उन घटनाओं को 'इतिहास' कहते हैं जिनसे पुरुषार्थ-चतुष्टय-सम्बन्धी शिक्षा मिलती हो—

धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् ।
इतिवृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ॥

२. इसी के आधार पर महाभारत को इतिहास कहा जा सकता है। नाट्य-वेद में उल्लिखित इतिहास कदाचित इसी अर्थ में है। विचारणीय है कि ओल्डेन-बर्ग भी पुराण एवं नाट्यात्मक काव्य में सम्बन्ध मानते हैं। 'नाट्याख्यं पञ्चमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम्' (श्लो० १५) यह उक्ति बड़ी सटीक प्रतीत होती है। जहाँ सेतिहासं का अनुवाद अभिनवगुप्त के मत में 'इतिहासोपदेशकपूरुषम् सप्रभेदम्' है।

तच्छ्रुत्वा भगवाञ्छक्रो ब्रह्मणा यदुदाहृतम् ।
प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा प्रत्युवाच पितामहम् ॥ २१ ॥

ग्रहणे धारणे ज्ञाने प्रयोगे चास्य सत्तम ।
अशक्ता भगवन्देवा अयोग्या नाट्यकर्मणि ॥ २२ ॥

ब्रह्मा ने जो कुछ कहा था उसे सुनकर (उत्तर स्वरूप) हाथ जोड़कर और झुककर नमस्कार करते हुए इन्द्र ब्रह्मा से इस प्रकार बोले—हे महात्मा ! देवतागण इस (नाट्य) को ग्रहण करने[1], धारण करने[2], उसके ज्ञान[3] एवं प्रयोग[4] में असमर्थ हैं। हे भगवन् ! इस प्रकार वे नाट्य-कर्म के योग्य नहीं है ॥ २१-२२ ॥

य इमे वेदगुह्यज्ञा ऋषयः संशितव्रताः ।
एतेऽस्य ग्रहणे शक्ताः प्रयोगे धारणे तथा ॥ २३ ॥

यह जो वेद के रहस्यों को जानने वाले एवं व्रतों का पालन करने वाले ऋषिगण हैं वह इस नाट्यकला को ग्रहण करने, धारण करने एवं प्रयोग करने में समर्थ हैं ॥ २३ ॥

श्रुत्वा तु शक्रवचनं मामाहाम्बुजसम्भवः ।
त्वं पुत्रशतसंयुक्तः प्रयोक्ताऽस्य भवानघ ॥ २४ ॥

इन्द्र के कथन को सुनकर कमलयोनि ब्रह्मा मुझसे बोले कि हे निष्पाप मुनि ! अपने सौ पुत्रों के साथ तुम इस नाट्य का प्रयोग करो ॥ २४ ॥

भरत मुनि द्वारा सौ पुत्रों को नाट्यवेद का उपदेश—

आज्ञापितो विदत्वाऽहं नाट्यवेदं पितामहात् ।
पुत्रानध्यापयामास प्रयोगं चापि तत्त्वतः ॥ २५ ॥

पितामह की इस आज्ञा को पाकर, और उन्हीं से नाट्यवेद का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके मैंने अपने पुत्रों को नाट्यवेद एवं उसके (अभिनयात्मक) प्रयोगों को भी सम्पूर्णतः पढ़ाया ॥ २५ ॥

---

१. ग्रहण—गुरुमुख से नाट्यविद्या को पढ़ना व उसे समझना ।

२. धारण—पढ़ी हुई व समझी हुई विद्या को न भूलना, पूर्णतः स्मरण रखना ।

३. ज्ञान—स्मृत विद्या के औचित्य या अनौचित्य के विषय में तर्क वितर्क द्वारा विचार करना ।

४. प्रयोग—ज्ञात विद्या का अन्य लोगों में प्रदर्शन करना—इस प्रसङ्ग में रङ्गशाला में सामाजिकों के बीच नाट्यविद्या को प्रदर्शित करना (अभिनय करना) प्रयोग है ।

शाण्डिल्यं चैव वात्स्यं च कोहलं दत्तिलं तथा।
जटिलाम्बष्टकौ चैव तण्डुमग्निशिखं तथा ॥ २६ ॥

भरतमुनि ने अपने जिन सौ पुत्रों को नाट्यवेद पढ़ाया उनके नामों की परिगणना इस प्रकार है—

१. शाण्डिल्य, २. वात्स्य, ३. कोहल, ४. दत्तिल, ५. जटिल, ६. अम्बष्ट, ७. तण्डु तथा ८. अग्निशिख ॥ २६ ॥

सैन्धवं सपुलोमानं शाड्वलिं विपुलं तथा।
कपिञ्जलिं बादिरं च यमधूम्रायणौ तथा ॥ २७ ॥

९. सैन्धव, १०. पुलोमा, ११. शाड्वलि, १२. विपुल, १३. कपिञ्जलि, १४. बादरि, १५. यम और १६. धूम्रायण ॥ २७ ॥

जम्बुध्वजं काकजङ्घं स्वर्णकं तापसं तथा।
कैदारिं शालिकर्णं च दीर्घगात्रं च शालिकम् ॥ २८ ॥

१७. जम्बुध्वज, १८. काकजङ्ध, १९. स्वर्णक, २०. तापस, २१. कैदारि, २२. शालिकर्ण, २३. दीर्घगात्र, २४. शालिक ॥ २८ ॥

कौत्सं ताण्डायनिं चैव पिङ्गलं चित्रकं तथा।
बन्धुलं भल्लकं चैव मुष्ठिकं सैन्धवायनम् ॥ २९ ॥

२५. कौत्स, २६. ताण्डायनि, २७. पिङ्गल, २८. चित्रक, २९. वन्धुल, ३०. भल्लक, ३१. मुष्ठिक, ३२. सैन्धवायन ॥ २९ ॥

तैतिलं भार्गवं चैव शुचिं बहुलमेव च।
अबुधं बुधसेनं च पाण्डुकर्णं सुकेरलम् ॥ ३० ॥

३३. तैतिल, ३४. भार्गव, ३५. शुचि, ३६. बहुल, ३७. अबुध, ३८. बुधसेन, ३९. पाण्डुकर्ण, ४०. सुकेरल, ॥ ३० ॥

ऋजुकं मण्डकं चैव शम्बरं वञ्जुलं तथा।
मागधं सरलं चैव कर्तारं चोग्रमेव च ॥ ३१ ॥

४१. ऋजुक, ४२. मण्डक, ४३. शम्बर, ४४. वञ्जुल, ४५. मागध, ४६. सरल, ४७. कर्ता और ४८. उग्र ॥ ३१ ॥

तुषारं पार्षदं चैव गौतमं बादरायणम्।
विशालं शबलं चैव सुनाभं मेषमेव च ॥ ३२ ॥

४९. तुषार, ५०. पार्षद, ५१. गौतम, ५२. बादरायण, ५३. विशाल, ५४. शबल, ५५. सुनाम, ५६. मेष ॥ ३२ ॥

कालियं भ्रमरं चैव तथा पीठमुखं मुनिम्।
नखकुट्टाश्मकुट्टौ च षट्पदं सोत्तमं तथा ॥ ३३ ॥

५७. कालिय, ५८. भ्रमर, ५९. पीठमुख, ६०. मुनि, ६१. नखकुट्ट, ६२. अश्मकुट्ट, ६३. षट्पद और ६४. उत्तम ॥ ३३ ॥

पादुकोपानहौ चैव श्रुतिं चाषस्वरं तथा।
अग्निकुण्डाज्यकुण्डौ च वितण्ड्यं ताण्ड्यमेव च ॥ ३४ ॥

६५. पादुक, ६६. उपानह, ६७, श्रुति, ६८. चाषस्वर, ६९. अग्निकुण्ड, ७०. आज्यकुण्ड, ७१. वितण्ड्य, ७२. ताण्ड्य ॥ ३४ ॥

कर्तराक्षं हिरण्याक्षं कुशलं दुस्सहं तथा।
लाजं भयानकं चैव बीभत्सं सविचक्षणम् ॥ ३५ ॥

७३. कर्तराक्ष, ७४. हिरण्याक्ष, ७५. कुशल, ७६. दुस्सह, ७७. लाज, ७८. भयानक, ७९. वीभत्स, ८०. विचक्षण ॥ ३५ ॥

पुण्ड्राक्षं पुण्ड्रनासं च असितं सितमेव च।
विद्युज्जिह्वं महाजिह्वं शालङ्कायनमेव च ॥ ३६ ॥

८१. पुण्ड्राक्ष, ८२. पुण्ड्रनास, ८३. असित, ८४. सित, ८५. विद्युज्जिह्व, ८६. महाजिह्व, ८७. शालङ्कायन ॥ ३६ ॥

श्यामायनं माठरं च लोहिताङ्गं तथैव च।
संवर्तकं पञ्चशिखं त्रिशिखं शिखमेव च ॥ ३७ ॥

८८. श्यामायन, ८९. माठर, ९०. लोहिताङ्ग, ९१. संवर्तक, ९२. पंचशिख, ९३. त्रिशिख, ९४. शिख ॥ ३७ ॥

शङ्खवर्णमुखं षण्डं शंकुकर्णमथापि च।
शक्रनेमिं गभस्तिं चाप्यंशुमालिं शठं तथा ॥ ३८ ॥

९५. शङ्खवर्णमुख, ९६. षण्ड, ९७. शंकुकर्ण, ९८. शक्रनेमि, ९९. गभस्ति, १००. अंशुमाली, १०१. शठ ॥ ३८ ॥

विद्युतं शातजङ्घं च रौद्रं वीरमथापि च।
पितामहाज्ञयाऽस्माभिर्लोकस्य च गुणेप्सया ॥ ३९ ॥

१०२. विद्युत, १०३. शातजङ्घ, १०४. रौद्र एवं १०५. वीर (इन पुत्रों को मैंने पढ़ाया[1]।) ॥ ३९ ॥

---

१. यद्यपि "पुत्रशत" उल्लेखानुसार सौ नाम ही परिगणित होने अपेक्षित थे किन्तु भरत ने एक सौ पाँच नामों का उल्लेख किया है। संख्या का यह न्यून भेद महत्त्वपूर्ण नहीं।

प्रयोजितं पुत्रशतं यथाभूमिविभागशः ।
यो यस्मिन्कर्मणि यथायोग्यस्तस्मिन् स योजितः ॥ ४० ॥

अपने सौ पुत्रों को मैंने कार्यविभाग के अनुसार नियुक्त किया और जिस कार्य में जिस प्रकार उपयुक्त हो सकता था, उसको उसी (कार्य) में नियुक्त किया ॥४०॥

नाट्य की वृत्तियाँ—

भारतीं सात्त्वतीं चैव वृत्तिमारभटीं तथा ।
समाश्रितः प्रयोगस्तु प्रयुक्तो वै मया द्विजाः ॥ ४१ ॥

हे ब्राह्मणो ! मैंने नाट्य के जिस प्रयोग का प्रयास किया वह तीन वृत्तियों[1]—भारती[2], सात्त्वती[3] एवं आरभटी[4] पर आश्रित है ॥ ४१ ॥

यहाँ यह शंका भी उठती है कि उल्लिखित यह सौ व्यक्ति भरत के वास्तविक पुत्र थे अथवा पुत्रवत् शिष्य थे । अभिनवगुप्त पुत्रों की संख्या व उनके नामों के विषय में मौन हैं । हमारे मत में इनमें कुछ तो भरत के औरस पुत्र हैं एवं कुछ नाट्यशास्त्र के प्रणेता एवं भरत के शिष्यगण हैं ।

१. वृत्ति—नाटकीय शैली को वृत्ति कहते है । वृत्ति का लक्षण देते हुए राजशेखर का कथन है—"विलासविन्यासक्रमोवृत्तिः ।" और विलास का विन्यास नृत्य, गीत वाद्य आदि के संयोगादि द्वारा चार तरह से सम्पन्न होता है । इन्हें ही चार वृत्तियाँ कहा गया है । नाट्यशास्त्र के बाइसवें अध्याय में वृत्तियों का विस्तृत विवेचन किया गया है ।

२. भारती—या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या, स्त्री-वर्जिता संस्कृतवाक्ययुक्ता ।
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः ॥
—(ना०शा० २२-२५)

नाट्य के जिस अंश में स्त्री पात्रों का अभाव होता हैं, केवल पुरुषपात्र ही होते हैं और वे संस्कृत भाषा का आश्रय लेकर प्रधानतः वाचिक अभिनय करते हैं, उस अंश में भरतों (नटों) की उक्तियों के आधिक्य के कारण उसे "भारती" कहते हैं । अभिनवगुप्त के अनुसार भारती वाग्वृत्ति है । इसका समाश्रयण वाचिक अभिनय में होता हैं । (भारती वाग्वृत्तिः) ।

३. सात्त्वती—"या सात्त्वतेनेह गुणेन युक्ता न्यायेन वृत्तेन समन्विता च ।
हर्षोत्कटा संहृतशोकभावा सा सात्त्वतीनाम भवेत्तु वृत्तिः ॥"
—(ना०शा० २२-३७)

अर्थात् सात्त्वती वृत्ति उसको कहते हैं जो सत्त्वगुणों से युक्त हो और न्यायोचित

ब्रह्मा द्वारा कैशिकीवृत्ति की योजना—

परिगृह्य प्रणम्याथ ब्रह्मा विज्ञापितो मया।
अथाह मां सुरगुरुः कौशिकीमपि योजय॥ ४२॥

इसके उपरान्त ब्रह्मा के पास जाकर प्रणाम करके मैंने उन्हें (स्वरचित इन तीन वृत्तियों से) परिचित कराया। तब देवगुरु ब्रह्मा ने मुझसे कहा कि इस सूची में कैशिकीवृत्ति[1] को भी जोड़ लो॥ ४२॥

वृत्ति से युक्त हो एवं जो हर्ष के आधिक्य तथा शोक के राहित्य को सूचित करने वाली हो।

अभिनवगुप्त का कथन है कि—'सत्' प्राख्यारूपसंवेदन को कहते हैं। संवेदन मन में होता है अतः मन को भी सत्त्व कहते हैं। मन की वृत्ति सात्त्वती है और और यह मनोव्यापार-रूपा एवं सात्त्विक हैं। (मनोव्यापाररूपा सात्विकी सात्त्वती)।

४. आरभटी—"प्रस्तावपाप्लुतलङ्घितानि चान्यानि मायाकृतमिन्द्रजालम्।
चित्राणि युक्तानि च यत्र नित्यं तां तादृशीमारभटीं वदन्ति॥
—(ना०शा० २२-५७)

नाट्य के जिस स्थल पर उठना, गिरना, उछलना लांघने की घटनाओं का उल्लेख हो, जहाँ मायारचित इन्द्रजालादि का प्रदर्शन हो एवं जहाँ पर आश्चर्यकारी घटनाओं की योजना हो, वहाँ आरभटी वृत्ति प्रयुक्त होती है।

अभिनवगुप्त के मत में आरभटी कार्यवृत्ति है, जो आंगिक अभिनय में होती हैं। इसमें भट सदा आर, अर्थात् सोत्साह रहते हैं अतः यह आरभटी कहलाती है। (इयतीत्यरा भटाः सोत्साहा अनलसास्तेषामियमारभटी, कायेवृत्ति...:)।

१. कैशिकी—या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंयुता या बहु नृत्तगीता।
कामोपभोगप्रभवोपचारा तां कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति॥
—(ना० शा० २२-४७)

अर्थात् नाट्य के जिस भाग में कृत्रिम शृङ्गार आदि का आयोजन होता है, स्त्री पात्र एवं नृत्य व गीत का प्राधान्य होता है, काम के उपभोगों से जन्य उपचारों वाले उस भाग में कैशिकी वृत्ति होती है।

अभिनवगुप्त की व्याख्यानुसार कैशिकी सौन्दर्योपयोगी व्यापार को कहते हैं। जैसे केशों का काम शरीर की शोभा बढ़ाना है उसी प्रकार विविधरूप नृत्य, संगीत एवं शृङ्गार आचरणों से नाट्य की शोभा बढ़ती है। इस भाँति 'कैश' शब्द

यच्च तस्याः क्षमं द्रव्यं तद्ब्रूहि द्विजसत्तम ।
एवं तेनास्म्यभिहितः प्रत्युक्तश्च मया प्रभुः ॥ ४३ ॥

ब्रह्मा ने मुझसे कहा—हे द्विजश्रेष्ठ ! इस (कैशिकी वृत्ति) की योजना के लिए जो आवश्यक सामग्री है वह मुझसे बतलाओ । तब मैंने ब्रह्मा से (इस प्रकार) कहा— ॥ ४३ ॥

दीयतां भगवन् द्रव्यं कैशिक्याः सम्प्रयोजकम् ।
नृत्ताङ्गहारसंपन्ना रसभावक्रियात्मिका ॥ ४४ ॥
दृष्टा मया भगवतो नीलकण्ठस्य नृत्यतः ।
कैशिकी श्लक्ष्णनैपथ्या शृङ्गाररससम्भवा ॥ ४५ ॥

हे भगवान् ! आप (मुझको) वह पदार्थ दीजिये जो कैशिकी वृत्ति के सम्यक् प्रयोग के लिए आवश्यक है । मैंने नीलकण्ठ भगवान् शंकर के नृत्य के समय जिस कैशिकी वृत्ति का दर्शन किया था वह नृत्त के अंगहारों[1] (अंगसंचालनों) से संयुक्त थी, एवं उसकी प्रक्रिया में रस तथा[2] भावों का प्रदर्शन था । उसे सुन्दर वस्त्रों की अपेक्षा है, और वह शृंगार रस से उत्पन्न हुई है ॥ ४४-४५ ॥

अशक्या पुरुषैः सा तु प्रयोक्तुं स्त्रीजनादृते ।
ततोऽसृजन् महातेजा मनसाऽप्सरसो विभुः ॥ ४६ ॥
नाट्यालङ्कारचतुराः प्रादान् मह्यं प्रयोगतः ।

से व्युत्पन्न करके इस वृत्ति का नाम 'कैशिकी' होना उपयुक्त है । (... एवं यत्किञ्चिल्लालित्यं तत्सर्वं कैशिकीविजृम्भितम्) ।

श्री घोष के मत में वृत्तियों के यह चारों नाम भरत, सात्वत, कैशिक एवं अर्भट इन जातियों से संबन्धित हैं । इनमें प्रथम दो जातियाँ तो अत्यधिक प्रसिद्ध हैं । अन्य दो के नाम कदाचित् काल कवलित हो गए ।

१. अंगहार—इसके लिए नाट्यशास्त्र के चतुर्थ अध्याय के १६-२९ श्लोक तथा १७०-२४५ श्लोक दृष्टव्य हैं ।

अभिनवगुप्त के मत में लास्यमय गति के साथ अंगों का समुचित स्थान पर त्रुटिरहितरूप में पहुँचना अंगहार है (तत्र येऽङ्गहारा अङ्गानां हरणानि अत्रुटितरूपतया समुचितस्थानप्राप्तयः, ताभिः सम्पन्ना) ।

२. रस एवं भावों का विशद विवेचन नाट्यशास्त्र के सप्तम अध्याय में हुआ है । वैसे यह विषय इतना विशद है कि यहाँ इसका परिचय देना उपयुक्त नहीं ।

स्त्रियों के बिना, केवल पुरुषजन इस (कैशिकी वृत्ति) का सम्यक् रूप से प्रयोग नहीं कर सकते।[1] इस कारण उन महान् तेजस्वी (ब्रह्मा) ने नाट्य के अलङ्कार में चतुर अप्सराओं की मानसी सृष्टि की[2]। और उन्हें मुझे प्रयोग के सहायतार्थ

---

१. यहाँ यह शंका उठती है कि स्त्रीजन के बिना कैशिकी वृत्ति का प्रयोग असम्भव है, तब इसका सर्वप्रथम प्रयोग करने में शंकर किस भाँति समर्थ हुए। इसके उत्तर में कुछ लोगों का विचार है कि शंकर के साथ उमा ने इस वृत्ति का प्रयोग किया होगा। जब कि दूसरा मत यह है कि विचित्र अंगहारों (शिखा पाशादि) से युक्त होकर स्वंय शंकर ने इसका अभिनय किया होगा। नृत्यरत नीलकण्ठ का ही उल्लेख है, उमा का नहीं। अतः अभिनवगुप्त का मत ही समीचीन जान पड़ता है कि अभिनेता के हृदय में समुत्पन्न रस के प्रभाव से पवित्रता का उदय हो जाने पर पुरुष के अभिनय में भी रसाभिव्यक्ति के अनुरूप सौन्दर्य आ सकता है। शंकर के अभिनय में तद्रूप पवित्रता होने से उनके द्वारा कैशिकीवृत्ति का अभिनय सम्भव है।

और यदि पुरुष होने मात्र से शिव स्त्रीमात्रप्रयोज्य कैशिकी वृत्ति के प्रयोग के अनधिकारी हैं तो फिर केश बन्धन करते हुए विष्णु द्वारा कैशिकी वृत्ति को उत्पन्न करने की कथा भी अनर्गल हो जाएगी—

विचित्रैरङ्गहारैस्तु देवो लीलासमन्वितैः।
बबन्ध यः शिखापाशं कैशिकी तत्र निर्मिता॥—(ना० शा० २०-१३)

किन्तु यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि प्रस्तुत वर्णन में कैशिकी वृत्ति में विष्णु से समुत्पन्न होने का तो वर्णन है, किन्तु विष्णु के पुरुष वेष से नहीं—अपितु उनके मोहिनी रूप से। इस भाँति यदि कैशिकी को शंकर द्वारा प्रयुक्त मानना है तो यह मानना पड़ेगा कि उसका प्रयोग शंकर ने जटाजूटधारी पुरुष वेष द्वारा नहीं, अपितु स्त्रीजनोचित विचित्र शृंगार तथा लास्यमय वेषभूषा को धारण करके किया होगा। इस विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि यद्यपि कैशिकी वृत्ति के स्रष्टा विष्णु तथा उसके प्रथम प्रयोक्ता शिव दोनों ही पुरुष हैं, तथापि साधारण पुरुष इसके अभिनय में अक्षम हैं, इसके प्रयोग के लिये स्त्रियाँ ही उपयुक्त हैं।

२. अप्सराओं की ब्रह्मा द्वारा सृष्टि से यह जिज्ञासा उठती है कि इसके पहले अप्सराओं की स्थिति थी अथवा नहीं? एक ओर तो स्वर्ग की कल्पना अप्सराओं के बिना अधूरी लगती है और दूसरी ओर यह शंका होती है कि यदि पहले से अप्सराएँ थीं तो ब्रह्मा द्वारा अप्सराओं की उत्पत्ति की क्या संगति है?

प्रदान किया ॥ ४६ ॥

ब्रह्मा ने जिन अप्सराओं चौबीस की मानसी सृष्टि की उनके नाम निम्नलिखित हैं—

मञ्जुकेशीं सुकेशीं च मिश्रकेशीं सुलोचनाम् ॥ ४७ ॥
सौदामिनीं देवदत्तां देवसेनां मनोरमाम् ।
सुदतीं सुन्दरीं चैव विदग्धां विपुलां तथा ॥ ४८ ॥
सुमालां सन्ततिं चैव सुनन्दां सुमुखीं तथा ।

१. मंजुकेशी, २. सुकेशी, ३. मिश्रकेशी, ४. सुलोचना, ५. सौदामिनी, ६. देवदत्ता, ७. देवसेना, ८. मनोरमा, ९. सुदती, १०. सुन्दरी, ११. विदग्धा, १२. विपुला, १३. सुमाला, १४. सन्तति, १५. सुनन्दा, १६. सुमुखी, ॥ ४७-४९ ॥

मागधीमर्जुनीं चैव सरलां केरलां धृतीम् ॥ ४९ ॥
नन्दां सपुष्कलां चैव कलभां चैव मे ददौ ।

१७. मागधी, १८. अर्जुनी, १९. सरला, २०. केरला, २१. धृति, २२. नन्दा, २३. सुपुष्कला, एवं २४. कलभा (नामक अप्सराएँ ब्रह्मा ने) मुझको प्रदान कीं[1] ॥ ४९-५० ॥

ब्रह्मा द्वारा वाद्य तथा गायन के लिए स्वाति तथा नारद की नियुक्ति—

स्वातिर्भाण्डनियुक्तस्तु सह शिष्यैः स्वयम्भुवा ॥ ५० ॥
नारदाद्याश्च गन्धर्वा गानयोगे नियोजिताः ।

स्वयंभू ब्रह्मा ने शिष्यों सहित स्वाति[2] को वाद्ययंत्रों को बजाने के लिए नियुक्त किया तथा नारद इत्यादि गन्धर्वों को गायन[3] के लिए निबद्ध किया ॥ ५०-५१ ॥

---

१. अप्सराओं की इस विस्तृत तालिका में उर्वशी, मेनका एवं तिलोत्तमा सदृश प्रसिद्ध तथा पौराणिक अप्सराओं की नामगणना नहीं हुई है। कदाचित् वे देवताओं की अधिकार-सीमा में हैं और इन चौबीस की रचना विशेष रूप से मृत्युलोक में नाटक के अभिनय के लिए हुई है।

२. अभिनवगुप्त के अनुसार स्वाति एक ऋषि थे। वर्षा के समय गिरती हुई जलधारा के द्वारा नानाविध ताड़ित कमलपत्रों से उत्पन्न ध्वनियों का अनुसरण करके उन्होंने पुष्कर वाद्यों की रचना की थी।

३. अभिनवभारती में भाण्ड का अर्थ मृदङ्गादि-वाद्य एवं 'गानयोगे' पद में

एवं नाट्यमिदं सम्यग् बुद्ध्वा सर्वैः सुतैः सह ॥ ५१ ॥
स्वातिनारदसंयुक्तो　वेदवेदाङ्गकारणम् ।
उपस्थितोऽहं ब्रह्माणं प्रयोगार्थं कृताञ्जलिः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार नाट्य का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके उसके प्रयोग के लिए मैं स्वाति और नारद के साथ वेद एवं वेदांग के प्रणेता एवं ब्रह्मा के सम्मुख हाथ जोड़कर उपस्थित हुआ ॥ ५१-५२ ॥

भरतमुनि का ब्रह्मा जी से प्रश्न—

नाट्यस्य ग्रहणं प्राप्तं ब्रूहि किं करवाण्यहम् ।
एतत्तु वचनं श्रुत्वा प्रत्युवाच पितामहः ॥ ५३ ॥

(मैंने ब्रह्मा से पूछा) मैंने नाट्य का ज्ञान प्राप्त किया अब कृपया बतलाइये कि मैं एतदर्थ और क्या करूँ। यह बात सुनकर पितामह (ब्रह्मा) ने प्रत्युत्तर दिया ॥ ५३ ॥

ब्रह्मा द्वारा भरत के प्रश्न का उत्तर—

महानयं प्रयोगस्य समयः प्रत्युपस्थितः ।
अयं ध्वजमहः श्रीमान् महेन्द्रस्य प्रवर्तते॥ ५४ ॥

इन्द्रध्वज महोत्सव में इन्द्रविजयरूपक का अभिनय—

अत्रेदानीमयं वेदो नाट्यसंज्ञः प्रयुज्यताम् ।

[इसके] अभिनय के लिए यह अत्यन्त उपयुक्त अवसर अनायास आ गया है। अधुना महेन्द्र के ध्वजपूजन[२] का उत्सव मनाया जा रहा है। इसी अवसर पर इस महोत्सव में ही इस नाट्य-संज्ञक वेद का प्रयोग करना चाहिये ॥ ५४-५५ ॥

गान का अर्थ तन्त्र-वाद्य किया गया है। सम्भवतः नारद की वीणा के उल्लेख से गान का अर्थ तंत्र-वाद्य लिया गया है।

२. इन्द्रध्वज प्राचीन काल का अत्यधिक जनप्रिय उत्सव है। यह भाद्रपद की शुक्ला द्वादशी को मनाया जाता था। कुछ लोग इसे ही बसन्तोत्सव मानते हैं। इन्द्र वैदिक आर्यों का प्रियतम देवता था, एवं पुराणों में भी इन्द्र स्वर्ग के अधिपति के रूप में अभीप्सिततम स्थान का अधिष्ठाता है। इस कारण इन्द्र से सम्बन्धित उत्सव में हर्ष, उल्लास, उत्साह एवं आह्लादादि के बाहुल्य का होना अपेक्षित है और इस दृष्टि से जनमानस के रंजक नाट्य के प्रथम अवतरण के लिये इस लोकोत्सव से अधिक उपयुक्त और कौन सा अवसर हो सकता है।

ततस्तस्मिन् ध्वजमहे निहतासुरदानवे ॥ ५५ ॥
प्रहृष्टामरसंकीर्णे महेन्द्रविजयोत्सवे ।
पूर्वं कृता मया नान्दी ह्याशीर्वचनसंयुता ॥ ५६ ॥

तब असुर व दानवों की पराजय के द्योतक एवं इन्द्र की विजय के प्रतीक उस ध्वजोत्सव में, जिसमें प्रफुल्लित देवता भरे हुए थे, मैंने सर्वप्रथम आशीर्वादात्मक वचनों से युक्त नान्दी[1] का पाठ किया है ॥ ५५-५६ ॥

अष्टाङ्गपदसंयुक्ता विचित्रा वेदनिर्मिता ।
तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा यथा दैत्याः सुरैर्जिताः ॥ ५७ ॥

(यह नान्दी) आठ अंगों वाले पदों[2] से युक्त थी एवं वेद द्वारा निर्मित थी। इसके अन्त में जिस भाँति (के क्रिया कलापों से) देवताओं के द्वारा असुरों पर विजय पाई गयी थी उसका अनुकरण किया गया था ॥ ५७ ॥

संफेटविद्रवकृता च्छेद्यभेद्याहवात्मिका ।
ततो ब्रह्मादयो देवाः प्रयोगपरितोषिताः ॥ ५८ ॥

[असुरों पर देवों की विजय का यह अनुकरण] दोषपूर्ण तुमुलनादयुक्त[3] तथा

---

१. **नान्दी**—यह नाट्यशास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है। भरतमुनि के अनुसार इसकी परिभाषा निम्नलिखित है—

आशीर्वचनसंयुक्ता नित्यं यस्मात् प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥—ना० शा० ५.२४

सूत्रधारः पठेत्तत्र मध्यमं स्वरमाश्रितः ।
नान्दीं पदैर्द्वादशभिरष्टाभिर्वाप्यलङ्कृताम् ॥—ना० शा० ५.१०४

इसके अनुसार देवताओं, ब्राह्मणों व राजाओं की शुभाशंसा के पद्य नाटक के प्रारम्भ में पढ़े जाते हैं, जो सबके नन्दन के हेतु होने से नान्दीसंज्ञक होते हैं। इनमें १२ या ८ पद होते हैं और इनका पाठ मध्यम स्वर से किया जाता है।

२. **अष्टांगपद**—घोष के अनुसार यहाँ पद के आठ अङ्ग इस प्रकार हैं। १-नाम, २-आख्यात, ३-उपसर्ग, ४-निपात, ५-समास, ६-तद्धित, ७-सन्धि, और ८-विभक्ति।

३. **सम्फेट**—'रोषग्रथितवाक्यस्तु संफेटः परिकीर्तितः'।
—(ना० शा० १९.८८)

अर्थात् रोषयुक्त वाक्यों के समूह को 'संफेट' कहते हैं।

भयकातर पलायन[1] से युक्त था एवं इसमें प्रभूत मारकाट और युद्ध के लिये आह्वान थे ॥ ५८ ॥

देवों द्वारा अभिनेताओं को पुरस्कार—

प्रददुर्मत्सुतेभ्यस्तु सर्वोपकरणानि वै ।
प्रीतस्तु प्रथमं शक्रो दत्तवान् स्वं ध्वजं शुभम् ॥ ५९ ॥

[नाट्य के प्रदर्शन से संतुष्ट देवों ने] प्रसन्नमन होकर मेरे पुत्रों को विविध वस्तुएं दीं। उनमें सबसे पहले इन्द्र ने प्रसन्न होकर अपना मंगलकारी ध्वज प्रदान किया ॥ ५९ ॥

ब्रह्मा कुटिलकं चैव भृङ्गारं वरुणः शुभम् ।
सूर्यश्छत्रं शिवस्सिद्धिं वायुर्व्यजनमेव च ॥ ६० ॥

ब्रह्मा ने अपना वक्रदण्ड[2] दिया, वरुण ने कमण्डलु[3] दिया, सूर्य ने छत्र[4], शिव ने सिद्धि एवं वायु ने पंखा दिया ॥ ६० ॥

विष्णुः सिंहासनं चैव कुबेरो मकुटं तथा ।
श्राव्यत्वं प्रेक्षणीयस्य ददौ देवी सरस्वती ॥ ६१ ॥

विष्णु ने सिंहासन, कुबेर ने मुकुट तथा देवी सरस्वती ने दृश्य-नाट्य में श्राव्यत्व (सुने जाने का सौष्ठव) प्रदान किया ॥ ६१ ॥

---

१. विद्रव—विद्रव का नाट्यशास्त्र में दो स्थलों पर उल्लेख हुआ है—
नृपाग्निभयसंयुक्तः संभवो विद्रवः स्मृतः । —ना० शा० १९.८७
अर्थात् राजा या अग्नि के भय से पलायन करना विद्रव है।

तथा

गुरुव्यतिक्रमो यस्तु विज्ञेयो विद्रवस्तु सः । —ना० शा० १९.८९
अर्थात् सम्माननीय व्यक्तियों की आज्ञा का उल्लंघन करना (अनुशासनहीनता) विद्रव है।

२. अभिनवगुप्त के मत में यहाँ ब्रह्मा ने जो कुटिलक (वक्रदण्ड) प्रदान किया वह विदूषकोपयोगी है। नाट्यशास्त्र में कपित्थ अथवा बिल्व के दण्डकाष्ठ का उल्लेख हुआ है जो त्रिवक्र कहा गया है पर वहाँ उसे विदूषक के उपयोग की वस्तु नहीं बताया गया है।

३. अभिनवभारती के अनुसार कमण्डलु पारिपार्श्विक के उपयोगार्थ है।

४. अभिनवगुप्त के मत में सूर्य द्वारा प्रदत्त छत्र आतपनिवारणार्थ है।

शेषा ये देवगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः ।
तस्मिन् सदस्यभिप्रेतान् नानाजातिगुणाश्रयान् ॥ ६२ ॥
अंशांशैर्भाषितं भावान् रसान् रूपं बलं तथा ।
दत्तवन्तः प्रहृष्टास्ते मत्सुतेभ्यो दिवौकसः ॥ ६३ ॥

इसके अतिरिक्त उस सभा में उपस्थित शेष अन्य देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस एवं नाग समूह ने अत्यधिक प्रमुदित होकर अपने-अपने अंशों से उद्भूत विविध जाति एवं विविध गुण युक्त भावों, रसों, रूप-बल तथा आभरणों को मेरे पुत्रों को प्रदान किया ॥ ६२-६३ ॥

इन्द्रविजय रूपक देखकर दैत्यों एवं दानवों का क्षुब्ध होकर नाटक में विघ्न उत्पन्न करना—

एवं प्रयोगे प्रारब्धे दैत्यदानवनाशने ।
अभवन् क्षुभिताः सर्वे दैत्या ये तत्र संगताः ॥ ६४ ॥

असुरों एवं दैत्यों के नाश का (प्रदर्शन करने वाले) अभिनय के प्रारम्भ होने पर वे सब दानव जो वहाँ आकर एकत्रित हुए थे—अत्यधिक क्षुब्ध हो उठे ॥ ६४ ॥

विरूपाक्षपुरोगांश्च विघ्नान् प्रोत्साह्य तेऽब्रुवन् ।
न क्षमिष्यामहे नाटचमेतदागम्यतामिति ॥ ६५ ॥

उन्होंने विरूपाक्ष[1] इत्यादि विघ्नों को उकसा कर कहा कि हम इस नाट्य को सहन नहीं करेंगे अतः हमें यहाँ से चले आना चाहिये ॥ ६५ ॥

ततस्तैरसुरैः सार्द्धं विघ्ना मायामुपाश्रिताः ।
वाचश्चेष्टां स्मृतिं चैव स्तम्भयन्ति स्म नृत्यताम् ॥ ६६ ॥

तब माया का आश्रय लेकर विघ्नों ने उन असुरों के साथ मिलकर नृत्य करने वाले (नटों) की वाणी, चेष्टा तथा स्मृति को जड़ बना दिया ॥ ६६ ॥

इन्द्र द्वारा जर्जर से विघ्नों का विनाश करना—

तथा विध्वंसनं दृष्ट्वा सूत्रधारस्य देवराट् ।
कस्मात् प्रयोगवैषम्यमित्युक्त्वा ध्यानमाविशत् ॥ ६७ ॥

सूत्रधार[2] को इस प्रकार विध्वंसित होते देखकर और यह कहकर कि किस

---

१. यों तो विरूपाक्ष का शाब्दिक अर्थ विकृत इन्द्रिय वाला एवं रूढार्थ शंकर के प्रति अभिप्रेत है, किन्तु यहाँ इस पद का प्रयोग अनिष्टकारी दुरात्मा के रूप में हुआ है।

२. सूत्रधार शब्द का प्रयोग यद्यपि एकवचन में हुआ है [सूत्रधारस्य]

कारण से अभिनय में यह बिघ्न हो रहा है, देवराज इन्द्र [कारण जानने के लिये] ध्यानावस्थित हो गए ॥ ६७ ॥

अथापश्यत् सदो विघ्नैः समन्तात् परिवारितम् ।
सहेतरैः सूत्रधारं नष्टसंज्ञं जडीकृतम् ॥ ६८ ॥

ध्यान में इन्द्र ने सभाभवन के चतुर्दिक् विघ्नों से घिरा हुआ तथा अन्य [अभिनेताओं] के साथ सूत्रधार को चेतनारहित एवं निश्चेष्ट पड़े हुए देखा ॥ ६८ ॥

उत्थाय त्वरितं शक्रः गृहीत्वा ध्वजमुत्तमम् ।
सर्वरत्नोज्ज्वलतनुः किञ्चिदुद्वृत्तलोचनः ॥ ६९ ॥
रंगपीठगतान् विघ्नानसुरांश्चैव देवराट् ।
जर्जरीकृतदेहांस्तानकरोज्जर्जरेण सः ॥ ७० ॥

इसके पश्चात् समस्त रत्नों से अधिक कान्तियुक्त शरीर वाले और कुछ ऊपर की ओर चढ़ी आँखों वाले इन्द्र ने उठकर, अपने ध्वज को [हाथ में] लेकर रंगमञ्च पर उपस्थित समस्त विघ्नों तथा [उनके प्रेरक] असुरों के शरीरों को जर्जर[1] से [पीट पीटकर] जर्जरित कर दिया ॥ ६९-७० ॥

तथापि अभिनवभारती के अनुसार यहाँ तात्पर्य अकेले सूत्रधार से न होकर सपरिवार सूत्रधार से है।

वैसे सूत्रधार शब्द नाट्य का एक पारिभाषिक शब्द है। नाट्य के संचालक को 'सूत्रधार' कहते हैं। यह नान्दी के पश्चात् रङ्गमञ्च पर प्रवेश करता है एवं नाट्य के कार्य के कारणभूत बीज का संकेत देने वाला नट होता है। अपने साथियों के साथ सूत्रधार के विध्वंसित होने का उल्लेख इस तथ्य का परिचायक है कि दैत्यों द्वारा किया गया यह विघ्न, प्रस्तावना के बीच में ही हुआ।

१. जर्जर—अभिनवभारती में इसे यङ्लुगन्त (जृ धातु) से णिच् प्रत्यय व फिर अच् प्रत्यय करके निष्पन्न बताया गया है। इन्द्र ने अपने ध्वज से विघ्नों को जर्जरित कर दिया अतः ध्वज का नाम ही जर्जर पड़ गया। इस उपाख्यान से यह तथ्य प्रदर्शित किया गया है कि नाट्य-प्रयोग में बाधक तत्त्वों को इसी प्रकार जर्जरित कर देना चाहिए।

'जर्जर' भी नाट्य के पारिभाषिक शब्दों में से एक है। इसके निर्माण एवं पूजाविधि की नाट्यशास्त्र में विवेचना हुई है। संक्षेप में १०८ अंगुल लम्बा, पाँच पर्व एवं चार ग्रन्थियुक्त बाँस ही 'जर्जर' के लिए श्रेष्ठ है।

देवगणों द्वारा इन्द्रध्वज का जर्जर नामकरण—

निहतेषु च सर्वेषु विघ्नेषु सह दानवैः।
संप्रहृष्य ततो वाक्यमाहुः सर्वे दिवौकसः ॥ ७१ ॥

दैत्यों के सहित विघ्नों के इस प्रकार नष्ट हो जाने पर अत्यधिक प्रसन्न होकर सभी देवतागण मुझसे इस प्रकार कहने लगे ॥ ७१ ॥

अहो प्रहरणं दिव्यमिदमासादितं त्वया।
जर्जरीकृतसर्वाङ्गा येनैते दानवाः कृताः ॥ ७२ ॥

आपको यह दिव्यास्त्र प्राप्त हो गया, जिसके द्वारा इन दानवों के समस्त अंग जीर्णशीर्ण कर दिये गये ॥ ७२ ॥

यस्मादनेन ते विघ्नाः सासुरा जर्जरीकृताः।
तस्माज् जर्जर एवेति नामतोऽयं भविष्यति ॥ ७३ ॥

क्योंकि आपने इस (ध्वज) के द्वारा असुरों के साथ सम्पूर्ण विघ्नों को (मार-मार कर) जर्जर कर दिया इसलिए भविष्य में इसकी संज्ञा 'जर्जर' होगी ॥ ७३ ॥

शेषा ये चैव हिंसार्थमुपयास्यन्ति हिंसकाः।
दृष्ट्वैव जर्जरं तेऽपि गमिष्यन्त्येवमेव तु ॥ ७४ ॥

जो गण बच गए हैं, वे भी भविष्य में यदि कभी विघ्न डालने आयेंगे तो वे भी 'जर्जर' को देखकर इसी प्रकार चले जायेंगे ॥ ७४ ॥

एवमेवास्त्विवति ततः शक्रः प्रोवाच तान् सुरान्।
रक्षाभूतश्च सर्वेषां भविष्यत्येष जर्जरः ॥ ७५ ॥

तब इन्द्र ने देवताओं से कहा—'ऐसा ही हो' यह जर्जर सब [अभिनेताओं] का रक्षक सिद्ध होगा ॥ ७५ ॥

जर्जर के वर्णन के तत्काल बाद ही भरतमुनि द्वारा 'नाट्यवेश्म' का प्रकरण प्रारम्भ किया गया है। इससे यह ध्वनित होता है कि नाट्यागार के अभाव में उस काल तक नाटक खुले आकाश के नीचे खेले जाते होंगे। ऐसी स्थिति में उद्दण्ड दर्शकों को अनुशासन बद्ध रखने के लिए जर्जर की व्यवस्था की गयी होगी। किन्तु सुनिर्मित नाट्यालयों के आविर्भाव के पश्चात् जर्जर की उपस्थिति उपादेय न होकर रूढ़ रीतिमात्र रह गई। नाट्यशास्त्र में २७.३९ में कहा गया है कि प्राश्निक जर्जर मोक्ष के बाद कार्य आरम्भ करें। इससे अनुमान किया जा सकता है कि रूढ़ रीति के रूप में जर्जर रङ्गमञ्च के सामने स्थित रखता होगा व इसको हटाने पर नाट्यरङ्ग की सूचना मिलती होगी।

विघ्नों का पुनः आक्रमण—

प्रयोगे प्रस्तुते ह्येवं स्फीते शक्रमहे पुनः ।
त्रासं सञ्जनयन्ति स्म विघ्नाः शेषास्तु नृत्यताम् ॥ ७६ ॥

इस प्रकार इन्द्र के महोत्सव के अवसर पर नाट्याभिनय के पुनः प्रयोग किये जाने पर अवशिष्ट विघ्न अभिनय करने वालों को कष्ट देने लगे ॥ ७६ ॥

भरतमुनि द्वारा ब्रह्मा से विघ्नों के निवारण के विषय में प्रश्न—

दृष्ट्वा तेषां व्यवसितं दैत्यानां विप्रकारजम् ।
उपस्थितोऽहं ब्रह्माणं सुतैः सर्वैः समन्वितः ॥ ७७ ॥

उन दैत्यों की इस प्रकार के विघ्नकारक व्यापार को देखकर मैं [भरतमुनि] अपने सब पुत्रों के साथ ब्रह्मा के पास गया ॥ ७७ ॥

निश्चिता भगवन् विघ्ना नाटचस्यास्य विनाशने ।
अस्य रक्षाविधिं सम्यगाज्ञापय सुरेश्वर ॥ ७८ ॥

[भरत ने ब्रह्मा से कहा] हे भगवन् ! यह विघ्न इस नाट्य का विनाश करने के लिये दृढप्रतिज्ञ है । अतः हे सुरेश्वर ! आप इसको बचाने का उपाय भलीभाँति बताइये ॥ ७८ ॥

ततश्च विश्वकर्माणं ब्रह्मोवाच प्रयत्नतः ।
कुरु लक्षणसम्पन्नं नाटचवेश्म महामते ॥ ७९ ॥

तब [मेरी प्रार्थना सुनकर] ब्रह्मा ने वास्तुकलाविद् विश्वकर्मा से कहा कि हे कुशाग्रबुद्धि वाले ! तुम प्रयासपूर्वक एक सर्वलक्षणसम्पन्न नाट्यशाला की रचना करो ॥ ७९ ॥

ब्रह्मा द्वारा विघ्ननिवारण के लिये विश्वकर्मा द्वारा नाट्यशाला का निर्माण करवाना—

ततोऽचिरेण कालेन विश्वकर्मा महच्छुभम् ।
सर्वलक्षणसम्पन्नं कृत्वा नाट्यगृहं तु सः ॥ ८० ॥
प्रोक्तवान् द्रुहिणं गत्वा सभायां तु कृताञ्जलिः ।
सज्जं नाटचगृहं देव तदवेक्षितुमर्हसि ॥ ८१ ॥

तब विश्वकर्मा ने तत्काल एक अत्यन्त मंगलमय व सुलक्षणयुक्त नाट्यगृह की रचना करके ब्रह्मा के पास जाकर हाथ जोड़कर सभा में कहा कि हे देव ! नाट्यगृह सुसज्जित कर दिया गया है, आप उसे देख लीजिए ॥ ८०-८१ ॥

ततः सह महेन्द्रेण सुरैः सर्वैश्च सेतरैः ।
आगतस्त्वरितो द्रष्टुं द्रुहिणो नाटचमण्डपम् ॥ ८२ ॥

इसके पश्चात् इन्द्र एवं अन्यान्य देवताओं के साथ ब्रह्मा तुरन्त ही नाट्यमण्डप को देखने गये ॥ ८२ ॥

नाट्यगृह की रक्षा के लिए देवगणों की नियुक्ति—

दृष्ट्वा नाटचगृहं ब्रह्मा प्राह सर्वान् सुरांस्ततः ।
अंशभागैर्भवद्भिस्तु रक्ष्योऽयं नाटचमण्डपः ॥ ८३ ॥

नाट्यगृह का निरीक्षण करके ब्रह्मा ने सब देवताओं से कहा कि आप सब लोग इस नाट्यमण्डप के एक एक भाग की रक्षा करें[1] ॥ ८३ ॥

रक्षणे मण्डपस्याऽथ विनियुक्तस्तु चन्द्रमाः ।
लोकपालास्तथा दिक्षु विदिक्ष्वपि च मारुताः ॥ ८४ ॥

इस नाट्यगृह के मण्डप की [सामान्य] रक्षा के लिये विशेषरूप से चन्द्रमा को नियुक्त किया गया । [चारों दिशाओं के] दिक्प्रालों में जो जिस दिशा का स्वामी था उसे उस दिशा का रक्षक बनाया गया और विदिशाओं में मरुद्गणों की नियुक्ति हुई[2] ॥ ८४ ॥

नेपथ्यभूमौ मित्रस्तु निक्षिप्तो वरुणोऽम्बरे ।
वेदिकारक्षणे वह्निर्भाण्डे सर्वदिवौकसः ॥ ८५ ॥

नेपथ्यभूमि की रक्षा का भार मित्र को दिया एवं आकाश की रक्षा के निमित्त वरुण को रखा । रङ्गवेदिका [स्टेज] की रक्षा के लिए अग्नि एवं वाद्यों की रक्षार्थ मेघों को नियुक्त किया गया ॥ ८५ ॥

वर्णाश्चत्वार एवाथ स्तम्भेषु विनियोजिताः ।
आदित्याश्चैव रुद्राश्च स्थिताः स्तम्भान्तरेष्वथ ॥ ८६ ॥

चारो वर्णों[3] (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) के अधिष्ठाता देवताओं की नियुक्ति

१. यहाँ तात्पर्य यह है कि विघ्नों से रक्षा के निमित्त नाट्यमण्डप के कई भाग कल्पित कर दिये जायँ एवं प्रत्येक अंश की रक्षा का भार एक देवता ले लें ।

२. **ईशान**—आग्नेय-नैऋत्य एवं वायव्य यह दिशायें अथवा उपदिशायें हैं । अभिनवभारती के उल्लेख के अनुसार उपदिशाओं (एवं दिशाओं) में मरुत की नियुक्ति आतपदोषनिवारणार्थ हुई है । कुछ व्याख्याकारों के अनुसार इससे प्रेक्षा-गृह में गवाक्ष बनाने का संकेत मिलता है ।

३. **वर्णाश्चत्वारः**—वर्ण से यहाँ श्वेत लौहितादि वर्ण (रंग) का अर्थ न लेकर ब्राह्मणादि चतुर्वर्ण का अर्थ लिया गया है । द्वितीय अध्याय में स्तम्भों को स्पष्टतया इन्हीं चारों वर्णों से सम्बन्धित बताया जाने में यही अर्थ प्रासंगिक प्रतीत होतां है ।

स्तम्भों के लिये हुई। स्तम्भों के बीच के भाग के रक्षण के लिए आदित्य एवं रुद्र नियोजित हुए ॥ ८६ ॥

धारणीष्वथ भूतानि शालास्वप्सरसस्तथा।
सर्ववेश्मसु यक्षिण्यो महीपृष्ठे महोदधिः ॥ ८७ ॥

धन्नियों[1] की रक्षार्थ पञ्चमहाभूतों के अधिष्ठाता देवता (पृथिवी, जल, अग्नि, आकाश, वायु), दुमंजिले के कक्षों की रक्षार्थ अप्सराएँ एवं अन्य समस्त गृहों की रक्षार्थ यक्षिणियाँ और भूमि के फर्श की रक्षार्थ समुद्र को नियुक्त किया गया ॥ ८७ ॥

द्वारशालानियुक्तौ तु कृतान्तः काल एव च।
स्थापितौ द्वारपत्रेषु नागमुख्यौ महाबलौ ॥ ८८ ॥

देहली में यमराज एवं काल (समय) की नियुक्ति हुई तथा कपाटों की रक्षा के लिए परमशक्तिशाली दोनों नागराज[2] लगाये गये ॥ ८८ ॥

देहल्यां यमदण्डस्तु शूलं तस्योपरि स्थितम्।
द्वारपालौ स्थितौ चोभौ नियतिर्मृत्युरेव च ॥ ८९ ॥

देहली (दरवाजे की नीचे की लकड़ी-चौखट) पर यमदण्ड और उस (द्वार) के ऊपर त्रिशूल स्थित हुआ। नियति (भवितव्यता) एवं मृत्यु को द्वारपाल बनाया गया ॥ ८९ ॥

पार्श्वे च रङ्गपीठस्य महेन्द्रः स्थितवान् स्वयम् ॥ ९९ ॥
स्थापिता मत्तवारण्यां विद्युद्दैत्यनिषूदनी।

रङ्गपीठ के बगल में स्वयं महेन्द्र स्थित हुए तथा मत्तवारणी में दैत्यों का संहार करने वाली विद्युत को स्थापित किया गया ॥ ९० ॥

---

१. **धारणीषु**—अभिनवभारती में इसकी व्याख्या की गई है—'स्तम्भद्वय-मध्याश्मानि' अर्थात् दो स्तम्भों के बीच रखे गये पत्थर। प्रेक्षागृह के विभिन्न अंशों की चर्चा करते हुए स्तम्भों एवं स्तम्भों के मध्यवर्ती भाग के उल्लेख के क्रम में यहाँ धारणीषु का अर्थ 'धन्नी अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, न कि प्रेक्षक के बैठने का स्थान', (जैसा कि श्री घोष का अभिमत है।)

२. दोनों नागों का तात्पर्य अभिनवगुप्त के मत में अनन्त एवं गुलिक से है। श्री घोष के अनुसार यह अनन्त एवं वासुकि के परिचायक हैं। यों तो यहाँ नाग का अर्थ 'गज' भी हो सकता है। किन्तु परम्परा रक्षक के रूप में सर्प की धारणा के ही प्रचलित होने के कारण यहाँ नाग का अर्थ सर्पराजद्वय से ही है।

स्तम्भेषु मत्तवारण्याः स्थापिताः परिपालने ।
भूतयक्षपिशाचाश्च गुह्यकाश्च महाबलाः ॥ ९१ ॥

मत्तवारणी[1] के स्तम्भों[2] की रक्षा के लिए भूत, यक्ष, पिशाच एवं शक्तिशाली गुह्यकों को नियत किया गया ॥ ९१ ॥

जर्जरे तु विनिक्षिप्तं वज्रं दैत्यनिबर्हणम् ।
तत्पर्वसु विनिक्षिप्ताः सुरेन्द्रा ह्यमितौजसः ॥ ९२ ॥

जर्जर (इन्द्र के ध्वज) की रक्षा के लिये दैत्यों का संहारक बज्र नियुक्त किया गया एवं उसके पोरों पर अपरिमित पराक्रम वाले देवों को (निम्नरूप से) स्थापित किया गया ॥ ९२ ॥

शिरःपर्वस्थितो ब्रह्मा द्वितीये शङ्करस्तथा ।
तृतीये च स्थितो विष्णुश्चतुर्थे स्कन्द एव च ॥ ९३ ॥

जर्जर की शीर्षस्थ (प्रथम) पोर पर ब्रह्मा, दूसरी पर शंकर, तीसरी पर विष्णु एवं चतुर्थ पर स्कन्द स्थित हुये ॥ ९३ ॥

पञ्चमे च महानागाः शेषवासुकितक्षकाः ।
एवं विघ्नविनाशाय स्थापिता जर्जरे सुराः ॥ ९४ ॥

और इसी प्रकार विघ्नशमन के लिए देवताओं ने (जर्जर के) पाँचवें पोर पर शेष, वासुकि एवं तक्षक आदि महानागों को स्थापित किया ॥ ९४ ॥

रङ्गपीठस्य मध्ये तु स्वयं ब्रह्मा प्रतिष्ठितः ।
इष्ट्यर्थं रङ्गमध्ये तु क्रियते पुष्पमोक्षणम् ॥ ९५ ॥

रङ्गपीठ (स्टेज) के मध्य में ब्रह्मा स्वयं स्थित हुए। यही कारण है कि पूजा के लिए स्थित रङ्गपीठ के मध्यभाग में पुष्प अर्पण किये जाते हैं ॥ ९५ ॥

पातालवासिनो ये च यक्षगुह्यकपन्नगाः ।
अधस्ताद्रङ्गपीठस्य रक्षणे ते नियोजिताः ॥ ९६ ॥

---

१. **मत्तवारणी**—नाट्यशास्त्र का यह अत्यधिक विवादास्पद शब्द है। वास्तुकला की दृष्टि से इसके अनेक अर्थ हैं—(१) बरामदा (२) मत्त (३) हाथियों की पंक्ति (४) छोटा कमरा (५) कटहरा एवं (६) पार्श्व आदि। मत्तवारिणी के विशेष परिचय के लिए द्वितीय अध्याय द्रष्टव्य है।

२. **स्तम्भेषु**—इनकी संख्या चार है। यद्यपि यहाँ इसका निर्देश नहीं है तथापि इनके रक्षक भूतादि की संख्या चार होने से यही ध्वनि निकलती है और आगे मत्तवारणी के चार स्तम्भों का स्पष्ट उल्लेख हुआ भी है।

और जो पाताल में रहने वाले यक्ष, गुह्यक तथा रक्षा के लिए नागलोक हैं, उन्हें भूमि के अन्दर की ओर से रङ्गपीठ की रक्षा के लिए नियोजित किया गया ॥ ९६ ॥

नायकं रक्षतीन्द्रस्तु नायिकां च सरस्वती ।
विदूषकमथौङ्कारः शेषास्तु प्रकृतीर्हरः ॥ ९७ ॥

[नाट्य के] नायक की रक्षा इन्द्र करते हैं एवं नायिका की सरस्वती । विदूषक की रक्षा ओङ्कार करता है एवं बचे हुए (अन्य अभिनेताओं) की रक्षा शंकर करते हैं ॥ ९७ ॥

यान्येतानि नियुक्तानि दैवतानीह रक्षणे ।
एतान्येवाधिदैवानि भविष्यन्तीत्युवाच सः ॥ ९८ ॥

यहाँ (नाट्यगृह की) रक्षा में जो-जो देवता नियुक्त किये गये हैं, वह उस उस भाग के अधिष्ठातृ देवता होंगे ॥ ९८ ॥

एतस्मिन्नन्तरे देवैः सर्वैरुक्तः पितामहः ।
साम्ना तावदिमे विघ्नाः स्थाप्यन्तां वचसा त्वया ॥ ९९ ॥

इसी बीच में सब देवताओं ने पितामह से यह कहा कि पहले आप शान्तिपूर्वक, वचनों द्वारा ही इन विघ्नों को रोकिये ॥ ९९ ॥

देवताओं का ब्रह्माजी से अनुरोध—

पूर्वं साम प्रयोक्तव्यं द्वितीयं दानमेव च ।
तयोरुपरि भेदस्तु ततो दण्डः प्रयुज्यते ॥ १०० ॥

[नीतिशास्त्र के अनुसार व्यवहार में] पहले साम (शान्तिपूर्ण उपाय) का प्रयोग करना चाहिए, इसके बाद दान (धनप्रयोग) का, और तब भेद (फूट डालने) का । इन सबके बाद (अन्त में ही) दण्ड (सज़ा) का प्रयोग करना अपेक्षित है ॥ १०० ॥

देवानां वचनं श्रुत्वा ब्रह्मा विघ्नानुवाच ह ।
कस्माद्भवन्तो नाट्यस्य विनाशाय समुत्थिताः ॥ १०१ ॥

देवताओं के कथन को सुनकर ब्रह्मा ने विघ्नों से पूछा कि आप नाट्य के विनाश के लिए क्यों उद्यत हुए हैं ? ॥ १०१ ॥

ब्रह्मा का विघ्नों से प्रश्न—

ब्रह्मणो वचनं श्रुत्वा विरूपाक्षोऽब्रवीद्वचः ।
दैत्यैर्विघ्नगणैः सार्धं सामपूर्वमिदं ततः ॥ १०२ ॥

ब्रह्मा की बात सुनकर दैत्यों एवं विघ्नों के साथ विरूपाक्ष **शान्तिपूर्वक** यह कहने लगा ॥ १०२ ॥

विघ्ननायक विरुपाक्ष का ब्रह्माजी को उत्तर—

योऽयं भगवता सृष्टो नाट्यवेदः सुरेच्छया।
प्रत्यादेशोऽयमस्माकं सुरार्थं भवता कृतः ॥ १०३ ॥

देवताओं की इच्छा से जो आपने इस नाट्यवेद की रचना की है, वह हमारे तिरस्कार के लिए एवं देवताओं के (हर्ष के) लिए है ॥ १०३ ॥

तन्नैतदेवं कर्तव्यं त्वया लोकपितामह ।
यथा देवास्तथा दैत्यास्त्वत्तः सर्वे विनिर्गताः ॥ १०४ ॥

हे लोकों के पितामह ! आपको ऐसा नहीं करना चाहिये था क्योंकि जैसे देवता आपसे उत्पन्न हैं उसी प्रकार दैत्य भी आप से ही उत्पन्न हुए हैं ॥ १०४ ॥

विध्नानां वचनं श्रुत्वा ब्रह्मा वचनमब्रवीत् ।
अलं वो मन्युना दैत्या विषादं त्यजतानघाः ॥ १०५ ॥

विरूपाक्ष की बात सुनकर ब्रह्मा बोले कि हे दैत्यों आप लोग नाराज न हों, तथा इस खेद का त्याग कर दें ॥ १०५ ॥

ब्रह्मा द्वारा विरूपाक्ष तथा विघ्नों को समझाना—

भवतां देवतानां च शुभाशुभविकल्पकः ।
कर्मभावान्वयापेक्षी नाटचवेदो मया कृतः ॥ १०६ ॥

मैंने जिस नाट्यवेद की संरचना की है वह आपके एवं देवताओं के दोनों ही के कल्याण एवं अकल्याण का विकल्प[1] करने वाला तथा दोनों ही के कर्मभाव एवं वंशादि को प्रकाशित करने वाला है[2] ॥ १०६ ॥

---

१. विकल्प—यहाँ विकल्प के दो अर्थ हो सकते हैं—(१) विशेष कल्पना, (२) विविध कल्पना। दोनों का अभिप्राय एक ही है कि इस नाट्य के कथानक में ऐसी वस्तुएँ प्राप्य हैं जिनमें देवों एवं दैत्यों दोनों के शुभाशुभ कर्मों का काल्पनिक चित्रण है। अर्थात् देवों एवं दैत्यों की विविध परिस्थितियों में कल्पना करके यह प्रदर्शित किया गया है कि उस विशेष स्थिति में उनके कर्म एवं भाव कैसे होंगे। यह सम्पूर्ण विचार काल्पनिक होंगे अतः उनके सम्बन्ध में दैत्यों को क्रोध नहीं करना चाहिये।

२. कर्मभावान्वयापेक्षी—यह नाट्य के स्वरूप की विशेषता का परिचायक शब्द है। अभिनवभारती के अनुसार कर्मधर्म (दान-स्नानादि) एवं अधर्म (हिंसा, स्नेयादि) रूप है। भाव स्वार्थता-परार्थता रूप है। तथा अन्वय के द्वारा

ब्रह्मा द्वारा नाट्य की प्रशंसा—

नैकान्ततोऽत्र भवतां देवानां चानुभावनम् ।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ॥ १०७ ॥

यहाँ (नाट्य में) न तो केवल आप दैत्य लोगों का भाव (चरित्रानुकरण) हुआ है और न केवल देवताओं का। नाट्य में तो सम्पूर्ण तीनों लोकों के भावों का अनुकरण होता है¹ ॥ १०७ ॥

व्यक्ति के निवास-स्थानादि तथा वंशादि का द्योतन होता है। कर्मभाव एवं अन्वय यह तीनों ही नाट्य में अपेक्षित होते हैं। किसी विशेष देश एवं काल में किसी भाव विशेष के अन्तर्गत किसी स्थान विशेष के वासी एवं वेशविशेषोद्भव व्यक्ति द्वारा आचरित विशेष कर्मों एवं उनसे प्राप्य शुभाशुभ फलों का अभिनयात्मक चित्रण नाट्य में होता है। प्रबुद्ध प्रेक्षक इससे 'करणीय' एवं 'अकरणीय' कृत्यों की संगति स्वयं बैठाता है।

१. **भावानुकीर्तन**—रत्यादिक स्थायी भावों को आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक एवं आहार्य—चतुर्विध अभिनय द्वारा फिर से प्रदर्शित करना 'भावानुकीर्तन' पद का शाब्दिक अर्थ है।

अभिनवगुप्त ने इस शब्द की गम्भीरता को समझा है और इससे निहित अनेक गूढार्थों को प्रकाशित किया है।

नाट्य में रामादि कार्यों का अनुकरण होता है। प्रश्न उठता है कि भूतकाल में स्थित रामादि के रत्यादि स्थायी भावों का अनुकरण कैसे सम्भव है? नाट्यावलोचन के समय यही अनुभूति होती है कि यह सब क्रियाएँ वर्तमान में हो रही हैं। यदि यह माने कि नट रामादि से साक्षात्कार की यह अनुभूति आती है तो फिर दूसरे की चेष्टा का अनुकरण करने मात्र की नाट्य संज्ञा हो जायेगी। नाट्य अनुकरण कदापि नहीं है। तब भावानुकीर्तन का अर्थ क्या है?

ज्ञान के दशरूप हैं—

(१) तात्त्विक, (२) सादृश्यात्मक, (३) भ्रान्त, (४) मिथ्या (५) आध्यवसायिक, (६) उत्प्रेक्ष्यमाण, (७) प्रतिकृतिरूप, (८) अनुकरणात्मक (९) इन्द्रजालवत् तात्कालिक निर्माण, (१०) मायवात् ।

नाटक में रामादि की प्रतीति इनमें से किसी भी ज्ञान के अन्तर्गत नहीं आती।

नाटक में तो जो ज्ञान होता है यह लोकोत्तर तथा सब प्रकार के ज्ञानों से परे (साधारणीकृत, अतएव अलौकिक) होता है। रामादि विषयक ज्ञान होने पर और तद्रूप संस्कार के निरन्तर बने रहने से नट राम के ज्ञान एवं संस्कारयुक्त होकर,

क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचिच्छ्रमः ।
क्वचिद्धास्यं क्वचिद्युद्धं क्वचित्कामः क्वचिद्वधः ॥ १०८ ॥

कहीं धर्म, कहीं (विस्मयादि) क्रीड़ा, कहीं अर्थ (राजनीति एवं कहीं युद्ध, कहीं काम एवं कहीं वध प्रदर्शित किया जाता है) ॥ १०८ ॥

धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम् ।
निग्रहो दुर्विनीतानां विनीतानां दमक्रिया ॥ १०९ ॥

धर्मपरायण व्यक्तियों के धर्म का, कामोपसेवी के काम का एवं उद्दण्ड जनों के निग्रह का तथा विनीत व्यक्तियों की (इन्द्रिय) दमन की प्रवृत्ति का इसमें वर्णन है ॥ १०९ ॥

अलौकिक रामादि के चरित में अपने स्वरूप को प्रविष्ट कर देता है अर्थात्, रामादि से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। तब वह संसार को भी उसी दृष्टि से देखता है जैसा कि रामादि को देखना उचित है। जिससे सामाजिक को नाटक में 'वर्तमानता' की अनुभूति होती है। हमारे विचार से यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि नाट्य में रामादि के विशेष रूप का ग्रहण नहीं होता, साधारणीकृतरूप का ग्रहण होता है। नट राम के स्वरूप से अपना साधारणीकरण करता है एवं प्रेक्षक नट द्वारा साधारणीकृत राम के रूप से अपना तादात्म्य स्थापित करके रस का आनन्द लेता है।

नाट्य अनुकरण रूप कदापि नहीं, दूसरों की चेष्टा से तो हास उत्पन्न होता है (परचेष्टानुकरणाद्धासः समुपजायते—ना० शा० ७-१०)। नाट्य का अनुकरण-रूप होना इस कारण भी अनुपयुक्त है कि न तो विभावों का अनुकरण होना सम्भव है (एतेन प्रमदादिविभावानामनुकरणं पराकृतम्—अभि० भा०।) और न अनुभावों का [न च चित्तवृत्तीनां शोक-क्रोधादिरूपाणाम्... ।—अभि० भा०।) अतः नाट्य अनुव्यवसाय-विशेष का कार्य है [तेनानुव्यवसायविशेषविषयीकार्यं नाट्यम्]।

नाट्य में नट अनुकार्य के सुख दुःख आदि भावों का अभिनयात्मक अनुकरण करता है और उस समय साधारणीकरण के व्यापार द्वारा नट प्रदर्शित अनुकार्यगत विभावानुभाव व्यभिचारिभावों का स्वगत में विलयन हो जाता है। फलस्वरूप प्रेक्षक वेद्यान्तर-स्पर्शशून्य होकर चिदानन्द के प्रकाश से विभोर होकर ब्रह्मानन्द सहोदर रस का आस्वादन करने लगता है। यही भावानुकीर्तन नाट्य है।

क्योंकि नाट्य अनुकरण नहीं है अतः शंका का स्वतः समाधान हो जाता है कि "लोक में कोई अनुकार्य सब अवस्थाओं में गीतवाद्यादि से युक्त नहीं पाया जाता फिर नाट्य में गीत-वाद्य का बाहुल्य क्यों होता है।"

वस्तुतः यह विषय अत्यन्त क्लिष्ट एवं विस्तृत है, जिसकी विशद विवेचना भरतमुनि ने आगे की है।

क्लीबानां धाष्टर्यकरणमुत्साहः शूरमानिनाम्।
अबुधानां विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि ॥ ११० ॥

(यह नाट्य) नपुंसकों (तक) में धृष्टता को और शूरवीरों में उत्साह को उत्पन्न करने वाला है। प्राज्ञ जनों को विवेक देने वाला और विद्वज्जनों को वैदग्ध्य प्रदान करता है ॥ ११० ॥

ईश्वराणां विलासश्च स्थैर्यं दुःखार्दितस्य च।
अर्थोपजीविनामर्थो धृतिरुद्विग्नचेतसाम् ॥ १११ ॥

ऐश्वर्यशाली व्यक्तियों के लिए विलास, दुःखसंतप्त व्यक्तियों के लिए धैर्य दिलाने वाला, धनोपजीवी व्यक्तियों के लिए अर्थमय (अर्थस्वरूप या अर्थप्रदाता), एवं उद्विग्नमन वाले व्यक्तियों के लिए धैर्य देने वाला है ॥ १११ ॥

नानाभावोपसंपन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ॥ ११२ ॥

नानाविध भावों से समन्वित, अनेकविध अवस्थाओं से युक्त एवं लोकव्यवहार का अनुकरण करने वाला यह नाट्य मैंने बनाया है ॥ ११२ ॥

उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम्।
हितोपदेशजननं धृतिक्रीडासुखादिकृत् ॥ ११३ ॥
(एतद्रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियास्वथ।
सर्वोपदेशजननं नाट्यं लोके भविष्यति ॥)

(यह नाटक) श्रेष्ठ, नीच एवं इन दोनों के बीच के—मध्यम प्रकार के मनुष्यों के आचरण पर आश्रित, कल्याणप्रद उपदेश देने वाला तथा धैर्य, मनोरंजन एवं सुखादि को उत्पन्न करने वाला (सिद्ध होगा) ॥ ११३ ॥

(संसार में यह नाट्य रसों, भावों एवं सब कर्मों तथा क्रियाओं में, सर्वविध उपदेश देने वाला होगा।)

दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद्भविष्यति ॥ ११४ ॥

दुःख से कातर, परिश्रम से शिथिल, तथा शोकसंतप्त लोगों के (=तपस्विनाम्) लिए यह नाट्य समय-समय पर विश्रान्तिप्रद होगा ॥ ११४ ॥

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति ॥ ११५ ॥

यह नाट्य धर्म को उत्पन्न करने वाला, यश देने वाला, आयुप्रद, मंगलमय, ज्ञानवर्धक एवं संसार को उपदेश देने वाला होगा ॥ ११५ ॥

न तज्ज्ञानं, न तच्छिल्पं, न सा विद्या, न सा कला।
नासौ योगो, न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥ ११६ ॥

ऐसा कोई भी ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग अथवा कर्म नहीं है जिसका इस नाट्य में चित्रण न होता हो[1] ॥ ११६ ॥

(सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च।
अस्मिन्नाट्ये समेतानि तस्मादेतन्मया कृतम् ॥)

(समस्त शास्त्र, शिल्प, तथा नानाविध कर्म इस नाट्य में सन्निहित हैं, इसी कारण मैंने इसकी रचना की।)

तन्नात्र मन्युः कर्तव्यो भवद्भिरमरान्प्रति।
सप्तद्वीपानुकरणं नाट्यमेतद्भविष्यति ॥ ११७ ॥
(येनानुकरणं नाट्यमेतत्तद्यन्मया कृतम् ॥)

इस कारण आप (दैत्य) लोग देवताओं से इस (नाट्य के) विषय में कुपित न हो, इस नाट्य में सातों द्वीपों (में प्राप्य भावों) का अनुकरण किया गया है,

---

१. नाट्य की तथारूपता का कारण यह है कि यह सप्तद्वीप निवासियों के भावानुकीर्तनरूप है (सप्तद्वीपगतभावानुकीर्तनरूपे नाट्ये ··· अभि०भा०)।

यह श्लोक नाटक के क्षेत्र के महत्त्व एवं व्यापकता का बोधक है। नाटक लोक का अनुकीर्तन करता है। अतः लोक में प्राप्य समस्त ज्ञान, कला, साहित्यादि नाटक में यथा-स्थान प्रयुक्त किये जाते हैं। इस श्लोक में भरतमुनि ने जो दावा किया है, वह नाट्यशास्त्र के अध्ययन से नितान्त उपयुक्त प्रतीत होता है। अलंकार, रस, छन्द, वास्तुकला, नृत्य, गीत, कामशास्त्र आदि अनेकानेक कलाओं का इसमें समावेश मिलता है जिसमें नाट्यशास्त्र की विषयगत विविधता एवं विस्तार के सम्बन्ध में कोई संदेह नहीं रहता। अभिनवभारती की व्याख्या के अनुसार यहाँ प्रयुक्त ज्ञानादि शब्दों के अर्थ निम्नलिखित है—

ज्ञान—यह "उपादेय आत्मज्ञानादि" का वाचक शब्द है।

शिल्प—इससे माला, चित्र या पुस्त (दर्शनीय वस्तु) बनाने के रचनाकौशल का बोध होता है।

विद्या—विद्या शब्द से दण्डनीति इत्यादि चौदह विद्याओं का ग्रहण होता है।

कला—इससे गीत-वाद्यादि का ग्रहण होना चाहिये।

योग—योग का अर्थ है—मिलाना। यहाँ यह ज्ञान से लेकर कला तक के तत्त्वों को स्वयं अपने भेदों के साथ, अथवा परस्पर मिलाने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

[क्योंकि मेरे द्वारा रचित नाट्य अनुकरण (मात्र) है[1]] ॥ ११७ ॥

देवानामसुराणां च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम् ।
ब्रह्मर्षीणां च विज्ञेयं नाट्यं वृत्तान्तदर्शकम् ॥ ११८ ॥

नाट्य को देवताओं, दैत्यों, राजाओं तथा सम्बन्धी जनों एवं ऋषियों के वृत्तान्तों को प्रदर्शित करने वाला जानना चाहिये ॥ ११८ ॥

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः ।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते ॥ ११९ ॥

संसार का जो यह सुख एवं दुःख से परिपूर्ण स्वभाव है, अङ्ग[2] आदि के अभिनय से युक्त होने पर उसी को 'नाट्य' कहा जाता है ॥ ११९ ॥

(वेदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम् ।
विनोदकरणं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति ॥

(वेद चतुष्टय, चतुर्दश विद्याओं एवं इतिहास की कथाओं की कल्पना करने से यह नाट्य संसार में मनोरंजन का साधन (सिद्ध) होगा ।)

श्रुतिस्मृतिसदाचारपरिशेषार्थकल्पनम् ।
विनोदजननं लोके नाटचमेतद्भविष्यति ॥)

(वेदों, स्मृतियों, सदाचरण, आदि समस्त तत्त्वों की कल्पनाएँ करने से नाट्य संसार में मनोरंजन का साधन (सिद्ध) होगा ।)

---

१. यहाँ पर भरतमुनि के कथन का आशय यह है कि नाट्य में प्रदर्शित समस्त प्रिय या अप्रिय कार्य वास्तविक न होकर अनुकरण मात्र होते हैं अतः उनसे वैयक्तिक राग, द्वेष का उदय नहीं होना चाहिये। नाट्य में प्रदर्शित सातों द्वीपों के दुःख का अनुकरण काव्यात्मक होता है, वास्तविक नहीं। अतः वह भी रसानुभव देता है—नाट्य के अवलोकन से आनन्द का हेतु बन जाता है। अतः किसी को भी दुःखी या क्रोधित न होना चाहिये। नाट्य का उद्देश्य आनन्द प्राप्ति है, न कि क्लेशानुभूति ।

२. अंगाद्यभिनय—इस पद के विभिन्न अर्थ किये जाने संभव है ।

(अ) आंगिक, वाचिक, सात्त्विक एवं आहार्य नामक चतुर्विध अभिनय ।

(ब) शाखा, नृत्तगीत आदि ।

(स) विभाव, अनुभाव, एवं व्यभिचारि भाव आदि। नाट्यफल है रस-निष्पत्ति, एवं यह विभावानुभावव्यभिचारिभाव के संयोग अर्थात् विभावादि के अभिनय से युक्त है, ऐसा अर्थ भी हो सकता है ।

ब्रह्मा द्वारा देवताओं को नाट्यमण्डप के पूजन का आदेश—

एतस्मिन्नन्तरे देवान् सर्वानाह पितामहः।
क्रियतामद्य विधिवद्यजनं नाट्यमण्डपे ॥ १२० ॥

इसके (दैत्यों के कोप को शान्त करने के) पश्चात् पितामह ने सभी देवताओं से कहा—आज इस नाट्यमण्डप में विधिपूर्वक यज्ञ करना चाहिये ॥ १२० ॥

बलिप्रदानैर्होमैश्च मन्त्रौषधिसमन्वितैः।
भोज्यैर्भक्ष्यैश्च पानैश्च बलिः समुपकल्प्यताम् ॥ १२१ ॥

यह (यज्ञ) बलि के प्रदान एवं मन्त्री तथा औषधियों से युक्त होमाहुतियों के द्वारा सम्पन्न करना चाहिये। इसके साथ ही भोज्य, भक्ष्य[1] एवं पेय पदार्थों के द्वारा बलि सम्पन्न करना चाहिये ॥ १२१ ॥

मर्त्यलोकगताः सर्वे शुभां पूजामवाप्स्यथ।
अपूजयित्वा रङ्गं तु नैव प्रेक्षां प्रवर्तयेत् ॥ १२२ ॥

(यदि आप देवता लोग इस समय यज्ञ पूजन करेंगे तो फलस्वरूप) मृत्युलोक में आप सब लोगों की भी पूजा की जायगी। (इसके अलावा) रङ्ग की पूजा किये बिना नाट्य का प्रारम्भ नहीं करना चाहिये ॥ १२२ ॥

रङ्ग-मञ्च के पूजन का महत्त्व—

अपूजयित्वा रङ्गं तु यः प्रेक्षां कल्पयिष्यति।
निष्फलं तस्य तज् ज्ञानं तिर्यग्योनिं च यास्यति ॥ १२३ ॥

जो कोई रङ्ग की पूजा बिना किये नाट्य का प्रदर्शन करेगा उसका वह (नाट्यविषयक) ज्ञान व्यर्थ हो जायगा एवं (मृत्यु के बाद) वह तिर्यक् (पशु, पक्षी की) योनि को प्राप्त होगा ॥ १२३ ॥

यज्ञेन संमितं ह्येतद्रङ्गदैवतपूजनम्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन कर्तव्यं नाट्ययोक्तृभिः ॥ १२४ ॥

रङ्गस्थल के देवताओं की यह पूजा यज्ञ के समान है। इसलिए नाट्य का प्रयोग करने वालों को इसके अनुष्ठान का सब तरह से प्रयास करना चाहिये ॥ १२४ ॥

---

१. भोज्य एवं भक्ष्य पदार्थ यद्यपि हैं तो खाद्य वस्तुएँ ही, पर इनमें अन्तर यह है कि भोज्य कहते हैं मोदक, शष्कुली, सदृश कठोर खाद्य को एवं भक्ष्य से तात्पर्य है मुलायम खाद्य से यथा पायस, कृशरादि।

नर्तकोऽर्थपतिर्वापि यः पूजां न करिष्यति ।
न कारयिष्यत्यन्यैर्वा प्राप्नोत्यपचयं तु सः ॥ १२५ ॥

जो कोई नर्तक (नट अभिनेता) या (नाटक का संरक्षक) धनाधिपति रंग की पूजा स्वयं नहीं करेगा, या दूसरे से नहीं करायेगा उसकी हानि होगी ॥ १२५ ॥

यथाविधि यथादृष्टं यस्तु पूजां करिष्यति ।
स लप्स्यते शुभानर्थान् स्वर्गलोकं च यास्यति ॥ १२६ ॥

जो (नट या अर्थपति ब्रह्मा द्वारा बतायी गई) विधि के अनुसार (लोक एवं शास्त्र में) जैसा देखा जाता है वैसी पूजा करेगा वह कल्याणप्रद अर्थ (धन अथवा वस्तुएँ) प्राप्त करके स्वर्ग लोक में जाएगा ॥ १२६ ॥

एवंमुक्त्वा तु भगवान्द्रुहिणः सह दैवतैः ।
रङ्गपूजां कुरुष्वेति मामेवं समचोदयत् ॥ १२७ ॥

भगवान् ब्रह्मा ने इस प्रकार कहकर देवताओं के साथ ही मुझे भी रंगस्थल की पूजा करने की प्रेरणा दी ॥ १२७ ॥

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

—*—

।। अथ द्वितीयोऽध्यायः ।।

—*—

मुनियों का भरत से प्रश्न—

भरतस्य वचः श्रुत्वा पप्रच्छुर्मुनयस्ततः ।
भगवन् श्रोतुमिच्छामो यजनं रङ्गसंश्रयम् ।। १ ।।

भरत मुनि के वचनों को सुनकर मुनियों ने उनसे कहा कि हे भगवन् ! हम रंगस्थल में किये जाने वाले यज्ञ के विषय में सुनना चाहते हैं ।। १ ।।

अथ वा याः क्रियास्तत्र लक्षणं यच्च पूजनम् ।
भविष्यद्भिर्नरैः कार्यं कथं तन्नाटचवेश्मनि ।। २ ।।

अथवा (रंगस्थल में किये जाने वाले यज्ञ के पहले) उस (नाट्यशाला) में जो क्रियाएँ विधीयमान हो, तथा जिस लक्षण का पूजन हो उसे आगामी पीढ़ियाँ कैसे करें, (यह बतलाने की कृपा करें।) ।। २ ।।

इहादिर्नाट्ययोगस्य नाट्यमण्डप एव हि ।
तस्मात्तस्यैव तावत्त्वं लक्षणं वक्तुमर्हसि ।। ३ ।।

(क्योंकि) नाट्ययोजना का मूलतत्त्व नाट्यमण्डप है, अतः आपको सर्वप्रथम उसका लक्षण ही बताना चाहिये ।। ३ ।।

भरतमुनि द्वारा मुनियों के प्रश्न के उत्तर में नाट्यमण्डप की पूजनविधि का वर्णन—

तेषां तु वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतोऽब्रवीत् ।
लक्षणं पूजनं चैव श्रूयतां नाट्यवेश्मनः ।। ४ ।।

उन मुनियों के इस कथन को सुनकर भरतमुनि ने कहा—आप लोग नाट्यमण्डप के लक्षण एवं पूजनविधि को सुनिये ।। ४ ।।

दिव्यानां मानसी सृष्टिर्गृहेषूपवनेषु च ।
(यथाभावाभिनिर्वर्त्याः सर्वे भावास्तु मानुषाः ।।)
नराणां यत्नतः कार्या लक्षणाभिहिताः क्रियाः ।। ५ ।।

देवताओं के गृहों एवं उपवनों में जो सृष्टि होती है वह मानसिक होती है। [पर मनुष्यों के जो भाव (गृहादि सृष्टि) हैं वह सब जैसे (दृश्यमान) होते हैं, वैसे ही विधिपूर्वक बनाये जाते हैं।] अतः मनुष्यों को शास्त्र में कही हुई क्रियायें प्रयासपूर्वक सम्पन्न करनी होती हैं ॥ ५ ॥

श्रूयतां तद्यथा यत्र कर्तव्यो नाट्यमण्डपः।
तस्य वास्तु च पूजा च यथा योज्या प्रयत्नतः ॥ ६ ॥

अतः जिस स्थल पर एवं जिस विधि से नाट्यमण्डप की रचना करनी चाहिए उसकी तथा उस (नाट्यमण्डप) की गृहनिर्माण विधि तथा तदनुकूल पूजादि करने की विधि को ध्यानपूर्वक सुनो ॥ ६ ॥

नाट्यमण्डप के तीन भेद—

इह प्रेक्षागृहं दृष्टा धीमता विश्वकर्मणा।
त्रिविधः सन्निवेशश्च शास्त्रतः परिकल्पितः ॥ ७ ॥

यहाँ प्रेक्षागृह (की रचनाविधि) को देखकर बुद्धिशाली विश्वकर्मा ने शास्त्र के अनुकूल उसके तीन प्रकार के आकार की कल्पना की ॥ ७ ॥

त्रिविध नाट्यमण्डपों के त्रिविध परिमाण—

विकृष्टश्चतुरश्रश्च त्र्यश्रश्चैव तु मण्डपः।
तेषां त्रीणि प्रमाणानि ज्येष्ठं मध्यं तथाऽवरम् ॥ ८ ॥

(विश्वकर्मा की कल्पनानुसार) मण्डप आयताकार, वर्गाकार और त्रिभुजाकार होता है। उन (त्रिविध मण्डपों अर्थात् प्रेक्षागृहों) के ज्येष्ठ, मध्यम एवं अवर यह तीन परिमाण होते हैं ॥ ८ ॥

प्रमाणमेषां निर्दिष्टं हस्तदण्डसमाश्रयम्।
शतं चाष्टौ चतुःषष्टिर्हस्ता द्वात्रिंशदेव च ॥ ९ ॥

इन (त्रिविध मण्डपों) का परिमाण हस्त एवं दण्ड[1] पर आधारित है। परिमाण एक सौ आठ अथवा चौंसठ अथवा बत्तीस हस्त होता है ॥ ९ ॥

ज्येष्ठ, मध्य तथा कनिष्ठ नाट्यमण्डप का परिणाम—

अष्टाधिकं शतं ज्येष्ठं, चतुःषष्टिस्तु मध्यमम्।
कनीयस्तु तथा वेश्म हस्ता द्वात्रिंशदिष्यते ॥ १० ॥

एक सौ आठ हस्त (हस्त के परिमाण) का ज्येष्ठ, चौंसठ (हस्त) का मध्यम एवं बत्तीस हस्त का (नाट्यमण्डप) कनिष्ठ माना जाता है ॥ १० ॥

---

१. हस्त एवं दण्डादि माप की इकाइयाँ हैं। आगे भरत ने माप की अन्य इकाइयों का उल्लेख करते हुए स्वयं स्पष्ट किया है कि हस्तादि का क्या प्रमाण है।

देव, नृप, मानव आदि के लिए त्रिविध नाट्यमण्डप—

देवानां तु भवेज्ज्येष्ठं नृपाणां मध्यमं भवेत् ।
शेषाणां प्रकृतीनां तु कनीयः संविधीयते ।। ११ ।।

देवताओं का (प्रेक्षागृह) ज्येष्ठ होता है। राजाओं का मध्य होता है एवं अन्य सामान्यजन के लिए कनीय (नाट्यमण्डप) विहित किया जाता है ।। ११ ।।

मध्य नाट्यमण्डप की श्रेष्ठता—

(प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां प्रशस्तं मध्यमं स्मृतम् ।
तत्र पाठ्यं च गेयं च सुखश्राव्यतरं भवेत् ।।)

(इन प्रेक्षागृहों में मध्यम प्रेक्षागृह सर्वोत्तम होता है, क्योंकि उसमें जो कुछ (कथोपकथन) पढ़ा जाता है एवं जो (गानादि) गाए जाते हैं वह सरलतापूर्वक सुनाई देते हैं।

त्रिविध नाटयमण्डपों के त्रिविध आकार—

(प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां त्रिप्रकारो विधिः स्मृतः ।
विकृष्टश्चतुरस्रश्च त्र्यस्रश्चैव प्रयोक्तृभिः ।।)

समस्त प्रेक्षागृहों की तीन प्रकार की विधि होती हैं, (जिसके अनुसार) प्रयोक्ता गण उन्हें विकृष्ट (आयताकार), चतुरस्र (वर्गाकार) एवं त्र्यस्त्र (त्रिकोणाकार) रूप मानते हैं।

• त्रिविध नाट्यमण्डपों का परिमाण—

(कनीयस्तु स्मृतं त्र्यस्रं चतुरस्रं तु मध्यमम् ।
ज्येष्ठं विकृष्टं विज्ञेयं नाटयवेदप्रयोक्तृभिः ।।)

नाट्यवेद के प्रयोक्ताओं के मतानुसार सबसे छोटे को त्र्यस्र एवं मध्यमाकार वाले को चतुरस्र एवं सबसे बड़े (प्रेक्षागृह) को विकृष्ट कहा जाता है।[1])

---

१. इस श्लोक एवं इसके पूर्ववर्ती श्लोक समुदाय के द्वारा भरतमुनि ने नाट्यगृह के आकार पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है।

नाट्यगृह का त्रिविध विभाजन आकारपरक है। इस दृष्टि से प्रेक्षागृह के तीन प्रकार किए गए हैं—(१) विकृष्ट; (२) चतुरस्र, (३) त्र्यस्र। हस्तपरिमाण के आधार पर भी प्रेक्षागृह के तीन भेद माने गए हैं—(१) ज्येष्ठ, (२) मध्यम, और (३) कनीय।

कुछ व्याख्याकारों के मत में प्रेक्षागृहों के भेद के यह उभय प्रकार एक ही हैं। इस तरह ज्येष्ठ = विकृष्ट, मध्यम = चतुरस्र एवं अवर = त्र्यस्र।

किन्तु अभिनवगुप्ताचार्य के मत में यह धारणा अमान्य है। उनके कथनानुसार कुछ लोगों का यह कहना कि विकृष्टादि ही क्रमशः ज्येष्ठादि हैं, उपयुक्त नहीं है। अपितु यह कथन सत्य है कि इनमें प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं और सब मिलाकर नौ भेद होते हैं। (एतान्येव त्रीणि ज्येष्ठादीनि इति केचित्, अन्ये तु प्रत्येकं त्रित्वमिति नवेतेऽत्र भेदा इत्याहुः, एतदेव युक्तम्)। इन नवविध मण्डपों की नाप भी दो प्रकार की हैं—हस्तात्मक एवं दण्डात्मक। इस तरह से प्रेक्षागृहों के अष्टादश रूप सिद्ध होते हैं, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है—

१. ज्येष्ठ विकृष्ट	(हस्तप्रमाण)	(देवतार्थ)
२. ज्येष्ठ चतुरस्र	(,,)	(,,)
३. ज्येष्ठ त्र्यस्र	(,,)	(,,)
४. मध्यम विकृष्ट	(,,)	(नृपार्थ)
५. मध्यम चतुरस्र	(,,)	(,,)
६. मध्यम त्र्यस्र	(,,)	(,,)
७. कनीय विकृष्ट	(,,)	(लोकार्थ)
८. कनीय चतुरस्र	(,,)	(,,)
९. कनीय त्र्यस्र	(,,)	(,,)
१०. ज्येष्ठ विकृष्ट	(दण्डप्रमाण)	(देवतार्थ)
११. ज्येष्ठ चतुरस्र	(,,)	(,,)
१२. ज्येष्ठ त्र्यस्र	(,,)	(,,)
१३. मध्मम विकृष्ट	(,,)	(नृपार्थ)
१४. मध्यम चतुरस्र	(,,)	(,,)
१५. मध्यम त्र्यस्र	(,,)	(,,)
१६. कनीय विकृष्ट	(,,)	(लोकार्थ)
१७. कनीय चतुरस्र	(,,)	(,,)
१८. कनीय त्र्यस्र	(,,)	(,,)

यहाँ पर जिन हस्त एवं दण्डप्रमाणों का उल्लेख हुआ है वह प्रेक्षागृह की एक भुजा के वाचक हैं। इनसे चतुरस्र एवं त्र्यस्र प्रेक्षागृहों का परिमाण जानने में तो कोई बाधा नहीं होती किन्तु विकृष्ट प्रेक्षागृह के विषय में संदेह निवारण नहीं हो पाता क्योंकि उसकी चारों भुजाएँ एक समान नहीं होतीं। इस शंका का समाधान आगे सत्रहवें श्लोक में जाकर हो जाता है—जहाँ मनुष्यों के विकृष्ट प्रेक्षागृह की भुजाओं का अनुपात, २ : १ दिया गया है। यदि इसी अनुपात को अन्यत्र भी प्रयुज्य समझा जाए तो यह प्रयास कुतर्क नहीं होगा।

प्रेक्षागृहों की माप के प्रमाण (बाँट)—

प्रमाणं यच्च निर्दिष्टं लक्षणं विश्वकर्मणा।
प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तच्चैव हि निबोधत॥ १२॥

विश्वकर्मा ने (इन त्रिविध प्रेक्षागृहों का) जो प्रमाण एवं लक्षण तय किया है उसे भी अच्छी तरह जान लो[1]॥ १२॥

अणू रजश्च बालश्च लिक्षा यूका यवस्तथा।
अङ्गुलं च तथा हस्तो दण्डश्चैव प्रकीर्तितः॥ १३॥

१. अणु, २. रज, ३. बाल, ४. लिक्षा, ५. यूका, ६. जौ, ७. अंगुल, ८. हस्त, एवं ९. दण्ड (प्रमाणों के यह प्रकार) कहे जाते हैं॥ १३॥

अणवोष्टौ रजः प्रोक्तं, तान्यष्टौ वाल उच्यते।
वालास्त्वष्टौ भवेल्लिक्षा, यूका लिक्षाष्टकं भवेत्॥ १४॥

आठ 'अणु' के संयोग को 'रज' कहते हैं, वे आठ (रज) मिलकर 'बाल' कहे जाते हैं, आठ बालों की एक 'लिक्षा' (लीख) होती है और आठ लिक्षाओं को मिलाकर एक 'यूका' (जूं) होती है॥ १४॥

यूकास्त्वष्टौ यवो ज्ञेयो, यवास्त्वष्टौ तथाङ्गुलम्।
अङ्गुलानि तथा हस्तश्चतुर्विंशतिरुच्यते॥ १५॥

आठ 'यूका' का एक 'यव' जानना चाहिए और आठ यव का एक 'अंगुल' होता है। एवं चौबीस अंगुलों का एक 'हस्त' होता है॥ १५॥

चतुर्हस्तो भवेद्दण्डो निर्दिष्टस्तु प्रमाणतः।
अनेनैव प्रमाणेन वक्ष्याम्येषां विनिर्णयम्॥ १६॥

परिमाण की दृष्टि से चार 'हस्त' का एक 'दण्ड' कहा गया है। इसी प्रमाण (के मापदण्ड) से मैं इन (प्रेक्षागृहों) के निर्णय को बतलाऊँगा॥ १६॥

---

१. माप की एकरूपता न होने से अनर्थ होने की आशंका है। हस्तों एवं दण्डों के नाप साधारणतः भिन्न भिन्न होते हैं अतः विविध नाप वाले हस्त एवं दण्डों को पैमाना बनाकर बने प्रेक्षागृह भी एक समान नहीं होंगे। इस वैभिन्न्य की आशंका के निर्मूलन हेतु भरतमुनि ने प्रमाणों का एक स्तर तय कर दिया है। परिमाणों का यह विभाजन अपनी सूक्ष्मता एवं वैज्ञानिकता के लिए आज भी स्तुत्य है। अभिनवगुप्त के मत में यहाँ अणु से तात्पर्य सामान्यतया प्रसिद्ध अणु (परमाणु) अर्थात् द्वयणुक प्रमाण से न होकर, जहाँ से दृश्यता प्रारम्भ होती है, उस त्र्यणुक 'अणु' से है।

मध्यम नाट्यमण्डप का परिमाण—

चतुःषष्टिकरान्कुर्याद्दीर्घत्वेन तु मण्डपम् ।
द्वात्रिंशतं च विस्तारान्मर्त्यानां यो भवेदिह ॥ १७ ॥

इनमें जो (प्रेक्षागृह) मनुष्यों के लिए है उसकी लम्बाई चौंसठ हस्त एवं चौड़ाई बत्तीस हस्त की रखी जाए[१] ॥ १७ ॥

विशाल नाट्यमण्डप के दोष—

अत ऊर्ध्वं न कर्तव्यः कर्तृभिर्नाट्यमण्डपः ।
यस्मादव्यक्तभावं हि तत्र नाट्यं व्रजेदिति ॥ १८ ॥

(नाट्यमण्डप की रचना) करने वाले व्यक्तियों को चाहिए कि इससे अधिक बड़ा नाट्यमण्डप न बनाएँ क्योंकि वहाँ (बड़े मण्डप में) नाट्य की अभिव्यक्ति अस्पष्ट रह जाएगी ॥ १८ ॥

मण्डपे विप्रकृष्टे तु पाठ्यमुच्चारितस्वरम् ।
अनिस्सरणधर्मत्वाद्विस्वरत्वं भृशं व्रजेत् ॥ १९ ॥

(दण्डप्रमाण ज्येष्ठादि) विप्रकृष्ट मण्डप में ऊँचे स्वर से किया गया उच्चारण (मण्डप में से) शीघ्र न निकल पाने के कारण[२] अत्यधिक विस्वर हो जाता

---

१. इसके द्वारा विकृष्ट मध्यम मण्डप का संकेत किया गया है क्योंकि इस मण्डप की भुजाओं की असमानता के कारण अन्य मण्डपों की भाँति एक भुजा के प्रमाणज्ञान से अन्य भुजाओं के परिमाण का बोध नहीं हो पाता है।

२. अनिस्सरणधर्मत्वाद्—अभिनवगुप्त के मत में इसका अर्थ है पास वाले दूसरे शब्द की उत्पत्तिरूप निस्सरण धर्म जहाँ न हो (शब्दान्तरस्य प्रसराभावादित्यर्थः) अर्थात् अत्यन्त दूरी के कारण शब्द का प्रसार न होने से पाठ विस्वर हो जाता है।

किन्तु इसका अर्थ यह करना असंगत नहीं कि 'अनिःसरण' द्वारा वाणी के मण्डप से बाहर न जाने की ओर संकेत है। ज्येष्ठ विप्रकृष्ट मण्डप भुजाओं की विशालता के ही अनुपात में भी होगा और तब उस बृहदाकार भवन में उच्च स्वर से यदि पाठ किया जायेगा तो ध्वनि इतने बड़े मण्डप में शीघ्र ही बाहर नहीं निकल पायेगी। फलस्वरूप अनुरणनात्मक गूंज सुनाई पड़ती रहेगी एवं इसी गूंज के मध्य आगामी उच्चारणों का क्रम चलते रहने पर शब्दों का स्वर विकृत होकर कुछ का कुछ प्रतीत होने लगेगा।

है[1] ॥ १९ ॥

यश्चाप्यास्यगतो भावो नानादृष्टिसमन्वितः ।
स वेश्मनः प्रकृष्टत्वाद् व्रजेदव्यक्ततां पराम् ॥ २० ॥

और उस (अभिनेता) के मुख पर भी अनेक दृष्टियों से समन्वित जो (सात्विक आदि) भाव उत्पन्न होंगे, वह भी प्रेक्षागृह के अत्यन्त विशाल होने पर अत्यन्त अव्यक्त (पीछे वाले दर्शकों को साफ दिखाई न देने के कारण अस्पष्ट) ही रहेंगे। (और इस प्रकार नाटक के चरम उद्देश्य रसानुभूति की भी सिद्धि नहीं होगी।) ॥ २० ॥

मध्यम नाट्यमण्डप की ज्येष्ठता—

प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तस्मान्मध्यममिष्यते ।
यावत्पाठ्यं च गेयं च तत्र श्रव्यतरं भवेत् ॥ २१ ॥

इस प्रकार समस्त प्रेक्षागृहों में मध्यम (प्रेक्षागृह) उपयुक्ततम है क्योंकि उसमें जितना भी पाठ्य एवं गायन होता है वह सब अनायास सुनाई देता है॥ २१ ॥

नाट्यमण्डपों के तीन भेद—

(प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां त्रिप्रकारो विधिः स्मृतः ।
विकृष्टश्चतुरस्रश्च त्र्यस्रश्चैव प्रयोक्तृभिः ॥

(नाट्य के प्रयोक्ताओं द्वारा समस्त प्रेक्षागृहों के तीन प्रकार निश्चित किए गये हैं—१. विकृष्ट, २. चतुरस्र एवं ३. त्र्यस्र ।

नाट्यमण्डपों का श्रेणी निर्धारण—

कनीयस्तु स्मृतं त्र्यस्रं, चतुरस्रं च मध्यमम् ।
ज्येष्ठं विकृष्टं विज्ञेयं नाट्यवेश्मप्रयोक्तृभिः ॥)

रङ्गशाला के प्रयोक्ताओं को यह जानना चाहिये कि कनीय प्रेक्षागृह त्र्यस्र, मध्यम चतुरस्र, एवं ज्येष्ठ विकृष्ट होता है ।)

मानवोपयोगी नाट्यमण्डप-निर्माण की विधि—

देवानां मानसी सृष्टिर्गृहेषूपवनेषु च ।
यत्नभावाभिनिष्पन्नाः सर्वे भावा हि मानुषाः ॥ २२ ॥

गृहों तथा उपवनों (आदि) के सम्बन्ध में देवताओं की दृष्टि मानसी (सङ्कल्प

---

१. अभिनवभारती के अनुस्वार मण्डप अधिक बड़ा होने पर उच्च स्वर से किया गया पाठ पास बैठे सामाजिकों के लिए तीक्ष्ण होने से एवं दूरवर्ती जनों के लिए अश्राव्य होने से विस्वर हो जाता है ।

मात्र से साध्य) हैं, किन्तु मनुष्यों के समस्त भाव (गृहादि पदार्थ) प्रयत्न द्वारा ही सिद्ध हो पाते हैं[1] ॥ २२ ॥

तस्माद्देवकृतैर्भावैर्न विस्पर्धेत मानुषः।
मानुषस्य तु गेहस्य सम्प्रवक्ष्यामि लक्षणम् ॥ २३ ॥

इस कारण देवताओं द्वारा बनाए गये भावों (गृह उपवन अथवा नाट्यमण्डपादि वस्तुओं) के साथ मनुष्य को स्पर्धा नहीं करनी चाहिए। अब मैं मनुष्य के [उपयुक्त] (नाट्य) गृह के लक्षणों को भलिभाँति बताऊँगा ॥ २३ ॥

भूमेर्विभागं पूर्वं तु परीक्षेत प्रयोजकः।
ततो वास्तु प्रमाणेन प्रारभेत शुभेच्छया ॥ २४ ॥

[नाट्य के] प्रयोजन को सबसे पहले भूमि के उस विभाग की (श्रेष्ठता अथवा अनुपादेयता विषयक) परीक्षा करनी चाहिये। इसके पश्चात् शुभ इच्छा से वास्तु-शास्त्र के प्रमाणानुसार कार्य का आरम्भ करना चाहिये ॥ २४ ॥

नाट्यमण्डपोपयोगी भूमि—

समा स्थिरा तु कठिना कृष्णा गौरी च या भवेत्।
भूमिस्तत्रैव कर्तव्यः कर्तृभिर्नाट्यमण्डपः ॥ २५ ॥

जो भूमि समतल, स्थिर[2], मजबूत तथा काली अथवा गौरवर्ण की हो उसी भूमि पर [नाट्यमण्डप] बनवाने वालों को नाट्यमण्डप बनवाना चाहिये ॥ २५ ॥

---

१. इस श्लोक के द्वारा मध्येतर रङ्गस्थलों की उपादेयता पर प्रकाश डाला गया है। भरतमुनि ने हस्त प्रमाण मध्यम नाट्यवेश्म को ही मनुष्यों के लिए उपयुक्त माना है तो स्वभावतः प्रश्न उठता है कि फिर नाट्यशास्त्र में उल्लिखित मध्येतर नाट्यवेश्मों का क्या प्रयोजन है? इसका उत्तर है कि देवता तो अपने भवनादि संकल्पमात्र से यथेच्छ नाप के बनाते हैं व प्रयोग में लाते हैं किन्तु मनुष्यों के भवनादि तो एकबार प्रयत्नपूर्वक जैसे बन गये वैसे सदा प्रयोग में लाने पड़ते हैं। इसलिए नाट्यशास्त्रकार ने स्पष्ट कर दिया कि मध्येतर नाट्यमण्डपों में क्या दोष है जिससे मनुष्य प्रयत्न करके अन्य मण्डपों की रचना करने के श्रम एवं तज्जन्य निराशा से बच जाए।

२. स्थिरा—तूफान या बाढ़ के प्रकोप से जिसके ढह जाने की सम्भावना न हो।

भूमि का संस्कार—

प्रथमं शोधनं कृत्वा लाङ्गलेन समुत्कृषेत् ।
अस्थिकीलकपालानि तृणगुल्मांश्च शोधयेत् ॥ २६ ॥

पहले [भूमि को] साफ करके हल से अच्छी तरह जुतवाना चाहिये और हड्डी, कील, कपाल [खोपड़ी अथवा खपड़े] घासफूस एवं झाड़ियों आदि को साफ कर कर देना चाहिये ॥ २६ ॥

नाट्यमण्डप निर्माणोपयोगी नक्षत्र—

शोधयित्वा वसुमतीं प्रमाणं निर्दिशेत्ततः ।

पृथ्वी की सफाई के बाद (ज्येष्ठमध्यादि) प्रमाण के अनुसार निर्देश दे ।

(त्रीण्युत्तराणि सौम्यं च विशाखापि च रेवती ।
हस्ततिष्यानुराधाश्च प्रशस्ता नाट्यकर्मणि ॥)

[उत्तर शब्द से युक्त तीन नक्षत्र (उत्तराषाढ, उत्तराफाल्गुनी एवं उत्तरभाद्रपद) मृगशिरा, विशाखा, रेवती, हस्त, तिष्य (पुष्य) और अनुराधा नामक नक्षत्र नाट्य-कर्म के लिए शुभ हैं ।]

सूत्र-लक्षण—

पुष्यनक्षत्रयोगेन शुक्लं सूत्रं प्रसारयेत् ॥ २७ ॥

(अतएव) पुष्य नक्षत्र का योग होने पर सफेद रंग की डोरी फैलाना चाहिए ॥ २७ ॥

कार्पासं बाल्बजं वापि मौञ्जं वाल्कलमेव च ।
सूत्रं बुधैस्तु कर्तव्यं यस्य च्छेदो न विद्यते ॥ २८ ॥

विज्ञजनों को चाहिए कि यह डोरी कपास, बल्ब (घास आदि) मूँज अथवा वल्कल (पेड़ की छाल) की बनी हुई हो, और कहीं से कटी न हो (जिससे वह कार्यावस्था में ही टूट न जाय) ॥ २८ ॥

सूत्रभंगजन्य हानियाँ—

अर्धच्छिन्ने भवेत्सूत्रे स्वामिनो मरणं ध्रुवम् ।
त्रिभागच्छिन्नया रज्ज्वा राष्ट्रकोपो विधीयते ॥ २९ ॥

अर्धभाग (बीचो बीच) से सूत्र के टूट जाने पर स्वामी (राजा अथवा नाट्य मण्डप के स्वामी) की मृत्यु हो जाती है । तिहाई भाग टूटने से राष्ट्र में विप्लव होता है ॥ २९ ॥

छिन्नायां तु चतुर्भागे प्रयोक्तुर्नाश उच्यते।
हस्तात्प्रभ्रष्टया वापि कश्चित्त्वपचयो भवेत् ॥ ३० ॥

चौथाई भाग से टूटने पर नाट्य का प्रयोग करने वाले (नाट्याचार्य अथवा अभिनेता) का नाश होता है। (नापते समय) हाथ से सूत्र गिर जाने पर कोई न कोई हानि अवश्य होती है ॥ ३० ॥

तस्मान्नित्यं प्रयत्नेन रज्जुग्रहणमिष्यते।
कार्यं चैव प्रयत्नेन मानं नाट्यगृहस्य तु ॥ ३१ ॥

इस कारण रस्सी को सदा प्रयत्नपूर्वक पकड़ना चाहिए और नाट्यगृह की नाप भी बड़ी सावधानी से लेनी चाहिये ॥ ३१ ॥

नाट्यमण्डप के प्रारम्भिक कृत्य—

मुहूर्तेनानुकूलेन तिथ्या सुकरणेन च।
ब्राह्मणांस्तर्पयित्वा तु पुण्याहं वाचयेत्ततः ॥ ३२ ॥

शान्तितोयं ततो दत्वा ततः सूत्रं प्रसारयेत्।

अनुकूल मुहूर्त एवं तिथि तथा शुभ करण[1] में ब्राह्मणों को तृप्त करके उनसे पुण्याह वाचन कहलवाये और इसके बाद शान्तियुक्त अभिषेक करके ही सूत्र फैलाना चाहिये ॥ ३२-३३ ॥

नाट्यमण्डप परिमाण एवं रंगशीर्ष निर्माण—

चतुष्षष्टिकरान्कृत्वा द्विधा कुर्यात्पुनश्च तान् ॥ ३३ ॥

पृष्ठतो यो भवेद्भागो द्विधाभूतस्य तस्य तु।
सममर्धविभागेन रङ्गशीर्षं प्रकल्पयेत् ॥ ३४ ॥

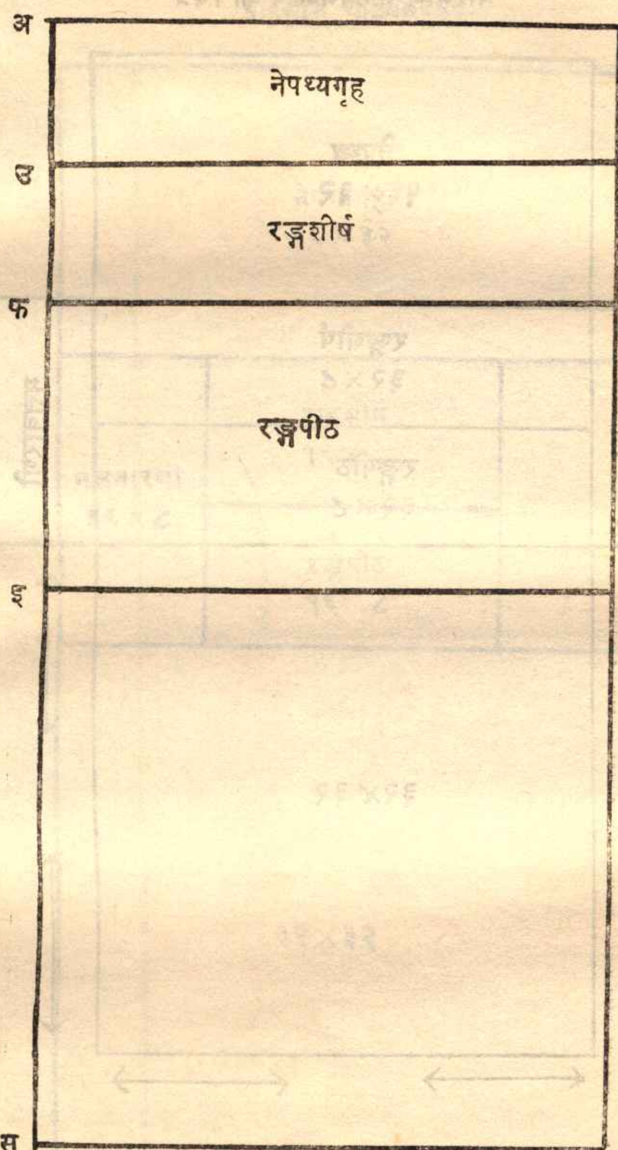
पहले चौसठ हाथ नाप लेना चाहिए[2], फिर उसके [बत्तीस-बत्तीस हाथ के] दो भाग कर देने चाहिए। [इन दोनों भागों में] जो पीछे का भाग हो उसके आधे [सोलह हाथ] भाग को पुनः आधा करके रङ्गशीर्ष बनाना चाहिये ॥३३-३४॥

---

१. करण—"विष्ट्यादिरहितं" ऐसी अभिनवगुप्त की व्याख्या है। विष्टि एक अशुभ करण का नाम है। करण ज्योतिष का पारिभाषिक शब्द है। यह चान्द्र-तिथि का अर्धभाग होता है। करणों की संख्या एकादश है। इनके नाम प्रस्तुत हैं—[१] वव, [२] बालव, [३] कौलव, [४] तैतिलं, [५] गर, [६] वणिज, [७] विष्टि, [८] शकुनि, [९] चतुष्पद, [१०] नाग और [११] किस्तुघ्न।

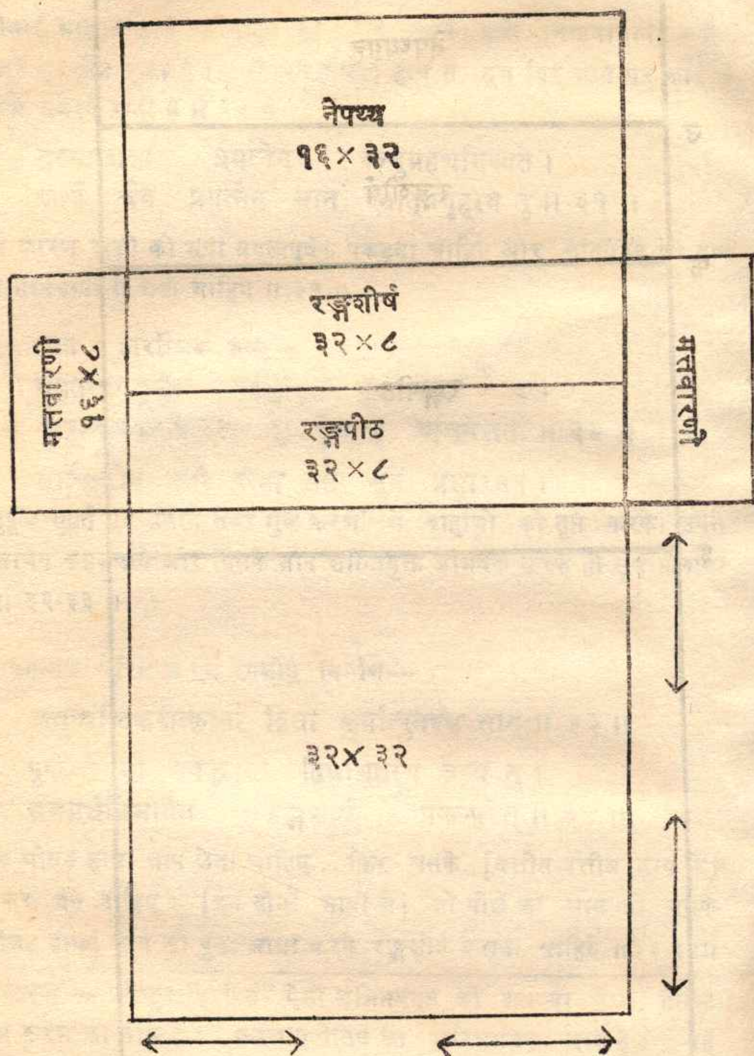
२. इस नाप के अनुसार विकृष्ट आकार के मध्यम परिमाण वाले नाट्य-मण्डप की रचना का विधान किया गया है।

मूलपाठ के अनुसार विकृष्ट आकार के मध्यम परिमाण नाट्यमण्डप का चित्र



अ स = ६४ हाथ, अ इ = ३२ हाथ, अ फ = १६ हाथ
अ उ = ८ हाथ, उ फ = ८ हाथ

अभिनव की व्याख्यानुसार विकृष्ट आकार के मध्यम परिमाण नाट्यमण्डप का चित्र



आयतमत्तवारणी के साथ विकृष्ट आकार का मध्यम परिमाण नाट्यमण्डप

नेपथ्यगृह
१६ × ३२

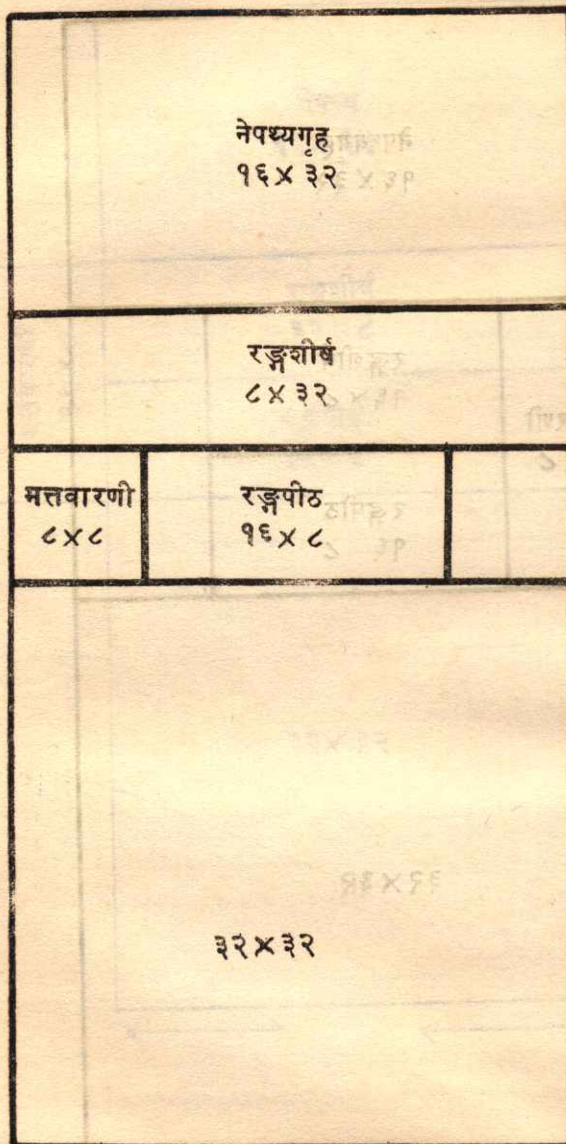
रङ्गशीर्ष
१६ × ८

मत्तवारणी
१६ × ८

रङ्गपीठ
१६ ८

३२ × ३२

वर्गाकार मत्तवारणी के साथ विकृष्ट आकार का
मध्यम परिमाण नाट्यमण्डप



नेपथ्यगृह निर्माण—

पश्चिमे च विभागेऽथ नेपथ्यगृहमादिशेत् ।
विभज्य भागान्विधिवद्यथावदनुपूर्वशः ।। ३५ ।।

पीछे वाले आधे भाग में नेपथ्यगृह बनाना चाहिये । इस प्रकार पहले कही गई विधि के अनुसार नाट्गृह के भागों को ठीक-ठीक विभाजित करना चाहिए ।। ३५ ।।

नाट्यमण्डप-शिलान्यास विधि—

शुभे नक्षत्रयोगे च मण्डपस्य निवेशनम् ।
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्मृदङ्गपणवादिभिः ।। ३६ ।।
सर्वातोद्यैः प्रणुदितैः स्थापनं कार्यमेव तु ।
उत्सार्याणि त्वनिष्टानि पाषण्ड्याश्रमिणस्तथा ।। ३७ ।।
काषायवसनाश्चैव विकलाश्चैव ये नराः ।
निशायां च बलिः कार्यो नानाभोजनसंयुतः ।। ३८ ।।
गन्धपुष्पफलोपेतो दिशो दश समाश्रितः ।
पूर्वेण शुक्लान्नयुतो नीलान्नो दक्षिणेन च ।। ३९ ।।
पश्चिमेन बलिः पीतो रक्तश्चैवोत्तरेण तु ।

मङ्गलकारी नक्षत्र का योग होने पर शंख एवं दुन्दुभि के घोष के साथ और मृदंग, तथा पणव आदि बाजों के साथ मण्डप की नींव डालने का कार्य करना चाहिए । (मण्डप स्थापन के समय) अनिष्ट (पदार्थ) एवं पाखण्डियों श्रमणों, गेरुआ वस्त्रधारी साधुओं एवं अपाहिजजनों को हटा देना चाहिये और रात्रि में दसों दिशाओं में विविध भाँति के भोजनों एवं सुगन्ध, पुष्प तथा फलों से बलि[1] देनी चाहिये । पूर्वदिशा में श्वेत अन्न की, दक्षिण में नीले अन्न की, पश्चिम में पीले अन्न की तथा उत्तर में लाल अन्न की बलि देनी चाहिये ।। ३६-४० ।।

यादृशं दिशि यस्यां तु दैवतं परिकल्पितम् ।। ४० ।।
तादृशस्तत्र दातव्यो बलिर्मन्त्रपुरस्कृतः ।

जिस दिशा में जिस प्रकार के देवता की कल्पना की गयी है, उस ओर वैसी

१. प्रथम अध्याय के १२१वें श्लोक की टीका में अभिनवगुप्त ने 'बलि' का अर्थ "बलिः पूर्वोक्तरचनाविशेषः" किया है । (यह अर्थ लेने पर प्रस्तुत प्रसंग में) तात्पर्य निकलेगा कि चारों दिशाओं में अन्नादि से सुन्दर रचनाएँ बनानी चाहिए ।

ही बलि मन्त्रोच्चार के साथ देनी चाहिये[1] ॥ ४०-४१ ॥

ब्रह्मण, राजा तथा कार्यकर्ताओं का भोज्यपदार्थ—

स्थापने ब्राह्मणेभ्यश्च दातव्यं घृतपायसम् ॥ ४१ ॥
मधुपर्कस्तथा राज्ञे कर्तृभ्यश्च गुडौदनम् ।

[नाट्यमण्डप की] स्थापना के उपलक्ष्य में ब्राह्मणों को घृतयुक्त पायस, राजा को मधुपर्क (दधि, मधुघृत के मिश्रण से बना आदरसूचक खाद्य) एवं कार्यकर्ताओं[2] को गुड़ एवं चावल देना चाहिए ॥ ४१-४२ ॥

नाट्यमण्डप की स्थापना का मुहूर्त—

नक्षत्रेण तु कर्तव्यं मूलेन स्थापनं बुधैः ॥ ४२ ॥
मुहूर्तेनानुकूलेन तिथ्या सुकरणेन च ।

विद्वानों को (मण्डप की) स्थापना मूल नक्षत्र एवं मंगलमय मुहूर्त और शुभ तिथि एवं शुभकरण में करनी चाहिए ॥ ४२-४३ ॥

भित्तिकर्म—

एवं तु स्थापनं कृत्वा भित्तिकर्म प्रयोजयेत् ॥ ४३ ॥

इस प्रकार (मण्डप की) स्थापना (शिलान्यास) करके भित्तिकर्म (दीवार) उठाने का काम प्रारम्भ करें ॥ ४३ ॥

स्तम्भ स्थापना—

भित्तिकर्मणि निर्वृत्ते स्तम्भानां स्थापनं ततः ।
तिथिनक्षत्रयोगेन शुभेन करणेन च ॥ ४४ ॥

भित्तिकर्म समाप्त हो जाने पर शुभ तिथि व शुभ नक्षत्र तथा शुभकरण में स्तम्भों को खड़ा करने का काम करना चाहिए ॥ ४४ ॥

---

१. प्रस्तुत श्लोक के विधानानुसार आग्नेयकोण के अधिष्ठातृ देवता अग्नि के रक्त वर्ण होने के कारण लाल रंग की बलि देना अभीष्ट है। उसी भाँति अन्य दिशाओं के स्वामियों के अनुरूप ही उस दिशा में बलि अभीष्ट है।

दश दिशाओं के नाम हैं—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, आग्नेय, वायव्य, नैर्ऋत्य, ईशान, ऊर्ध्व, एवं अधः। इनके अधिष्ठातृ देवता क्रमशः इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम, अग्नि, वायु, निर्ऋति एवं ईशान हैं।

२. कार्यकर्ता से यहाँ भवन-निर्माण के कारीगरों अथवा नाटक के अभिनयकर्ताओं अथवा दोनों का ही अभिप्राय हो सकता है।

स्तम्भ स्थापन के नक्षत्र एवं विधि—

स्तम्भानां स्थापनं कार्यं रोहिण्या श्रवणेन वा ।
आचार्येण सुयुक्तेन त्रिरात्रोपोषितेन च ।। ४५ ।।
स्तम्भानां स्थापनं कार्यं प्राप्ते सूर्योदये शुभे ।

रोहिणी या श्रवण नक्षत्र में स्तम्भ की स्थापना करनी चाहिए। (क्रिया सम्पादन में) भलीभाँति युक्त, एवं तीन रात्रि तक उपवास किये हुए आचार्य के द्वारा मंगलमय सूर्योदय बेला में स्तम्भ की स्थापना करनी चाहिए ।। ४५-४६ ।।

ब्राह्मण-स्तम्भ-पूजन विधि—

प्रथमे ब्राह्मणस्तम्भे सर्पिस्सर्षपसंस्कृतः ।। ४६ ।।
सर्वशुक्लो विधिः कार्यो दद्यात् पायसमेव च ।

पहले वाले ब्राह्मण-स्तम्भ में सरसों से मार्जित (संस्कृत) और पूर्णतया शुक्ल (वस्तुओं द्वारा) विधि सम्पन्न करनी चाहिए एवं खीर प्रदान करनी चाहिए ।। ४६-४७ ।।

क्षत्रिय-स्तम्भ-पूजन विधि—

ततश्च क्षत्रियस्तम्भे वस्त्रमाल्यानुलेपनम् ।। ४७ ।।
सर्वं रक्तं प्रदातव्यं द्विजेभ्यश्च गुडौदनम् ।

इसके पश्चात् क्षत्रिय-स्तम्भ पर लाल रंग के वस्त्र, माला अथवा अनुलेपन चढ़ाए जायें और ब्राह्मणों को गुड़ मिश्रित भात देना चाहिए ।। ४७-४८ ।।

वैश्य-स्तम्भ-पूजन-विधि—

वैश्यस्तम्भे विधिः कार्यो दिग्भागे पश्चिमोत्तरे ।। ४८ ।।
सर्वं पीतं प्रदातव्यं द्विजेभ्यश्च घृतौदनम् ।

दिशाओं के पश्चिमोत्तर भाग (वायव्यकोण) में वैश्य-स्तम्भ में दी जाने वाली सारी वस्तुएँ पीले रंग की होनी चाहिए तथा ब्राह्मणों को घी मिश्रित भात देना चाहिए ।। ४८-४९ ।।

शूद्र-स्तम्भ-पूजन-विधि—

शूद्रस्तम्भे विधिः कार्यः सम्यक्पूर्वोत्तराश्रये ।। ४९ ।।
नीलप्रायं प्रयत्नेन कृसरं च द्विजाशनम् ।

पूर्वोत्तर दिशा (ईशान कोण) में स्थित शूद्र-स्तम्भ की सारी विधियाँ प्रयत्नपूर्वक नीले रंग की वस्तुओं से सम्पन्न करनी चाहिए एवं ब्राह्मणों को खिचड़ी खिलानी चाहिए ।। ४९-५० ।।

ब्राह्मण स्तम्भ के मूल में निक्षेप्य द्रव्य—

पूर्वोक्तब्राह्मणस्तम्भे शुक्लमाल्यानुलेपने ॥ ५० ॥
निक्षिपेत् कनकं मूले कर्णाभरणसंश्रयम् ।

पहले उल्लिखित, श्वेतमाला एवं अनुलेपन से युक्त ब्राह्मण स्तम्भ के मूल में कर्णभूषण के सुवर्ण को रखे[1] ॥ ५०-५१ ॥

क्षत्रिय व वैश्य स्तम्भ के मूल में निक्षेप्य द्रव्य—

ताम्रं चाधः प्रदातव्यं स्तम्भे क्षत्रियसंज्ञके ॥ ५१ ॥
वैश्यस्तम्भस्य मूले तु रजतं सम्प्रदापयेत् ।

क्षत्रिय-संज्ञक स्तम्भ के मूल में तांबा रखना चाहिए एवं वैश्य स्तम्भ के निचले भाग में चाँदी रखनी चाहिए ॥ ५१-५२ ॥

शूद्र-स्तम्भ के मूल में निक्षेप्य द्रव्य—

शूद्रस्तम्भस्य मूले तु दद्यादायसमेव च ॥ ५२ ॥
सर्वेष्वेव तु निक्षेप्यं स्तम्भमूलेषु काञ्चनम् ।

शूद्र-स्तम्भ के मूल में लोहा डालना चाहिए। सभी स्तम्भों के मूल में (विहित धातु के अतिरिक्त) स्वर्ण (भी) डालना चाहिए ॥ ५२-५३ ॥

स्तम्भ-स्थापना विधि—

स्वस्तिपुण्याहघोषेण जयशब्देन चैव हि ॥ ५३ ॥
स्तम्भानां स्थापनं कार्यं पुष्पमालापुरस्कृतम् ।

स्वस्ति (मंगल) वाचन एवं पुण्याह (मंगलमय मंत्र) के घोष के साथ तथा जय शब्द के उच्चारण के साथ पुष्प-मालाओं से अलंकृत स्तम्भों की स्थापना करनी चाहिए ॥ ५३-५४ ॥

रत्नदानैः सगोदानैर्वस्त्रदानैरनल्पकैः ॥ ५४ ॥
ब्राह्मणांस्तर्पयित्वा तु स्तम्भानुत्थापयेत्ततः ।

इसके पश्चात् ब्राह्मणों को पर्याप्त रत्न दान, गोदान एवं वस्त्रदान से तृप्त करके स्तम्भों को उठाना चाहिए ॥ ५४-५५ ॥

---

१. 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इस ऋचा के अनुसार ब्राह्मण सृष्टि पुरुष का सर्वोत्तम अंग 'मुख' है। दूसरी ओर श्रुति (वेद) में ब्राह्मण का विशेष अधिकार है। इन दोनों तथ्यों को देखते हुए ब्राह्मण-स्तम्भ में श्रुति (कर्ण) के आभूषण का, जो सर्वोत्तम धातु है—डालने का विधान किया गया है।

स्तम्भोत्थापन विधि—

अचलं चाप्यकम्प्यञ्च तथैवावलितं पुनः ॥ ५५ ॥
स्तम्भस्योत्थापने सम्यग्दोषा ह्येते प्रकीर्तिताः ।

(स्तम्भों को इस प्रकार उठाना चाहिए कि वह) न तो इधर-उधर खिसकें और न अपनी जगह पर ही हिलें न घूमें[1]। क्योंकि यह (तीनों) स्तम्भ-उत्थापन सम्बन्धी दोष हैं ॥ ५५-५६ ॥

स्तम्भस्खलन जन्मदोष—

अवृष्टिरुक्ता चलने, वलने मृत्युतो भयम् ॥ ५६ ॥
कम्पने परचक्रात्तु भयं भवति दारुणम् ।
दोषैरेतैर्विहीनं तु स्तम्भमुत्थापयेच्छिवम् ॥ ५७ ॥

(उत्थापन क्रिया में स्तम्भ के) चलायमान होने (डगमगाने) से अवृष्टि होती है। मुड़ जाने पर मृत्यु का भय होता है। कम्पन होने पर शत्रु पक्ष से भीषण (आक्रमण का) भय होता है। इस कारण इन (उपर्युक्त तीनों) दोषों से रहित और कल्याणकारी स्तम्भ को स्थापित करना चाहिए ॥ ५६-५७ ॥

स्तम्भोत्थापन विधि—

पवित्रे ब्राह्मणस्तम्भे दातव्या दक्षिणा च गौः ।
शेषाणां भोजनं कार्यं स्थापने कर्तृसंश्रयम् ॥ ५८ ॥
मन्त्रपूतं च तद्देयं नाटयाचार्येण धीमता ।

ब्राह्मण स्तम्भ के उत्थापित होने पर (ब्राह्मणों को) दक्षिणा एवं गो का दान देना चाहिए। शेष स्तम्भों की स्थापना एवं उत्थापन क्रिया होने पर निर्माता के द्वारा सब को भोजन कराया जाना चाहिये। बुद्धिमान नाट्याचार्य को मंत्रों से पवित्र किया गया भोजन सबको वितरित करना चाहिए ॥ ५८-५९ ॥

पुरोहितं नृपं चैव भोजयेन्मधुपायसैः ॥ ५९ ॥
कर्तॄनपि तथा सर्वान् कृसरां लवणोत्तराम् ।

पुरोहित एवं राजा को मधु-मिश्रित पायस (खीर) तथा समस्त कार्यकर्ताओं को लवणयुक्त खिचड़ी खिलानी चाहिए ॥ ५९-६० ॥

सर्वमेवं विधिं कृत्वा सर्वातोद्यैः प्रवादितैः ॥ ६० ॥
अभिमन्त्र्य यथान्यायं स्तम्भानुत्थापयेच्छुचिः ।

---

१. घूमने अथवा मुड़ने से यहाँ संकेत है कि स्तम्भ कमजोर न हो। भार अथवा अन्य किसी कारणवश झुक न जाएँ।

इस प्रकार सब विधियों को भलीभाँति सम्पन्न करके सब प्रकार के बाजे बजवा कर स्तम्भ को अभिमन्त्रित करके नीति (न्याय) के अनुसार (स्तम्भों) को शुद्धतापूर्वक उठायें ।। ६०-६१ ।।

स्तम्भ-प्रार्थना—

यथाऽचलो गिरिर्मेरुर्हिमवांश्च महाबलः ।। ६१ ।।
जयावहो नरेन्द्रस्य तथा त्वमचलो भव ।

(स्तम्भ के उत्थापन के पश्चात् उसे सम्बोधित करके कहे) जिस प्रकार मेरु पर्वत एवं महाबली हिमालय अचल हैं, उसी प्रकार [हे स्तम्भ] तुम भी अचल एवं राजा के लिए विजय प्रदाता बनो ।। ६१-६२ ।।

स्तम्भ द्वार, भित्ति तथा नेपथ्यगृह का निर्माण—

स्तम्भद्वारं च भित्तिं च नेपथ्यगृहमेव च ।। ६२ ।।
एवमुत्थापयेत्तज्ज्ञो विधिदृष्टेन कर्मणा ।

इस भाँति [नाट्यमण्डप की रचना विधि के] ज्ञाता को, स्तम्भद्वार, भित्ति तथा नेपथ्यगृह को विधिपूर्वक बनवाना चाहिये ।। ६२-६३ ।।

मत्तवारणी-निर्माण—

रङ्गपीठस्य पार्श्वे तु कर्तव्या मत्तवारणी ।। ६३ ।।
चतुःस्तम्भसमायुक्ता रङ्गपीठप्रमाणतः ।

रङ्गपीठ के दोनों पार्श्वों में चार खम्भों से युक्त एवं रङ्गपीठ के नाप की मत्तवारणी[1] की रचना चाहिए ।। ६३-६४ ।।

---

१. **मत्तवारणी**—नाट्यशास्त्र की जटिलतम समस्याओं में से एक समस्या मत्तवारणी के स्वरूप एवं स्थिति के विषय में भी है। यह शब्द ऐसा अनोखा है कि ना० शा० के अतिरिक्त सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में इसकी आवृत्ति नहीं हुई है। इससे साम्य रखने वाला 'मत्तवारण' शब्द प्राप्त होता है जिसका अर्थ है किसी विशाल भवन की छत पर बना हुआ छोटा कमरा, या बरामदा, या शिविर। अमरकोष की क्षीरस्वामी कृत टीका के अनुसार 'मत्तालम्बोपाश्रयः स्यात् प्रग्रीवो मत्तः वारणः'। किन्तु इससे कुछ स्पष्ट नहीं होता। सुबन्धु की वासवदत्ता में "मत्तवारणयो-र्वरण्डकेण" यह अंश प्राप्त होता है। इसकी शिवराम त्रिपाठी ने इस भाँति व्याख्या की है—'मत्तवारणौ मत्तगजौ तयोर्वरण्डकेण। भित्तेरुभयपार्श्वे-द्वौ स्थायित्वा मतङ्गजौ। योधयन्तीति प्रसिद्धं भित्ति सा तु वरण्डकम् ।।' किन्तु इससे कुछ स्पष्ट नहीं होता।

अध्यर्धहस्तोत्सेधेन कर्तव्या मत्तवारणी ॥ ६४ ॥
ऊत्सेधेन तयोस्तुल्यं कर्तव्यं रङ्गमण्डपम् ।

मत्तवारणी की ऊँचाई [रङ्गमण्डप से] डेढ़ हाथ ऊंची होनी चाहिए और उन्हीं दोनों[1] की ऊँचाई के तुल्य रङ्गमण्डप बनाना चाहिए ॥ ६४-६५ ॥

तस्यां माल्यं च धूपं च गन्धं वस्त्रं तथैव च ॥ ६५ ॥
नानावर्णानि देयानि तथा भूतप्रियो बलिः ।

[मत्तवारणी के निर्माणकाल के अवसर पर] उस पर नाना वर्णों की मालाएँ, धूप, गन्ध एवं वस्त्र चढ़ाने चाहिये और सब प्राणियों को प्रिय लगने वाली बलि भी दी जानी चाहिए ॥ ६५-६६ ॥

आयसं तत्र दातव्यं स्तम्भानां कुशलैरधः ॥ ६६ ॥
भोजने कृसराश्चैव दातव्यं ब्राह्मणाशनम् ।

योग्य वास्तुविदों के द्वारा स्तम्भों के मूल में लोहा डालना चाहिए एवं ब्राह्मणों को भी खाने के लिए भोजन के रूप में खिचड़ी दी जानी चाहिए ॥ ६६-६७ ॥

एवं विधिपुरस्कारैः कर्तव्या मत्तवारणी ॥ ६७ ॥
रङ्गपीठं ततः कार्यं विधिदृष्टेन कर्मणा ।

इसके उपरान्त वास्तुशास्त्र की विधियों के अनुरूप मत्तवारणी की रचना करना चाहिए और इसके बाद विधिविहित रूप से रङ्गपीठ का निर्माण करना चाहिये ॥ ६७-६८ ॥

षड्दारुक की विधि—

रङ्गशीर्षं तु कर्तव्यं षड्दारुकसमन्वितम् ॥ ६८ ॥
कार्यं द्वारद्वयं चात्र नेपथ्यगृहकस्य तु ।

[रङ्गपीठ के निर्माण के क्रम में] छः काष्ठ स्तम्भों से युक्त रङ्गशीर्ष[2] बनाना

नाट्यशास्त्र में स्पष्टतः 'पार्श्वे' 'मत्तवारणी' में एकवचन का प्रयोग है अतः एक ओर ही मत्तवारणी के विधान का बोध होता है जबकि अभिनवगुप्त ने रंगमंच के दोनों तरफ मत्तवारणी की स्थिति बताई है ।

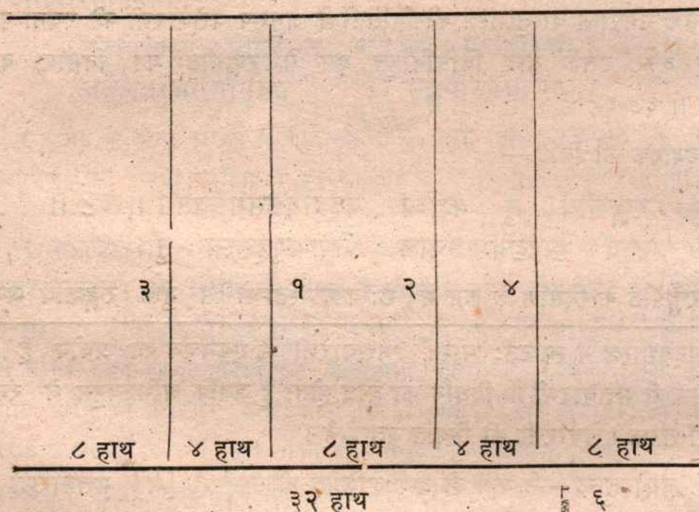
१. तयोस्तुल्यं—से यहाँ दो अर्थ अभिप्रेत हो सकते हैं [अ] मत्तवारणी एवं रङ्गपीठ की ऊंचाई के तुल्य [ब] रंगपीठ के दोनों पार्श्वों में स्थित दोनों मत्त-वारणियों की ऊंचाई के तुल्य जैसा कि प्रो० घोष का मत है ।

२. षड्दारुकसमन्वितम्—अभिनवगुप्त ने इसकी तीन व्याख्यायें दी हैं :—
[1] नेपथ्यगृहभित्तिलग्नौ स्ताम्भावष्टहस्तान्तरावन्योन्यं निवेश्य तयोर्यन्मुखं तदपेक्षया

चाहिए और इसमें नेपथ्यगृह के दो दरवाजों का भी निर्माण करना चाहिये ॥ ६८-६९ ॥

चतुर्हस्तान्तरं स्तम्भद्वयम् तेषामधस्तनं काष्ठमुपरितनं चेति षड्दारुणि। अर्थात् नेपथ्यगृह की भित्ति के सामने एक दूसरे से आठ हाथ के अन्तर पर दो स्तम्भों को खड़ा कर दें। रंगशीर्ष के इस भाग की लम्बाई ३२ हाथ होती है। अतः एक दूसरे से आठ हाथ की दूरी पर खम्भे खड़े करने पर यह दोनों पार्श्वों की दीवारों से १२-१२ हाथ की दूरी पर रहेंगे; फिर उनके दीवार के पास वाले भाग में, स्थापित स्तम्भ से चार हाथ दूर अन्य स्तम्भ खड़े करने चाहिये। इस भाँति दीवार के आठ हाथ बाद एक स्तम्भ, चार हाथ बाद दूसरा स्तम्भ, आठ हाथ बाद तीसरा स्तम्भ, चार हाथ बाद चौथा स्तम्भ रहेगा एवं पुनः दीवार तक आठ हाथ की जगह बच जायगी। इन चार स्तम्भों के नीचे वाले एक और ऊपर वाले एक काष्ठ खण्ड को मिलाकर रङ्गशीर्ष के छः काष्ठ ख़ण्ड होते हैं।

हमारे विचार से अभिनवगुप्त की इस व्याख्या को नीचे के चित्र के द्वारा अधिक सरलता से समझाया जा सकता है—

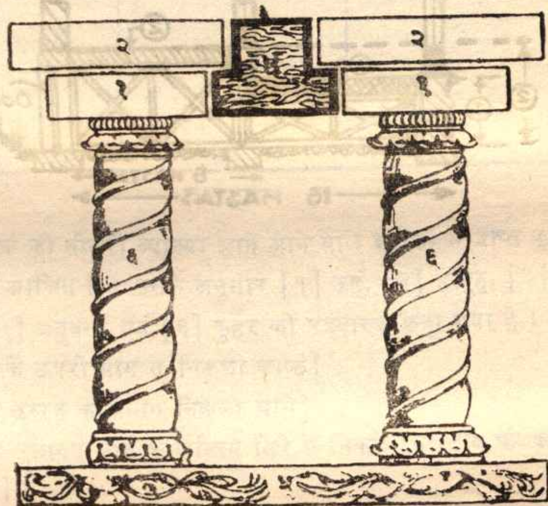


[२] अभिनवगुप्त के अनुसार कष्ठखण्डों की स्थिति की दूसरी व्याख्या इस प्रकार है—

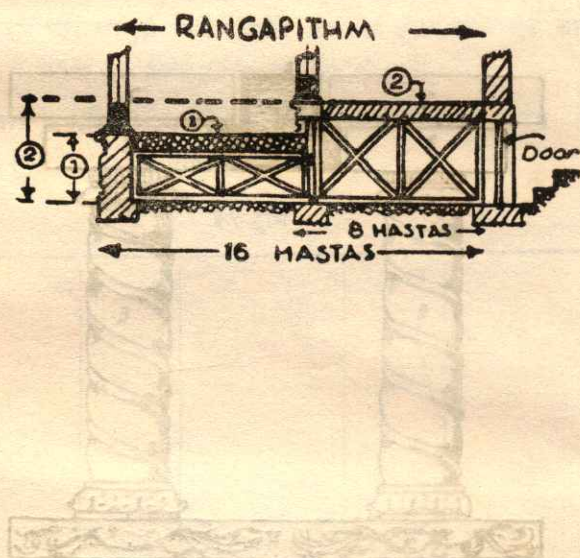
"पार्श्वद्वयोर्ध्वाधरदारुमण्डितं स्तम्भद्वयोपेतमिहाच्छपातकम्।"

अर्थात् दोनों पार्श्वों से सटे हुए दो स्तम्भ होने चाहिये। इन दोनों के बीच में

आचार्य विश्वेश्वर के अनुसार रंगशीर्ष में
षड्दारुक की तृतीय स्थिति का चित्रण

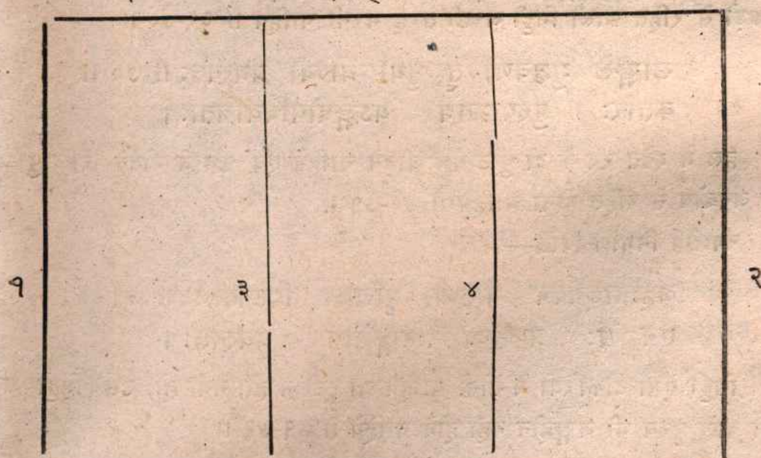


प्रो० सुब्बाराव के अनुसार षड्दारुक का चित्रण



दो और स्तम्भ होने चाहिये [जो कि नाप के विशेष आदेशाभाव में समान अन्तर पर बनेंगे]। उनके ऊपर और नीचे एक-एक काष्ठखण्ड होना चाहिये।

इस प्रकार की षड्दारुक की स्थिति नीचे के चित्र में प्रदर्शित है—



[३] षड्दारुक की तीसरी व्याख्या आगे आने वाले श्लोकों में प्राप्त कुछ पारिभाषिक शब्दों पर आश्रित हैं। इसके अनुसार [१] ऊह, [२] प्रत्यूह, [३] निर्व्यूह, [४] सञ्जवन, [५] अनुबन्ध एवं [६] कुहर को षड्दारुक कहा गया है।

१—[स्तम्भ के ऊपरी भाग से निकला काष्ठ]

२—[ऊह से तराजू के समान निकला भाग]

३—[ऊह के तुलावत् भाग के अन्तिम सिरे से निकले भित्तिमय फलक]

४—[फलक]

५—[खम्भों पर बने हुए सिंह, साँप या हाथी आदि]

६—[लकड़ी पर खुदे हुए पर्वत, नगर, कुञ्ज या गह्वर आदि]।

इस व्याख्या के अनुसार लकड़ी पर किए गए शिल्प के भेदों की ही संज्ञा षड्दारुक है। किन्तु इस व्याख्या को चित्र के रूप में प्रस्तुत करना हमारे लिए सम्भव नहीं हो सका है।

षड्दारुक के सम्बन्ध में एक अन्य व्याख्या प्रो० सुब्बाराव की है। उनके मत में रंगपीठ के दोनों पार्श्वों में मत्तवारणी के स्थान पर लकड़ी का एक चौखटा लगना चाहिये। इस चौखटे के चारों ओर की चार लकड़ियाँ एवं उनके दोनों कोनों को मिलाने वाली दो लकड़ियाँ मिलकर षड्दारुक कहलाने की अधिकारिणी हैं।

रंगपीठ भूमि शोधन विधि—

पूरणे मृत्तिका चात्र कृष्णा देया प्रयत्नतः ॥ ६९ ॥
लाङ्गलेन समुत्कृष्य निर्लोष्ठतृणशर्करम् ।

[रङ्गपीठ को ऊँचा उठाने के निमित्त] हल चलाकर रोड़े, घास्-पात या कंकड़ों से रहित काली मिट्टी अच्छी तरह भरनी चाहिये ॥ ६९-७० ॥

लाङ्गले शुद्धवर्णौ तु धुर्यौ योज्यौ प्रयत्नतः ॥ ७० ॥
कर्तारः पुरुषाश्चात्र येऽङ्गदोषविवर्जिताः ।

हल में श्वेत रंग के दो पुष्ट बैल जोड़ने चाहिये एवं उनको जोतने वाले पुरुषों को अंगदोष से रहित होना चाहिये ॥ ७०-७१ ॥

रंगशीर्ष निर्माण विधि—

अहीनाङ्गैश्च वोढव्या मृत्तिका पिटकैर्नवैः ॥ ७१ ॥
एवङ्विधैः प्रकर्तव्यं रङ्गशीर्षं प्रयत्नतः ।

मिट्टी ऐसी टोकरियों में ढोनी चाहिये जो टूटी न हों, नयी हों, उस मिट्टी को ढोने वाले पुरुष भी अङ्गहीन नहीं होने चाहिये ॥ ७१-७२ ॥

रंगशीर्ष का धरातल—

कूर्मपृष्ठं न कर्तव्यं मत्स्यपृष्ठं तथैव च ॥ ७२ ॥
शुद्धादर्शतलाकारं रङ्गशीर्षं प्रशस्यते ।

रङ्गशीर्ष न तो कछुए की पीठ के समान [बीच में उभरा हुआ] और न मछली के पीठ के समान [कम उभरा हुआ] बनाना चाहिये । ऐसा रङ्गशीर्ष प्रशंसनीय होता है जो शुद्ध दर्पण के समान समतल धरातल वाला होता है ॥ ७२-७३ ॥

रंगशीर्ष के धरातल में जड़े जाने वाले रत्न—

रत्नानि चात्र देयानि पूर्वे वज्रं विचक्षणैः ॥ ७३ ॥
वैडूर्यं दक्षिणे पार्श्वे स्फटिकं पश्चिमे तथा ।
प्रवालमुत्तरे चैव मध्ये तु कनकं भवेत् ॥ ७४ ॥

चतुर निर्माताओं को चाहिये कि रंगशीर्ष के निर्माण में उसके नीचे [फर्श में] रत्न लगवायें । पूर्व की ओर गहरा[1], दक्षिण की ओर वैदूर्यमणि, पश्चिम दिशा में स्फटिक एवं उत्तर में मूंगा तथा मध्य में स्वर्ण को रखना चाहिये ॥ ७३-७४ ॥

---

१. पूर्व दिशा के स्वामी इन्द्र हैं जिनका आयुध वज्र है । अतः पूर्व दिशा में हीरे के वज्र का विधान किया गया है । इसी प्रकार अन्य रत्नों का विधान उस दिशा के अधिष्ठातृ-देवता के वर्ण के आधार पर किया गया है ।

दारुकर्म विधि—

एवं रङ्गशिरः कृत्वा दारुकर्म प्रयोजयेत् ।
ऊहप्रत्यूहसंयुक्तं नानाशिल्पप्रयोजितम् ॥ ७५ ॥
नानासञ्जवनोपेतं बहुव्यालोपशोभितम् ।
ससालभञ्जिकाभिश्च समन्तात्समलङ्कृतम् ॥ ७६ ॥
निर्व्यूहकुहरोपेतं नानाग्रथितवेदिकम् ।
नानाविन्याससंयुक्तं चित्रजालगवाक्षकम् ॥ ७७ ॥
सुपीठधारिणीयुक्तं कपोताली-समाकुलम् ।
नानाकुट्टिमविन्यस्तैः स्तम्भैश्चाप्युपशोभितम् ॥ ७८ ॥
एवं काष्ठविधिं कृत्वा भित्तिकर्म प्रयोजयेत् ।

इस भाँति रङ्गशीर्ष की रचना करने के बाद लकड़ी के काम को प्रारम्भ करना चाहिये। ऊह, प्रत्यूह से युक्त[1], नाना प्रकार की कारीगरी से समन्वित, अनेक संजवनों से युक्त[2], अत्यधिक उत्कीर्ण सर्पों से शोभित, लकड़ी की बनी नारी आकृतियों से चतुर्दिक-खचित, निर्व्यूह[3] तथा कुहरे से युक्त[4], अनेकविध वेदिकाओं से गुम्फित, अनेक प्रकार से [चौकोर या अष्टकोण छिद्रों वाली] बनाई गयी जालियों और गवाक्षों से सजे हुए सुन्दरपीठ [स्तम्भों का ऊपरी भाग] एवं धारणियों [पीठ के भी

---

१. ऊह—६८वें श्लोक की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने इन पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या दी है। उनके अनुसार स्तम्भ के ऊपर निकली हुई लकड़ी ऊह है एवं प्रत्यूह उसके ऊपर तुलावत् स्थित दूसरी लकड़ी है—

'ऊहः स्तम्भशिरसो दूर-निर्गतं काष्ठम्। प्रत्यूहस्ततो विनिर्गता तुला।' यों ऊह-प्रत्यूह को साधारण शब्द मानकर तात्पर्य सोच-विचार कर या निरीक्षण-परीक्षण करके कार्य करने के अर्थ में भी लिया जा सकता है।

२. सञ्जवन—"सञ्जवन-फलकाः" अभि० भा० २-६८ के अनुसार तख्तों या चौकों की संज्ञा संजवन है।

३. निर्व्यूह—तुलाकार प्रत्यूह के किनारों से निकले हुए फलकों की पंक्ति को निर्व्यूह कहते हैं—निर्व्यूहास्तुलान्तान्निःसृता फलकमित्तिमयाः (वही)।

४. कुहर—काष्ठ के सौष्ठव के निमित्त उस पर उत्कीर्ण चित्र विशेष को कुहर कहते हैं। अभिनवगुप्त के मत में कुहर सज्ञा उन चित्रों की है जिनमें पर्वत, नगर, निकुञ्ज एवं गह्वर की आकृतियाँ खोदी गई हों—

कुहराणि पर्वतपुरनिकुञ्जगह्वररूपाणि।

ऊपर का तुलकार भाग] से युक्त, कबूतरों की छतरियों से व्याप्त फर्श पर खड़े किये गये नानाविध स्तम्भों से सुशोभित दारुकर्म [काष्ठ-सौष्ठव] को सम्पन्न करने के बाद भित्तिकर्म प्रारम्भ करना चाहिये ॥ ७५-७९ ॥

रङ्गमण्डप-द्वार विधि—

स्तम्भं वा नागदन्तं वा वातायनमथापि वा ॥ ७९ ॥
कोणं वा सप्रतिद्वारं द्वारविद्धं न कारयेत् ।

स्तम्भ, खूँटी[1], खिड़की, कोना अथवा प्रतिद्वार को किसी अन्य द्वार के सम्मुख[2] नहीं रखना चाहिये ॥ ७९-८० ॥

रङ्गमण्डप-गवाक्ष-विधि—

कार्यः शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमण्डपः ॥ ८० ॥
मन्दवातायनोपेतो निर्वातो धीरशब्दवान् ।

नाट्यमण्डप की पर्वत की कन्दरा के समान द्विभूमि[3] से युक्त, मन्दवायु का प्रवेश कराने वाली खिड़कियों से समन्वित, (तीव्र) वायु से रहित एवं गम्भीर शब्द करने वाला होना चाहिये ॥ ८०-८१ ॥

---

१. **नागदन्त**—प्राचीनकाल में हाथीं के दाँत को ही खूंटी के जगह प्रयुक्त किया जाता था। उसी तथ्य का परिचायक यह शब्द है। नाट्यगृह में नागदन्त का प्रयोजन सज्जार्थ है, जिससे उस पर पुष्पमालायें या चित्र अथवा पुत्तलिका आदि टांगी जा सकें।

२. **द्वारविद्ध**—अभिनव ने इसका अर्थ प्रतिद्वार बताया है अर्थात् दोनों द्वारों का मध्य भाग जो एक दूसरे के सम्मुख न हो।

नाट्यगृह में वातायन एवं द्वारों का परस्पराभिमुख न होना आधुनिक वास्तु-कला के नितान्त विपरीत है, जिसमें वायु के पर्याप्त आवागमन के निमित्त खिड़कियाँ एवं दरवाजे एक दूसरे के आमने-सामने बनाये जाते हैं।

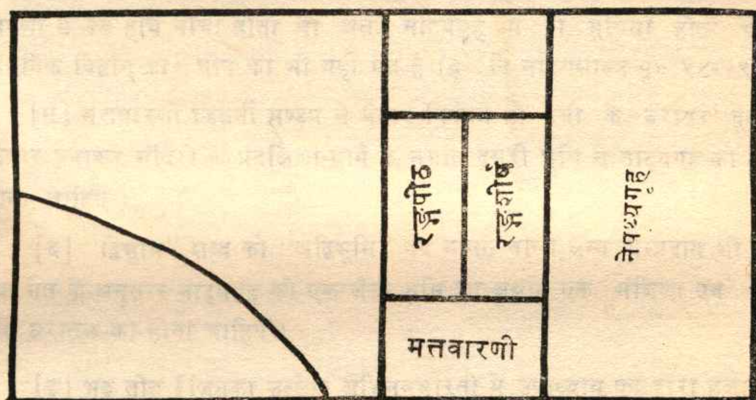
३. **द्विभूमि**—इस शब्द की अनेक व्याख्यायें की गयी हैं।

[अ] भूमि काअर्थ 'मंजिल' या 'तल्ला' मानने वालों के अनुसार नाट्यगृह को दो मंजिला होना चाहिये। रामगढ़ पर्वत सीताबेंगा नामक गुफा में ईसा से कुछ समय पूर्व का नाट्यगृह पाया गया है जो दो मंजिला है। अतः कुछ विचारक यह मानते हैं कि नाट्यगृह में दो मंजिलें होनी चाहिये।

[ब] अन्य विद्वान् भूमि का अर्थ धरातल मानते हैं। तदनुसार रङ्गमञ्च में ऊँचे एवं नीचे दो धरातल होने चाहिये।

रङ्गशीर्ष एवं पार्श्वस्थ मत्तवारणियाँ समतल होती थी, रंगशीर्ष से नेपथ्य एवं

भट्टतौत के अनुसार नाट्यमण्डप में धरातल



वायुरहित नाट्यमण्डप के लाभ—

तस्मान्निवातः कर्तव्यः कर्तृभिर्नाट्यमण्डपः ॥ ८१ ॥
गम्भीरस्वरता येन कुतपस्य भविष्यति ।

[नाट्यगृह बनवाने वालों को नाट्यमण्डप इसलिए वायुरहित बनवाना चाहिये जिससे कुतप[1] की ध्वनि गम्भीर प्रतीत हो ॥ ८१-८२ ॥

मत्तवारणी डेढ़ हाथ ऊँचे धरातल की होती थी, इस प्रकार नाट्यगृह में दो भूमियाँ होती थीं। जो विद्वान् रंगशीर्ष एवं रंगपीठ में भेद मानते हैं वह द्विभूमि की व्याख्या इस रूप में करते हैं कि रंगपीठ का धरातल नेपथ्य, रंगशीर्ष एवं मत्तवारणी से डेढ़ हाथ नीचा होता था अतः नाट्यगृह में दो भूमियाँ होती थीं। आधुनिक विद्वान् डा० घोष का भी यही मत है (दृ० दि नाट्यशास्त्र पृ० २८-२९)।

[स] मत्तवारणी जितनी मण्डप से बाहर निकली हो उसी के बराबर दूसरी दीवार बनाकर मंदिरों के प्रदक्षिणा-मार्ग के समान दूसरी भूमि से नाट्यगृह को युक्त होना चाहिए।

[द] "द्विभूमि" शब्द को "अद्विभूमि" पद मानने वाला अन्य सम्प्रदाय भी है। इस मत के अनुसार नाट्यगृह को एक जैसी भूमि का अर्थात् एक मंजिला एवं एक जैसे धरातल का होना चाहिये।

[इ] भट्ट तोत [जिनका उल्लेख अभिनवभारती में उपाध्याय पद द्वारा हुआ है] ने इसकी "वीप्सागर्भित" व्याख्या की है। वीप्सा अर्थ में द्वित्व हो जाता है अतः यहाँ वीप्सा-धर्म का अर्थ है रंगपीठ से द्वार तक धरातल का क्रमशः नीचे से ऊपर होते जाना। कदाचित् अभिनवगुप्त भी इसी मत के समर्थक हैं। इस प्रकार के नाट्यगृह होने से अनेक सुविधायें हैं—

[१] दर्शकों को आड़ नहीं पड़ती [एवं हि परस्परानाच्छादनं सामाजिकानाम्]।

[२] पर्वत की कन्दरा के समान आकार भी बन जाता है [शैलगुहाकारत्वं]।

[३] शब्दों का स्थिरत्व आदि भी हो जाता है [स्थिरशब्दादित्वं च भवति]।

१. कुतप—[१] कुतपः संफेटक-गायकवादकसमूहः [अभि० भा०] अर्थात् गायन एवं वादन के नादसमुदाय को कुतप कहते हैं। अभिनवगुप्त ने कुतप की अन्य व्याख्यायें भी दी हैं। तदनुसार इसके अन्य अर्थ भी हैं।

[१] नाट्यभूमि को उज्ज्वल करने वाला।

भित्तिलेप-विधि—

भित्तिकर्मविधिं कृत्वा भित्तिलेपं प्रदापयेत् ॥ ८२ ॥
सुधाकर्म बहिस्तस्य विधातव्यं प्रयत्नतः ।

भित्ति रचना को विधिपूर्वक समाप्त करके उन पर भित्ति[1]-लेप करवाना चाहिये एवं तत्पश्चात् उस [मण्डप या लेप] के बाहर की ओर कुशलतापूर्वक सफेदी करवानी चाहिये ॥ ८२-८३ ॥

भित्तिष्वथ विलिप्तासु परिमृष्टासु सर्वतः ॥ ८३ ॥
समासु जातशोभासु चित्रकर्म प्रयोजयेत् ।

भली प्रकार लेप की हुई, सब तरफ से पुँछी हुई, समतल एवं शोभायुक्त की गयी भित्तियों के ऊपर चित्रांकन का कार्य कराना चाहिये ॥ ८३-८४ ॥

चित्रकर्मणि चालेख्याः पुरुषाः स्त्रीजनास्तथा ॥ ८४ ॥
लताबन्धाश्च कर्तव्याश्चरितं चात्मभोगजम् ।

चित्ररचना में विशेषतः पुरुषों एवं स्त्रियों के चित्र बनवाने चाहिये तथा लता बन्ध[2] एवं आत्मभोग [की रुचि] के अनुसार चित्रों का चित्रण करवाना चाहिये ॥ ८४-८५ ॥

चतुरस्र नाट्यमण्डप-विधि—

एवं विकृष्टं कर्तव्यं नाट्यवेश्मप्रयोक्तृभिः ॥ ८५ ॥
पुनरेव हि वक्ष्यामि चतुरश्रस्य लक्षणम् ।

[वास्तु-शास्त्र के] प्रयोक्ताओं को विकृष्ट [आयताकार] नाट्यमण्डप की रचना इस [ऊपर-वर्णित] विधि से करनी चाहिए । इसके पश्चात् मैं [भरत मुनि] अब चतुरस्र [चौकोर, वर्गाकार] नाट्यगृह का लक्षण कहूँगा ॥ ८५-८६ ॥

---

[२] शब्द की रक्षा करने वाला ।

किन्तु यहाँ पर प्रथम अर्थ ही सटीक प्रतीत होता है । अन्यत्र भी जहाँ कुतप शब्द आया है, अभिनव ने उसे चार प्रकार के वाद्यों का द्योतक माना है ।

१. भित्तिलेप—भग्नशङ्खबालुकाशुक्तिलेपः—अर्थात् टूटे हुए शङ्ख, सीपी, एवं बालू के मिश्रण से बना हुआ पलस्तर ।

२. लताबन्ध—कामशास्त्रोक्त स्थितिविशेष का संज्ञक शब्द है । इसी भाँति आत्मभोगजम् शब्द भी दम्पति के विलास चित्रण का संकेत करता है । अजन्ता की गुफाओं में प्राप्त एतद्विषयक चित्र, यहाँ उल्लिखित नाट्यमण्डप के चित्रांकन के प्रतिनिधि हैं ।

आचार्य शङ्कुक के मतानुसार चतुरस्र नाट्यमण्डप

१	२	३	४	५	६	७	८
९	१०	११	नेपथ्यगृह १२	१३	१४	१५	१६
१७	१८	१९	२० रंगशीर्ष	२१	२२	२३	२४
२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
३३	३४	३५	रङ्गपीठ ३६	३७	३८	३९	४०
४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८
४९	५०	५१	५२	५३	५४	५५	५६
५७	५८	५९	६०	६१	६२	६३	६४

चतुरस्र नाट्यमण्डप-परिमाण—

समन्ततश्च कर्तव्या हस्ता द्वात्रिंशदेव तु ॥ ८६ ॥
शुभभूमिविभागस्थो नाटयज्ञैर्नाट्यमण्डपः ।

नाट्य के जानकारों को चाहिये कि शुभ भूमि में चारों ओर से बत्तीस हाथ नापकर [चतुरस्र] नाट्य-मण्डप बनवायें ॥ ८६-८७ ॥

यो विधिः पूर्वमुक्तस्तु लक्षणं मङ्गलानि च ॥ ८७ ॥
विकृष्टे तान्यशेषाणि चतुरश्रेऽपि कारयेत् ।

पहले [विकृष्ट नाट्यमण्डप के सम्बन्ध] में जो विधान, लक्षण एवं मंगल आदि कहे गये हैं उन सभी को [उसी भाँति] चतुरस्र [नाट्यमण्डप के रचना काल] में भी प्रयुक्त करवाना चाहिये ॥ ८७-८८ ॥

भित्ति रचना-विधि—

चतुरश्रं समं कृत्वा सूत्रेण प्रविभज्य च ॥ ८८ ॥
बाह्यतः सर्वतः कार्या भित्तिः श्लिष्टेष्टका दृढा ।

वर्गाकार [भूमि] को समतल करके और सूत से [चतुर्दिक बत्तीस हाथ] विभाजित करके उसके बाहर की तरफ सब ओर से ईंट की शिष्ट एवं दृढ़ दीवार बनवानी चाहिये ॥ ८८-८९ ॥

स्तम्भ-स्थापना-विधि—

तत्राभ्यन्तरतः कार्या रङ्गपीठोपरि स्थिताः ॥ ८९ ॥
दश प्रयोक्तृभिः स्तम्भाः शक्ता मण्डपधारणे ।

नाट्य के प्रयोक्ताओं की भित्ति-रचना के पश्चात् [नाट्यमण्डप के] भीतर की ओर से रंगपीठ[1] के ऊपर मण्डप को धारण करने में समर्थ दस खम्भों[2] की रचना

---

१. चतुरस्रमण्डप के क्षेत्र-विभाजन के निमित्त अभिनवभारती में आचार्य शंकुक का मत उद्धृत किया गया है। तदनुसार बत्तीस हस्तप्रमाण वर्गाकार क्षेत्र को चारों ओर से आठ-आठ भागों में बाँट लें जिससे चौंसठ खाने बन जायँ। उनमें सबसे बीच के चार खानों में वर्गाकार रंगपीठ बनाएँ जिसकी प्रत्येक भुजा आठ हाथ की होगी। उसके पश्चिम भाग में चार हाथ गहरे व बत्तीस हाथ चौड़े क्षेत्र में षड्दारुक संस्थान रंगशीर्ष की रचना करे एवं उसके भी पीछे जो भाग बचे [आठ हाथ गहरा व बत्तीस हाथ चौड़ा] उससे नेपथ्यगृह की रचना करनी चाहिये।

२. दशस्तम्भ—कहाँ-कहाँ और किस भाँति स्थापित किए जाने चाहिये, इस विषय में नाट्यशास्त्र के मूल भाग से कोई संकेत नहीं मिलता। अभिनवभारती

करनी चाहिए ॥ ८९-९० ॥

प्रेक्षक-पीठ निर्माण-विधि—

स्तम्भानां बाह्यतश्चापि सोपानाकृति पीठकम् ॥ ९० ॥
इष्टकादारुभिः कार्यं प्रेक्षकाणां निवेशनम् ।

स्तम्भों से बाहर की ओर प्रेक्षकों के बैठने के लिए ईंट एवं लकड़ी के संयोग से पीठक बनाना चाहिये जो सीढ़ी के आकार का हो ॥ ९०-९१ ॥

हस्तप्रमाणैरुत्सेधैर्भूमिभागसमुत्थितैः ॥ ९१ ॥
रङ्गपीठावलोक्यं तु कुर्यादासनजं विधिम् ।

भूमि-भाग से एक हाथ ऊँची उठती हुई सीढ़ियों द्वारा दर्शकों के आसनों का निर्माण करना चाहिये जिससे रंगपीठ अनायास ही दिखायी दें[1] ॥ ९१-९२ ॥

स्तम्भों की स्थापना विधि—

षडन्यानन्तरे चैव पुनः स्तम्भान्यथादिशम् ॥ ९२ ॥
विधिना स्थापयेत्तज्ज्ञो दृढान्मण्डपधारणे ।
अष्टौ स्तम्भान्पुनश्चैव तेषामुपरि कल्पयेत् ॥ ९३ ॥

चतुर विद्वान् को चाहिये कि वह मण्डप के भीतर भी छः ऐसे अन्य स्तम्भों को दिशाओं के अनुसार स्थापित करें जो मण्डप को धारण करने में पूर्णतया समर्थ हों। एवं उनके ऊपर पुनः आठ स्तम्भों की स्थापना करनी चाहिए ॥ ९२-९३ ॥

रंगपीठ निर्माण-विधि—

स्थाप्यं चैव ततः पीठमष्टहस्तप्रमाणतः ।
विद्धास्यमष्टहस्तं च पीठं तेषु ततो न्यसेत् ॥ ९४ ॥

के उद्धरणानुसार रंगपीठ के चार कोने में चार खम्भे उनमें से आग्नेय (पूर्व-दक्षिण कोण) से चार हाथ दूर दक्षिण की ओर पाँचवाँ, और अन्य तीनों खम्भों से भी चार-चार हाथ दूर छठा, सातवाँ एवं आठवाँ स्तम्भ लगाना चाहिए। ईशान एवं आग्नेय कोण में स्थित स्तम्भों से चार हाथ दूर पूर्व की ओर दो स्तम्भ और लगा देने से दस स्तम्भ पूर्ण हो जाते हैं।

वैसे इस विषय में अधिक स्पष्टतया कुछ नहीं कहा जा सकता है। श्री मनकद एवं श्री राघवन ने इस विषय में पर्याप्त चर्चा की है।

१. तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि दर्शकों के बैठने की प्रथम पंक्ति का धरातल भूमिभाग से एक हाथ ऊँचा हो एवं उसके पीछे की प्रत्येक पंक्ति अगली से एक हाथ ऊँची हो जिससे आसनों की पंक्तियाँ सोपानाकृति रहें और रङ्गपीठ के दर्शन में किसी को भी असुविधा न हो।

[स्तम्भों की स्थापना के पश्चात्] आठ हाथ की नाप का पीठ बनाना चाहिये। उन पर आठ हाथ के विद्धास्य[1] पीठ की स्थापना करनी चाहिये ॥ ९४ ॥

स्तम्भों की अलंकरण विधि—

तत्र स्तम्भाः प्रदातव्यास्तज्ज्ञैर्मण्डपधारणे।
धारणीधारणास्ते च शालस्त्रीभिरलङ्कृताः ॥ ९५ ॥

उस (नाट्यगृह निर्माण की कला को) जानने वालों को मण्डप को धारण करने वाले, धारणियों (शहतीरों) को संभालने वाले एवं पुत्तलिकाओं (शाल स्त्रियों) से अलंकृत स्तम्भ लगवाने चाहिये ॥ ९५ ॥

नेपथ्य-गृह एवं द्वार निर्माण की विधि—

नेपथ्यगृहकं चैव ततः कार्यं प्रयत्नतः।
द्वारं चैकं भवेत्तत्र रङ्गपीठप्रवेशनम् ॥ ९६ ॥

इसके उपरान्त अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक नेपथ्यगृह की रचना [रंगशीर्ष के पीछे बचे स्थान में] करनी चाहिये। इस [नेपथ्य] से रङ्गपीठ में प्रवेशार्थ एक द्वार[2] होना चाहिये ॥ ९६ ॥

जनप्रवेशनं चान्यदाभिमुख्येन कारयेत्।
रङ्गस्याभिमुखं कार्यं द्वितीयं द्वारमेव तु ॥ ९७ ॥

सामान्य जनता को नेपथ्यमण्डप में सामने से प्रवेश कराना चाहिये। इसलिये उनके प्रवेशार्थ रङ्गपीठ से सम्मुख वाले भाग में दूसरा द्वार[3] बनवाना चाहिये ॥ ९७ ॥

---

१. विद्धास्य—जिसका मुख विद्ध अर्थात् बँधा हुआ हो। रंगपीठ के संदर्भ में इसका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि रंगपीठ खुला न हो अपितु उसका अग्रभाग स्तम्भों से बँधा हो। अभिनवगुप्त के मतानुसार पद्म आदि के रूप में बने हुए मुख वाले स्तम्भों के ऊपर आठ हाथ का पीठ बनाए। इस प्रकार के (स्तम्भों से) विद्धास्य पीठ के ऊपर एक-एक हाथ की तुलाओं को रोकने वाले काष्ठ-खण्ड स्तम्भों के ऊपर रखे।

२. द्वारं चैकं ... ... तावद् द्वे द्वारे। तेन द्वारमिति जातावेकवचनम्—अभि० भा०। इस प्रकार अभिनवगुप्त के मत में नेपथ्य से रंगपीठ के बीच में दो दरवाजे होने चाहिये।

३. अभिनवगुप्त के मत में कुल मिलाकर चार दरवाजे होने चाहिये—

[१] नेपथ्यगृह में भार्या सहित नट के आगमनार्थ एक द्वार [२-३] नेपथ्य से रंगशीर्ष तक जाने के लिये दो द्वार [४] समाजिकों के आने के लिये रङ्गमण्डप के अगले भाग में एक द्वार।

रंगपीठ-निर्माण विधि—

अष्टहस्तं तु कर्तव्यं रङ्गपीठं प्रमाणतः ।
चतुरस्त्रं समतलं वेदिकासमलंकृतम् ॥ ९८ ॥

आठ हाथ की नाप के चौकोर एवं समतल और वेदिका से सुशोभित रंगपीठ को बनाना चाहिए ॥ ९८ ॥

मत्तवारणी निर्माण विधि—

पूर्वप्रमाणनिर्दिष्टा कर्तव्या मत्तवारणी ।
चतुः स्तम्भसमायुक्ता वेदिकायास्तु पार्श्वतः ॥ ९९ ॥

वेदिका के दोनों बगलों में पूर्वोक्त नाप के अनुसार चार स्तम्भों से युक्त मत्तवारणी बनवानी चाहिए ॥ ९९ ॥

रंगशीर्ष निर्माण विधि—

समुन्नतं समं चैव रङ्गशीर्षं तु कारयेत् ।
विकृष्टे तून्नतं कार्यं चतुरश्रे समं तथा ॥ १०० ॥

रंगशीर्ष वेदिका से ऊँचा अथवा उसके समतल बनाना चाहिये । विकृष्ट (आयताकार) मण्डप में (रंगशीर्ष वेदिका से) अधिक ऊँचा एवं चतुरस्र (वर्गाकार) मण्डप में (वेदिका के) समान धरातल वाला होता है ॥ १०० ॥

त्र्यस्र-नाट्यमण्डप निर्माण विधि—

एवमेतेन विधिना चतुरश्रं गृहं भवेत् ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि त्र्यश्रगेहस्य लक्षणम् ॥ १०१ ॥

इस प्रकार उक्त विधि के अनुसार चतुरस्र नाट्यगृह की रचना की जाती है। अब मैं (भरतमुनि) त्र्यस्र संज्ञक (त्रिकोणात्मक) नाट्यगृह का लक्षण कहूँगा ॥ १०१ ॥

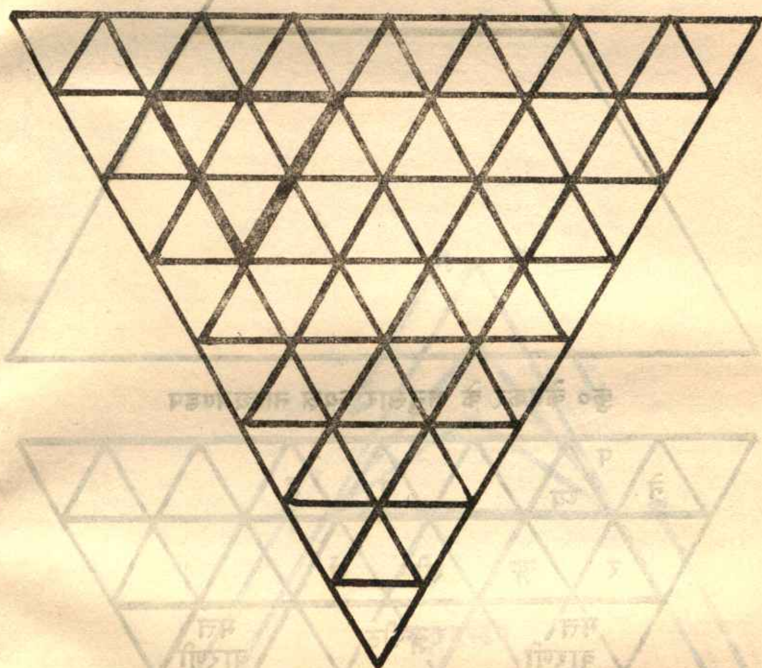
त्र्यश्रं त्रिकोणं कर्तव्यं नाटचवेश्म प्रयोक्तृभिः ।
मध्ये त्रिकोणमेवास्य रङ्गपीठं तु कारयेत् ॥ १०२ ॥

नाट्यगृह के प्रयोक्ताओं को चाहिए कि त्र्यस्र नाट्यगृह तीन कोनों वाला बनवाएँ । इसके बीच में रंगपीठ भी त्रिकोणात्मक ही होना चाहिए[1] ॥ १०२ ॥

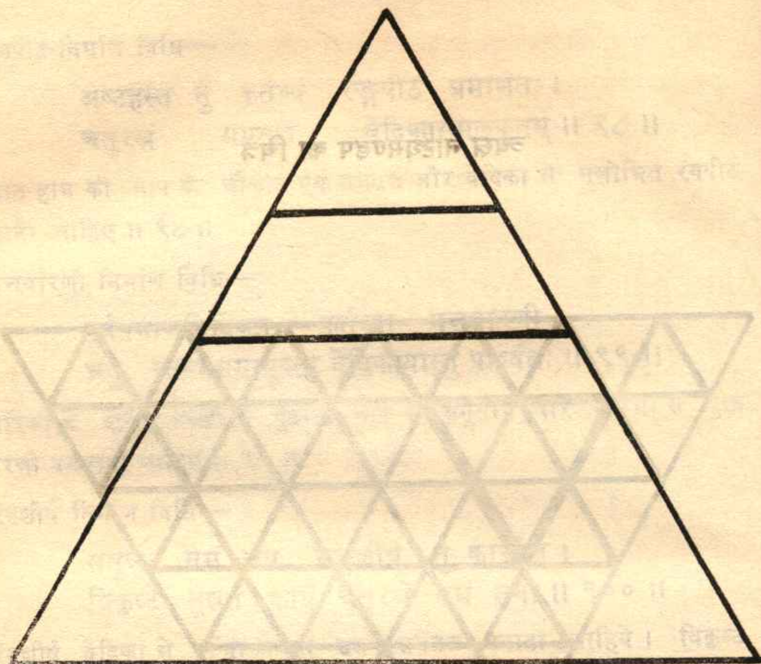
---

१. अभिनव की व्याख्या के अनुसार इसमें रंगशिर एवं नेपथ्य-गृह भी त्रिकोणात्मक होने अपेक्षित हैं "…मध्ये च त्रिकोणमेव रंगपीठम् । तथैव रङ्गशिरो नेपथ्यगृहं च ।" किन्तु इस कल्पना के अनुसार ऐसा सिद्ध नहीं हो सकता ।

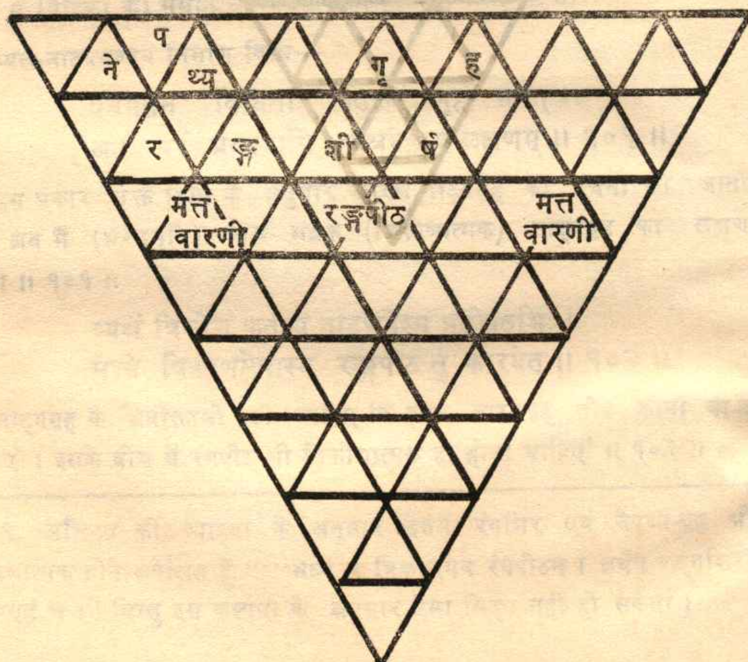
त्र्यस्र नाट्यमण्डप का चित्र



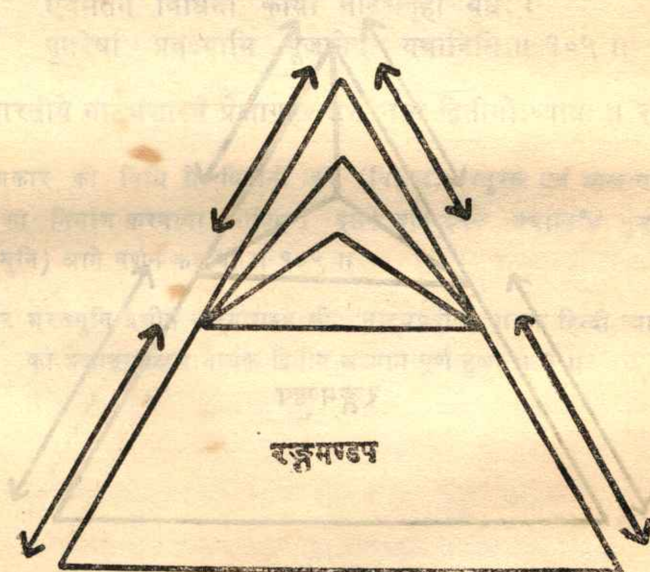
डा० घोष के अनुसार त्र्यस्र नाट्यमण्डप



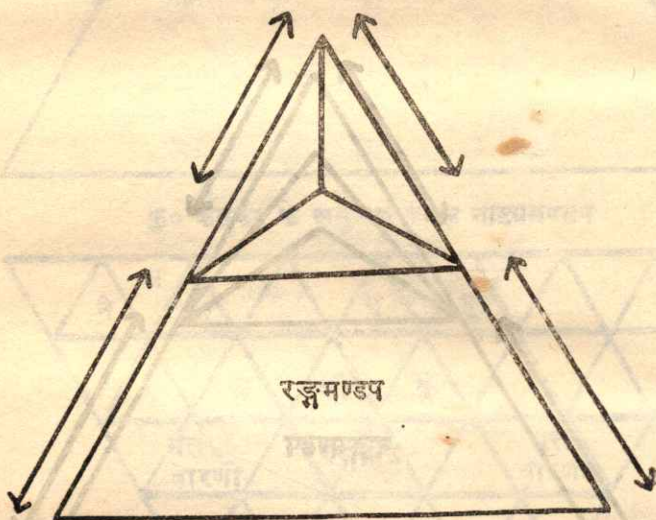
कु० केतकर के अनुसार त्र्यस्र नाट्यमण्डप



आचार्य विश्वेश्वर के अनुसार त्र्यस्र नाट्यमण्डप की
प्रथम कल्पना



आचार्य विश्वेश्वर के अनुसार त्र्यस्र नाट्यमण्डप की द्वितीय कल्पना



द्वारं तेनैव कोणेन कर्तव्यं तस्य वेश्मनः।
द्वितीयं चैव कर्तव्यं रङ्गपीठस्य पृष्ठतः ॥ १०३ ॥

उस (त्र्यस्र) नाट्यगृह का द्वार भी उसी कोण में[1] होना चाहिए तथा रंगपीठ के पीछे की ओर दूसरा द्वार बनाना चाहिए ॥ १०३ ॥

विधिर्यश्चतुरश्रस्य भित्तिस्तम्भसमाश्रयः।
स तु सर्वः प्रयोक्तव्यस्त्र्यश्रस्यापि प्रयोक्तृभिः ॥ १०४ ॥

चतुरस्र नाट्य-मण्डप (के प्रसंग) में भित्ति एवं स्तम्भों के (निर्माणादि के सम्बन्ध में) जो विधान दिये गये हैं उन सबका प्रयोग प्रयोक्ताओं को त्र्यस्र-मण्डप में भी करना चाहिए[2] ॥ १०४ ॥

उपसंहार—

एवमेतेन विधिना कार्या नाटचगृहा बुधैः।
पुनरेषां प्रवक्ष्यामि पूजामेवं यथाविधि ॥ १०५ ॥

इति भारतीये नाटचशास्त्रे प्रेक्षागृहलक्षणं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार की विधि से विद्वानों को (विकृष्ट, चतुरस्र एवं त्र्यस्र नामक) नाट्यगृहों का निर्माण करवाना चाहिए। इसके बाद इनके यथाविधि पूजन का मैं (भरत मुनि) आगे वर्णन करूँगा ॥ १०५ ॥

इस प्रकार भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र की 'नाट्यप्रदीप' नामक हिन्दी व्याख्या का प्रेक्षागृहलक्षण नामक द्वितीय अध्याय पूर्ण हुआ ॥ २ ॥

—*—

१. तेनैव कोणेन—उसी कोण में जैसा कि विकृष्ट एवं चतुरस्र मण्डप में बताया गया था, अर्थात् पूर्व की ओर, या सामने की ओर। यही बात अभिनवगुप्त भी कहते हैं—'तेनैव कोणेनेति ऐन्द्रीगतेन।'

२. श्री घोष ने यहाँ ध्यान दिलाया है कि त्र्यस्र मण्डप के सन्दर्भ में मत्तवारणी बनाने का उल्लेख नहीं मिलता।

अथ तृतीयोऽध्यायः

नाट्यगृह निर्माण के बाद के कृत्य—

सर्वलक्षणसम्पन्ने कृते नाटचगृहे शुभे।
गावो वसेयुः सप्ताहं सह जप्यपरैर्द्विजैः ॥ १ ॥

समस्त लक्षणों से युक्त मंगलमय नाट्यगृह के बन जाने पर उसमें एक सप्ताह तक जप में लीन ब्राह्मणों सहित गायें निवास करें ॥ १ ॥

ततोऽधिवासयेद्वेश्म रङ्गपीठं तथैव च।
मन्त्रपूतेन तोयेन प्रोक्षिताङ्गो निशागमे ॥ २ ॥
यथास्थानान्तरगतो दीक्षितः प्रयतः शुचिः।
त्रिरात्रोपोषितो भूत्वा नाटचाचार्योऽहताम्बरः ॥ ३ ॥

इसके पश्चात् नाट्याचार्य को चाहिए कि रात्रि का आगमन होने पर अपने शरीर पर मंत्रपूत जल छिड़ककर, अन्य स्थान में रहते हुए दीक्षा ले, प्रयत (जितेन्द्रिय) हो, पवित्र रहे, तीन रात तक उपवास रखे और नये कपड़े पहनकर नाट्यवेश्म एवं रंगपीठ में (देवताओं को) अधिवासित कराये ॥ २-३ ॥

नाट्यमण्डप की रक्षा के लिए विविध देवताओं का आवाहन—

नमस्कृत्य महादेवं सर्वलोकोद्भवं भवम्।
जगत्पितामहं चैव विष्णुमिन्द्रं गुहं तथा ॥ ४ ॥
सरस्वतीं च लक्ष्मीं च सिद्धिं मेधां धृतिं स्मृतिम्।
सोमं सूर्यं च मरुतो लोकपालांस्तथाश्विनौ ॥ ५ ॥
मित्रमग्निं सुरान्वर्णान् रुद्रान्कालं कलिं तथा।
मृत्युं च नियतिं चैव कालदण्डं तथैव च ॥ ७ ॥
विष्णुप्रहरणं चैव नागराजं च वासुकिम्।
वज्रं विद्युत्समुद्रांश्च गन्धर्वाप्सरसो मुनीन् ॥ ७ ॥
भूतान् पिशाचान् यक्षांश्च गुह्यकांश्च महेश्वरान्।
असुरान्नाटचविघ्नांश्च तथाऽन्यान्दैत्यराक्षसान् ॥ ८ ॥
तथा नाटचकुमारोंश्च महाग्रामण्यमेव च।
यक्षांश्च गुह्यकांश्चैव भूतसङ्घांस्तथैव च ॥ ९ ॥

एतांश्चान्यांश्च देवर्षीन्प्रणम्य रचिताञ्जलिः ।
यथास्थानान्तरगतान्समावाह्य ततो वदेत् ।। १० ।।

तीनों लोकों के स्वामी महादेव शिव, ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र एवं गुह (कार्तिकेय) को, सरस्वती, लक्ष्मी, सिद्धि, मेधा, धृति, स्मृति, चन्द्रमा, सूर्य, मरुद्गणों, लोकपालों तथा अश्विनकुमारों को मित्र, अग्नि, अन्य देवतागण, वर्ण, रुद्र, काल, कलि, मृत्यु, निर्ऋति एवं कालदण्ड को, विष्णु के चक्र, नागराज बासुकि, वज्र, विद्युत, समुद्रों, गन्धर्वों, अप्सराओं एवं मुनियों को, भूतों, पिशाचों, यज्ञों, गुह्यकों, महेश्वरों, असुरों, नाट्य के विघ्नरूप में आने वाली बाधाओं एवं शेष अन्य दैत्यों तथा राक्षसों को, नाट्यकुमारियों, महाग्रामणी, यक्षों, गुह्यकों एवं भूतसमुदायों को, इन सबको एवं अन्य देवताओं को अपने-अपने स्थान पर आवाहन करके हाथ जोड़कर प्रणाम करके यह कहे ।। ४-१० ।।

देवताओं से प्रार्थना—

भवद्भिर्नो निशायां तु कर्तव्यः सम्परिग्रहः ।
साहाय्यं चैव दातव्यमस्मिन्नाट्ये सहानुगैः ।। ११ ।।

आप महानुभावगण रात्रि में हमारी रक्षा करें और इस नाट्य (के प्रयोग) में अपने सहयोगियों के साथ हमारी सहायता करें ।। ११ ।।

जर्जर पूजन—

सम्पूज्य सर्वानिकत्र कुतपं सम्प्रयुज्य च ।
जर्जराय प्रयुञ्जीत पूजां नाट्यप्रसिद्धये ।। १२ ।।

समस्त (देवताओं) की पूजा करके एवं उचित अवसर पर वाद्यों की ध्वनि करवाकर नाट्य की सफलता के निमित्त जर्जर की पूजा करनी चाहिए ।। १२ ।।

---

१. वर्णान्—वर्ण नामक देवताओं का कहीं भी उल्लेख न मिलने से यह माना जा सकता है कि यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन चारों के अधिष्ठातृ देवताओं से तात्पर्य है ।

२. महाग्रामणी—'महाग्रामणीर्गणपति'—अभिनवगुप्त । किन्तु डा० घोष के मत में ना० शा० के काल तक गणपति के देवत्व का पूर्ण विकसित रूप प्रकाश में नहीं आया था । अतः वे इसका अर्थ 'गणों का नेता' करते हैं । डा० रघुवंश ने इसका अर्थ 'नेता या नायक' माना हैं ।

जर्जर प्रार्थना—

त्वं महेन्द्रप्रहरणं सर्वदानवसूदनम् ।
निर्मितस्सर्वदेवैश्च सर्वविघ्ननिबर्हण ॥ १३ ॥

नृपस्य विजयं शंस रिपूणां च पराजयम् ।
गोब्राह्मणशिवं चैव नाट्यस्य च विवर्धनम् ॥ १४ ॥

हे जर्जर ! तुम इन्द्र के समस्त दैत्यों का संहार करने वाले आयुध हो । समस्त देवताओं ने तुम्हारा निर्माण सम्पूर्ण विघ्नों के निवारणार्थ किया है । तुम हमारे राजा को विजय एवं शत्रुओं को पराभव प्रदान करो, गौ एवं ब्राह्मण का मंगल करो तथा नाट्य की उन्नति करो ॥ १३-१४ ॥

पूजन विधि—

एवं कृत्वा यथान्यायसुपास्यं नाट्यमण्डपे ।
निशायां तु प्रभातायां पूजनं प्रकमेदिह ॥ १५ ॥

इस प्रकार नियमानुसार पूजन करके तथा रात्रि में नाट्यमण्डप में ही रहकर विद्वान् (नाट्याचार्य) को चाहिए कि रात्रि के प्रभातकाल में बदलते ही पुनः पूजनविधि प्रारम्भ कर दे ॥ १५ ॥

रङ्गमञ्च पूजन के शुभ नक्षत्र—

आर्द्रायां वा मघायां वा याम्ये पूर्वेषु वा त्रिषु ।
आश्लेषामूलयोर्वापि कर्तव्यं रङ्गपूजनम् ॥ १६ ॥

आर्द्रा, मघा, भरणी अथवा पूर्वशब्दयुक्त तीन[1] (पूर्वा फाल्गुनी, पूर्वाषाढ़, पूर्वं भाद्रपाद) नक्षत्रों अथवा आश्लेषा या मूल नक्षत्र में रङ्गपूजन करना चाहिये ॥१६॥

पूजन विधि—

आचार्येण तु युक्तेन शुचिना दीक्षितेन च ।
रङ्गस्योद्योतनं कार्यं देवतानां च पूजनम् ॥ १७ ॥

एकाग्रचित्त, पवित्र तथा दीक्षा लिए हुए आचार्य के द्वारा रङ्गस्थल को (दीप आदि जलाकर) प्रकाशित करना चाहिये तथा देवताओं की पूजा करनी चाहिए ॥ १७ ॥

---

१. पूर्वेषु वा त्रिषु—"तानि पूर्वफाल्गुनी पूर्वाषाढा पूर्वाभाद्रपदा च" (अभिनवगुप्त) ।

देवताओं की स्थापना—

दिनान्ते दारुणे घोरे मुहूर्ते यमदैवते।
आचम्य तु यथान्यायं देवता वै निवेशयेत् ॥ १८ ॥

दिवस के अवसान के समय ऐसे भीषण दारुणमुहूर्त में जिसके अधिष्ठातृ देवता भूतगण हैं, नियमपूर्वक आचमन करके देवताओं को स्थापित करना चाहिए ॥ १८ ॥

पूजनोपयोगी पदार्थ—

रक्ताः प्रतिसराः सूत्रं रक्तगन्धाश्च पूजिताः।
रक्ताः सुमनसश्चैव यच्च रक्तं फलं भवेत् ॥ १९ ॥
यवैस्सिद्धार्थकैर्लाजैरक्षतैः शालितण्डुलैः।
नागपुष्पस्य चूर्णेन वितुषाभिः प्रियङ्गुभिः ॥ २० ॥

उपर्युक्त (पूजाविधि में) लालरंग के प्रतिसर[1] (सूत्रनिर्मित गांठों से युक्त कंकण) सूत्र अभिन्दनीय लाल सुगन्धित द्रव्य, लालरंग के पुष्प एवं लाल रंग के फल, जौ, सिद्धार्थक (सरसों), धान, साबूत चावल, शालि तण्डुल, नागदन्त का चूर्ण, तथा भूँसी रहित प्रियंगु[2] होने चाहिये ॥ १९-२० ॥

मण्डल रचना—

एतैर्द्रव्यैर्युतं कुर्याद्देवतानां निवेशनम्।
आलिखेन्मण्डलं पूर्वं यथास्थानं यथाविधि ॥ २१ ॥

इन (ऊपर चर्चित) द्रव्यों के साथ देवताओं को अधिष्ठित कराना चाहिए तथा (देवताओं के अधिष्ठान के) पहले उपर्युक्त स्थल पर नियमपूर्वक एक मण्डल की रचना कर लेनी चाहिये ॥ २१ ॥

मण्डल परिमाण एवं द्वार की विधि—

समन्ततश्च कर्तव्यं हस्ताः षोडश मण्डलम्।
द्वाराणि चात्र कुर्वीत विधानेन चतुर्दिशम् ॥ २२ ॥

---

१. प्रतिसरा—सूत्रविनिर्मिता ग्रन्थिमन्तः कङ्कणविशेषाः (अभि० भा०)।

२. प्रियंगु शब्द के चार अर्थ हैं–१—विशेष लता, २—मालकांगनी, ३—काकुन नामक अन्न, ४—केसर।

यहाँ वितुषाभिः (छिलका रहित) सविशेषणयुक्त होने के कारण इसका अर्थ काकुन नामक अन्न करना ही समुचित प्रतीत होता है।

इस मण्डल को चारों ओर से सोलह हाथ (वर्गाकार) होना चाहिए एवं इसमें चारों तरफ विधानानुसार द्वार होने चाहिए ॥ २२ ॥

मण्डल में विविध देवों की स्थापना—

मध्ये चैवात्र कर्तव्ये द्वे रेखे तिर्यगूर्ध्वगे।
तयोः कक्ष्याविभागेन दैवतानि निवेशयेत् ॥ २३ ॥

यहीं (मण्डल के) बीच में खड़ी एवं आड़ी दो रेखाएँ बनानी चाहिये । इन्हीं रेखाओं से बने कोष्ठकों में देवताओं को आसीन कराना चाहिए ॥ २३ ॥

मण्डल के मध्य भाग के देवता—

पद्मोपविष्टं ब्रह्माणं तस्य मध्ये निवेशयेत् ।
आदौ निवेश्यो भगवान्सार्धं भूतगणैः शिवः ॥ २४ ॥

उस (मण्डल) के मध्य भाग में कमलासीन ब्रह्मा को आसीन कराना चाहिए । सर्वप्रथम भूतों के साथ भगवान् शिव को स्थापित कराना चाहिये ॥ २४ ॥

मण्डल के पूर्व दिशा के देवता—

नारायणो महेन्द्रश्च स्कन्दः सूर्योऽश्विनौ शशी ।
सरस्वती च लक्ष्मीश्च श्रद्धा मेधा च पूर्वतः ॥ २५ ॥

नारायण, इन्द्र, स्कन्द, सूर्य, दोनों अश्विनीकुमार, चन्द्रमा, सरस्वती, लक्ष्मी, श्रद्धा एवं मेधा को पूर्वदिशा में (स्थापित करना चाहिए) ॥ २५ ॥

मण्डल की दक्षिण पूर्व दिशा के देवता—

पूर्वदक्षिणतो वह्निर्निवेश्यः स्वाहया सह ।
विश्वेदेवाः सगन्धर्वा रुद्राः सर्पगणास्तथा ॥ २६ ॥

दक्षिण पूर्व दिशा में स्वाहा के सहित अग्नि की, गन्धर्वों सहित विश्वेदेवों, रुद्रों तथा सर्पगणों की (स्थापना करनी चाहिये) ॥ २६ ॥

दक्षिण दिशा के देवता—

दक्षिणेन निवेश्यस्तु यमो मित्रश्च सानुगः ।
पितृन्पिशाचानुरगान् गुह्यकांश्च निवेशयेत् ॥ २७ ॥

दक्षिण दिशा में यम एवं अनुचरों सहित मित्र, पितृगणों, पिशाचों, सर्पों, एवं गुह्यकों को आसीन कराना चाहिए ॥ २७ ॥

नैर्ऋत्यकोण व पश्चिम दिशा के देवता—

नैर्ऋत्यां राक्षसांश्चैव भूतानि च निवेशयेत् ।
पश्चिमायां समुद्रांश्च वरुणं यादसां पतिम् ॥ २८ ॥

नैर्ऋत्यकोण में (दक्षिण एवं पश्चिम दिशा का मिलन बिन्दु) राक्षसों तथा भूतों को और पश्चिम दिशा में सागरों एवं जल के अधिपति वरुण को स्थापित करना चाहिये ॥ २८ ॥

वायव्य कोण के देवता—

वायव्यायां दिशि तथा सप्तः वायून्निवेशयेत् ।
तत्रैव विनिवेश्यस्तु गरुडः पक्षिभिः सह ॥ २९ ॥

वायव्य (उत्तर पश्चिम) कोण में सप्तविध पवनों (मरुद्गणों) को[1] (स्थापित करना चाहिये) एवं इसी स्थान पर पक्षियों के साथ गरुड को भी आसीन कराना चाहिये ॥ २९ ॥

---

१. सप्तवायु—ऋग्वेद में सात सात पवनों के सात समूह मानकर ४९ मरुद्गण माने गये हैं।

यजुर्वेद के १७वे अध्याय के ८० मन्त्र से ८५ मन्त्र तक ६ मन्त्रों में क्रमशः मरुतों के सात सात के छः गणों (समूहों) के नाम दिये गये हैं तथा ३९वें अध्याय के सातवें श्लोक में सातवें गण के सात मरुतों के नाम दिये गये हैं। वे नाम इस प्रकार हैं—

मरुतों का प्रथमगण (यजुर्वेद १७-८०)—

१. शुक्रज्योति २. चित्रज्योति ३. सत्यज्योति ४. ज्योतिष्मान् ५. शुक्र ६. ऋतपा ७. अत्यंहा ।

मरुतों का द्वितीयगण (यजुर्वेद १७-८१)—

१. ईदृङ् २. अन्यादृङ् ३. संदृङ् ४. प्रतिसंदृङ् ५. मित ६. सम्मित ७. सभरा ।

मरुतों का तृतीयगण (यजुर्वेद १७-८२)

१. ऋत २. सत्य ३. ध्रुव ४. धरुण ५. धर्ता ६. विधर्ता ७. विधरय ।

मरुतों का चतुर्थगण (यजुर्वेद १७-८३)—

१. ऋतजित् २. सत्यजित् ३. सेनजित् ४. सुषेण ५. अन्तिमित्र ६. दूरमित्र ७. अमित्र ।

मरुतों का पंचमगण (यजुर्वेद १७-८४)—

१. ईदृक्षास् २. एतादृक्षस् ३. सदृक्षास ४. प्रतिसदृक्षास् ५. मित्तास ६. सम्मितास ७. सभरस् ।

उत्तर दिशा के देवता—

उत्तरस्यां दिशि तथा धनदं संनिवेशयेत् ।
नाट्यस्य मातॄश्च तथा यक्षनाथ सगुह्यकान् ॥ ३० ॥

उत्तर दिशा में धनाधिपति कुबेर को एवं नाट्यमाताओं एवं गुह्यकों सहित यक्षों को भी स्थापित करे ॥ ३० ॥

मण्डल की पूर्व दिशा के देवता—

तथैवोत्तरपूर्वायां नन्द्याद्यांश्च गणेश्वरान् ।
ब्रह्मर्षिभूतसंघांश्च यथाभागं निवेशयेत् ॥ ३१ ॥

इसी भाँति उत्तर पूर्व दिशा में नन्दी आदि गणेश्वरों को और ब्रह्मर्षियों व भूतों के समुदायों को यथा स्थान स्थापित करना चाहिए ॥ ३१ ॥

मण्डल की चारों दिशाओं में स्तम्भों के देवता—

स्तम्भे सनत्कुमारं तु दक्षिणे दक्षमेव च ।
ग्रामण्यमुत्तरे स्तम्भे पूजार्थं संनिवेशयेत् ॥ ३२ ॥

(पूर्वदिशा में स्थित) स्तम्भ पर सनत्कुमार को, दक्षिण (स्तम्भ) पर दक्ष को एवं उत्तर स्तम्भ पर ग्रामणी को पूजा के लिए स्थापित करना चाहिए ॥ ३२ ॥

उपसंहार—

अनेनैव विधानेन यथास्थानं यथाविधि ।
सुप्रसादानि सर्वाणि दैवतानि निवेशयेत् ॥ ३३ ॥

इस विधान के अनुरूप समस्त देवताओं को भलीभाँति प्रसन्न करके विधिपूर्वक उचित स्थान पर आसीन कराना चाहिए ॥ ३३ ॥

देव पूजन का उपक्रम—

स्थाने स्थाने यथान्यायं विनिवेश्य तु देवताः ।
तासां प्रकुर्वीत ततः पूजनं तु यथार्हतः ॥ ३४ ॥

मरुतों का षष्ठगण (यजुर्वेद १७-८५)—

१. स्वतवान् २. प्रधासी ३. सान्तपन ४. गृहमेधी ५. क्रीडी ६. शाकी ७. उज्जेषी ।

मरुतों का सप्तम गण (यजुर्वेद ३९-७)—

१. उग्र २. भीम ३. ध्वान्त ४. धुनि ५. सासह्वान् ६. अभियुग्वा ।

गरुड पुराण ६.५८–६४ में मरुतों के इन सातों गणों के नाम मिलते हैं कुछ नामों में अन्तर है ।

प्रत्येक स्थान पर यथानुकूल देवताओं को आसीन कराकर उनकी यथायोग्य पूजा करनी चाहिए ॥ ३४ ॥

देवमालाओं के वर्ण—

देवताभ्यस्तु दातव्यं सितमाल्यानुलेपनम् ।
गन्धर्ववह्निसूर्येभ्यो रक्तमाल्यानुलेपनम् ॥ ३५ ॥

देवताओं को सफेद रङ्ग की[1] मालाएँ व अनुलेपन देना चाहिए। गन्धर्वों अग्नि, और सूर्य को लालरंग की[2] मालाएँ और अनुलेपन (प्रदान करनी चाहिये) ॥ ३५ ॥

देव पूजन विधि—

गन्धं माल्यं च धूपं च यथावदनुपूर्वशः ।
दत्त्वा ततः प्रकुर्वीत बलिं पूजां यथाविधि ॥ ३६ ॥

समस्त देवताओं को क्रमानुसार यथायोग्य गन्ध, मालाएँ, एवं धूप अर्पण करके उन्हें विधिपूर्वक बलि प्रदान करके पूजा करनी चाहिए ॥ ३६ ॥

विभिन्न देवों के नैवेद्य—

ब्रह्माणं मधुपर्केण पायसेन सरस्वतीम् ।
शिवविष्णुमहेन्द्राद्याः सम्पूज्या मोदकैरथ ॥ ३७ ॥

ब्रह्मा की मधुपर्क[3] से, सरस्वती की खीर से, एवं शिव, विष्णु एवं इन्द्र इत्यादि की पूजा लड्डुओं द्वारा करनी चाहिए ॥ ३७ ॥

घृतौदनेन हुतभुक्सोमार्कौ तु गुडौदनैः ।
विश्वेदेवाः सगन्धर्वा मुनयो मधुपायसैः ॥ ३८ ॥

घी और चावल से अग्नि, गुड़ व चावल से रवि शशि, और मधु व खीर से विश्वेदेवों तथा गन्धर्वों सहित मुनियों की पूजा करनी चाहिए ॥ ३८ ॥

यममित्रौ च सम्पूज्यावपूपैर्मोदकैस्तथा ।
पितॄन्पिशाचानुरगान् सर्पिःक्षीरेण तर्पयेत् ॥ ३९ ॥

यम एवं मित्र की अर्चना पुओं तथा लड्डुओं से करनी चाहिये तथा पितरों पिशाचों और सर्पों को घी एवं दुग्ध द्वारा तृप्त करना चाहिये ॥ ३९ ॥

१-२. श्री घोष के विचार में यहाँ श्वेतवर्ण से पवित्रता एवं कल्याण की भावना का प्रदर्शन किया गया है, तथा रक्तवर्ण शक्ति का प्रतीक है। रंगों की इस मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति का अनौचित्य सिद्ध करना हमें अभिप्रेत नहीं है।

३. मधु, घृत एवं दधि आदि का मिश्रित रूप, जिसका अर्पण वैदिक काल से ही अति सम्माननीय है।

पक्वान्नेन तु मांसेन सुरासीथुफलासवैः।
अर्चयेद् भूतसंघांश्च चणकैः पललाप्लुतैः॥ ४०॥

पके हुए अनाज, माँस, सुरा, मिष्ठान्न, फलों के आसव (रस) और पलल (माँस) से युक्त चनों से भूतसमुदायों की पूजा करनी चाहिए[1]॥ ४०॥

अनेनैव विधानेन संपूज्या मत्तवारणी।
पक्वामेन तु मांसेन सम्पूज्या रक्षसां गणाः॥ ४१॥

इसी नियम के अनुसार मत्तवारणी का भी पूजन करना चाहिये। राक्षसों के समूह की पूजा पके हुए या कच्चे माँस से करनी चाहिए॥ ४१॥

सुरामांसप्रदानेन दानवान्प्रतिपूजयेत्।
शेषान्देवगणांस्तज्ज्ञः सापूपोत्कारिकौदनैः॥ ४२॥

सुरा एवं मांस के अर्पण द्वारा दानवों की अर्चना करनी चाहिए तथा पूजनविधि के ज्ञाता को चाहिए कि बचे हुए देवताओं की पूजा पुओं, लपसी, एवं भात से करे॥ ४२॥

मत्स्यैश्च पिष्टभक्ष्यैश्च सागरान्सरितस्तथा।
सम्पूज्य वरुणं चापि दातव्यं घृतपायसम्॥ ४३॥

सागरों व नदियों को मछलियों तथा पिठ्ठी के बने पदार्थों से (पूजित करना चाहिए) तथा वरुण की पूजा करके घी मिश्रित खीर देना चाहिये॥ ४३॥

नानामूलफलैश्चापि मुनीन्सम्प्रतिपूजयेत्।
वायूंश्च पक्षिणश्चैव विचित्रैर्भक्ष्यभोजनैः॥ ४४॥

विविध प्रकार के मूलों और फलों से मुनियों की, भलीभाँति पूजा करनी चाहिए तथा पवनों एवं पक्षियों की नानाविध भक्ष्य-वस्तुओं से पूजा करनी चाहिए॥ ४४॥

मातॄर्नाट्यस्य सर्वास्ता धनदं च सहानुगैः।
अपूपैर्लाजिकामिश्रैर्भक्ष्यभोज्यैश्च पूजयेत्॥ ४५॥

नाट्यमाताओं की एवं अनुयायियों के सहित कुबेर की पूजा पुओं तथा लावा युक्त भक्ष्य व भोज्य वस्तुओं से करनी चाहिए॥ ४५॥

---

१. इस श्लोक में 'सीथु' शब्द का प्रयोग उपयुक्त नहीं प्रतीत होता क्योंकि यह शब्द कोषों में नहीं प्राप्त होता। इसके स्थान पर 'सीधु' शब्द होना चाहिये जिसका अर्थ गुड़ की शराब है।

'पललाप्लुतैः' के स्थान पर पयसाप्लुतैः यह 'ज' प्रति का पाठान्तर उचित प्रतीत होता है क्योंकि माँस का वर्णन पहले कर चुके हैं। फिर मांस द्रव (तरल) पदार्थ नहीं है अतः उससे चने आप्लुत (भीगे हुए) नहीं हो सकते। पयसाप्लुतैः (दूध से भीगे हुए) यहीं पाठ उचित है।

एवमेषां बलिः कार्यो नानाभोजनसंश्रयः।
पुनर्मन्त्रविधानेन बलिकर्म च वक्ष्यते ॥ ४६ ॥

इस प्रकार इन [देवताओं] को विविध प्रकार के भोजनों से समन्वित बलि देनी चाहिए। मन्त्रपूर्वक बलिकर्म का वर्णन आगे किया जायेगा ॥ ४६ ॥

ब्रह्मा की बलि का मन्त्र—

देवदेव! महाभाग! सर्वलोकपितामह!।
मन्त्रपूतमिमं सर्वं प्रतिगृह्णीष्व मे बलीम् ॥ ४७ ॥

हे सर्वश्रेष्ठ, परमसुभग, समस्त लोकों के पितामह[1] मन्त्रों से पवित्र मेरी इस बलि को सम्पूर्णतया स्वीकार कीजिए ॥ ४७ ॥

महादेव की बलि के मन्त्र—

देवदेव! महादेव! गणेश! त्रिपुरान्तक!
प्रगृह्यतां बलिर्देव! मन्त्रपूतो मयोद्यतः ॥ ४८ ॥
(महादेव महायोगिन्देवदेव सुरोत्तम।
संप्रगृह्य बलिं देव रक्ष विघ्नात्सदोत्थितात् ॥)

हे देवों में श्रेष्ठ, गणाधिपति, त्रिपुरासुरमर्दक, महादेव शिव! मन्त्रों से पवित्र जो बलि मैं भेंट कर रहा हूँ, यह ग्रहण करिये ॥ ४८ ॥

(हे महादेव, महायोगी, देवों में श्रेष्ठ, सुरों में महानतम देव! इस बलि को भली प्रकार ग्रहण करके, सर्वदा बाधा देने वाले विघ्नों से [नाट्य की] रक्षा करिए)।

विष्णु की बलि का मन्त्र—

नारायणामितगते! पद्मनाभ! सुरोत्तम!
प्रगृह्यतां बलिर्देव! मन्त्रपूतो मयार्पितः ॥ ४९ ॥

हे अबाधगति वाले, पद्मनाभ, देवों में श्रेष्ठ विष्णु! मन्त्रों से पवित्र मेरे द्वारा अर्पित इस बलि को स्वीकार करें ॥ ४९ ॥

इन्द्र की बलि का मन्त्र—

पुरन्दरामरपते! वज्रपाणे! शतक्रतो!
प्रगृह्यतां बलिर्देव! विधिमन्त्रपुरस्कृतः ॥ ५० ॥

हे पुरन्दर, सुरपति, वज्रहस्त, शतक्रतु इन्द्र! विधिपूर्वक दी जाने वाली इस मन्त्रयुक्त बलि को ग्रहण कीजिए ॥ ५० ॥

---

१. यह मन्त्र ब्रह्मा के प्रति बलि प्रदानार्थ है।

स्कन्द की बलि का मन्त्र—

देवसेनापते ! स्कन्द ! भगवन् ! शङ्करप्रिय !
बलिः प्रीतेन मनसा षण्मुख ! प्रतिगृह्यताम् ॥ ५१ ॥

हे देवताओं के सेनापति, शंकर के प्रिय, छः मुख वाले स्कन्दकुमार ! इस बलि को मुदित मन से स्वीकार कीजिये ॥ ५१ ॥

सरस्वती की बलि का मन्त्र—

देवदेवि ! महाभागे ! सरस्वती ! हरिप्रिये !
प्रगृह्यतां बलिर्मातर्मया भक्त्या समर्पितः ॥ ५२ ॥

हे देवताओं की पूजनीय परमसौभाग्यशीला, हरिवल्लभा, माता सरस्वती ! मेरे द्वारा भक्तिपूर्वक समर्पित बलि को अंगीकार कीजिए ॥ ५२ ॥

राक्षसों की बलि का मन्त्र—

नानानिमित्तसम्भूताः पौलस्त्याः सर्व एव तु ।
राक्षसेन्द्रा ! महासत्त्वाः ! प्रतिगृह्णीत मे बलिम् ॥ ५३ ॥

हे विविध कारणों से उत्पन्न, पुलस्त्य ऋषि की सन्तानों, महाशक्तिशाली राक्षसेन्द्रो ! मेरी बलि को ग्रहण कीजिए ॥ ५३ ॥

लक्ष्मी की बलि मन्त्र—

लक्ष्मीः सिद्धिर्मतिर्मेधा ! सर्वलोकनमस्कृताः ! ।
मन्त्रपूतमिमं देव्यः प्रतिगृह्णन्तु मे बलिम् ॥ ५४ ॥

सारे संसार के लिए पूज्या हे लक्ष्मी, सिद्धि एवं मेधा देवियों ! आप मन्त्रों से पुनीत मेरी बलि को स्वीकार कीजिए ॥ ५४ ॥

वायु की बलि का मन्त्र

सर्वभूतानुभावज्ञ ! लोकजीवन ! मारुत !
प्रगृह्यतां बलिर्देव ! मन्त्रपूतो मयोद्यतः ॥ ५५ ॥

हे समस्त भूतों की भावनाओं (अनुभावों)[1] के ज्ञाता तथा संसार के जीवनदायक वायुदेव ! आप मेरे द्वारा अर्पित तथा मन्त्रों से पवित्र इस बलि को ग्रहण कीजिए ॥ ५५ ॥

अग्नि की बलि का मन्त्र—

देववक्त्र ! सुरश्रेष्ठ ! धूमकेतो ! हुताशन ! ।
भक्त्या समुद्यतो देव ! बलिः सम्प्रति गृह्यताम् ॥ ५६ ॥

---

१. अनुभाव—प्रो० घोष के विचार में यह शब्दशक्ति का द्योतक है ।

हे देवताओं के मुखरूप[1], देवों में श्रेष्ठ, धुएँ की ध्वजा वाले, आहुतियों के भक्षक अग्निदेव ! मेरे द्वारा अर्पित बलि को भलीभाँति ग्रहण कीजिए ॥ ५६ ॥

सूर्य की बलि का मन्त्र—

सर्वग्रहाणां प्रवर ! तेजोराशे ! दिवाकर ! ।
भक्त्या मयोद्यतो देव ! बलिः सम्प्रति गृह्यताम् ॥ ५७ ॥

हे समस्त ग्रहों में श्रेष्ठ, तेजपुञ्ज सूर्यदेव ! मेरे द्वारा भक्तिपूर्वक प्रस्तुत की गयी बलि को भलीभाँति ग्रहण कीजिए ॥ ५७ ॥

चन्द्र की बलि का मन्त्र—

सर्वग्रहपते ! सोम ! द्विजराज ! जगत्प्रिय !
प्रगृह्यतामेष बलिर्मन्त्रपूतो मयोद्यतः ॥ ५८ ॥

हे समस्त ग्रहों के स्वामी, ब्राह्मणश्रेष्ठ, लोकप्रिय चन्द्रदेव ! मेरे द्वारा प्रस्तुत, मन्त्रों से पवित्र इस बलि को ग्रहण कीजिए ॥ ५८ ॥

नन्दी आदिगणों की बलि का मन्त्र—

महागणेश्वराः ! सर्वे ! नन्दीश्वरपुरोगमाः ।
प्रगृह्यतां बलिर्भक्त्या मया सम्प्रति चोदितः ॥ ५९ ॥

हे नन्दीश्वर-प्रभृति समस्त महागणेश्वरों ! मेरे द्वारा श्रद्धापूर्वक प्रेरित (समर्पित) बलि को ग्रहण कीजिए ॥ ५९ ॥

पितृगणों की बलि का मन्त्र—

नमः पितृभ्यः सर्वेभ्यः प्रतिगृह्णन्त्विमं बलिम् ।
(भूतेभ्यश्च नमो नित्यं येषामेष बलिः प्रियः ।)
कामपाल ! नमो नित्यं यस्यायं ते विधिः कृतः ॥ ६० ।

हे समस्त पितृगणों ! आप नमस्कार-सहित इस बलि को स्वीकार कीजिए । (उन भूतों को भी सदा नमस्कार है जिन्हें यह बलि प्रिय है) । [हे कामपाल[2] ! ऐसे आपको सदा प्रणाम है जिनके लिए यह बलि प्रस्तुत की गयी है ॥ ६० ॥

---

१. देववक्त्र—अग्नि को वेदों में भी देवताओं का मुख बताया गया है क्योंकि (अ) शरीर में मुख के समान अग्नि भी देवताओं में अग्रगण्य व सर्वोत्तम है । (ब) समस्त देवताओं के प्रति जो भी आहुतियाँ दी जाती हैं वह 'स्वाहा' मन्त्रपूर्वक अग्नि को ही अर्पित की जाती हैं । अग्निरूपी मुख से ही देवता अपना-अपना भाग ग्रहण करते हैं ।

२. कामपाल—बलराम की उपाधि है । किन्तु यहाँ इस अर्थ की प्रासंगिकता संदिग्ध है । डा० रघुवंश का मत है कि कामपाल शिव बलराम का नाम है ।

गन्धर्वों की बलि का मन्त्र—

नारदस्तुम्बुरुश्चैव विश्वावसुपुरोगमाः ।
परिगृह्णन्तु मे सर्वे गन्धर्वा बलिमुद्यतम् ॥ ६१ ॥

हे समस्त गन्धर्वगण ! जिनके नेता नारद, तुम्बुरू एवं विश्वावसु हैं, मेरे द्वारा प्रस्तुत बलि को स्वीकार करें ॥ ६१ ॥

यम तथा मित्र की बलि का मन्त्र—

यमो मित्रश्च भगवानीश्वरौ लोकपूजितौ ।
इमं मे प्रतिगृह्णीतां बलिं मन्त्रपुरस्कृतम् ॥ ६२ ॥

तीनों लोकों के पूज्य भगवान् यम एवं मित्र दोनों देवता ! इस मेरी मन्त्रयुक्त बलि को स्वीकार करें ॥ ६२ ॥

नागों की बलि का मन्त्र—

रसातलगतेभ्यश्च पन्नगेभ्यो नमोनमः ।
दिशन्तु सिद्धिं नाट्यस्य पूजिताः पापनाशनाः ॥ ६३ ॥

पृथ्वी के धरातल के नीचे (रसातल) में रहने वाले सर्पों को बारम्बार नमस्कार है। पूजित होकर, यह पाप का नाश करने वाले (सर्पगण) नाट्य को सिद्धि प्रदान करें ॥ ६३ ॥

वरुण की बलि का मन्त्र—

सर्वाम्भसां पतिर्देवो वरुणो हंसवाहनः ।
पूजितः प्रीतिमानस्तु ससमुद्रनदीनदः ॥ ६४ ॥

सम्पूर्ण जल (राशि) के स्वामी, हंस के वाहन वाले हे वरुण देव ! पूजित होकर, आप समुद्रों, नदियों एवं नदों के साथ प्रसन्न होवें ॥ ६४ ॥

गरुड़ की बलि का मन्त्र—

वैनतेय ! महासत्त्व ! सर्वपक्षिपते ! विभो !
प्रगृह्यतां बलिर्देव ! मन्त्रपूतो मयोद्यतः ॥ ६५ ॥

हे महाशक्तिशाली, सब पक्षियों के स्वामी प्रभु विनतापुत्र गरुड़ ! आप मेरे द्वारा प्रस्तुत इस मन्त्रपूत बलि को ग्रहण कीजिए ॥ ६५ ॥

कुबेर की बलि का मन्त्र—

धनाध्यक्षो यक्षपतिर्लोकपालो धनेश्वरः ।
सगुह्यकस्सयक्षश्च प्रतिगृह्णातु मे बलिम् ॥ ६६ ॥

समस्त सम्पत्तियों के स्वामी, यक्षों के पति, (उत्तर दिशा के) लोकपाल धनाधिपति कुबेर, गुह्यकों तथा यक्षों के साथ मेरी बलि को ग्रहण करें ॥ ६६ ॥

नाट्यमाताओं की बलि का मन्त्र—

नमोऽस्तु नाटचमातृभ्यो ब्राह्म्याद्यभयो नमोनमः।
सुमुखीभिः प्रसन्नाभिर्बलिरद्य प्रगृह्यताम् ॥ ६७ ॥

ब्राह्मी आदि नाट्यमाताओं को बारम्बार नमस्कार है। आपलोग शोभनमुख वाली, एवं आह्लादित होकर भलीभाँति बलि को ग्रहण करें ॥ ६७ ॥

रुद्र एवं विष्णु के आयुध की बलि का मन्त्र—

रुद्रप्रहरणं सर्वं प्रतिगृह्णातु मे बलिम्।
विष्णुप्रहरणं चैव विष्णुभक्त्या मयोद्यतम् ॥ ६८ ॥

रुद्र का अयुध मेरी बलि को स्वीकार करे एवं विष्णु का आयुध भी मेरे द्वारा विष्णु के प्रति भक्ति सहित निवेदित बलि को ग्रहण करे ॥ ६८ ॥

यमराज, काल, मृत्यु तथा नियति की बलि का मन्त्र—

तथा कृतान्तः कालश्च सर्वप्राणिवधेश्वरौ।
मृत्युश्च नियतिश्चैव प्रतिगृह्णातु मे बलिम् ॥ ६९ ॥

समस्त प्राणियों की मृत्यु के स्वामी हे यमराज [कृतान्त] एवं हे काल ! तथा हे मृत्यु और हे नियति ! मेरी बलि को ग्रहण करो ॥ ६९ ॥

वास्तुदेवों की बलि का मन्त्र—

याश्चास्यां मत्तवारण्यां संश्रिता वास्तुदेवताः।
मन्त्रपूतमिमं सम्यक्प्रतिगृह्णन्तु मे बलिम् ॥ ७० ॥

वास्तुशास्त्र के अधिष्ठाता देवगण, जो कि मत्तवारणी में निवास करते हैं, वे मेरी इस मन्त्रपूत बलि को अंगीकार करें ॥ ७० ॥

अवशिष्ट देवों की बलि का मन्त्र—

अन्येऽपि ये देवगणा दिशो दश समाश्रिताः।
दिव्यान्तरिक्षभौमाश्च तेभ्यश्चायं बलिः कृतः ॥ ७१ ॥

अन्य भी जितने दसों दिशाओं में रहने वाले देवता हैं, वे चाहे वायु लोकगत हों, चाहे अन्तरिक्षलोकगत अथवा पृथिवीस्थनीय हों उनके लिए यह बलि सम-

१. श्लोक ६२ में यमराज के लिए बलि का विधान किया गया है अतः इस श्लोक के कृतान्त शब्द का अर्थ यमराज नहीं प्रत्युत प्राणियों का अन्त करने वाला है। 'अ' प्रति में 'कृतान्तः' के स्थान पर 'भूतान्तकः' पाठ भी इसी अर्थ का समर्थक है। 'सर्वप्राणिवधेश्वरौ' के स्थान पर 'अ' 'च' 'ब' प्रति में सर्वप्राणधनेश्वरः यह एकवचनान्त पाठ भी भूतान्तक काल का विशेषण है।

पित की गयी है[1] ॥ ७१ ॥

रङ्गमण्डप के मध्य में जलपूर्ण घटस्थापन—

कुम्भं सलिलसम्पूर्णं पुष्पमालापुरस्कृतम् ।
स्थापयेद्रङ्गमध्ये तु सुवर्णं चात्र दापयेत् ॥ ७२ ॥

एक जल से भरा हुआ एवं पुष्पों की माला से युक्त घड़े को रङ्गमण्डप के बीच में स्थापित करना चाहिए और उसमें स्वर्ण डाल देना चाहिए ॥ ७२ ॥

घटपूजन विधि—

(आतोद्यानि तु सर्वाणि कृत्वा वस्त्रोत्तराणि तु ।
गन्धैर्माल्यैश्च धूपैश्च भक्ष्यैर्भोज्यैश्च पूजयेत् ॥)

[समस्त वाद्यों को वस्त्र से ढककर सुगन्धित द्रव्यों, माला, धूप एवं भक्ष्य तथा भोज्य पदार्थों से पूजा करनी चाहिये[2] ।]

जर्जरपूजन विधि—

पूजयित्वा तु सर्वाणि दैवतानि यथाक्रमम् ।
जर्जरस्त्वभिसम्पूज्यः स्यात्ततो विघ्नजर्जरः ॥ ७३ ॥

क्रमपूर्वक समस्त देवताओं का पूजन करके जर्जर की भलीभाँति पूजा करनी चाहिये जिससे बाधाएँ नष्ट हो जाय ॥ ७३ ॥

जर्जर के पांचों पर्वों के वस्त्रों की विधि—

श्वेतं शिरसि वस्त्रं स्यान्नीलं रौद्रे च पर्वणि ।
विष्णुपर्वणि वै पीतं रक्तं स्कन्दस्य पर्वणि ॥ ७४ ॥
मृडपर्वणि चित्रं तु देयं वस्त्रं हितार्थिना ।
सदृशं च प्रदातव्यं धूपमाल्यानुलेपनम् ॥ ७५ ॥

मङ्गलकामी व्यक्ति को जर्जर के ऊपरी पोर पर श्वेतवस्त्र, रौद्रपर्व पर नील वस्त्र, विष्णुपर्व पर पीला वस्त्र, स्कन्द-पर्व पर लालवस्त्र, एवं जड़ के पोर पर रंगबिरंगा वस्त्र, समर्पित करना चाहिए[3] एवं उसी के अनुकूल[4] माला तथा अनुलेपन अर्पित करना चाहिए ॥ ७४-७५ ॥

---

१. नाट्यशास्त्र [बड़ौदा के] द्वितीय संस्करण में 'अन्येऽपि ये देवगणा' के स्थान पर 'अन्ये ये देवगन्धर्वा' यह पाठ प्राप्त होता है। 'अन्येऽपि ये देवगणा' यह पाठ टिप्पणी में क, ब, अ प्रति का दिया गया है।

२. कुछ पाठान्तर के साथ यह श्लोक संख्या ७६ पर भी प्राप्त होता है।

३. जर्जर के निर्माण का जो वर्णन नाट्यशास्त्र में किया गया है तदनुसार इसे बाँस का बना होना चाहिए। इसकी लम्बाई १०८ अंगुल होना चाहिए। इसमें पाँच पर्व एवं चार ग्रन्थियों का होना आवश्यक है। इन्हीं पाँच पर्वों को विभिन्न वर्णों

वाद्ययन्त्रपूजन विधि—

आतोद्यानि च सर्वाणि वासोभिरवगुण्ठयेत् ।
गन्धैर्माल्यैश्च धूपैश्च भक्ष्यभोज्यैश्च पूजयेत् ॥ ७६ ॥

समस्त[1] वाद्ययन्त्रों को वस्त्रों से ढक देना चाहिए तथा सुगन्धित द्रव्यों, मालाओं, धूप एवं भक्ष्य एवं भोज्य पदार्थों द्वारा उनकी पूजा करनी चाहिए ॥ ७६ ॥

जर्जर का अभिमन्त्रण—

सर्वमेवं विधिं कृत्वा गन्धमाल्यानुलेपनैः ।
विघ्नजर्जरणार्थं तु जर्जरं त्वभिमन्त्रयेत् ॥ ७७ ॥

इस प्रकार गन्ध, माला तथा अनुलेपनों के द्वारा सब (पूजन) विधि को सम्पन्न करके विघ्नों को विनष्ट करने के लिए जर्जर को अभिमन्त्रित करना चाहिए ॥७७॥

जर्जर की प्रार्थना—

अत्र विघ्नविनाशार्थं पितामहमुखैस्सुरैः ।
निर्मितस्त्वं महावीर्यो वज्रसारो महातनुः ॥ ७८ ॥

ब्रह्मा आदि देवताओं ने विघ्नों को नष्ट करने के लिए ही यहाँ (रंग में) परम-शक्तिशाली, वज्र के समान कठोर, तथा विशाल आकार वाले तुम्हारी (जर्जर की) रचना की है ॥ ७८ ॥

शिरस्ते रक्षतु ब्रह्मा सर्वैर्देवगणैः सह ।
द्वितीयं च हरः पर्व, तृतीयं च जनार्दनः ॥ ७९ ॥
चतुर्थं च कुमारस्ते, पञ्चमं पन्नगोत्तमः ।
नित्यं सर्वेऽपि पान्तु त्वां सुरार्थे च शिवो भव ॥ ८० ॥

के वस्त्र समर्पित करने का यहाँ उल्लेख हुआ है ।

४. पर्व के वस्त्र के अनुरूप ही माला एवं अनुपेलन का वर्ण होना चाहिए । तदनुसार पहले पर्व पर श्वेत माला व श्वेत अनुलेपन, द्वितीय पर्व पर नीली माला व नीला अनुलेपन, तीसरे पर पीली माला व पीला अनुलेपन, चौथे पर्व पर लाल माला और लाल अनुलेपन और पाँचवें पर्व पर विविध रंगों की माला एवं अनेक रंगों का अनुलेपन अर्पित करना चाहिए ।

---

१. पहले अनूदित "आतोद्यानि..." आदि श्लोक की प्रायः पुनरावृत्ति ही प्रस्तुत श्लोक में की गई है । जर्जर पूजन के सन्दर्भ में आतोद्यपूजन के इस एकमात्र श्लोक का उल्लेख उचित भी नहीं प्रतीत होता । श्री घोष ने इस स्थल पर प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या ही नहीं, चर्चा तक नहीं की है । वस्तुतः इस श्लोक का वास्तविक स्थान उसी प्रसंग में है जहाँ इसको प्रक्षिप्त रूप में रखा गया है, यहाँ इसकी प्रासंगिकता संदिग्ध है ।

तुम्हारे सिर की (पहले पर्व की) रक्षा समस्त देवताओं के साथ ब्रह्मा करें, द्वितीय (रौद्र) पर्व की रक्षा शंकर, तृतीय (विष्णु) पर्व की रक्षा जनार्दन, चतुर्थ (स्कन्द) पर्व की रक्षा (स्कन्द) कुमार और पंचम पर्व की रक्षा नागराज करें। सदा सभी तुम्हारी रक्षा करें और तुम देवताओं के लिये मंगलमय सिद्ध होओ ॥ ७९-८० ॥

नक्षत्रेऽभिजिति त्वं हि प्रसूतोऽहितसूदन ।
जयं चाभ्युदयं चैव पार्थिवस्य समावह ॥ ८१ ॥

हे विघ्ननाशक ! तुम्हारी उत्पत्ति अभिजित नामक नक्षत्र में हुई है। राजा के लिए तुम विजय एवं उन्नति के साधक बनो ॥ ८१ ॥

हवन विधि—

जर्जरं पूजयित्वैवं बलिं सर्वं निवेद्य च ।
अग्नौ होमं ततः कुर्यान्मन्त्राहुतिपुरस्कृतम् ॥ ८२ ॥

इस प्रकार जर्जर की पूजा करके और सम्पूर्ण बलि को निवेदित करके मन्त्र एवं आहुतियों के साथ अग्नि में हवन करना चाहिए ॥ ८२ ॥

परिमार्जन विधि—

हुताश एव दीप्ताभिरुल्काभिः परिमार्जनम् ।
नृपतेर्नर्तकीनां च कुर्याद्दीप्त्यभिवर्धनम् ॥ ८३ ॥

हवन करने वाला (रंगाचार्य) ही जलती हुई उल्काओं से परिमार्जन करे और राजा एवं (नाट्य में अभिनय करने वाली) नर्तकियों की कान्ति को बढ़ाये ॥ ८३ ॥

अभिषेक विधि—

अभिद्योत्य सहातोद्यैर्नृपतिं नर्तकीस्तथा ।
मन्त्रपूतेन तोयेन पुनरभ्युक्ष्य तान्वदेत् ॥ ८४ ॥
महाकुले प्रसूताः स्थ गुणौघैश्चाप्यलङ्कृताः ।
यद्वो जन्मगुणोपेतं तद्वो भवतु नित्यशः ॥ ८५ ॥

वाद्ययन्त्रों के समेत राजा एवं नर्तकियों को दीप्त करके उनके ऊपर मन्त्रपूत जल छिड़ककर उनसे इस प्रकार कहना चाहिए—

---

१. तृतीय अध्याय के ही ७४-७५ श्लोकों में जर्जर के विभिन्न पर्वों के रौद्रादि नाम बताए गए हैं। यहाँ उनके अधिष्ठाता रक्षक देवताओं का उल्लेख हुआ है। शंकर, विष्णु एवं स्कन्द कुमार का स्व स्व पर्व के रक्षक होना स्वतः सिद्ध है। सबसे ऊपर का पर्व शीर्षस्थ अथवा प्रथम होने के कारण देवताओं के पितामह, आदिदेव ब्रह्मा द्वारा रक्षित है। सबसे नीचे का मूलस्थ पर्व नागों के अधिकार में बताया गया है क्योंकि नाग सर्प का सम्बन्ध पाताल लोक तथा भूमिलोक से होता है।

"आपका जन्म उच्च कुल में हुआ है, आप गुणों के भण्डार हैं, जन्म एवं गुणों से जो कुछ आप को प्राप्त हुआ है वह चिरन्तन हो" ॥ ८४-८५ ॥

मंगलाचरण—

एवमुक्त्वा ततो वाक्यं नृपतेर्भूतये बुधः ।
नाटचयोगप्रसिद्धचर्थमाशिषस्सम्प्रयोजयेत् ॥ ८६ ॥

राजा की समृद्धि के लिए इस प्रकार की उक्ति कहकर नाट्य के प्रयोग की सिद्धि के लिए विद्वान् व्यक्ति को आशीर्वादात्मक मंगलाचरण कहना चाहिए ॥ ८६ ॥

सरस्वती धृतिर्मेधा ह्रीः श्रीर्लक्ष्मीस्स्मृतिर्मतिः ।
पान्तु वो मातरः सौम्याः सिद्धिदाश्च भवन्तु वः ॥ ८७ ॥

सरस्वती, धृति, मेधा, ह्री, श्री, लक्ष्मी, स्मृति एवं मति यह सभी सौम्य माताएं[1] आपकी रक्षा करें एवं आपको सिद्धि देने वाली हों ॥ ८७ ॥

कुम्भ-भेदन—

होमं कृत्वा यथान्यायं हविर्मन्त्रपुरस्कृतम् ।
भिन्द्यात् कुम्भं ततश्चैव नाटचाचार्यः प्रयत्नतः ॥ ८८ ॥

हविष्य एवं मंत्रों के सहित यथाविधि हवन करने के पश्चात् नाट्याचार्य को चाहिए कि प्रयासपूर्वक कुम्भ को फोड़ दे ॥ ८८ ॥

कुम्भ का भेदन करने से दोष—

अभिन्ने तु भवेत्कुम्भे स्वामिनः शत्रुतो भयम् ।
भिन्ने चैव तु विज्ञेयः स्वामिनः शत्रुसंक्षयः ॥ ८९ ॥

कुम्भ के न फूटने पर राजा को शत्रुभय होता है और कुम्भ के टूट जाने पर राजा के शत्रुओं का नाश होता है ॥ ८९ ॥

---

१. इस विवरण के अनुसार नाट्यमाताओं की संख्या आठ है। प्रो० घोष ने इनकी संख्या ७ मानी है। नाट्यमाताओं का उल्लेख पहले भी प्रायः (श्लोक ३-३०, ५४, ६७ आदि में) हुआ है। किन्तु इनके नाम एकत्रित रूप में प्रस्तुत स्थल पर प्राप्य हैं। सिद्धि (लक्ष्मीः सिद्धिर्मतिर्मेधा-३-५४) एवं ब्राह्मी (नमोऽस्तु नाट्य-मातृभ्यो ब्राह्म्याद्याभ्यो नमो नमः-३-६७) की गणना भी नाट्यमाताओं में की जा चुकी है। अतएव नाट्यमाताओं की वास्तविक संख्या के विषय में निश्चितरूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

रंगमंच को दीपक से प्रकाशित करने की विधि—

भिन्ने कुम्भे ततश्चैव नाटचाचार्यः प्रयत्नतः।
प्रगृह्य दीपिकां दीप्तां सर्वं रङ्गं प्रदीपयेत् ॥ ९० ॥

घड़े के फूट जाने के बाद नाट्याचार्य को चाहिए कि प्रदीप्त दीपक को लेकर अत्यन्त सावधानी से सम्पूर्ण रङ्गमंच को प्रकाशित करे ॥ ९० ॥

क्ष्वेडितैः स्फोटितश्चैव वल्गितैश्च प्रधावितैः।
रङ्गमध्ये तु तां दीप्तां सशब्दां सम्प्रयोजयेत् ॥ ९१ ॥

अत्यन्त तीव्र ध्वनि के साथ, उच्च स्वर में घोष करते हुए, उछलते कूदते एवं खूब जोर से दौड़भाग करते हुए उस नादमय प्रदीप्त (ज्योति) को रंग में सम्प्रयुक्त करना चाहिए ॥ ९१ ॥

रंगस्थल में युद्ध की विधि—

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्मृदङ्गपणवैस्तथा।
सर्वातोद्यैः प्रणदितै रङ्गे युद्धानि कारयेत् ॥ ९२ ॥

शंख एवं दुन्दुभि (नगाड़ा) मृदंग एवं पणवों (ढोल) के उच्च शब्द के तथा समस्त वाद्ययन्त्रों के नाद के सहित रंग (स्थल) में युद्ध करवाना चाहिए ॥ ९२ ॥

तत्र च्छिन्नं च भिन्नं च दारितं च सशोणितम्।
छिन्नं प्रदीप्तमायस्तं निमित्तं सिद्धिलक्षणम् ॥ ९३ ॥

उस (अभिनयात्मक युद्ध) में कटने, फटने, चीरने और काटने से लगा हुआ रक्तमय घाव यदि चमकीला और विशाल हो तो यह शुभ एवं सिद्धप्रद शकुन माना जाता है ॥ ९३ ॥

रंगमण्डप पूजन के लाभ—

सम्यगिष्टस्तु रङ्गो वै स्वामिनः शुभमावहेत्।
पुरस्याबालवृद्धस्य तथा जनपदस्य च ॥ ९४ ॥

जिस रंग स्थल की उचित प्रकार से पूजा की जाती है, वह (रंग स्थल) राजा के लिए एवं नगर व जनपद के आबालवृद्ध जन के लिए मंगलदायक सिद्ध होता है ॥ ९४ ॥

रंगमण्डप के पूजन न करने से उत्पन्न दोष—

दुरिष्टस्तु तथा रङ्गो दैवतैर्दुरधिष्ठितः।
नाटचविध्वंसनं कुर्यान्नृपस्य च तथाऽशुभम् ॥ ९५ ॥

रंग स्थल की सम्यक् पूजा न होने पर एवं देवताओं द्वारा ठीक प्रकार से अधिष्ठित न होने पर रंगस्थल नाट्य को विध्वस्त कर देता है और राजा का अमंगल करता है ॥ ९५ ॥

य एवं विधिमुत्सृज्य यथेष्टं सम्प्रयोजयेत् ।
प्राप्नोत्यपचयं शीघ्रं तिर्यग्योनिं च गच्छति ॥ ९६ ॥

इस प्रकार की विधि को न अपनाकर जो अपनी ही इच्छानुसार नाट्य का प्रयोग करता है उसकी तत्काल अवनति होती है और वह (मरने के बाद) तिर्यग्योनि को प्राप्त होता है ॥ ९६ ॥

रंगमण्डप पूजन प्रशंसा—

यज्ञेन सम्मितं ह्येतद्रङ्गदैवतपूजनम् ।
अपूजयित्वा रङ्गं तु नैव प्रेक्षां प्रयोजयेत् ॥ ९७ ॥

रंग (मण्डप) के देवताओं का पूजन (विधि एवं फल के संदर्भ में) (वैदिक) यज्ञ के ही समान है। बिना रंग मण्डप की पूजा किये कभी भी नाट्य का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए ॥ ९७ ॥

पूजिताः पूजयन्त्येते मानिता मानयन्ति च ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन कर्तव्यं रङ्गपूजनम् ॥ ९८ ॥

यह (रंग मण्डप के अधिष्ठाता देवता) पूजित होने पर (पूजक को) पूज्य बना देते हैं और सम्मानित होने पर सम्मान्य बना देते हैं। अतः सभी प्रकार के उपायों से रंगमण्डप का पूजन करना चाहिये ॥ ९८ ॥

नाट्य के अनुचित प्रयोग के दोष—

न तथा प्रदहत्याग्निः प्रभञ्जनसमीरितः ।
यथा ह्यपप्रयोगस्तु प्रयुक्तो दहति क्षणात् ॥ ९९ ॥

आँधी से भड़काई हुई आग उस प्रकार नहीं जलाती जैसे कि नाटक का अनुचित प्रयोग (नाट्याचार्य को) क्षणमात्र में जला देता है ॥ ९९ ॥

रंगमण्डप पूजन प्रशंसा—

शास्त्रज्ञेन विनीतेन शुचिना दीक्षितेन च ।
नाट्याचार्येण शान्तेन कर्तव्यं रङ्गपूजनम् ॥ १०० ॥

(नाट्य) शास्त्र के ज्ञाता, विनीत, पवित्र एवं (व्रतानुष्ठान में) दीक्षित, सौम्य नाट्याचार्य को ही रंगमण्डप की पूजा करनी चाहिए ॥ १०० ॥

विधानहीन बलि प्रदान व हवन के दोष--

स्थानभ्रष्टं तु यो दद्याद् बलिमुद्विग्नमानसः ।
मन्त्रहीनो यथा होता प्रायश्चित्ती भवेत्तु सः ॥ १०१ ॥

उद्वेलित (उद्विग्न) चित्त होने से जो व्यक्ति अनुपयुक्त स्थल पर बलि देता है वह बिना मंत्र के हवन करने वाले होता के समान प्रायश्चित का पात्र होता है ॥ १०१ ॥

उपसंहार—

इत्ययं यो विधिर्दृष्टो रङ्गदैवतपूजने ।
नवे नाट्यगृहे कार्यः प्रेक्षायां च प्रयोक्तृभिः ॥ १०२ ॥

॥ भारतीये नाट्यशास्त्रे रङ्गदैवतपूजनं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार रंग मण्डप के अधिष्ठातृ देवताओं के अभिषेक-सम्बन्धी जो प्रक्रिया वर्णित हुई है, नाट्यप्रयोक्ताओं को इसका प्रयोग नये नाट्यगृह में नाटक प्रदर्शित करने के समय करना चाहिए ॥ १०२ ॥

॥ इस प्रकार भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र की 'नाट्यप्रदीप' नामक हिन्दी व्याख्या का 'रङ्गदैवतपूजन' नामक तृतीय अध्याय पूर्ण हुआ ॥ ३ ॥

—*—

अथ चतुर्थोऽध्याय:

भरतमुनि की ब्रह्मा से नाटक प्रयोग की प्रार्थना—

एवं तु पूजनं कृत्वा मया प्रोक्तः पितामहः ।
आज्ञापय विभो ! क्षिप्रं कः प्रयोगः प्रयुज्यताम् ॥ १ ॥

इस प्रकार (रंगदेवता की) अर्चना करने के पश्चात् मैंने (भरत ने) ब्रह्मा से कहा—"हे प्रभु ! आप शीघ्र ही आज्ञा दीजिए कि कौन से नाटक का प्रयोग किया जाए" ? ॥ १ ॥

ब्रह्मा द्वारा भरतमुनि को अमृतमंथन समवकार को अवतारण का आदेश—

ततोऽस्म्युक्तो भगवता योजयामृतमन्थनम् ।
एतदुत्साहजननं सुरप्रीतिकरं तथा ॥ २ ॥

तब भगवान् ब्रह्मा ने मुझसे कहा कि अमृतमन्थन की अवतारणा करो क्योंकि यह उत्साहप्रद होने के साथ देवताओं को प्रसन्न करने वाला भी है ॥ २ ॥

योऽयं समवकारस्तु धर्मकामार्थसाधकः ।
मया प्राग्ग्रथितो विद्वन्स प्रयोगः प्रयुज्यताम् ॥ ३ ॥

धर्म, काम एवं अर्थ के साधनभूत जिस समवकार की रचना मैंने की है, हे मुनि ! तुम उसका ही प्रयोग करो ॥ ३ ॥

तस्मिन्समवकारे तु प्रयुक्ते देवदानवाः ।
हृष्टाः समभवन्सर्वे कर्मभावानुदर्शनात् ॥ ४ ॥

उस समवकार की अवतारणा पर देवता एवं दैत्यगण अत्यन्त प्रसन्न हुए क्योंकि उसमें उन्होंने (शारीरिक) क्रियाओं तथा (हार्दिक) भावनाओं का अनुकरण देखा ॥ ४ ॥

शिव के सम्मुख अमृतमन्थन एवं त्रिपुरदाह का प्रदर्शन—

कस्यचित्त्वथ कालस्य मामाहाम्बुजसम्भवः ।
नाट्यं सन्दर्शयामोऽद्य त्रिनेत्राय महात्मने ॥ ५ ॥

कुछ कालोपरान्त कमलयोनि ब्रह्मा ने मुझसे कहा— "आज हम लोग शिव के समक्ष नाट्य का प्रदर्शन करेंगे" ॥ ५ ॥

ततः सार्धं सुरैर्गत्वा वृषभाङ्कनिवेशनम् ।
समभ्यर्च्य शिवं पश्चादुवाचेदं पितामहः ॥ ६ ॥

मया समवकारस्तु योऽयं सृष्टः सुरोत्तम ! ।
श्रवणे दर्शने चास्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ ७ ॥

इसके पश्चात् देवताओं के साथ ब्रह्मा ने शिव जी के निवासस्थान पर जाकर उनकी समुचित पूजा करके कहा—'हे देवश्रेष्ठ ! मैंने जो इस समवकार की रचना की है, उसे सुनने तथा देखने की कृपा करें ॥ ६-७ ॥

पश्याम इति देवेशो द्रुहिणं वाक्यमब्रवीत् ।
ततो मामाह भगवान् सज्जो भव महामते ॥ ८ ॥

देवाधिपति शिव द्वारा समवकार देखने की स्वीकृति देने पर ब्रह्मा ने मुझसे (नाट्यावतारणार्थ) सुसज्जित होने को कहा ॥ ८ ॥

ततो हिमवतः पृष्ठे नानानगसमाकुले ।
बहुभूतगणाकीर्णे रम्यकन्दरनिर्झरे ॥ ९ ॥
पूर्वरङ्गः कृतः पूर्वं तत्रायं द्विजसत्तमाः ।
तथा त्रिपुरदाहश्च डिमसंज्ञः प्रयोजितः[1] ॥ १० ॥

हे ब्राह्मणों अनेक पर्वतों से युक्त, अगणित आम्रवृक्षों से व्याप्त तथा रमणीक कन्दराओं व झरनों से सुशोभित हिमालय पर्वत की उपत्यका में (नाटक की अवतारणा के पूर्व किये जाने वाले) पूर्वरंगकर्म का सम्पादन करके इस (अमृतमंथन नामक समवकार) का एवं त्रिपुरदाह नामक डिम का प्रयोग किया गया ॥ ९-१० ॥

शंकर जी का ब्रह्मा से निवेदन—

ततो भूतगणा हृष्टाः कर्मभावानुकीर्तनात् ।
महादेवश्च सुप्रीतः पितामहमथाब्रवीत् ॥ ११ ॥

(लोकव्यवहारगत) चेष्टाओं एवं भावनाओं का अनुकरण[2] देखकर सभी भूतगण मुदितमन हो गए। शंकर जी भी प्रसन्न होकर ब्रह्मा से बोले ॥ ११ ॥

---

१. इदं त्रिपुरदाहे तु लक्षणं ब्रह्मणोदितम्—दश. ३.६०

२. कर्मभावानुकीर्तनात्—इसी अध्याय में भरत मुनि पहले भी नाटक में अनुकरण की प्रधानता बता चुके हैं..." कर्मभावानुदर्शनात् ४-४ कर्म एवं भावों का अनुदर्शन या अनुकीर्तन ही नाटक है। जीवन में मनुष्य नित्यप्रति नानाविध क्रियाएं एवं कार्यव्यापार सम्पादित करता रहता है। तदनुकूल नानाविध इच्छाएं या अनुभूतियाँ उसके मन में प्रस्फुटित होती रहती हैं। नाटक में यही दैनिक क्रियाएँ एवं भावनाएँ एक अनूठे ढंग से प्रस्तुत की जाती हैं। यही कारण है कि काव्य या दर्शन की भाँति अधिकारी व्यक्ति के ही लिए सुलभ न होकर नाटक जनसामान्य के मानस

अहो नाट्यमिदं सम्यक् त्वया सृष्टं महामते ।
यशस्यं च शुभार्थं च पुण्यं बुद्धिविवर्धनम् ॥ १२ ॥

हे महाभाग ! आपने बहुत सुन्दर किया जो इस कीर्तिवर्धक कल्याणकारी पुण्यप्रद एवं बुद्धिप्रद नाट्य की रचना की ॥ १२ ॥

मयापीदं स्मृतं नृत्यं सन्ध्याकालेषु नृत्यता ।
नानाकरणसंयुक्तैरङ्गहारैर्विभूषितम् ॥ १३ ॥

सन्ध्याकाल में नृत्य करते हुए मुझे भी इस नृत्य की स्मृति हुई जिसमें विविध करणों से युक्त अंगहार[1] सुशोभित हैं ॥ १३ ॥

पूर्वरङ्गविधावस्मिंस्त्वया सम्यक्प्रयोज्यताम् ।
वर्धमानकयोगेषु गीतेष्वासारितेषु च ॥ १४ ॥
महागीतेषु चैवार्थान्सम्यगेवाभिनेष्यसि ।

इस (नृत्य) को आप पूर्वरंग विधि में भलीभाँति प्रयुक्त करें तथा वर्धमानक[2]

को प्रभावित करता है। अपने जीवन की नितान्त परिचित घटनाओं का प्रदर्शन होते देखकर भूतों व गणों को भी प्रसन्नता होती है एवं शंकर भी आह्लादित होते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि नाटक साधारण एवं प्रबुद्ध दोनों वर्गों के लिए समान-रूप से मनोरंजक होता है।

"अनुकीर्तन" शब्द से यह बोध होता है कि नाटक में जो व्यापार प्रस्तुत किए जाते हैं वह सर्वथा नवीन नहीं होता अपितु घटित कार्यों को नाटक में फिर से प्रदर्शित किया जाता है। इससे इस धारणा को बल मिलता है कि नाटक घटनाओं का अनुकरण होता है। इस सन्दर्भ में १-१०६-१०७ पर दी हुई टिप्पणी भी दृष्टव्य है।

१. नानाकरणसयुक्तै रङ्गहारैः—नृत्य की सूक्ष्ममुद्राओं (करणों) पर आधारित मुख्यमुद्राएँ (अंगहार)। श्री घोष के अनुसार इसका अर्थ है—अवयव संचालन। अभिनवगुप्त ने ४.१९ श्लोक की व्याख्या में अंगहार की व्याख्या इस भाँति की है—'अंगानां देशान्तरे समुचिते प्रापणप्रकारोऽङ्गहारः, हरस्य चायं हारः प्रयोगः, अंगनिर्वर्त्यो हारोऽङ्गहारः।'

करणः—'हस्तपादसमायोगो नृत्यस्य करणं भवेत्' ४.३० अर्थात् नृत्य में हाथ पैरों के संचालन को करण कहते हैं।

२. वर्धमानकः—नृत्य सहित गीत का एकरूप।
.........वर्धमानमथापीह ताण्डवं यत्र पूज्यते। ५-१३ तथा ३१-६९।

गीत[1] एवं आसारित[2] और महागीतों में भी इन (नृत्य द्वारा व्यक्त) भावों को अच्छी तरह समायुक्त करें ॥ १४-१५ ॥

यश्चायं पूर्वरङ्गस्तु त्वया शुद्धः प्रयोजितः ॥ १५ ॥
एभिर्विमिश्रितश्चायं चित्रो नाम भविष्यति ।

आपने पहले जो 'शुद्ध' (संज्ञक) पूर्वरंग निष्पादित किया था उसमें इस (नृत्य) को मिश्रित कर देने पर उसकी संज्ञा "चित्र" हो जाएगी ॥ १५-१६ ॥

ब्रह्मा जी का शंकर जी को उत्तर देना—

श्रुत्वा महेश्वरवचः प्रत्युक्तस्तु स्वयम्भुवा ॥ १६ ॥
प्रयोगमङ्गहाराणामाचक्ष्व सुरसत्तम ! ।

शंकर जी के कथन को सुनकर ब्रह्मा ने उत्तर दिया—"हे देवश्रेष्ठ ! कृपया अंगहारों के उपयोग बताइए ॥१६-१७ ॥

ब्रह्मा द्वारा तण्डु को आदेश—

ततस्तण्डुं समाहूय प्रोक्तवान् भुवनेश्वरः ॥ १७ ॥
प्रयोगमङ्गहाराणामाचक्ष्व भरताय वै ।

इसके बाद भुवनेश्वर (ब्रह्मा जी) ने तण्डु नामक ऋषि को बुला कर कहा कि तुम भरत को अंगहारों के प्रयोग की विधि बतलाओ ॥ १७-१८ ॥

तण्डु मुनि द्वारा भारतमुनि को करणों व अंगहारों का उपदेश—

ततो ये तण्डुनाप्रोक्तास्त्वङ्गहारा महात्मना ॥ १८ ॥
तान्वः करणसंयुक्तान्व्याख्यास्यामि सरेचकान् ।

तब उन महात्मा तण्डु ने विविध करणों से युक्त एवं रेचकों[3] के सहित जो अंगहार मुझे बताए उनकी मैं व्याख्या करूँगा ॥ १८-१९ ॥

बत्तीस अंगहारों के नाम—

स्थिरहस्तोऽङ्गहारस्तु तथा पर्यस्तकः स्मृतः ॥ १९ ॥
सूचीविद्धस्तथा चैव ह्यपविद्धस्तथैव च ।
आक्षिप्तकोऽथ विज्ञेयस्तथा चोद्धट्टितः स्मृतः ॥ २० ॥

---

१. आसारितः—'कलापातविभागार्थं भवेदासारितक्रिया' ५.२१ कलापात, अर्थात् समय को खण्डों में विभाजित करने का श्रेय आसारित को होता है। इस विषय में विस्तृत वर्णन ३१-५९,७५ एवं १५९-१९४ में मिलता है।

२. गीतः—५-१३, ३१ ३१-१९० ।

३. ४-२५०-२५६ (ना० शा०) तक रेचकों की व्याख्या की गई है ।

विष्कम्भश्चैव सम्प्रोक्तस्तथा चैवापराजितः ।
विष्कम्भापसृतश्चैव मत्ताक्रीडस्तथैव च ॥ २१ ॥

स्वस्तिको रेचितश्चैव पार्श्वस्वस्तिक एव च ।
वृश्चिकापसृतः प्रोक्तो भ्रमरश्च तथापरः ॥ २२ ॥

मत्तस्खलितकश्चैव मदाद्विलसितस्तथा ।
गतिमण्डलको ज्ञेयः परिच्छिन्नस्तथैव च ॥ २३ ॥

परिवृत्तचितोऽथ स्यात्तथा वैशाखरेचितः ।
परावृत्तोऽथ विज्ञेयस्तथा चैवाप्यलातकः ॥ २४॥

पार्श्वच्छेदोऽथ सम्प्रोक्तो विद्युद्भ्रान्तस्तथैव च ।
ऊरूद्वृत्तस्तथा चैव स्यादालीढस्तथैव च ॥ २५ ॥

रेचितश्चापि विज्ञेयस्तथैवाच्छुरितः स्मृतः ।
आक्षिप्तरेचितश्चैव सम्भ्रान्तश्च तथापरः ॥ २६ ॥

अपसर्पस्तु विज्ञेयस्तथा चार्धनिकुट्टकः ।
द्वात्रिंशदेते सम्प्रोक्ता अङ्गहारास्तु नामतः ॥ २७ ॥

एतेषां तु प्रवक्ष्यामि प्रयोगं करणाश्रयम् ।

बत्तीस प्रकार के अंगहार कहे गए हैं जिनके नाम यह हैं —(१) स्थिरहस्त, (२) पर्यस्तक, (३) सूचीविद्ध, (४) अपविद्ध, (५) आक्षिप्तक, (६) उद्धट्टित, (७) विष्कम्भ, (८) अपराजित, (९) विष्कम्भापसृत, (१०) मत्ताक्रीड, (११) स्वस्तिक रेचित, (१२) पार्श्वस्वस्तिक, (१३)वृश्चिकापसृत, (१४) भ्रमर, (१५) मत्तस्खलितक, (१६) मदविलसित, (१७) गतिमण्डल (१८) परिछिन्न, (१९) परिवृत्तरेचित, (२०) वैशाखरेचित, (२१) परावृत्त, (२२) अलातक, (२३) पार्श्वच्छेद, (२४) विद्युद्भ्रान्त, (२५) ऊरूद्वृत्त, (२६) आलीढ, (२७) रेचित, (२८) आच्छुरित, (२९) आक्षिप्तरेचित, (३०) सम्भ्रान्त, (३१) अपसर्प, (३२) अर्धनिकुट्टक ॥ १९-२७ ॥

अंगहार वर्णन का उपकरण—

हस्तपादप्रचारश्च यथा योज्यः प्रयोक्तृभिः ॥ २८ ॥
अङ्गहारेषु वक्ष्यामि करणेषु च वै द्विजाः ।

अब मैं करणों पर आश्रित इन (अंगहारों) के प्रयोग के विषय में कहूँगा और यह भी बताऊँगा कि अंगहारों एवं करणों में प्रयोक्ताओं को किस प्रकार हाथ व

पैरों का संचालन[1] करना चाहिए ॥ २८-२९ ॥

करण वर्णन का उपक्रम—

सर्वेषामङ्गहाराणां निष्पत्तिः करणैर्यतः ॥ २९ ॥
तान्यतः सम्प्रवक्ष्यामि नामतः कर्मतस्तथा ।

क्योंकि समस्त अंगहारों का सम्पादन करणों से होता है अतएव मैं करणों के नाम एवं क्रियाओं का वर्णन करूँगा ॥ २९-३० ॥

करण का लक्षण—

हस्तपादसमायोगो नृत्यस्य करणं भवेत् ॥ ३० ॥

नृत्य में किए जाने वाले, हाथ और पैर दोनों के युगल संचालन की प्रक्रिया की संज्ञा 'करण' है ॥ ३० ॥

नृत्तमातृका, अंगहार, कलापक, मण्डक तथा संघातक का लक्षण—

द्वे नृत्तकरणे चैव भवतो नृत्तमातृका ।
द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिर्वाप्यङ्गहारस्तु मातृभिः ॥ ३१ ॥
त्रिभिः कलापकं चैव चतुर्भिः मण्डकं भवेत् ।
पञ्चैव कारणानि स्युः सङ्घातक इति स्मृतः ॥ ३२ ॥

दो नृत्तकरणों को नृत्तमातृका कहते हैं, एवं दो मातृकाओं के योग का नाम अंगहार है, तीन मातृकाओं के योग का कलापक, चार मातृकाओं के योग का नाम मण्डक (ना० शा० उ से० षण्डक) एवं पाँच मातृकाओं के योग का नाम संघातक होता है ॥ ३१-३२ ॥

अंगहार लक्षण तथा करण वर्णनोपक्रम—

षड्भिर्वा सप्तभिर्वापि अष्टभिर्नवभिस्तथा ।
करणैरिह संयुक्ता अङ्गहाराः प्रकीर्तिताः ॥ ३३ ॥
एतेषामेव वक्ष्यामि हस्तपादविकल्पनम् ।

इसी भाँति छः, सात, आठ अथवा नौ करणों से भी युक्त अंगहार होते हैं । अब मैं इन (करणों) में किए जाने वाले हाथ पैर के संचालन का वर्णन करूँगा ॥ ३३-३४ ॥

---

१. हस्तपादप्रचार—अभिनवगुप्त के मत में इसका अर्थ है कि अंगहारों के प्रयोग में करणों का प्रयोग किया जाता है । एक करण से दूसरे करण में संक्रमित होने के लिए हाथ व पैरों का जिस भाँति संचालन करना चाहिए यह बताना अभिप्रेत है ।

एक सौ आठ करणों के नाम—

तलपुष्पपुटं पूर्वं वर्तितं वलितोरु च ॥ ३४ ॥
अपविद्धं समनखं लीनं स्वस्तिकरेचितम् ।
मण्डलस्वस्तिकं चैव निकुट्टकमथापि च ॥ ३५ ॥
तथैवार्धनिकुट्टं च कटिच्छिन्नं तथैव च ।
अर्धरेचितकं चैव वक्षःस्वस्तिकमेव च ॥ ३६ ॥
उन्मत्तं स्वस्तिकं चैव पृष्ठस्वस्तिकमेव च ।
दिक्स्वस्तिकमलातं च तथैव च कटीसमम् ॥ ३७ ॥
आक्षिप्तरेचितं चैव विक्षिप्ताक्षिप्तकं तथा ।
अर्धस्वस्तिकमुद्दिष्टमञ्चितं च तथापरम् ॥ ३८ ॥
भुजङ्गत्रासितं प्रोक्तमूर्ध्वजानु तथैव च ।
निकुञ्चितं च मत्तल्लि त्वर्धमत्तल्लि चैव हि ॥ ३९ ॥
स्याद्रेचकनिकुट्टं च तथा पादापविद्धकम् ।
वलितं घूर्णितं चैव ललितं च तथापरम् ॥ ४० ॥
दण्डपक्षं तथा चैव भुजङ्गत्रस्तरेचितम् ।
नूपुरं चैव सम्प्रोक्तं तथा वैशाखरेचितम् ॥ ४१ ॥
भ्रमरं चतुरं चैव भुजङ्गाञ्चितमेव च ।
दण्डरेचितकं चैव तथा वृश्चिक कुट्टितम् ॥ ४२ ॥
कटिभ्रान्तं तथा चैव लतावृश्चिकमेव च ।
छिन्नं च करणं प्रोक्तं तथा वृश्चिकरेचितम् ॥ ४३ ॥
वृश्चिकं व्यसितं चैव तथा पार्श्वनिकुट्टकम् ।
ललाटतिलकं क्रान्तं कुञ्चितं चक्रमण्डलम् ॥ ४४ ॥
उरोमण्डलमाक्षिप्तं तथा तलविलासितम् ।
अर्गलं चाथ विक्षिप्तमावृत्तं दोलपादकम् ॥ ४५ ॥
विवृत्तं विनिवृत्तं च पार्श्वक्रान्तं निशुम्भितम् ।
विद्युद्भ्रान्तमतिक्रान्तं विवर्तितकमेव च ॥ ४६ ॥
गजक्रीडितकं चैव तलसंस्फोटितं तथा ।
गरुडप्लुतकं चैव गण्डसूचि तथापरम् ॥ ४७ ॥
परिवृत्तं समुद्दिष्टं पार्श्वजानु तथैव च ।
गृध्रावलीनकं चैव सन्नतं सूच्यथापि च ॥ ४८ ॥
अर्धसूचीति करणं सूचीविद्धं तथैव च ।
अपक्रान्तं च सम्प्रोक्तं मयूरललितं तथा ॥ ४९ ॥

सर्पितं दण्डपादं च हरिणप्लुतमेव च।
प्रेङ्खोलितं नितम्बं च स्खलितं करिहस्तकम् ॥ ५० ॥
प्रसर्पितकमुद्दिष्टं सिंहविक्रीडितं तथा।
सिंहाकर्षितमुद्वृत्तं तथोपसृतमेव च ॥ ५१ ॥
तलसङ्घट्टितं चैव जनितं चावहित्थकम्।
निवेशमेलकाक्रीडमूरूद्वृत्तं तथैव च ॥ ५२ ॥
मदस्खलितकं चैव विष्णुक्रान्तमथापि च।
सम्भ्रान्तमथ विष्कम्भमुद्घट्टितमथापि च ॥ ५३ ॥
वृषभक्रीडितं चैव लोलितं च तथापरम्।
नागापसर्पितं चैव शकटास्यं तथैव च ॥ ५४ ॥
गङ्गावतरणं चैवेत्युक्तमष्टाधिकं शतम्।
अष्टोत्तरशतं ह्येतत्करणानां मयोदितम् ॥ ५५ ॥

करणों की संख्या एक सौ आठ हैं एवं उनके नाम इस प्रकार हैं—१. तलपुष्पपुट, २. वर्तित, ३. वलितोरू, ४. अपविद्ध, ५. समनख, ६. लीन, ७. स्वस्तिकरेचित, ८. मण्डलस्वस्तिक, ९. निकुट्टक, १०. अर्धनिकुट्ट, ११. कटिछिन्न, १२. अर्धरेचित, १३. वक्षःस्वस्तिक, १४. उन्मत्त, १५. स्वस्तिक, १६. पृष्ठस्वस्तिक, १७. दिक्स्वस्तिक, १८. अलात, १९. कटीसम, २०. आक्षिप्तरेचित, २१. विक्षिप्ताक्षिप्तक, २२. अर्धस्वस्तिक, २३. अञ्चित, २४. भुजंगत्रासित, २५. ऊर्ध्वजानु २६. निकुञ्चित, २७. मत्तल्लि, २८ अर्धमत्तल्लि; २९. रेचकनिकुट्ट, ३०. पादापविद्धक, ३१. वलित, ३२. घूर्णित, ३३. ललित ३४. दण्डपक्ष, ३५. भुजंगत्रस्तरेचित, ३६. नूपुर, ३७. वैशाखरेचित, ३८. भ्रमर, ३९. चतुर, ४०. भुजंगाञ्चित, ४१. दण्डरेचितक, ४२. वृश्चिककुट्टित, ४३. कटिभ्रान्त, ४४. लतावृश्चिक, ४५. छिन्न, ४६. वृश्चिकरेचित ४७. वृश्चिक, ४८. व्यसित, ४९. पार्श्वनिकुट्टक ५०. ललाटतिलक, ५१. क्रान्तक ५२. कुंचित ५३. चक्रमण्डल, ५४. उरोमण्डल, ५५. आक्षिप्त, ५६. तलविलासित, ५७. अर्गल, ५८. विक्षिप्त, ५९. आवृत्त, ६०. दोलपादक, ६१. विवृत्त, ६२. विनिवृत्त, ६३. पार्श्वक्रान्त, ६४. निशुम्भित ६५. विद्युद्भ्रान्त, ६६. अतिक्रान्त, ६७. विवर्तिक, ६८. गजक्रीडितक ६९. तलसंस्फोटित, ७०. गरुडप्लुतक, ७१. गण्डसूची, ७२. परिवृत्त, ७३. पार्श्वजानु, ७४ गृध्रावलीनक, ७५. सन्नत, ७६. सूची, ७७. अर्धसूची, ७८. सूचीविद्ध, ७९. अपक्रान्त, ८०. मयूरललित, ८१. सर्पित, ८२. दण्डपाद, ८३. हरिणप्लुत, ८४. प्रेङ्खोलित, ८५. नितम्ब, ८६. स्खलित, ८७. करिहस्त ८८. प्रसर्पित,

८९. सिंहविक्रीडित, ९०. सिंहाकर्षित, ९१. उद्धृत, ९२. उपसृत, ९३. तलघिट्टक, ९४. जनित, ९५. अवहित्थक, ९६. निवेश, ९७. एलकाक्रीड, ९८. उद्वृत्त,, ९९. मदरुखतिलक, १००. विष्णक्रान्त, १०१. सम्भ्रान्त, १०२. विष्कभ, १०३. उद्घट्टित, १०४. वृषभक्रीडित, १०५. लोलित, १०६. नागपर्सपित, १०७. शकटास्य, १०८. गंगावतरण।

करणों के प्रयोगस्थल—

नृत्ते युद्धे नियुद्धे च तथा गतिपरिक्रमे।
गतिप्रचारे वक्ष्यामि युद्धचारीविकल्पनम् ॥ ५६ ॥

नृत्य, युद्ध, मल्लयुद्ध एवं गतिशीलता के प्रसंग में [इन करणों का प्रयोग होता है] ॥ ५६ ॥

यत्र तत्रापि संयोज्यमाचार्यैर्नाटयशक्तितः।

नाट्याचार्य नाट्यशक्ति (अभिनयकला) के अनुसार इन करणों का स्वेच्छानुसार किसी भी स्थान पर प्रयोग कर सकते हैं ॥ ५७ ॥

सभी करणों की साधारण मुद्रा—

प्रायेण करणे कार्यो वामो वक्षःस्थितः करः ॥ ५७ ॥
चरणस्यानुगश्चापि दक्षिणस्तु भवेत्करः।

अधिकतर करण में बायाँ हाथ वक्षस्थल पर रहता है एवं दाहिना हाथ [दाहिने] पैर के अनुसार रहता है ॥ ५७-५८ ॥

अंगों का संचालन—

हस्तपादप्रचारं तु कटिपार्श्वोरुसंयुतम् ॥ ५८ ॥
उरःपृष्ठोदरोपेतं वक्ष्यमाणं निबोधत।

कमर पार्श्व, जंघाओं, वक्ष, पीठ तथा उदर के संदर्भ में हाथ पैरों का संचालन किस प्रकार करना चाहिये यह जानो ॥ ५८-५९ ॥

मातृका तथा करण का लक्षण—

यानि स्थानानि याश्चार्यो नृत्तहस्तास्तथैव च ॥ ५९ ॥
सा मातृकेति विज्ञेया तद्योगात्करणं भवेत्।

स्थान, चारी एवं नृत्तहस्तों को ही मातृका कहते हैं। इन्हीं को मिला कर[1] करण बनता है ॥ ५९ ॥

---

१. तद्योगता—स्थान, चारी और नृत्तहस्तों की विविधता के अनुसार करण की विभिन्नता होती है। आचार्य अभिनवगुप्त ने करण की परिभाषा दी है—

'तदनुगतिस्थितिसंमिलिते करणं.........'।

सौष्ठव का लक्षण—

कटी कर्णसमा यत्र कोर्परांसशिरस्तथा ॥ ६० ॥
समुन्नतमुरश्चैव सौष्ठवं नाम तद्भवेत्।

जहाँ कटि कर्ण की स्थिति के समान हो तथा कोहनी कंधा, सर एवं वक्षस्थल समुन्नत स्थिति में हों उसे सौष्ठव कहते हैं ॥ ६०-६१ ॥

एक सौ आठ करणों का क्रमशः वर्णन—

वामे पुष्पपुटः पार्श्वे पादोऽग्रतलसञ्चरः ॥ ६१ ॥
तथा च सन्नतं पार्श्वं तलपुष्पपुटं भवेत्।

(१) तलपुष्पुट—तलपुष्पपुट नामक करण में हाथ 'पुष्पपुट'[१] मुद्रा में बाईं तरफ रहता है, पैर 'अग्रतलसंचर'[२] रहता है एवं पार्श्व भाग 'सन्नत'[३] रहता है ॥ ६१-६२ ॥

कुञ्चितौ मणिबन्धे तु व्यावृत्तपरिवर्तितौ ॥ ६२ ॥
हस्तौ निपतितौ चोर्वोर्वर्तितं करणं तु तत्।

(२) वर्तित—जब हाथ व्यावृत्त एवं परिवर्तित होकर कलाई पर से मुड़े हुए हों और इसी (अवस्था में) जंघाओं पर अवस्थित हों तो उस करण की संज्ञा 'वर्तित' होती है[४] ॥ ६२-६३ ॥

---

१. पुष्पपुट—यस्तु सर्पशिराः प्रोक्तस्तस्यांगुलिनिरन्तरः।
द्वितीयः पार्श्वसंश्लिष्टः स तु पुष्पापुटः करः ९. १५० ॥

अर्थात् दोनों हाथों की अंगुलियाँ इस तरह मिला ली जाएं कि हाथ का आकार साँप के फन की भाँति हो जाए एवं दोनों हाथ आपस में एक तरफ से बिल्कुल सटे हो तो हाथ की इस मुद्रा को 'पुष्पपुट' कहते हैं।

२. अग्रतलसञ्चरपाद—उत्क्षिप्ता तु भवेत्पार्ष्णिः प्रसृताऽङ्गुष्ठकस्तथा।
अंगुल्यश्चाञ्चिताः सर्वाः पादोऽग्रतलसंचरे ॥ ९.२३५

३. सन्नत—कटीभवेच्च व्याभुग्ना पार्श्वमाभुग्नमेव च।
तथैवापसृतांसं च किंचित्पार्श्वं नतं स्मृतम् ॥ ९.२३५

कमर कुछ झुकी हुई हो, एक पार्श्व कुछ झुका हुआ हो एवं एक कंधा एक तरफ को कुछ खिंचा हुआ सा हो तो उस अवस्था को 'सन्नत' कहते हैं।

४. अभिनवगुप्त के अनुसार वर्तित करण में दोनों हाथ स्वस्तिक की भाँति वक्षस्थल के सम्मुख रहते हैं पर कलाई के पास से आपस में जुड़े नहीं होते। इस दशा में हाथों को उलट कर मोड़ देने व उसी उत्तानावस्था में भी जंघाओं पर रखने से यह वर्तित करण सिद्ध होता है।

शुकतुण्डौ यदा हस्तौ व्यावृत्तपरिवर्तितौ ॥ ६३ ॥
ऊरू च वलितौ यस्मिन्वलितोरुकमुच्यते ।

(३) वलितोरु—जिस मुद्रा में 'शुकतुण्ड'[1] हस्तों को उलट कर मोड़ा जाए एवं जंधाएं 'वलित'[2] अवस्था में हों, उसे वलितोरु कहते हैं ॥ ६२-६४ ॥

आवर्त्य शुकतुण्डाख्यमूरुपृष्ठे निपातयेत् ॥ ६४ ॥
वामहस्तश्च वक्षःस्थोऽप्यपविद्धं तु तद्भवेत् ।

(४) अपविद्ध—शुकतुण्ड मुद्रा में अवस्थित दाहिने हाथ को मोड़कर जंघा पर रखने तथा बायें हाथ के वक्षःस्थल पर अवस्थित करने की अवस्था को अपविद्ध करण कहा जाता है ॥ ६४-६५ ॥

श्लिष्टौ समनखौ पादौ करौ चापि प्रलम्बितौ ॥ ६५ ॥
देहः स्वाभाविको यत्र भवेत्समनखं तु तत् ।

(५) समनख—पैर 'समनख' हों एवं एक दूसरे का स्पर्श करते हों, तथा दोनों हाथ लटकते रहें[3] एवं शरीर सरल मुद्रा में स्थित हो तो उस करण का नाम समनख[4] होता है ॥ ६५-६६ ॥

---

१. शुकतुण्ड—'अरालस्य यदा वक्रानामिका त्वङ्गुलिर्भवेत् ।
शुकतुण्डः स तु करः' ९-५३

इस मुद्रा के नाम शुकतुण्ड—(तोते की चोंच) से ही इसकी आकृति स्पष्ट हो जाती है। अरालमुद्रा (अनामिका को धनुषाकार बनाकर, अँगूठे को भी मोड़ कर एवं अन्य अंगुलियों को अलग रख कर बनी मुद्रा) में तर्जनी को भी मोड़ दिया जाता है।

२. भवेदभ्यन्तरं जानु यत्राहुर्वलितं तु तत् । ९.२५२

३. प्रलम्बितौ—अभिनवगुप्त के अनुसार इससे नीचे झूलते हुए हस्तों का बोध न होकर पार्श्वसंस्थित, तिर्यक्प्रसारित लता के समान फैले लताहस्तों का बोध होता है। 'प्रलम्बितौ कराविति लताहस्तौ मन्तव्यौ । न तु दोलाहस्तौ.........' किन्तु डा० घोष ने इसे नीचे लटकते हाथों का बोधक माना है।

४. समनख-डा० घोष के अनुसार यह शब्द नाट्यशास्त्र में अन्यत्र अप्राप्य है। किन्तु वह इसका अर्थ नहीं बताते। अभिनवगुप्त भी इस सम्बन्ध में मौन हैं। समनख शब्द का अभिधेयार्थ है 'एक जैसे नाखून वाले'। पैरों के संदर्भ में इसका तात्पर्य यह हो सकता है कि दोनों पैर एक जैसी अवस्था में हों, दोनों में से एक भी मुड़ा या तिरछा न हो जिससे दोनों पैरों के नख एक समान दशा में रहें।

पताकाञ्जलि वक्षःस्थं प्रसारितशिरोधरम् ॥ ६६ ॥
निहञ्चितांसकूटं च तल्लीनं करणं स्मृतम् ।

(६) लीन—'पताका'[1] हाथों को जोड़कर अञ्जलि मुद्रा में वक्ष पर रख लिया जाए; ग्रीवा को संकुचित न करें और पुट्ठे को झुका देने से जो स्थिति होती है उसकी संज्ञा 'लीन' नामक करण है ॥ ६६-६७ ॥

स्वस्तिकौ रेचिताविद्धौ विश्लिष्टौ कटिसंश्रितौ ॥ ६७ ॥
यत्र तत्करणं ज्ञेयं बुधैः स्वस्तिकरेचितम् ।

(७) स्वस्तिकरेचितम्—जब रेचित[2] एवं आविद्ध अवस्था[3] से हाथों को स्वस्तिक[4] मुद्रा में संयोजित किया जाए और फिर उन्हें अलग करके कमर पर रख लिया जाए तो उस करण को सुविज्ञजन 'स्वस्तिकरेचित' मानते हैं ॥ ६७-६८ ॥

---

१. पताका—'पताकाभ्यां तु हस्ताभ्यां संश्लेषादञ्जलिः स्मृतः' । ९-१२८
दो पताका हाथों को मिलाने से अञ्जली की मुद्रा बनती है एवं पताका की परिभाषा है—

प्रसारितसमाः सर्वा यस्याङ्गुल्यो भवन्ति हि ।
कुञ्चितश्च तथाङ्गुष्ठः स पताक इति स्मृतः । ९-१८

अर्थात् पताका में अंगुलियाँ हथेली से बाहर की ओर फैली रहती हैं पर एक दूसरे से सटी रहती है एवं अंगूठा मुड़ा रहता है ।

२. रेचित—रेचितावपि विज्ञेयौ हंसपक्षौ द्रुतभ्रमौ । ९-१९३
हंसपक्ष उस हस्तमुद्रा का नाम है जिसमे तीन अंगुलियाँ फैली रहती है; कनिष्ठिका उठी रहती है एवं अंगूठा झुका रहता है—

समाः प्रसारितास्तिस्रः तथा चोर्ध्वा कनीयसी ।
अंगुष्ठः कुञ्चितश्चैव हंसपक्ष इति स्मृतः ॥ ९ १०६

३. आविद्ध—भुजांसकूर्पराग्रैस्तु कुटिलावर्तितौ करौ ।
पराङ्मुखतलाविद्धौ ज्ञेया वाविद्धवक्रकौ ॥ ९-१९०

अर्थात् विरोधी दिशा के कंधे, कोहनी, हाथ एवं हथेलियों का स्पर्श करके कुटिल गति से दोनों हाथों का पीछे की ओर मुड़ जाना आविद्धवक्रता है ।

४. स्वस्तिक—मणिबन्धनविन्यस्तावरालौ स्त्रीप्रयोजितौ ।
उतानौ वामपार्श्वस्थौ स्वस्तिकः परिकीर्तितः ॥ ९-१३५

दो अराल हस्तों को ऊर्ध्वमुख करके कलाई से जुड़ा रखने पर स्वस्तिक मुद्रा बनती है ।

एवं

स्वस्तिकौ तु करौ कृत्वा प्राङ्मुखोर्ध्वतलौ समौ ॥ ६८ ॥
तथा च मण्डलं स्थानं मण्डलस्वस्तिकं तु तत् ।

(८) मण्डलस्वस्तिक—हाथों की मुद्रा स्वस्तिक बनाकर उनकी हथेलियाँ एक ही समान ऊपर की ओर रखी जाएँ एवं देह को मण्डल स्थान में रखा जाए तो उसे मण्डलस्वस्तिक कहते हैं ॥ ६८-६९ ॥

निकुट्टितौ यदा हस्तौ स्वबाहुशिरसोऽन्तरे ॥ ६९ ॥
पादौ निकुट्टितौ चैव ज्ञेयं तत्तु निकुट्टकम् ।

(९) निकुट्टन—अपनी (दूसरी) बाँह और सिर के बीच में हाथ निकुट्टित[1] किया जाए और पैर भी[2] निकुट्टित हो तो उसे निकुट्टक कहते हैं ॥ ६९-७० ॥

अञ्चितौ बाहुशिरसि हस्तस्त्वभिमुखाङ्गुलिः ॥ ७० ॥
निकुञ्चितार्धयोगेन भवेदर्धनिकुट्टकम् ।

(१०) अर्धनिकुट्ट—बाहुएं 'अंचित'[3] हों एवं हाथ की अंगुलियाँ सामने की ओर

तावेव मणिबन्धान्ते स्वस्तिकाकृतिसंस्थितौ ।
स्वस्तिकाविति विज्ञेयौ विच्युतौ विप्रकीर्णकौ ॥ ९-१८७

तलमुख हाथ कलाई पर एक दूसरे को क्रास करे तो स्वस्तिक होता है और दोनों हाथ जुड़े न हों तो उसकी संज्ञा विप्रकीर्ण होती है ।

१. निकुट्टन—"उन्नमनं विनमनं स्यादङ्गस्य निकुट्टनम् ।"
निकुट्टन की कोहल कृत यह परिभाषा अभिनवगुप्त ने उद्धृत की है । इसी आधार पर प्रो० घोष ने भी निकुट्टन का अर्थ ऊपर नीचे घुमाना किया है ।

२. एव—अभिनवगुप्त के मत में एक पद द्वारा यह प्रकट किया गया है कि दक्षिण हस्त का प्रयोग करने पर दक्षिण एवं बायें हाथ के प्रयोग के समय बायाँ पैर क्रियाशील होगा ।

३. अञ्चित—अभिनवगुप्त ने यहाँ 'अंचित' के स्थान पर 'कुञ्चित' पाठ मान्य समझा है । इसका अर्थ उन्होंने 'अलपल्लव' मुद्रा किया है । मुद्रा अलपल्लव की परिभाषा भरतमुनि ने इस प्रकार की है—

आवर्तिन्यः करतले यस्याङ्गुल्यो भवन्ति हि ।
पार्श्वगास्ता विकीर्णाश्च स हस्तस्त्वलपल्लवः ॥ ९-९१ ॥

अर्थात् इस मुद्रा में अंगुलियाँ हथेली की ओर मुड़ी होती हैं एवं एक दूसरे से अलग-अलग रहती है ।

अभिनवगुप्त ने 'अंचित' पद की शंकुक-कृत व्याख्या भी उद्धृत की है जिसके अनुसार—

शंकुकादिभिस्त्वंचनं देहाभिमुख्येन पृष्ठभागेन मनागलक्षणमिति व्याख्यायितं नाम्ना न संगतमित्यास्ताम् ।

हों तथा पैर ऊपर नीचे गतिशील (निकुञ्चित) हों तो अर्धनिकुट्ट नामक करण की सिद्धि होती है ॥ ७०-७१ ॥

पर्यायशः कटिश्छिन्नाः बाह्वोः शिरसि पल्लवौ ॥ ७१ ॥
पुनः पुनश्च करणं कटिच्छिन्नं तु तद्भवेत् ।

(११) कटिच्छिन्न—कटिप्रदेश क्रमशः छिन्न[1] मुद्रा में अवस्थित हो और दोनों पल्लव[2] हाथ बारी-बारी से सिर पर स्थित हों तो उस करण को कटिच्छिन्न कहते हैं ॥ ७१-७२ ॥

अपविद्धकरः सूच्या पादश्चैव निकुट्टितः ॥ ७२ ॥
सन्नतं यत्र पार्श्वं च तद्भवेदर्धरेचितम् ।

(१२) अर्धरेचित—सूचीमुख[3] मुद्रा में हाथ बँधे हों,[4] बारी बारी से (दोनों) पैर ऊपर नीचे गतिशील हों तथा पार्श्व भाग सन्नत हों तो वह अर्धरेचित करण होता है ॥ ७२-७३ ॥

स्वस्तिकौ चरणौ यत्र करौ वक्षसि रेचितौ ॥ ७३ ॥
निकुञ्चितं तथा वक्षो वक्षस्स्वस्तिकमेव तत् ।

---

१. छिन्न—कटिमध्यस्य वलनाच्छिन्ना । ९-२४५
कटि को मध्य भाग से मोड़ना छिन्न नामक मुद्रा कही जाती है ।

२. पल्लवौ—मणिबन्धनमुक्तौ तु पताकौ पल्लवौ स्मृतौ ॥ ९-१९६
अर्थात् पताका मुद्रा में स्थित दोनों हाथ यदि कलाई पर जुड़े हों तो उसे पल्लव मुद्रा कहते हैं ।

३. सूचीमुख—हस्तौ तु सर्पशिरसौ मध्यमाङ्गुष्ठकौ यदा ।
तिर्यक्प्रसारितास्यौ च तदा सूचीमुखौ स्मृतौ ॥ ९-१९१

अर्थात् साँप के फन के आकार में स्थित दोनों हाथ की मध्यमा अंगुलियों को अंगूठे छूते रहें एवं दोनों हाथ तिरछे फैले हों तो हाथों की वह मुद्रा सूचीमुख कहलाती है ।

४. अपविद्धः करः—(एक ही मुद्रा में जड़ न होकर हाथ गति करता रहे ।) यहाँ अभिनवगुप्त की व्याख्या इस प्रकार है—

'सूचीमुखेन हस्तेनापगमपूर्वकं विद्धो निकटयोजितः'

अर्थात् वह अपविद्ध से सूचीमुख मुद्रा का तात्पर्य लेते हैं । श्री घोष का भी यही कथन है ।

(13) वक्षःस्वस्तिक—इस करण में पैर स्वस्तिक मुद्रा में होते[1] हैं तथा दोनों हाथ रेचित अवस्था में वक्ष पर होते हैं एवं वक्ष झुका हुआ (निकुञ्चित) होता है ॥ ७३-७४ ॥

अञ्चितेन तु पादेन रेचितौ तु करौ यदा ॥ ७४ ॥
उन्मत्तं करणं तत्तु विज्ञेयं नृत्तकोविदैः ।

(14) उन्मत्त—जब पैर अंचित[2] होते हैं एवं हाथ रेचित तब उसे सुधीजन उन्मत्त नामक करण कहते हैं ॥ ७४-७५ ॥

हस्ताभ्यामथ पादाभ्यां भवतः स्वस्तिकौ यदा ॥ ७५ ॥
तत्स्वस्तिकमिति प्रोक्तं करणं करणार्थिभिः ।

(15) स्वस्तिक—करणों का प्रयोग करने वाले लोग उस करण को स्वस्तिक करण कहते हैं जिसमें दोनों हाथों एवं दोनों पैरों से स्वस्तिक मुद्रायें बनती हों ॥ ७५-७६ ॥

विक्षिप्ताक्षिप्तबाहुभ्यां स्वस्तिकौ चरणौ यदा ॥ ७६ ॥
अपक्रान्तार्धसूचिभ्यां तत्पृष्ठस्वस्तिकं भवेत् ।

(16) पृष्ठस्वस्तिक—ऊपर नीचे गतिशील होकर दोनों बाहें स्वस्तिक मुद्रा में स्थित हों जाएँ तथा दोनों पैरों से भी अपक्रान्त[3] एवं अर्धसूचित[4] चारी द्वारा स्वस्तिक बनता हो तो उसे पृष्ठस्वस्तिक करण कहा जाता है ॥ ७६-७७ ॥

---

1. जिस प्रकार हाथों को एक दूसरे पर क्रास करके स्वस्तिक मुद्रा बनाई जाती है, उसी प्रकार पैरों से भी स्वस्तिक बनाया जाता है। इस विषय में अभिनवभारती द्रष्टव्य है—'पादावन्योन्यं जङ्घानुगुल्फवलनेन स्वस्तिकौ कार्यौ।'

2. पार्ष्णिर्यत्र स्थिता भूमावूर्ध्वमग्रतलं तथा ।
अंगुल्यश्चाञ्चिताः सर्वाः पादोऽञ्चित उच्यते ॥ ९-२७५-२७६ ॥

3 अपक्रान्त—ऊरुभ्यां वलनं कृत्वा कुञ्चितं पादमुद्धरेत् ।
पार्श्वे विनिक्षिपेच्चैनमपक्रान्ता तु सा स्मृता ॥ १०-३१

दोनों जाँघों की वलन मुद्रा होती है। एक कुञ्चित पद ऊपर उठाकर पार्श्व-भाग में फैला दिया जाता है।

4. अर्धसूची—कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य जानूर्ध्वं सम्प्रसारयेत् ।
पातयेच्चाग्रयोगेन सा सूची परिकीर्तिता ॥ १०-३४

अर्थात् एक कुंचित पैर को उपर उठा कर दूसरे पैर के घुटने के ऊपर ले जाया जाता है और फिर उसे सामने के भाग पर गिरा दिया जाता है।

अभिनवगुप्त के मत में पृष्ठस्वस्तिक की परिभाषा इस प्रकार है—

पार्श्वयोरग्रतश्चैव यत्र श्लिष्टः करो भवेत् ॥ ७७ ॥
स्वस्तिकौ हस्तपादाभ्यां तद्दिक्स्वस्तिकमुच्यते ।

(१७) दिक्स्वस्तिक—एक ही साथ पार्श्व एवं अग्र दिशा की ओर झुकते हुए हाथों और पैरों से स्वस्तिक मुद्रा बनाने को दिक्स्वस्तिक करण कहते हैं ॥७७-७८॥

अलातं चरणं कृत्वा व्यंसयेद्दक्षिणं करम् ॥ ७८ ॥
ऊर्ध्वजानुक्रमं कुर्यादलातकमिति स्मृतम् ।

(१८) अलात—अलात चारी नामक (चरण[1] मुद्रा) निष्पन्न करते हुए हाथों को कंधे से नीचे करके ऊर्ध्वजानु चारी[2] (क्रम) के सम्पादन की संज्ञा अलात है ॥ ७८-७९ ॥

स्वस्तिकापसृतः पादः करौ नाभिकटिस्थितौ ॥ ७९ ॥
पार्श्वमुद्वाहितं चैव करणं तत्कटीसमम् ।

(१९) कटीसम—स्वस्तिक करण के सम्पादन के पश्चात् पैरों को अलग कर लिया जाए, एक हाथ नाभि पर व दूसरा कटि पर स्थित हो, तथा पार्श्व भाग उद्वाहित[3] मुद्रा में हो तो वह करण कटीसम संज्ञक होता है ॥ ७९-८० ॥

'उद्वेष्टितक्रियया बाहुद्वयविक्षेप-समकालमपक्रान्ता चारी। तया अपवेष्टित-करणसमकालं द्वितीयेन पादेन सूचीं विधाय स्वस्तिकं पादाभ्यां तथा हस्ताभ्यां कुर्यादिति। पृष्ठे पाश्चात्ये समे यत्स्वस्तिकं तथा दक्षिण-पृष्ठे वामपादेन स्वस्तिकं त्रिकवलनया च पराङ्मुखीभूय स्वस्तिकमिति पृष्ठस्वस्तिकम्।'

१. अलातचरण—चरण का अर्थ यहाँ चारी है। श्री घोष का भी यही मत है। अभिनवगुप्त का भी निर्देश है"........अलातां चारी प्रयुञ्जानो.........."। अलातचारी की परिभाषा नाट्यशास्त्र के अनुसार निम्नलिखित है—

पृष्ठे प्रसारितः पादो वलितेनान्तरीकृतः।
पार्ष्णिप्रपतिता चैवमलाता सा प्रकीर्तिता। १०-४१

पैर को पहले पीछे की ओर ले जाकर घुमाकर फिर अपनी जगह पर इस तरह लाना कि वह एड़ी पर स्थित हो जाए, उसे अलात चारी कहते हैं।

२. ऊर्ध्वजानुचारी—कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य जानुस्तनसमं न्यसेत्।
द्वितीयं च क्रमं तूर्ध्वमूर्ध्वजानुः प्रकीर्तिता। १०-३३

अर्थात् कुञ्चित पैर को उठाकर घुटने को वक्ष के बराबर ले आए व दूसरा पैर स्थिर रहे। फिर दूसरे पैर को पहले की भाँति ऊपर लाए व पहला स्थिर रहे।

३. उद्वाहित—"उद्वाहितं तूर्ध्वगतमुरो ज्ञेयम्।" ९-२३१
"तत्पार्श्वमप्युद्वाहितम्।" (अभि०भा० पृ० १०६)

हस्तो हृदि भवेद्वामः सव्यश्चाक्षिप्तरेचितः ॥ ८० ॥
रेचितश्चापविद्धश्च तत्स्यादाक्षिप्तरेचितम् ।

(२०) आक्षिप्तरेचितम्—बायाँ हाथ हृदय पर हो, दाहिना हाथ रेचित होकर (ऊपर एवं पार्श्व भाग में) स्थित हो और फिर दोनों हाथ अपविद्ध मुद्रा में रेचित हों तो वह आक्षिप्तरेचित संज्ञक करण होता है ॥ ८०-८१ ॥

विक्षिप्तं हस्तपादं च तस्यैवाक्षेपणं पुनः ॥ ८१ ॥
यत्र तत्करणं ज्ञेयं विक्षिप्ताक्षिप्तकं द्विजाः ।

(२१) विक्षिप्ताक्षिप्तक—जिस करण में हाथ एवं पैर पहले ऊपर एवं फिर नीचे आक्षिप्त किए जाए उसे विद्वान् विक्षिप्ताक्षिप्तक जानते हैं ॥ ८१-८२ ॥

स्वस्तिकौ चरणौ कृत्वा करिहस्तं च दक्षिणम् ॥ ८२ ॥
वक्षःस्थाने तथा वाममर्धस्वस्तिकमादिशेत् ।

(२२) अर्धस्वस्तिक—दोनों पैरों से स्वस्तिक बनाए, दाहिने हाथ से करि-हस्तमुद्रा[1] बनाए, और बायाँ हाथ हृदय पर स्थिर करे तो उसे अर्धस्वस्तिक करण कहते हैं ॥ ८२-८३ ॥

व्यावृत्तपरिवृत्तस्तु स एव तु करो यदा ॥ ८३ ॥
अञ्चितो नासिकाग्रे तु तदञ्चितमुदाहृतम् ।

(२३) अञ्चित—अर्धस्वस्तिक करण में करिहस्त को व्यावृत्त एवं परिवृत्त करके नासिका के अग्रभाग पर रखना अञ्चित करण कहलाता है ॥ ८३-८४ ॥

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य त्र्यश्रमूरुं विवर्तयेत् ॥ ८४ ॥
कटिजानुविवर्ताच्च भुजङ्गत्रासितं भवेत् ।

(२४) भुजंगत्रासित—कुञ्चित पद को ऊपर आक्षिप्त करे और जंघाओं से तिर्यक् निवर्तन गति करें तथा कटि एवं जंघाओं को भी इसी भाँति गतिशील करे तो भुजंगत्रासित करण कहा जाता है ॥ ८४-८५ ॥

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य जानुस्तनसमं न्यसेत् ॥ ८५ ॥
प्रयोगवशगौ हस्तावूर्ध्वजानु प्रकीर्तितम् ।

---

१. करिहस्त—समुन्नतो लताहस्तः पार्श्वात्पार्श्वं तु दोलितः ।
त्रिपताकोऽपरः कर्णे करिहस्तः प्रकीर्तितः ॥ ९-१९९ ॥

लता मुद्रा में स्थित एक हाथ (तिर्यक् प्रसारित एवं पार्श्वसंस्थित हस्त) को ऊपर उठाकर इधर उधर झुलाने एवं त्रिपताका मुद्रा में दूसरे हस्त को कान पर रखने को करिहस्त कहते हैं ।

(२५) ऊर्ध्वजानु—एक कुञ्चित[1] पैर को ऊपर (इस प्रकार) उठाया जाए कि घुटना वक्षःस्थल के स्तर तक आ जाए। दोनों हाथ (नृत्य की) स्थिति के अनुकूल रहें तो यह ऊर्ध्वजानु करण कहलाएगा ॥ ८५-८६ ॥

वृश्चिकं चरणं कृत्वा करं पार्श्वे निकुञ्चयेत् ॥ ८६ ॥
नासाग्रे दक्षिणं चैव ज्ञेयं तत्तु निकुञ्चितम् ।

(२६) निकुञ्चित—वृश्चिक नामक करण में की जाने वाली पैर की स्थिति हो[2], दोनों हाथ पार्श्व में झुके हो और दाहिना हाथ नासिका के अग्रभाग पर रखा हो[3] तो उस करण की निकुंचित संज्ञा होती है ॥ ८६-८७ ॥

वामदक्षिणपादाभ्यां घूर्णमानोपसर्पणैः ॥ ८७ ॥
उद्वेष्टितापविद्धैश्च हस्तैर्मत्तल्ल्युदाहृतम् ।

(२७) मत्तल्लि—दाहिने एवं बायें दोनों पैरों से चक्कर काटते हुए गोलाकार घूमना और हाथों को उद्वेष्टित[4] एवं अपविद्ध अवस्थाओं में गतिशील करना मत्तल्लि करण कहा जाता है ॥ ८७-८८ ॥

स्खलितापसृतौ पादौ वामहस्तश्च रेचितः ॥ ८८ ॥
सव्यहस्तः कटिस्थः स्यादर्धमत्तल्लि तत्स्मृतम् ।

(२८) अर्धमत्तल्लि—स्खलित मुद्रा में स्थित पैर फैला दिए जाँए, बायाँ हाथ रेचित हो, और फिर कटि पर रख लिया जाए तो उसे अर्धमत्तल्लि करण का नाम दिया जाता है ॥ ८८-८९ ॥

रेचितो दक्षिणो हस्तः पादः सव्यो निकुट्टितः ॥ ८९ ॥
दोला चैव भवेद्वामस्तद्रेचितनिकुट्टित ।

---

१. कुञ्चित—"उत्क्षिप्ता यस्य पार्ष्णिः स्यादङ्गुल्यः कुञ्चितास्तथा ।
तथा कुञ्चितमध्यश्च स पादः परिकुञ्चितः ॥ ९-२७७ ॥

२. वृश्चिकं चरणं—......पादः पृष्ठाञ्चितस्तथा..." (४-१०८) के अनुसार वृश्चिक करण में पैर पीछे की ओर मुड़ा रहता है।

३. हाथों की स्थिति के विषय में अभिनवगुप्त का विचार है कि एक हाथ सिर के पीछे व दूसरा वक्ष की ओर रहता है......" एकं च हस्तं शिरः पार्श्वक्षेत्रेऽरालं, द्वितीयं च नासाग्रक्षेत्रानुसारि वक्षस्यरालमेव कुर्यात् ।

हाथों की दूसरी स्थिति यह भी हो सकती है कि एक पताका मुद्रा में हो एवं दूसरा सूची में—"(नासाग्रे एकः पताकः अन्यश्च सूच्यास्य इति ।)"

४. उद्वेष्टित एवं अपविद्ध अवस्थाएं पूर्व व्याख्यात हैं।

(२९) रेचितनिकुट्टित—दाहिना हाथ रेचित हो दाहिना[1] पैर उद्घट्टित[2] हो और बायाँ हाथ दोला मुद्रा[3] में हो तो वह रेचितनिकुट्टित करण होता है ॥ ८९-९० ॥

कार्यौ नाभितटे हस्तौ प्राङ्मुखौ खटकामुखौ ॥ ९० ॥
सूचीविद्धावपक्रान्तौ पादौ पादापविद्धके ।

(३०) पादापविद्धक—पादापविद्धक करण में दोनों हाथ कटकामुख अवस्था में होते हैं पर उनका पृष्ठ-भाग नाभि की ओर होता है, पैर सूचीविद्ध[4] एवं अपक्रान्त[5]-चारी में होते हैं ॥ ९१-९२ ॥

अपविद्धो भवेद्धस्तः सूचीपादस्तथैव च ॥ ९१ ॥
तथा त्रिकं विवृत्तं च वलितं नाम तद्भवेत् ।

(३१) वलित—जब हाथ अपविद्ध हो पैर सूची चारी में हो तथा

---

१. भरत ने नाट्यशास्त्र में सर्वत्र सव्य का प्रयोग दाए के पर्याय के रूप में किया है अर्थात् सामान्यतः सव्य वाए को कहते हैं ।

२. उद्घट्टित—अभिनवगुप्त के अनुसार उद्घट्टित का अर्थ निकुट्टित होता है—" (......निकुट्टित इत्युद्घट्टितक्रियया) ।

"स्थित्वा पादतलाग्रेण पार्ष्णिर्भूमौ निपात्यते ।"
यस्य पादस्य करणे भवेदुद्घट्टितस्तु सः ॥ ९-२६७ ॥

निकुट्टन का अर्थ ४-७० में स्पष्ट किया जा चुका है कि उन्नमन एवं विनमन की क्रिया को ही निकुट्टन कहा जाता है ।

३. दोला—अंसौ प्रशिथिलौ मुक्तौ पताकौ तु प्रलम्बितौ ।
यदा भवेतां करणे स दोल इति संज्ञितः ॥ ९-१४८ ॥

अर्थात् दोनों कंधे शिथिल हों और पताका मुद्रा में दोनों हाथ लटके हों तो वह दोला हस्त कहलाता है । यहाँ दोला शब्द को स्त्रीलिंग में प्रयुक्त करके हाथ का हिलाना सूचित किया गया है, जिससे आने-जाने का बोध कराया जाता है जैसा कि अभिनवगुप्ताचार्य की व्याख्या से स्पष्ट है—

'स्त्रीलिंगयोगेन दोलाहस्तस्य प्रेङ्खोल्लितं यद्वर्तनया गमनागमने सूचयति ।"

१. सूचीविद्धौ पादौ—

'उत्क्षिप्ता तु भवेत्पार्ष्णिरङ्गुष्ठाग्रेण संस्थितः ।
वामश्चैव स्वभावस्थः सूचीपादः प्रकीर्तितः ॥ ९-२७९ ॥

२. अपक्रान्त—'ऊरुभ्यां वलनं कृत्वा" (१०-३१)

त्रिक[1] का परिवर्तन हो जाए तो उसे वलित करण कहते हैं ॥ ९१-९२ ॥

वर्तिताघूर्णितः सव्यो हस्तो वामश्च दोलितः ॥ ९२ ॥
स्वस्तिकापसृतः पादः करणं घूर्णितं तु तत् ।

(३२) घूर्णित—दायाँ हाथ वलित मुद्रा में घूमे, और बायाँ दोला मुद्रा में हो, तथा स्वस्तिक करण में स्थित दोनों पैर एक दूसरे से अलग कर दिए जायँ तो उसे घूर्णित करण कहा जाता है ॥ ९२-९३ ॥

करिहस्तो भवेद्वामो दक्षिणश्च विवर्तितः ॥ ९३ ॥
बहुशः कुट्टितः पादो ज्ञेयं तल्ललितं बुधैः ।

(३३) ललित—बायाँ हाथ करिहस्त[2] मुद्रा में हो, दाहिना हाथ अपरिवर्तित[3] हो, तथा दोनों पैर बारम्बार ऊपर नीचे गतिमय रहें तो विद्वानों ने उस करण की संज्ञा ललित मानी है ॥ ९३-९४ ॥

ऊर्ध्वजानुं विधायाथ तस्योपरि लतां न्यसेत् ॥ ९४ ॥
दण्डपक्षं तु तत्प्रोक्तं करणं नृत्तवेदिभिः ।

(३४) दण्डपक्ष—ऊर्ध्वजानु चारी का प्रयोग करते हुए लता हस्तों को घुटनों पर रखने को नृत्त के ज्ञाता जन दण्डपक्ष करण कहते हैं ॥ ९४-९५ ॥

भुजङ्गत्रासितं कृत्वा यत्रोभावपि रेचितौ ॥ ९५ ॥
वामपार्श्वस्थितौ हस्तौ भुजङ्गत्रस्तरेचितम् ।

---

१. त्रिकं विवृत्तं—त्रिक के परिवर्तन (वलन) के कारण ही इस करण की संज्ञा 'वलित' है—

त्रिक भ्रमरिका चारी का पर्याय है। भ्रमरी चारी में अतिक्रान्त पैर ऊपर की ओर आक्षिप्त किया जाता है एवं सम्पूर्ण शरीर गोलाकार घुमाया जाता है। यथा—

अतिक्रान्तक्रमं कृत्वा त्रिकं तु परिवर्तयेत् ।
द्वितीयपादभ्रमणात्तलेन भ्रमरी स्मृता ॥ १०-४५ ॥

२. करिहस्त—समुन्नतो लताहस्तः पार्श्वात्पार्श्वं विलोलितः ।
त्रिपताकोऽपरः कर्णे करिहस्तः प्रकीर्तितः ॥ ९-१९९ ॥

(लता हस्त को ऊपर उठाकर इधर से उधर हिलाना एवं त्रिपताका मुद्रा में स्थित दूसरे हाथ को कान पर रखना करिहस्त कहलाता है)

३. अपवर्तित—अभिनवगुप्त ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—
"दक्षिणं विविद्धं कृत्वा बहुशो वर्तितः ।"

(३५) भुजंगत्रस्तरेचित—भुजंगत्रस्तचारी में पैर स्थित हो, दोनों हाथ रेचित होकर बायें पार्श्व की ओर मुड़ जाएं तो उस करण को भुजंगत्रस्तरेचित कहते हैं ॥ ९५-९६ ॥

त्रिकं सुवलितं कृत्वा लतारेचितकौ करौ ॥ ९६ ॥
नूपुरश्च तथा पादः करणे नूपुरे न्यसेत् ।

(३६) नूपुर—त्रिक[1] को (भ्रमरी चारी में) घुमाया जाए तथा एक हाथ लता व दूसरा रेचित मुद्रा[2] में हो तथा पैर नूपुर पाद चारी[3] में हो तो उसे नूपुर करण कहते हैं ॥ ९६-९७ ॥

रेचितौ हस्तपादौ च कटी ग्रीवा च रेचिता ॥ ९७ ॥
वैशाखस्थानकेनैतद्भवेद्वैशाखरेचितम् ।

(३७) वैशाखरेचित—हाथ एवं पैर रेचित हों, कटि एवं गर्दन भी रेचित हो तथा सम्पूर्ण शरीर वैशाख मुद्रा में हो तो उसे वैशाखरेचित संज्ञक करण कहा जाता है ॥ ९७-९८ ॥

आक्षिप्तः स्वस्तिकः पादः करौ चोद्वेष्टितौ तथा ॥ ९८ ॥
त्रिकस्य वलनाच्चैव ज्ञेयं भ्रमरकं तु तत् ।

(३८) भ्रमरक—आक्षिप्त चारी[4] में स्वस्तिक पद हों, हाथों की गति उद्वेष्टित हो, तथा (भ्रमरी चारी) में त्रिक घूमे तो उसे भ्रमरक करण कहते हैं ॥ ९८-९९ ॥

---

१. त्रिक—त्रिक के द्वारा रीढ़ की हड्डी के सबसे निचले भाग की ओर संकेत है। डा० घोष की भी यही मान्यता है।

२. अभिनवगुप्त के मत में जिस तरफ के पैर से नूपुरपाद चारी का विधान किया जाए उसी ओर के हाथ से रेचित मुद्रा करनी चाहिए एवं दूसरे हाथ से लतामुद्रा करनी चाहिए—"...नूपुरपादिकां चारीं येन पादेन करोति तद्दिक्केनैव (रेचितम् । द्वितीयो लताहस्तः) ।"

३. नूपुरपादचारी—पृष्ठतोऽभ्यञ्चितं कृत्वा पादमग्रतलेन तु ।
द्रुतं निपातयेद् भूमौ चारी नूपुरपादिका ॥ १०-३५ ॥

४. आक्षिप्तः—आक्षिप्त चारी की परिभाषा भरतमुनि के अनुसार निम्नलिखित है—

"कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य व्याक्षिप्य त्वञ्चितं न्यसेत् ।
जङ्घास्वस्तिकसंयुक्तमाक्षिप्ता नाम सा स्मृता ॥" १०-३७

अञ्चितः स्यात्करो वामः सव्यश्चतुर एव तु ॥ ९९ ॥
दक्षिणः कुट्टितः पादश्चतुरं तत्प्रकीर्तितम् ।

(३९) चतुर—बायाँ हाथ अञ्चित (अलपल्लव[1]) मुद्रा में हो, दाहिना हाथ चतुर मुद्रा[2] में हो तथा दाहिना पैर कुट्टित हो तो उस करण का नाम चतुर कहा जाता है ॥ ९९-१०० ॥

भुजङ्गत्रासितः पादो दक्षिणो रेचितः करः ॥ १०० ॥
लताख्यश्च करो वामो भुजङ्गाञ्चितकं भवेत् ।

(४०) भुजंगाञ्चित—पैर भुजंगत्रासित चारी में हो, दाहिना हाथ रेचित हो, तो वह भुजंगाञ्चित करण कहलाता है[3] ॥ १००-१०१ ॥

विक्षिप्तं हस्तपादं तु समन्ताद्यत्र दण्डवत् ॥ १०१ ॥
रेच्यते तद्धि करणं ज्ञेयं दण्डकरेचितम् ।

(४१) दण्डकरेचित—जिस करण में हाथों एवं पैरों को दण्ड की भाँति चारों ओर प्रसारित किया जाए और फिर उन्हीं हाथ पैरों को रेचित किया जाए तो उसका नाम दण्डकरेचित होता है[4] ॥ १०१-१०२ ॥

---

१. अञ्चित—"अञ्चित इत्यलपल्लवः (९-९१)" अञ्चित पद की यह अभिनवगुप्त कृत व्याख्या है । अर्थात् अभिनव के मत में यहाँ वर्णित अंचित मुद्रा एवं नवें अध्याय में वर्णित अलपल्लव मुद्रा एक ही है । तदनुसार अलपल्लव मुद्रा अथवा अंचित मुद्रा में हाथ की अंगुलियाँ बिना आपस में जुड़े हथेली की ओर मुड़ी रहती हैं तथा हथेली खड़ी हुई रहती हैं ।

२. चतुर—तिस्रः प्रसारिता यत्र तथा चोर्ध्वा कनीयसी ।
तासां मध्ये तथाङ्गुष्ठः स करश्चतुरः स्मृतः ॥ ९-९३

हाथ की तीनों अंगुलियां फैली हों, कनिष्ठिका खड़ी हो और उनके बीच में अंगूठा हो तो उसे हाथ की चतुर मुद्रा कहते हैं ।

३. इस करण में संकेतित सभी परिभाषिक शब्द यथा रेचित, लतामुद्रादि पूर्वव्याख्यात हैं अतएव यहाँ इनकी फिर से परिभाषा नहीं दी गई । भुजंगत्रस्त-रेचित एवं भुजङ्गाञ्चित करण में जो मूलभूत पार्थक्य है वह यह है कि दोनों में पैर भुजंगत्रासित चारी में होते हैं किन्तु प्रथम में दोनों हाथ रेचित होते हैं जबकि दूसरे करण में केवल दाहिना हाथ रेचित होता है एवं बायाँ लता-मुद्रा में होता है ।

४. अभिनवगुप्त के विचार में हाथों की इस अवस्था से दण्डपक्ष तथा पैरों की अवस्था से दण्डपादचारी का बोध होता है (दण्डवद्धस्तविक्षेपेण रेचनेन च

वृश्चिकं चरणं कृत्वा द्वावप्यथ निकुट्टितौ ॥ १०२ ॥
विधातव्यौ करौ तत्तु ज्ञेयं वृश्चिककुट्टितम् ।

(४२) वृश्चिककुट्टित—वृश्चिक चरण[१] बना कर दोनों को निकुट्टित करना ही वृश्चिककुट्टित संज्ञक करण होता है ॥ १०२-१०३ ॥

सूचीं कृत्वापविद्धं च दक्षिणं चरणं न्यसेत् ॥ १०३ ॥
रेचिता च कटिर्यत्र कटिभ्रान्तं तदुच्यते ।

[४३] कटिभ्रान्त—सूची[२] चारी में दाहिना पैर यदि अपविद्ध[३] मुद्रा में रखा जाए और कटि रेचित की जाए तो उसे कटिभ्रान्त करण कहते हैं ॥१०३-१०४ ॥

अञ्चितः पृष्ठतः पादः कुञ्चितोर्ध्वतलाङ्गुलिः ॥ १०४ ॥
लताख्यश्च करो वामस्तल्लतावृश्चिकं भवेत् ।

दण्डपक्षौ सूच्येते । पादविक्षेपेण तु दण्डपादा चारी)। इनके लक्षण नाट्यशास्त्र के अनुसार निम्नलिखित हैं—

"हंसपक्षकृतौ हस्तौ व्यावृत्तपरिवर्तितौ ।
तथा प्रसारितभुजौ दण्डपक्षाविति स्मृतौ" ॥ ९-२०२
"नूपुरं चरणं कृत्वा पुरतः सम्प्रसारयेत् ।
क्षिप्रमाविद्धकरणं दण्डपादा तु सा स्मृता" ॥ १०-४४

१. वृश्चिकं चरणं कृत्वा—'पृष्ठभागे रेचितजङ्घमुत्तानतलं वृश्चिकोपलक्षितं चरणं कृत्वा.........' अभिनवगुप्त की इस व्याख्या के अनुसार पैर को पीठ की ओर मोड़कर ऊँचा करना वृश्चिक चरण कहलाता है। श्री घोष ने अपने अनुवाद में 'चरण' के स्थान पर 'करण' पाठभेद मानकर अनुवाद किया है। अतः किसी अन्य व्याख्या के अभाव में 'वृश्चिक-चरण' विषयक अभिनवगुप्त की धारणा को ही मान्यता देनी पड़ेगी।

२. सूची—"कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य जानूर्ध्वं सम्प्रसारयेत् ।
पातयेदग्रयोगेन सा सूची परिकीर्तिता" ॥ १०-३४ ॥

भरतमुनि की इस परिभाषा के अनुसार कुञ्चित पैर को ऊपर उठाकर जंघा तक ले जाना एवं फिर उसे पैर के अगले भाग के सहारे पृथ्वी पर टिका देना सूची कहलाता है।

३. अपविद्ध—श्री घोष के अनुसार अपविद्ध चेष्टा हाथों के चक्राकार संचालन की है। किन्तु यहाँ पाठ में हाथों का उल्लेख नहीं है, अभिनवगुप्त के मत में कटि के भ्रमित होने के साथ हाथ भी गतिशील होते हैं अतः अपविद्ध मुद्रा में हाथों की अपेक्षा पैरों की स्थिति मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

(४४) लतावृश्चिक—एक पैर अञ्चित मुद्रा में हो और बायें हाथ की कुञ्चित अंगुलियाँ एवं हथेली ऊपर की ओर मुड़ी दशा में हो और वह [बायाँ हाथ] लता मुद्रा में हो तो लतावृश्चिक करण सिद्ध होता है ॥ १०४-१०५ ॥

अलपद्मः कटीदेशे छिन्ना पर्यायशः कटी ॥ १०५ ॥
वैशाखस्थानकेनेह तच्छिन्नं करणं भवेत् ।

(४५) छिन्न—छिन्न दशा में अवस्थित कटि के ऊपर अलपद्म हस्त[1] रखना, तथा शरीर को वैशाख मुद्रा में रखना ही छिन्न करण कहलाता है ॥ १०५-१०६ ॥

वृश्चिकं चरणं कृत्वा स्वतिकौ च करावुभौ ॥ १०६ ॥
रेचितौ विप्रकीर्णौ च करौ वृश्चिकरेचितम् ।

(४६) वृश्चिकरेचित—वृश्चिक करण धारण करके, स्वस्तिक मुद्रा में स्थित दोनों हाथों को रेचित करके विप्रकीर्ण मुद्रा बनाना वृश्चिकरेचित करण कहलाता है ॥ १०६-१०७ ॥

बाहुशीर्षाञ्चितौ हस्तौ पादः पृष्ठाञ्चितस्तथा ॥ १०७ ॥
दूरसन्नतपृष्ठं च वृश्चिकं तत्प्रकीर्तितम् ।

(४७) वृश्चिक—दोनों हाथों को मोड़कर बाहुशीर्ष (कंधे) की तरफ मोड़ना[2] एवं पैर को दूर तक पीछे की ओर मोड़ना[3] वृश्चिक नाम करण कहा जाता है ॥ १०७-१०८ ॥

आलीढं स्थानकं यत्र करौ वक्षसि रेचितौ ॥ १०८ ॥
ऊर्ध्वाधोविप्रकीर्णौ च व्यंसितं करणं तु तत् ।

(४८) व्यंसित—जब आलीढ स्थान[4] की अवस्था में दोनों हाथ वक्षस्थल पर

---

१. अलपद्महस्त—नाट्यशास्त्र के नवें अध्याय के श्लोक ९१ में वर्णित अलपल्लव मुद्रा एवं अलपद्म मुद्रा एक ही हैं।

२. अभिनवगुप्त के मत में इसका प्रयोग आकाश में भ्रमण या ऐरावतादि के विषय का प्रदर्शन करने के समय होता है। उनके अनुसार यहाँ हस्त एवं बाहु शिर को अंचित करने से यह तात्पर्य है कि करिहस्त का प्रयोग किया जाना चाहिए।

३. अभिनवगुप्त का कथन है कि बिच्छू की पूँछ की जगह पर जो पैर होता है उसी के समान एकदम पीछे की ओर किये हुए पैर की संज्ञा वृश्चिक होती है—[वृश्चिकपुच्छस्थानीयचरणं वृश्चिकमेतत्करणं तदुपलक्षितपादो वृश्चिकः]।

४. अस्यैव दक्षिणं पादं पञ्चतालान् प्रसार्य तु ।
आलीढस्थानकं कुर्याद् रुद्रश्चास्याधिदैवतम् ॥ १०-६७, ६८

अर्थ—श्लोक ८०-५५ ६६ में बतलाये गये ऐन्द्रमण्डल नामक स्थानक में यदि

रेचित किए जाएँ और फिर उन्हें (हाथों को) विप्रकीर्णमुद्रा[1] में ऊपर नीचे गतिशील किया जाए तो उस करण का नाम व्यंसित होता है ॥ १०८-१०९ ॥

हस्तौ तु स्वस्तिको पार्श्वे तथा पादो निकुट्टितः ॥ १०९ ॥
यत्र तत्करणं ज्ञेयं बुधैः पार्श्वनिकुट्टितम् ।

(४९) पार्श्वनिकुट्टक—जब स्वस्तिक मुद्रा में स्थित दोनों हाथों को (शरीर के, एक पार्श्व में रखा जाए तथा पैर को निकुट्टित (ऊपर-नीचे) किया जाए तो उस करण को विद्वज्जन 'पार्श्वनिकुट्टित' मानते हैं ॥ १०९-११० ॥

वृश्चिकं चरणं कृत्वा पादस्याङ्गुष्ठकेन तु ॥ ११० ॥
ललाटे तिलकं कुर्याल्ललाटतिलकं तु तत् ।

(५०) ललाटतिलक—पैर की अवस्थिति वृश्चिक बनाकर पैर के अंगूठे से मस्तक पर तिलक लगाने की संज्ञा 'ललाटतिलक' करण है ॥ ११०-१११ ॥

पृष्ठत कुञ्चितं कृत्वा व्यतिक्रान्तक्रमं ततः ॥ १११ ॥
आक्षिप्तौ च करौ कार्यौ क्रान्तके करणे द्विजाः ।

(५१) क्रान्तक—कुंचित पैर को पीछे की ओर मोड़ना अतिक्रान्त चारी[2] का होना और दोनों हाथों का नीचे पड़े रहना—यह 'क्रान्तक' करण का लक्षण है ॥ १११-११२ ॥

आद्यः पादो नतः कार्यः सव्यहस्तश्च कुञ्चित ॥ ११२ ॥
उत्तानो वामपार्श्वस्थस्तत्कुञ्चितमुदाहृतम् ।

(५२) कुंचित—दाहिने पैर को नीचे झुकाना चाहिए और दाहिने हाथ को कुंचित (झुका) करके इस दशा में बायें पार्श्व की तरफ रखना चाहिए कि उसकी हथेली ऊपर की ओर रहे। इसे 'कुञ्चित' करण कहते हैं ॥ ११२-११३ ॥

प्रलम्बिताभ्यां बाहुभ्यां यद्गात्रेणानतेन च ॥ ११३ ॥
अभ्यन्तरापविद्धः स्यात्तज्ज्ञेयं चक्रमण्डलम् ।

(५३) चक्रमण्डल—दोनों हाथ दोनों तरफ सीधे लटकते रहें, और शरीर-

दाहिना पैर पाँचताल तक फैलाया जाय तो उसे आलीढ नामक स्थानक कहते हैं। उसके अधिदेवता रुद्र हैं।

१. 'एकस्य तर्जन्याद्युद्वेष्टितेन (९-२१६) करणेनाधो विप्रकीर्णता। द्वितीयस्तर्जन्यादिपरावर्तितकरणेनोर्ध्वगतः, क्षेत्रपर्यायेणैक उत्तानो हंसपक्षो द्रुतभ्रमलक्षणो रेचकम्। अवरोऽधोमुख ऊर्ध्वाध इत्येकीकरणम्। तच्च करणमुभयत्र संबध्यते। एतच्च विभ्रमादि-परिक्रमविषयम्।

२. अतिक्रान्तक्रम—कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य पुरतः सम्प्रसारयेत्।
उत्क्षिप्य पातयेच्चैनमतिक्रान्ता तु सा स्मृता ॥१०-३०॥

यष्टि झुकी रहे तथा आदि में अपविद्ध चारी[1] की स्थिति हो तो उसे 'चक्रमण्डल' करण कहा जाता है ॥ ११३-११४ ॥

स्वस्तिकापसृतौ पादावपविद्धक्रमौ यदा ॥ ११४ ॥
उरोमण्डलकौ हस्तावुरोमण्डलिकं तु तत् ।

(५४) उरोमण्डल—जब स्वस्तिक मुद्रा में स्थित दोनों पैरों की स्थिति बदल कर उनसे अपविद्ध (अड्डिता) चारी का प्रयोग किया जाए और हाथों से उरोमण्डल मुद्रा[2] बनाई जाए तो वह 'उरोमण्डल' करण होता है ॥ ११४-११५ ॥

आक्षिप्तं हस्तपादं च क्रियते यत्र वेगतः ॥ ११५ ॥
आक्षिप्तं नाम करणं विज्ञेयं तद्द्विजोत्तमाः ।

(५५) आक्षिप्त—जिस अवस्था में हाथों एवं पैरों को शीघ्रतापूर्वक आक्षिप्त किया जाता है उसे विद्वज्जन 'आक्षिप्त' करण की संज्ञा देते हैं[3] ॥ ११५-११६ ॥

ऊर्ध्वाङ्गुलितलः पादः पार्श्वेनोर्ध्वं प्रसारितः ॥ ११६ ॥
प्रकुर्यादञ्चिततलौ हस्तौ तलविलासिते ।

(५६) तलविलसित—पैर की अंगुलियाँ एवं तलुए को ऊर्ध्वमुख करके एक पार्श्व में काफी ऊँचे पर उठाए रखे तथा पताकामुद्रा वाले दोनों हाथों की हथेलियों को परस्पर मिला लें तो उसे 'तलविलसित' करण कहते हैं ॥ ११६-११७ ॥

पृष्ठतः प्रसृतः पादो द्वौ तालावर्धमेव च ॥ ११७ ॥
तस्यैव चानुगो हस्तः पुरतस्त्वर्गलं तु तत् ।

(५७) अर्गल—पैर को पीछे की ओर फैला कर दो ताल की दूरी पर रखना, और हाथों को इसी प्रकार करना अर्गल करण कहलाता है ॥ ११७-११८ ॥

विक्षिप्तं हस्तपादं च पृष्ठतः पार्श्वतोऽपि वा ॥ ११८ ॥
एकमार्गगतं यत्र तद्विक्षिप्तमुदाहृतम् ।

(५८) विक्षिप्त—जब हाथ एवं पैर पीछे की ओर या एक पार्श्व की ओर

---

१. अभ्यन्तरापविद्ध—अभिनवगुप्त के अनुसार यहाँ अड्डिताचारी से अभिप्राय है जिसका लक्षण नाटयशास्त्र के दसवें अध्याय के तेइसवें श्लोक में दिया गया है।

२. उरोमण्डल—उद्वेष्टितौ भवेदेकौ द्वितीयश्चापवेष्टितः ।
भ्रमितावुरसः स्थाने ह्युरोमण्डलिनौ स्मृतौ ॥ ९-२०५ ॥

३. अभिनवगुप्त के मतानुसार पैर को आक्षिप्तचारी की स्थिति में रखे, पार्श्व-भाग को थोड़ा झुका ले एवं चतुरस्त्र हस्त को खटकामुख मुद्रा में कर ले यह 'अक्षिप्त करण कहलाता है।

ले जाये जाते हैं तो वह 'विक्षिप्त' करण कहा जाता है[1] ॥ ११८-११९ ॥

प्रसार्य कुञ्चितं पादं पुनरावर्तयेद् द्रुतम् ॥ ११९ ॥
प्रयोगवशगौ हस्तौ तदावर्तमुदाहृतम् ।

(५९) **आवर्त**—जब कुञ्चित पद को फैला कर शीघ्रता से लौटा लिया जाए और दोनों हाथ (नृत्य के अनुकूल) गतिशील रहें तो उसे 'आवर्त' नामक करण कहते हैं[2] ॥ ११९-१२० ॥

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य पार्श्वात्पार्श्वं तु डोलयेत् ॥ १२० ॥
प्रयोगवशगौ हस्तौ डोलापादं तदुच्यते ।

(६०) **डोलापाद**—कुञ्चित पद को ऊपर की ओर उठाकर दोनों पार्श्वभागों की ओर झुलाया जाए और दोनों हाथ (नृत्य की गति के अनुकूल) गतिशील रहें तो उसे 'डोलापाद करण' कहते हैं[3] ॥ १२०-१२१ ॥

---

१. अभिनवगुप्त के मतानुसार विद्युद्भ्रान्ता तथा दण्डपादा इन दोनों चारियों के द्वारा उद्वेष्टित अपवेष्टित तथा रेचक मुद्रा में दोनों पार्श्वों और आगे तथा पीछे की ओर हाथों तथा पैरों का विक्षेप (फेंकना) विक्षिप्त नामक करण कहलाता है।

२. अभिनवगुप्त के मतानुसार इस करण का प्रयोग चाषगत्याचारी में किया जाता है क्योंकि दायें पैर को फैलाकर फिर लौटाना चाषगत्याचारी की ही क्रिया है। यथा—

पादः प्रसारितः सव्यः पुनश्चैवापसर्पितः ।
वामः सव्योपसर्पी च चाषगत्यामिति ॥ १०-१८ ॥

श्री घोष कृत अनुवाद में इस श्लोक की प्रथम पंक्ति 'प्रसार्य कुञ्चितं पादं पुनरावर्तयेद्द्रुतम्' के उत्तरार्द्ध की व्याख्या नहीं हो पाती क्योंकि वह केवल यही अर्थ देते हैं कि कुञ्चित पैर को सामने की ओर फैलाकर दोनों हाथों को शीघ्रता से गतिशील किया जाए। हमारे विचार से प्रथम पंक्ति में प्रयुक्त "द्रुतम्" की संगति द्वितीय पंक्ति में आ रहे 'प्रयोगवशगौ हस्तौ' की अपेक्षा प्रथम पंक्ति में प्रयुक्त पादं के साथ अधिक सटीक बैठती हैं।

३. अभिनवगुप्ताचार्य ने इस करण में ऊर्ध्वजानुपाद एवं दोलापाद चारी का होना संकेतित किया है—

"पूर्वमूर्ध्वजानुचारी ततो (ना० शा० १०-३३) दोलापादा।"

पूर्ववर्ती श्लोक की भाँति इस श्लोक में भी श्रीघोष महोदय प्रथम पंक्ति के उत्तरार्द्ध को द्वितीय पंक्ति से समन्वित करके यह अर्थ करते हैं कि कुञ्चित पद को ऊपर उठाकर दोनों को नृत्य की गति के अनुकूल इधर से उधर झुलाया जाए।

आक्षिप्तं हस्तपादं च त्रिकं चैव विवर्तयेत् ॥ १२१ ॥
रेचितौ च तथा हस्तौ विवृत्ते करणे द्विजाः ।

(६१) विवृत्त—विवृत्त नामक करण में दोनों हाथों और पैरों को बाहर की ओर प्रसारित किया जाता है, त्रिक का परिवर्तन किया जाता है[1] और दोनों हाथों को रेचित[2] किया जाता है ॥ १२१-१२२ ॥

सूचीविद्धं विधायाथ त्रिकं तु विनिवर्तयेत् ॥ १२२ ॥
करौ च रेचितौ कार्यौ विनिवृत्ते द्विजोत्तमाः ।

(६२) विनिवृत्त—विनिवृत्त नामक करण में विद्वज्जन सूचीविद्ध चारी[3] का प्रयोग करके त्रिक का परिवर्तन करने तथा हाथों को रेचित करने का विधान करते हैं[4] ॥ १२२-१२३ ॥

पार्श्वक्रान्तक्रमं कृत्वा पुरस्तादथ पातयेत् ॥ १२३ ॥
प्रयोगवशगौ हस्तौ पार्श्वक्रान्तं तदुच्यते ।

(६३) पार्श्वक्रान्त—पार्श्वक्रान्तचारी[5] का प्रयोग करते हुए (पैर को) सामने

दोलापाद की परिभाषा के अनुसार पैर को ही गतियुक्त किया जाता है—

'कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य पार्श्वात्पार्श्वं विलोलयेत् ..' ॥ १०-३६ ॥

तथा अभिनवगुप्त भी डोलापाद चारी को समन्वित मानते हैं। अतः हमने अपने अनुवाद में पैर की ही गति का उल्लेख किया है, हाथ का नहीं।

१. त्रिक के विवर्तन (परिवर्तन) का तात्पर्य यह है कि पहले दाहिने पैर से भ्रमरी नामक चारी करे। (फिर बायें पैर से भ्रमरी नामक चारी करे।)

२. अभिनवगुप्त के मतानुसार रेचित हस्त से तात्पर्य हंसपक्ष मुद्रा वाले हाथों से है—

'तद्रेचितौ च हंसपक्षौ द्रुतभ्रमौ हस्ताविति।'

३. सूचीविद्ध चारी—

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य जानूर्ध्वं सम्प्रसारयेत्।
पातयेच्चाग्रयोगेन सा सूची परिकीर्तिता ॥ १०-३४ ॥

४. अभिनवगुप्त इस करण में चारियों के दो विकल्प मानते हैं। पहले के अनुसार सूचीविद्ध चारी करके दूसरे (बायें) पैर के पार्ष्णिभाग (एड़ी) में स्वस्तिक की योजना करके फँसा ले तथा उसके बाद त्रिक का परिवर्तन करे।

दूसरे के अनुसार बद्धा नामक चारी से ऊरु की वलित मुद्रा करे व हाथों को रेचित करके हंसपक्ष में शीघ्रतापूर्वक घुमाये।

५. पार्श्वक्रान्ताचारी—

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य जानुस्तनसमं न्यसेत्।
उद्घट्टितेन पादेन पार्श्वक्रान्ता विधीयते ॥ १०-३२

की ओर स्थापित करे[1] तथा दोनों हाथ (नृत्य के अनुकूल) प्रयोग-रत रहें तो 'पार्श्व-क्रान्त' करण कहा जाता है ।। १२३-१२४ ।।

पृष्ठतः कुञ्चितः पादो वक्षश्चैव समुन्नतम् ।। १२४ ।।
तिलके च करः स्थाप्यस्तन्निशुम्भितमुच्यते ।

(६४) निशुम्भित[2]—जब एक पैर को पीछे की ओर मोड़ा जाता है, वक्षःस्थल को सीधा तान कर रखा जाता है, तथा हाथ को (ललाट में) तिलक (स्थान) से ऊपर[3] रखा जाता है, तो उसको 'निशुम्भित' करण कहा जाता है ।। १२४-१२५ ।।

पृष्ठतो वलितं पादं शिरोघृष्टं प्रसारयेत् ।। १२५ ।।
सर्वतो मण्डलाविद्धं विद्युद्भ्रान्तं तदुच्यते ।

अर्थात् एक पैर को कुञ्चित मुद्रा में (द्रष्टव्य ९।२७८) ऊपर की ओर उठाकर घुटने को वक्षस्थल के पास तक ले जाए तथा दूसरे पैर को उद्घट्टित मुद्रा में (द्रष्टव्य ९।२६६ उ० २६७ पू०) रखे तो इसे पार्श्वक्रान्ता चारी कहते हैं ।

१. पुरस्तादथ पातयेत्—इस प्रथम पंक्ति के उत्तरांश में कर्ता का अभाव होने से प्रश्न उठता है कि सामने की ओर किस वस्तु को लाए ? प्रो० घोष पूर्ववर्ती श्लोकों की भाँति यहाँ भी इस अंश को द्वितीय पंक्ति गत प्रयोगवशगौ हस्तौ से समन्वित करके यह अर्थ करते हैं कि हाथों को सामने की ओर फैलाना चाहिए ।

अभिववगुप्त ने इस अंश को पैर के उत्क्षेपण से सम्बन्धित माना है— "...तयाग्रे चरणं पातयेत् ।" वस्तुतः चारी का प्रयोग पैर की क्रिया से सम्बन्धित है । अतः हमारे विचार में पार्श्वक्रान्तचारी के सन्दर्भ में 'पुरस्तादथ पातयेत्' का सम्बन्ध पैर से करना अधिक उचित होगा न कि हाथ से ।

२. नाटचशास्त्र के बड़ौदा वाले द्वितीय संस्करण में मूल पाठ में 'निःस्तम्भित' करण का पाठ है तथा टिप्पणी में ब प्रति में निशुम्भित, म प्रति में निस्सुम्भित तथा त प्रति में निसुम्भित पाठ प्राप्त होता है ।

३. तिलके च करः—अभिनवगुप्त की व्याख्या के अनुसार हाथ को ही ललाट के ऊपर तिलक की भाँति रखा जाता है—

"तदेतद्देशो मध्यमाङ्गुलिरूपो, ललाटे तिलकवदिति ।"

श्रीघोष ने इस अंश को इस प्रकार अनूदित किया हैं कि 'हाथ को ललाट के बीच में रखा जाता है ।

हमारे विचारानुसार इन दोनों व्याख्याओं में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है। तिलक का स्थान ललाट का मध्य ही है और हाथ को ललाट के मध्य में रखने पर हाथ की स्थिति तिलकवत् हो ही जायेगी । यही कारण है कि अपने अनुवाद में हमने हाथ की स्थिति ललाटवर्ती तिलक के स्थान के ऊपर बतायी है ।

(६५) विद्युद्भ्रान्त—पैर को पीछे की ओर मोड़कर सिर के नितान्त समीप इस भाँति ले जायें कि वह सर्वथा गोलाकार हो जाए तो उसे 'विद्युद्भ्रान्त' करण कहते हैं[1] ॥ १२५-१२६ ॥

अतिक्रान्तक्रमं कृत्वा पुरस्तात्संप्रसारयेत् ॥ १२६ ॥
प्रयोगवशगौ हस्तावतिक्रान्ते प्रकीर्तितौ ।

(६६) अतिक्रान्त—अतिक्रान्तचारी के प्रयोग के अनुसार एक पैर को सामने की ओर फैला दे तथा हाथों का भी प्रयोग पैरों के ही समान करें तो उसे 'अतिक्रान्त' करण कहते हैं ॥ १२६-१२७ ॥

आक्षिप्तं हस्तपादं च त्रिकं चैव विवर्तितम् ॥ १२७ ॥
द्वितीयो रेचितो हस्तो विवर्तितकमेव तत् ।

(६७) विवर्तित—जब हाथ और पैर बाहर की ओर प्रसारित किए जाते हैं, त्रिक का परिवर्तन किया जाता है, एवं दूसरा हाथ[2] रेचित होता है तो उसे 'विवर्तित' करण कहते हैं ॥ १२७-१२८ ॥

---

१. ना० शा० १०।४० में विद्युद्भ्रान्त चारी का भी यही लक्षण है । इस श्लोक का श्रीघोष कृत अनुवाद कुछ भ्रामक सा है । उनके अनुवाद के अनुसार इस करण में पैर को पीछे की ओर मोड़कर हाथों से मण्डलाविद्ध मुद्रा प्रदर्शित की जाती है । इस मण्डलाविद्ध मुद्रा की परिभाषा अथवा नाट्यशास्त्र में अन्यत्र कहीं भी इसके उल्लेख तक से स्वयं घोष महोदय अनभिज्ञ हैं । दूसरी ओर बड़ौदा से प्रकाशित नाट्यशास्त्र के द्वितीय संस्करण में नृत्यरत मूर्तियों के जो परिशोधित चित्र दिए गये हैं तदनुसार भी पैर को बिल्कुल ऊपर की ओर उठाकर सिर तक ले जाया गया है, जिससे वह मण्डलाकार सा प्रतीत होता है, हाथों की मुद्रा तो बिल्कुल भी मण्डलाकार नहीं है । अभिनवगुप्त की मान्यता है कि इस करण के 'विद्युद्भ्रान्त' इस नामकरण के पीछे यह कारण हो सकता है कि पैर को बिजली की तेजी से झटका कर ऊपर ले जाया जाता है—

'तत्पदस्य विद्युत उद्भ्रमणाद् विद्युद्भ्रान्तम्... ।

२. द्वितीयो रेचितो हस्तो—यहाँ द्वितीय के उल्लेख से प्रथम हस्त की अन्य किसी मुद्रा में अवस्थिति भासित होती है । अभिनवगुप्त ने—"आक्षिप्तहस्तापेक्षया द्वितीयो हस्तः" कहकर प्रथम हस्त को आक्षिप्त माना है—अर्थात् पहले जो हाथ एवं पैरों का आक्षेपण विहित किया गया था वहाँ दोनों हाथों का अभिप्राय न होकर एक ही हाथ से था । दूसरा हाथ रेचित होगा । श्रीघोष ने इसके विपरीत दोनों हस्तों को रेचित माना है । ऐसा उन्होंने किस आधार पर किया है यह स्पष्ट नहीं हो पाता ।

कर्णेऽञ्चितः करो वामो लताहस्तश्च दक्षिणः ।। १२८ ।।
दोलापादस्तथा चैव गजक्रीडितकं भवेत् ।

(६८) गजक्रीडित—बायें हाथ को अंचित मुद्रा में (बायें) कान पर रखा जाए और दाहिना हाथ लता मुद्रा[1] में हो एवं पैर दोलापाद चारी में हो तो उस करण की संज्ञा 'गजक्रीडित' होती है ।। १२८-१२९ ।।

द्रुतमुत्क्षिप्य चरणं पुरस्तादथ पातयेत् ।। १२९ ।।
तलसंस्फोटितौ हस्तौ तलसंस्फोटिते मतौ ।

(६९) तलस्संफोटित—एक पैर को तीव्र गति से ऊपर उठाकर सामने की ओर गिराए और दोनों हाथों से ताली बजाए तो उसे 'तलसंस्फोटित[2]' करण माना जाता है ।। १२९-१३० ।।

पृष्ठप्रसारितः पादः लतारेचितकौ करौ ।। १३० ।।
समुन्नतं शिरश्चैव गरुडप्लुतकं भवेत् ।

(७०) गरुडप्लुतक—दोनों पैरों को पीछे की ओर प्रसारित किया जाए[3] एवं दोनों हाथों में से एक लता मुद्रा में हो एवं दूसरा रेचित हो और वक्षःस्थल सीधा तना रहे तो वह 'गरुडप्लुतक' करण कहलाता है ।। १३०-१३१ ।।

---

१. अभिनवगुप्त के मतानुसार इन चेष्टाओं से यहाँ ९।१९९ प्रोक्त करिहस्त का ग्रहण होता है—

'समुन्नतो लताहस्तः पार्श्वात्पार्श्वं विलोलितः ।
त्रिपातकोऽपरः कर्णे करिहस्तः प्रकीर्तितः ।। (९।२००)

२. तलसंस्फोटितौ हस्तौ—श्री घोष ने तलसंस्फोटित को एक ऐसी मुद्रा माना है जो नाट्यशास्त्र में कहीं भी व्याख्यात नहीं है । आचार्य अभिनवगुप्त की व्याख्या के अनुसार दोनों पताका हाथों को एक साथ संश्लेषित करने से जो शब्द उत्पन्न हो उसे 'तलसंस्फोटित' कहते हैं । नाट्यशास्त्र (ब०, द्वि० सं०) में दी गई नृत्यमूर्तियों की रेखाकृतियों को देखने से भी हाथों का परस्पर संश्लेषण सिद्ध होता है । करतलों के परस्पर आस्फालन से उत्पन्न ध्वनि को हिन्दी में सामान्यतया ताली ही कहा जाता है । यही कारण है कि 'तलसंस्फोटितौ हस्तौ' इस खण्ड का अनुवाद यहाँ 'दोनों हाथों से ताली बजाना' किया गया है ।

३. बड़ौदा से प्रकाशित नाट्यशास्त्र के द्वितीय संस्करण के मूल पाठ में 'पृष्ठप्रसारितौ पादौ' इसके स्थान पर 'पृष्ठप्रसारितः' यह पाठ मिलता है । 'पृष्ठप्रसारितौ पादौ' यह पाठ टिप्पणी में 'ठ' प्रति के नाम से दिया गया है । 'गरुडप्लुतक' करण के चित्र में भी एक ही पैर पीछे की ओर प्रसारित है अतः 'पृष्ठप्रसारितः पादः' यह पाठ संगत प्रतीत होता है ।

सूचीपादो नतं पार्श्वमेको वक्षःस्थितः करः ॥ १३१ ॥
द्वितीयश्चाञ्चितो गण्डे गण्डसूची तदुच्यते ।

(७१) गण्डसूची—पैर की अवस्था सूची[1] हो, पार्श्व भाग उन्नत हो, एक हाथ वक्षःस्थल पर रखा हो, तथा दूसरे हाथ को अंचित मुद्रा में गाल पर रखा जाए[2] तो उसे 'गण्डसूची' करण कहा जाता है ॥ १३१-१३२ ॥

ऊर्ध्वापवेष्टितौ हस्तौ सूचीपादो विवर्तितः ॥ १३२ ॥
परिवृत्तत्रिकं चैव परिवृत्तं तदुच्यते ।

(७२) परिवृत्त—अपवेष्टित मुद्रा में अवस्थित दोनों हाथों को ऊपर की ओर उठाकर रखा जाय, एवं सूचीपाद को दूसरे पर वर्तित किया जाय[3] तथा त्रिक को (भ्रमरी चारी में) परिवर्तित किया जाए तो उस करण का नाम 'परिवृत्त' कहा जाता है ॥ १३२-१३३ ॥

एकः समस्थितः पाद ऊरुपृष्ठे स्थितोऽपरः ॥ १३३ ॥
मुष्टिहस्तश्च वक्षःस्थः पार्श्वजानु तदुच्यते ।

(७३) पार्श्वजानु—एक पैर सम अवस्था में हो और दूसरा जांघों के पिछली

---

१. सूचीपाद—

उत्क्षिप्ता तु भवेत्पार्ष्णिरङ्गुष्ठाग्रेण संस्थितः ।
वामश्चैव स्वभावस्थः सूचीपादः प्रकीर्तितः ॥
(९-२७९ उ० २८० पू०)

२. द्वितीयश्चाञ्चितो गण्डे—अभिनवगुप्त के विचार में गाल पर रखा जाने वाला यह हाथ अलपल्लव मुद्रा में होता है । (अञ्चितोऽलपल्लवो गण्डक्षेत्रे) ।

किन्तु गण्डसूची के करण के चित्र में दूसरा हाथ गाल पर नहीं है, नाभि के पास है ।

अभिनवगुप्त इस करण में कई मतभेदों का वर्णन करते हैं—

(१) कुछ आचार्य सूचीपाद को गण्डदेश के समीप ले जाना बतलाते हैं ।
(२) आचार्य सूचीमुख नामक नृत्त हस्त को गण्डप्रदेश में अञ्चित मुद्रा में रखना और फिर क्रियाशील करना बतलाते हैं ।
(३) कुछ आचार्य सूचीमुख नामक नृत्त हस्त को गण्डस्थल के प्रधान भूषण के अभिनय का प्रदर्शन करने के लिए इस करण की उपयोगिता मानते हैं ।

३. सूचीपादो विवर्तितः—अभिनवगुप्त के अनुसार सूचीपाद के विवर्तन का आश्रय बद्धाचारी (१०-२१) है जिसके अनुसार जंधा के स्वस्तिक में होने पर उनकी पार्श्ववर्ती गति से है ।

तरफ मुड़ा हुआ हो तथा मुष्टि-हस्त वक्षःस्थल पर स्थित हो तो उसे 'पार्श्वजानु' करण कहते हैं ॥ १३३-१३४ ॥

पृष्ठप्रसारितः पादः किञ्चिदञ्चित जानुकः ॥ १३४ ॥
यत्र प्रसारितौ बाहू तत्स्यात् गृध्रावलीनकम् ।

(७४) गृध्रावलीनक—एक पैर पीछे की ओर प्रसारित किया जाए, एक घुटना कुछ झुका हुआ हो तथा दोनों बाहें फैली हुई हो तो उसे 'गृध्रावलीनक' करण कहा जाता है ॥ १३४-१३५ ॥

उत्प्लुत्य चरणौ कार्यावग्रतः स्वस्तिकस्थितौ ॥ १३५ ॥
सन्नतौ च तथा हस्तौ सन्नतं तदुदाहृतम् ।

(७५) सन्नत—उछलकर दोनों पैरों को सामने की ओर स्वस्तिक-मुद्रा में रखा जाए तथा दोनों हाथ सन्नत[1] अवस्था में हो तो उसे 'सन्नत' करण का नाम दिया जाता है ॥ १३५-१३६ ॥

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य कुर्यादग्रस्थितं भुवि ॥ १३६ ॥
प्रयोगवशगौ हस्तौ सा सूची परिकीर्तिता ।

(७६) सूची—'सूची' नामक करण में कुंचित चरण को उठाकर भूमि पर अग्रभाग (पंजों) के सहारे रखना चाहिए एवं दोनों हाथों की गति के अनुकूल रहने चाहिए ॥ १३६-१३७ ॥

अलपद्मः शिरोहस्तः सूचीपादश्च दक्षिणः ॥ १३७ ॥
यत्र तत्करणं ज्ञेयमर्धसूचीति नामतः ।

(७७) अर्धसूची—जब अलपद्म हस्त[2] सिर पर रखा हो और दाहिना पैर सूची चारी में हो तो उस करण का नाम 'अर्धसूची' जानना चाहिए ॥१३७-१३८॥

पादसूच्या यदा पादो द्वितीयस्तु प्रविध्यते ॥ १३८ ॥
कटिवक्षःस्थितौ हस्तौ सूचींविद्धं तदुच्यते ।

(७८) सूचीविद्ध[3]—जब सूची चारी में स्थित एक चरण दूसरे चरण से लगा

---

१. सन्नतौ—हाथों द्वारा प्रदर्शित की जाने वाली सन्नत मुद्रा वस्तुतः दोलाहस्त का ही दूसरा नाम है । अभिनवगुप्त का भी कथन है— 'सन्नतौ च दोलाहस्तौ' ।

२. अलपद्महस्त—अलपद्म अथवा अलपल्लव हस्त का तात्पर्य यह है कि समस्त अङ्गुलियाँ हथेली की ओर मुड़ी हो पर एक दूसरे से अलग-अलग हों ।

३. डा० रघुवंश का कथन है कि इस करण में सूचीचारी की गति-प्रक्रिया की अन्तिम स्थिति का प्रयोग स्वीकार किया गया है, अर्थात् कुंचित पैर समपाद की एड़ी से सटाया जाता है । सूची प्रक्रिया के कुंचित चरण की ओर वाला हाथ अर्धचन्द्र चेष्टा में कमर पर प्रतिष्ठित होता है और दूसरा खटकामुख चेष्टा में

होता है और दोनों हाथ क्रमशः कमर तथा वक्ष पर स्थित होते हैं तो उसे 'सूचीविद्ध' करण कहा जाता है ।। १३८-१३९ ।।

कृत्वोरुवलितं पादमपक्रान्तक्रमं न्यसेत् ।। १३९ ।।
प्रयोगवशगौ हस्तावपक्रान्तं तदुच्यते ।

(७९) अपक्रान्त—यदि उस को वलित करके पैर को अपक्रान्त चारी[1] में प्रयुक्त किया जाता है एवं हाथ प्रयोग के अनुकूल होते हैं तब उस करण का नाम 'अपक्रान्त' करण होता है ।। १३९-१४० ।।

वृश्चिकं चरणं कृत्वा रेचितौ च तथा करौ ।। १४० ।।
तथा त्रिकं विवृत्तं च मयूरललितं भवेत् ।

(८०) मयूरललित—जब चरण वृश्चिक[2] हो, दोनों हाथ रेचित हो तथा त्रिक का परिवर्तन किया जाए तो वह 'मयूरललित' करण की स्थिति होती है ।। १४०-१४१ ।।

अञ्चितापसृतौ पादौ शिरश्च परिवाहितम् ।। १४१ ।।
रचितौ च तथा हस्तौ तत्सर्पितमुदाहृतम् ।

(८१) सर्पित—जब अंचित[3] चरणों को अपसृत[4] किया जाए, सिर परिवाहित[5] मुद्रा में हो एवं दोनों हाथ रेचित हों तो उसे 'सर्पित' करण कहा जाता है ।। १४१-१४२ ।।

अपनी ओर के वक्षःप्रदेश पर न्यस्त होता है । अभिनवगुप्त ने अर्धचन्द्र हस्तचेष्टा के साथ पक्षवंचित चेष्टा का उल्लेख भी किया है ।

१. अपक्रान्तचारी—ऊरुभ्यां वलनं कुञ्चितं पादमुद्धरेत् ।
पार्श्वे विनिक्षिपेच्चैनमपक्रान्ता तु सा स्मृता ।।
(१०–३१)

२. अभिनवगुप्त की व्याख्या के अनुसार इस करण में एक पैर वृश्चिक मुद्रा में होता है एवं दोनों रेचित हंसपक्ष हस्त द्रुतगति से भ्रमित किए जाते हैं । पैर को उस स्थान पर निकुंचित करके भ्रमरी चारी की चेष्टा में न्यस्त किया जाता है ।

३. अंचितपाद—पार्ष्णिः यस्य स्थिता भूमांवूर्ध्वमग्रतलं भवेत् ।
अङ्गुल्यश्चाञ्चिताः सर्वाः स पादोञ्चित उच्यते ।।
(९/२७५ उ०२७६ पू०)

४. अपसृत—'अपसृत' का तात्पर्य है एक पैर का दूसरे पैर के पास से हटाना । इस अंचित अवस्था से पैर अर्धवृताकार घूमकर अलग होते हैं ।

५. परिवाहित—पार्यायशः पार्श्वगतं शिरः स्यात्परिवाहितम् (८-२६) अर्थात् सिर का क्रमशः पार्श्वों में घूमना परिवाहित कहलाता है ।

नूपुरं चरणं कृत्वा दण्डपादं प्रसारयेत् ॥ १४२ ॥
क्षिप्राविद्धकरं चैव दण्डपादं तदुच्यते ।

(८२) दण्डपाद—'दण्डपाद' करण उसको कहा जाता है जब पैर को नूपुर चारी[1] में लाया जाए और फिर उसे दण्डपादचारी[2] में प्रसारित किया जाए और दोनों हाथ शीघ्रतापूर्वक आविद्ध किए जाए ॥ १४२-१४३ ॥

अतिक्रान्तक्रमं कृत्वा समुत्प्लुत्य निपातयेत् ॥ १४३ ॥
जङ्घाञ्चितोपरि क्षिप्ता तद्विद्याद्धरिणप्लुतम् ।

(८३) हरिणप्लुत—जिस करण में अतिक्रन्तक्रम का निष्पादन करके फिर पैर को उछाल कर नीचे रखा जाता है और अंचित जाँघ को ऊपर की ओर क्षिप्त किया जाता है उसे 'हरिणप्लुत' करण जानना चाहिए[3] ॥१४३-१४४ ॥

डोलापादक्रमं कृत्वा समुत्प्लुत्य निपातयेत् ॥ १४४ ॥
परिवृत्तत्रिकं चैव तत्प्रेङ्खोलितमुच्यते ।

(८४) प्रेङ्खोलित—दोलापाद चारी को सम्पन्न करके जब उछल कर पैर को गिराया जाए और त्रिक का परिवर्तन हो तो उसे 'प्रेङ्खोलित' करण कहते हैं ॥ १४४-१४५ ॥

भुजावूर्ध्वविनिष्क्रान्तौ हस्तौ चाभि (धो) मुखाङ्गुली ॥ १४५ ॥
बद्धा चारी तथा चैव नितम्बे करणे भवेत् ।

(८५) नितम्ब—नितम्बकरण में दोनों भुजाएं ऊपर की ओर निकली होती हैं और हाथ की उङ्गुलियां ऊपर की ओर रहती हैं' और

---

१. नूपुरपादचारी—पृष्ठतोऽभ्यञ्चितं कृत्वा पादमग्रतलेन तु ।
द्रुतं निपातयेत् भूमौ चारी नुपूरपादिका ॥ (१०–३५)

२. दण्डपादचारी—
"क्षिप्रमाविद्धकरणं दण्डपादा तु सा स्मृता । (१०-४४)
भुजाओं का संचालन अपविद्ध (९-२२०) चेष्टा में होता है, जिसमें हाथ बाहरी स्थिति से अन्दर की ओर गतिशील होते हैं ।

३. हरिणप्लुताचारी—
अतिक्रान्तक्रमं कृत्वा चोत्प्लुत्य विनिपातयेत् ।
जङ्घाञ्चिता परिक्षिप्ता सा ज्ञेया हरिणप्लुता ॥ (१०-४३)
अर्थात् उछलकर पैर को जमीन पर रखना और अंचित पैर की जंघा को क्षिप्त रखकर हरिणप्लुत चारी का सम्पादन किया जाता है ।

बद्धाचारी[1] का प्रयोग किया जाता है ॥ १४५-१४६ ॥

दोलापादक्रमं कृत्वा हस्तौ तदनुगावुभौ ॥ १४६ ॥
रेचितौ घूर्णितौ वापि स्खलितं करणं भवेत् ।

(८६) स्खलित—स्खलित कारण उसको कहते हैं जब दोलापादचारी का प्रयोग करके रेचित[2] एवं घूर्णित[3] अवस्था में युक्त दोनों हाथों को भी पैरों की गति के ही अनुरूप रखा जाए ॥ १४६-१४७ ॥

एको वक्षःस्थितो हस्तः प्रोद्वेष्टिततलोऽपरः ॥ १४७ ॥
अञ्चितश्चरणश्चैव प्रयोज्यः करिहस्तके ।

(८७) करिहस्तक[4]—करिहस्तक करण में हाथ को वक्षःस्थल पर रखना

---

१. बद्धाचारी—

"अन्योन्यजङ्घासंवेधात् कृत्वा तु स्वस्तिकं ततः ।
ऊरुभ्यां वलनं यस्मात् सा बद्धाचार्युदाहृता ॥ (ना० शा० १०-२१)

अभिनवगुप्त के मतानुसार पताका हस्त की ऊंगलियां व हथेलियाँ ऊपर उठाए हुए सिर के पास ले जाकर फिर कन्धों के समानान्तर रखते हुए वक्ष के नीचे ले जाकर पताका मुद्रा के अन्तर्गत ऐसे रखना चाहिए कि दाहिने हाथ का उल्टा भाग वक्षःस्थल से सटा रहे और बायें हाथ के अँगूठे का अगला सिरा व दाहिने हाथ का करभ बाए हाथ की तर्जनी के अगले भाग से श्लिष्ट रहे। फिर हाथों की अङ्गुलियों को शरीराभिमुख रखते हुए रेचित एवं घूर्णित हस्त मुद्राओं के अन्तर्गत नितम्ब अवस्था में रखना चाहिए। नितम्ब हस्त चेष्टा का लक्षण है—

'बाहुशीर्षाद्विनिष्क्रान्तो ····आदि (१९६) जिसके अनुसार दोनों पताका हस्त कन्धों से नितम्ब पर लाए जाने चाहिए।

२. अभिनवगुप्त के मत में यहाँ रेचित से हंसपक्ष-रेचित का तात्पर्य ग्रहण करना चाहिए।

३. घूर्णित कोई विशिष्ट मुद्रा न होकर गोलाकार घूम रहे हाथों का परिचायक है।

४. करिहस्त—"समुन्नतो लताहस्तः पार्श्वात्पार्श्वं विलोलितः ।
त्रिपताकोऽपरः कर्णे करिहस्तः प्रकीर्तितः ॥ ९-२०० ॥

अर्थात् एक हाथ लता-हस्त मुद्रा में वक्षःस्थल पर इस पार्श्व से उस पार्श्व तक झूलता रहता है और दूसरा हाथ त्रिपताका मुद्रा में कान पर रखा जाता है तो उसे 'करिहस्त' कहते हैं।

चाहिए और दूसरे हाथ की हथेली प्रोद्वेष्ठित रहनी चाहिए तथा पैरों को अंचित रखना चाहिए ।। १४७-१४८ ।।

एकस्तु रेचितो हस्तो लताख्यस्तु तथा परः ।। १४८ ।।
प्रसर्पिततलौ पादौ प्रसर्पितकमेव तत् ।

(८८) प्रसर्पितक—यदि एक हाथ रेचित और दूसरा लता मुद्रा में हो व पैर 'तलसंचर'[1] हो तो 'प्रसर्पितक' करण कहते हैं ।। १४८-१४९ ।।

अलातं च पुरःकृत्वा द्वितीयं च द्रुतक्रमम् ।। १४९ ।।
हस्तौ पादानुगौ चापि सिंहविक्रीडिते स्मृतौ ।

(८९) सिंहविक्रीडित—यदि 'अलात'[2] चारी के प्रदर्शन के बाद द्रुतसंचरण के साथ साथ हाथों को भी पैरों की गति के अनुरूप रखा जाए तो उसे 'सिंहविक्रीडित' करण कहा जाता है ।। १४९-१५० ।।

पृष्ठप्रसर्पितः पादस्तथा हस्तौ निकुञ्चितौ ।। १५० ।।
पुनस्तथैव कर्तव्यौ सिंहाकर्षितके द्विजाः ।

(९०) सिंहाकर्षित—जब (एक) पैर को पीछे की ओर फैलाया जाए, दोनों हाथ निकुंचित किए हुए हों और फिर ऐसा ही (शरीर के दूसरे पार्श्व के साथ) किया जाए तो उसे सिंहाकर्षितक करण कहा जाता है ।। १५०-१५१ ।।

आक्षिप्तहस्तमाक्षिप्तदेहमाक्षिप्तपादकम् ।। १५१ ।।
उद्वृत्तगात्रमित्येतदुद्वृत्तं करणं स्मृतम् ।

(९१) उद्वृत्त—यदि हाथ पैर और पूरे शरीर को झटके से उछाला जाए

---

१. प्रसर्पितक—पैरों के तलवे घिसते हुए आगे बढ़ना । श्री घोष के अनुसार-पैर को समसर्पितल या तलसंचर मुद्रा में रखना चाहिए । अभिनवगुप्त के मत में रेचित कर की ओर जो पैर है उस से दोनों पैरों के बीच भूमि पर घर्षण करते हुए मंद मंद चलने का तात्पर्य है—रेचितकरस्य दिक्पादः पादान्तरान्मन्दंमन्दं भूमिघर्षणाच्चलेत ।

२. अलात चारी (ना० शा० १०-४१) में जिस ओर के पैर को द्रुतगति से आगे रखा जाता है, उसी ओर का हाथ भी गतिशील होता है ऐसा ही दूसरे चरण व हस्त से साथ होता है । इस प्रकार बार बार दोनों पैर व हाथ गतिशील होते हैं ।

अभिनवगुप्त के विचारानुसार इस करण में एक एक पैर वृश्चिक मुद्रा में रहता है । तथा दाहिने व बायें दोनों हाथ पद्मकोश एवं अर्णनाभ (९-१२०) मुद्रा में रहते हैं । फिर जब दूसरा पैर वृश्चिक चेष्टा में लाया जाता है तब दोनों हाथों को भी पुनः पूर्ववत् प्रसारित किया जाता है ।

और फिर शरीर उद्वृत्त चारी[1] की स्थिति में रहे तो वह 'उद्वृत्त' करण माना जाता है ॥ १५१-१५२ ॥

आक्षिप्तचरणश्चैको हस्तौ तस्यैव चानुगौ ॥ १५२ ॥
आनतं च तथा गात्रं तथोपसृतकं भवेत् ।

(९२) उपसृतक—पैर आक्षिप्त चारी हों और हाथ उसी अवस्था के अनुकूल हों तथा शरीर झुका हुआ हो[2] तो वह 'उपसृतक' करण कहा जाता है ॥ १५२-१५३ ॥

दोलापादक्रमं कृत्वा तलसङ्घट्टितौ करौ ॥ १५३ ॥
रेचयेच्च करं वामं तलसङ्घट्टिते सदा ।

(९३) तलसङ्घटित—दोलापादचारी[3] का प्रदर्शन करने के उपरान्त दोनों हाथों के तल जब संघटित होते हैं और बायाँ हाथ रेचित किया जाता है तो उसे 'तलसंघटित' करण कहा जाता है ॥ १५३-१५४ ॥

निकुंचित का अर्थ श्रीघोष के अनुसार झुके हुए चक्राकर संचालित हाथ हैं— अभिनवगुप्त के अनुसार—क्रियावर्तनावशादपसार्य । श्रीशुक्ल ने अनुवाद किया है— हाथ सिकुड़ा (या झुका) कर शरीर एक गोल घुमाव ले जो सामने व पीछे की ओर सिकुड़ने वाला हो ।

१. उद्वृत्तचारी—पादमाविद्धमावेष्ट्य समुत्प्लुत्य निपातयेत् ।
परिवृत्त्य द्वितीयं तु सोद्वृत्ता चार्युदाहृता ॥ १०-३९ ॥

इसके अनुसार दोनों कुंचित पैरों को क्रमशः गोलाकार गति से ले जाकर ऊपर से नीचे गिराया जाता है ।

२. भरतमुनि के कथन से तो यही तात्पर्य निकलता है कि हाथ पैरों के अनुसार गतिशील होंगे परन्तु अभिनवगुप्त का कथन है कि बायें हाथ के व्यावर्तन में शरीर को झुकाकर दाहिना हाथ अराल मुद्रा में स्थित किया जाता है । 'कुञ्चित पादमुत्क्षिप्य' - - (ना० शा० १०-३७) 'वामतो व्यावृत्य करपरिवर्तनेन गात्रमानम्य दक्षिणमरालतां नयेत् ।' किन्तु गा० ओ० सि० में प्रदर्शित रेखाचित्र के अनुसार हाथों का अराल एवं व्यावृत्त चेष्टा में होना सिद्ध नहीं होता । उसके अनुसार हाथ दोला चेष्टा में न्यस्त हैं । इस कारण हम यहाँ अभिनव का समर्थन करना उचित नहीं समझते । हमारे विचार में हाथ आक्षिप्त चारी की प्रक्रिया का अनुसरण करेंगे क्योंकि मूल में स्पष्टतः लिखा है कि हाथ उसके (पैर के) ही समान अवस्थित होगे ।

३. अभिनवभारती के उल्लेखानुसार दोलापाद चारो के साथ पताका हस्तों को इस भाँति रखना चाहिए कि उनके तल एक दूसरे से संघटित रहें । फिर वैष्णव-

एको वक्षःस्थितो हस्तो द्वितीयश्च प्रलम्बितः ।। १५४ ।।
तलाग्रसंस्थितः पादो जनिते करणे भवेत् ।

(९४) जनित—जनित करण में एक हाथ वक्षःस्थल पर होता है और दूसरा झूलता हुआ रहता है एवं पैर अग्रतलसंचर मुद्रा में रहता है[1] ॥१५४-१५५ ॥

जनितं करणं कृत्वा हस्तौ चाभिमुखाङ्गुली ।। १५५ ।।
शनैर्निपतितौ चैव ज्ञेयं तदवहित्थकम् ।

(९५) अवहित्थक—जनित करण के सम्पादन के बाद परस्परोन्मुख अंगुलियों वाले हाथों को धीरे धीरे नीचे की ओर ले जाया जाए तो उसे 'अवहित्थक' करण जानना चाहिए[2] ॥ १५५-१५६ ॥

करौ वक्षःस्थितौ कार्यावुरो निर्भुग्नमेव च ।। १५६ ।।
मण्डलस्थानकं चैव निवेशं करणं तु तत् ।

(९६) निवेश — निर्भुग्न[3] वक्षःस्थल पर दोनों हाथों को रख कर

स्थानक में (खड़े रह कर) दाहिना हाथ कटि पर रखना चाहिए और दूसरे हाथ को हंसपक्ष की मुद्रा में द्रुतभ्रमित करते हुए रेचक करना चाहिए। सरल शब्दों में इस करण में दोनों हाथों की हथेलियों को मिला कर ताली बजाई जाती है और फिर रेचित मुद्रा में उन्हें अलग किया जाता है।

१. जनितचारी—मुष्टिहस्तश्च वक्षःस्थः करोऽन्यस्य प्रवर्तते ।
तलसंचरपादश्च जनिता चार्युदाहृता ॥ (ना०शा० १०-२५)

इसके अनुरूप मुष्टि-हस्त वक्ष पर रहता है और दूसरा हाथ गतिशील रहता है एवं पैर तल-संचर गति में रहते हैं।

२. अभिनवभारती के अनुसार यहाँ जनित-चारी का उपयोग होता है और हाथों को वक्षःस्थल पर अराल तथा अलपल्लव मुद्रा में रखा जाता है।

कुछ आचार्य इस (अवहित्थक) करण में हाथों को अवहित्थमुद्रा में करना मानते हैं—

शुकतुण्डौ करौ कृत्वा वक्षस्याभिमुखाञ्चितौ ।
शनैरधोमुखाविद्धौसोऽवहित्थ इति स्मृतः (९-१५६)

३. निर्भुग्न—

'स्तब्धं' च निम्नपृष्ठं य निर्भुग्नांसं समुन्नतम् ।
उरो निर्भुग्नमेतद्धि कर्मचास्य निबोधत ।। ९-२२७ ।।

अर्थात् केन्द्र मण्डल में पैर चार ताल की दूरी पर रहते हैं वक्ष स्तब्ध, पृष्ठ भाग झुका हुआ एवं कन्धे उठे हुए रहते हैं।

मण्डल[1] स्थानक पर प्रदर्शन करना 'निवेश' नामक करण कहलाता है ॥ १५६-१५७ ॥

तलसञ्चरपादाभ्यामुत्प्लुत्य पतनं भवेत् ॥ १५७ ॥
सन्नतं वलितं गात्रमेलकाक्रीडितं तु तत् ।

(९७) एलकाक्रीडित[2]—यदि तलसंचर मुद्रायुक्त दोनों पैरों से उछल कर फिर भूमि पर आया जाए एवं झुके हुए शरीर को घुमाया जाए तो उसे 'एलकाक्रीडित' करण जानना चाहिए ॥ १५७-१५८ ॥

(९८) ऊरुद्वृत्त[3]—हाथों को आवृत्त करके ऊरु के पृष्ठभाग पर अंचित रूप में रखा जाए और जंघा को अंचित मुद्रा तथा उद्वृत्त गति में रखे तो उसे 'उद्वृत्त' करण कहते हैं ॥ १५८-१५९ ॥

करमावृत्तकरणमूरुपृष्ठेऽञ्चितं न्यसेत् ॥ १५८ ॥
जङ्घाञ्चिता तथोद्वृत्ता ह्यूरूद्वृत्तं तु तद्भवेत् ।

(९९) मदस्खलितक—मदस्खलितक नाम करण में दोनों हाथ नीचे लटका

---

१. मण्डलस्थानक—

ऐन्द्रे तु मण्डले पादौ चतुस्तालान्तरस्थितौ ।
त्र्यश्रौ पक्षःस्थितौ चैव कटिजानू समौ तथा ॥ (१०-६५ पू० ६६ उ०)

स्थानक का तात्पर्य खड़े होने की चेष्टा से है ।

२. एलकाक्रीडित चारी—

तलसंचर पादाभ्यामुत्प्लुत्य पतनं तु यत् ।
पर्यायशश्च क्रियते एडकाक्रियता तु सा ॥ (१०-२०)

में तल-संचर चरणों से क्रमशः ऊपर नीचे कूदा जाता है । धड़ कुछ झुका और मुड़ा रहता है ।

३. अभिनवभारती का कथन है कि इसमें उरुद्वृत्त चारी का प्रयोग होता है जिसका लक्षण है—

तलसंचरपादस्य पार्ष्णिर्बाह्योन्मुखी यदा ।
जङ्घाञ्चिता तथोद्वृत्ता ऊरुद्वृत्तेति सा स्मृता ॥ (१०-२२)

अर्थात् तलसंचर पैर की एड़ी बाहर की ओर स्थित होती है । जांघें झुकी और ऊपर की ओर घूमी हुई रहती है । इस करण में उरुद्वृत्त चारी के प्रयोग के साथ हाथों को घुमाकर अराल एवं खटकामुख मुद्रा में ऊरु के पीछे स्थापित करना चाहिए ।

डा० रघुवंश की टिप्पणी है कि जंघाओं के अंचित होने से पैर घुटनों से झुके



१ तलपुष्पपुटम्



२ वर्तितम्



३ वलितोरुकम्



४ अपविद्धम्



५ समनखम्



६ लीनम्



७ स्वस्तिकरेचितम्



८ मण्डलस्वस्तिकम्



९ निकुट्टकम्



१० अर्धनिकुट्टकम्



११ कटिच्छिन्नम्



१२ अर्धरेचितकम्



१३ वक्षःस्वस्तिकम्



१४ उन्मत्तकम्



१५ स्वस्तिकम्



१६ पृष्ठस्वस्तिकम्



१७ दिक्स्वस्तिकम्



१८ अलातकम्



१९ कटीसमम्



२० आक्षिप्तरेचितम्



२१ विक्षिप्ताक्षिप्तकम्



२२ अर्धस्वस्तिकम्



२३ अञ्चितम्



२४ भुजङ्गत्रासितम्



२५ ऊर्ध्वजानु



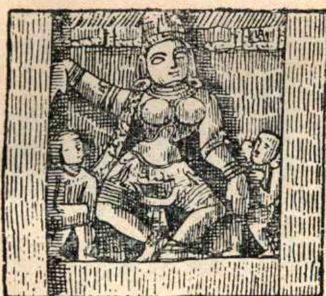
२६ निकुञ्चितम्



२७ मत्तल्लि



२८ अर्धमत्तल्लि



२९ रेचितनिकुट्टितम्



३० पादापविद्धकम्



३१ वलितम्



३२ घूर्णितम्



३३ ललितम्



३४ दण्डपक्षम्



३५ भुजङ्गत्रस्तरेचितम्



३६ नूपुरम्



३७ वैशाखरेचितम्



३८ भ्रमरकम्



३९ चतुरम्



४० भुजङ्गाञ्चितम्



४१ दण्डकरेचितकम्



४२ वृश्चिककुट्टितम्



४३ कटिभ्रान्तम्



४४ लतावृश्चिकम्



४५ छिन्नम्



४६ वृश्चिकरेचितम्



४७ वृश्चिकम्



४८ व्यंसितम्



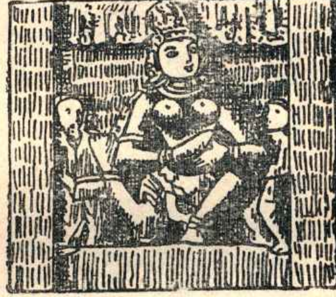
४९ पार्श्वनिकुट्टकम्



५० ललाट तलकम्



५१ क्रान्तकम्



५२ कुञ्चितम्



५३ चक्रमण्डलम्



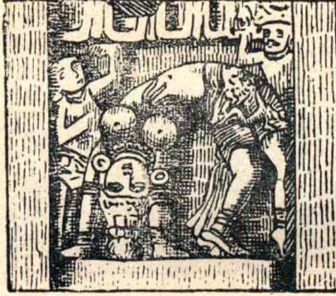
५४ उरोमण्डलिकम्



५५ आक्षिप्तम्



५६ तलविलासितम्



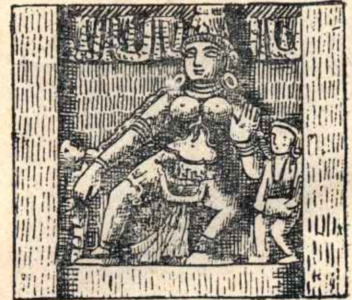
५७ अर्गलम्



५८ विक्षिप्तम्



५९ आवर्तम्



६० डोलापादम्



६१ विवृत्तम्



६२ विनिवृत्तम्



६३ पार्श्वक्रान्तम्



६४ निस्तम्भितम्



६५ विद्युद्भ्रान्तम्



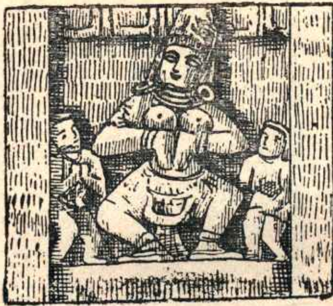
६६ अतिक्रान्तम्



६७ विवर्तितकम्



६८ गजक्रीडितकम्



६९ तलसंस्फोटितम्



७० गरुडप्लुतम्



७१ गण्डसुची



७२ परिवृत्तम्



७३ पार्श्वजानु



७४ गृध्रावलीनकम्



७५ सन्नतम्



७६ सूची



७७ अर्धसूची



७८ सूचीविद्धम्



७९ अपक्रान्तम्



८० मयूरललितम्



८१ सर्पितम्



८२ दण्डपादम्



८३ हरिणप्लुतम्



८४ प्रेङ्खोलितम्



८५ नितम्बम्



८६ स्खलितम्



८७ करिहस्तम्



८८ प्रसर्पितकम्



८९ सिंहविक्रीडितकम्



९० सिंहाकर्षितम्



९१ उद्वृत्तम्



९२ उपसृतकम्



९३ तलसङ्घट्टितम्



९४ जनितम्



९५ अवहित्थकम्



९६ निवेशम्



९७ एलकाक्रीडितम्



९८ ऊरूद्वृत्तम्



९९ मदस्खलितकम्



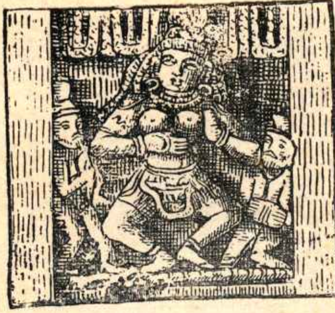
१०० विष्णुक्रान्तम्



१०१ सम्भ्रान्तम्



१०२ विष्कम्भम्



१०३ उद्धट्टितम्



१०४ वृषभक्रीडितम्



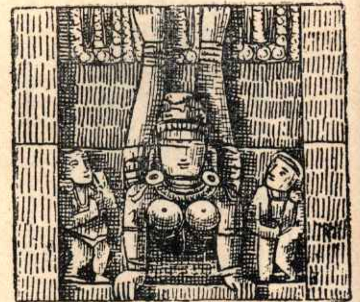
१०५ लोलितम्



१०६ नागापसर्पितम्



१०७ शकटास्यम्



१०८ गङ्गावतरणम्

देने चाहिए, सिर को परिवाहित मुद्रा में[1] और पैरों को वलित रखते हुए आविद्ध चारी में रखना चाहिए ॥ १५९-१६० ॥

करौ प्रलम्बितौ कार्यौ शिरश्च परिवाहितम् ॥ १५९ ॥
पादौ च वलिताविद्धौ मदस्खलितके द्विजाः ।
पुरः प्रसारितः पादः कुञ्चितो गगनोन्मुखः ॥ १६० ॥
करौ च रेचितौ यत्र विष्णुक्रान्तं तदुच्यते ।

(१००) विष्णुक्रान्त—जब एक पैर आगे फैलाया हुआ हो और दूसरा पैर सिकोड़कर आकाश की ओर (ऊपर) ले जाया जाय एवं दोनों हाथों को रेचित मुद्रा में रखा जाये तो उस करण को 'विष्णुक्रान्त' कहा जाता है ॥ १६०-१६१ ॥

करमावर्तितं कृत्वा ह्यूरूपृष्ठे निकुञ्चयेत् ॥ १६१ ॥
ऊरूश्चैव तथाविद्धः सम्भ्रान्तं करणं तु तत् ।

(१०१) सम्भ्रान्त—जब हाथ को आवर्तित[2] करते हुए ऊरू के पृष्ठ भाग पर निकुंचित किया जाए तथा ऊरू आविद्धा[3] चारी में रहे तो उसे 'सम्भ्रान्त' करण कहते हैं ॥ १६१-१६२ ॥

अपविद्धः करः सूच्या पादश्चैव निकुट्टितः ॥ १६२ ॥
वक्षःस्थश्च करो वामो विष्कम्भे करणे भवेत् ।

रहेगे और जंघाओं के ऊपर की ओर घुमाया हुआ रखा जाएगा; ऐसा जाँघ की पेशी के द्वारा ही किया जा सकता है ।

१. सिर को क्रमशः पार्श्वों में घुमाने की संज्ञा परिवाहन है । डा० रघुवंश की व्यख्यानुसार इस करण में घुटने को झुकाए बिना पैर फैलाया जाता है । डा० रघुवंश ने 'गमनोन्मुखी' (जाने के लिए तत्पर) चरण सामने की ओर प्रसारित किया जाता है—ऐसा अनुवाद दिया है । किन्तु इसमें 'कुञ्चितः' पद का अनुवाद छूट जाता है । फिर यहाँ पर गगनोन्मुखः' है 'गमनोन्मुख' नहीं, अतएव अपने अनुवाद में हमने पैर का ऊपर (गगन की ओर) गमन माना है । पुनश्च सामने फैलाए पैर को ऊपर की ओर गतिचरण के कुञ्चन के अभाव में होनी सहज नहीं है । अतः हमने प्रसारित पद के कुंचन के पश्चात् ही उठाए जाने की संभावना व्यक्त की है ।

२. आवर्तित—व्यावर्तित गति को ही यहाँ आवर्तित कहा गया है यह अभिनवगुप्त के कथन से स्पष्ट है—'व्यावर्तितपरिवर्तितकरणेन - - - - ' । अर्थात् हाथ को घुमाते हुए अलपल्लव मुद्रा में उस के पृष्ठ भाग पर रखा जाता है ।

३. आविद्धा—'स्वस्तिकस्याग्रतः पादः कुञ्चितश्च प्रसारितः ।
निपतेदञ्चिताविद्ध आविद्धा नाम सा स्मृता ॥ (ना० शा० १०-३८)

(१०२) विष्कम्भ—विष्कम्भ करण में दाहिना हाथ अपविद्ध मुद्रा में होता है, तथा सूची[1] चारी में स्थित पैर 'निकुट्टित[2]' रहते हैं एवं बायाँ हाथ वक्षःस्थल पर स्थित होता है ॥ १६२-१६३ ॥

पादावुद्घट्टितौ कार्यौ तलसङ्घट्टितौ करौ ॥ १६३ ॥
नतञ्च पार्श्वं कर्तव्यं बुधैरुद्घट्टिते सदा ।

(१०३) उद्घट्टित—ज्ञानी जनों को सर्वदा उद्घट्टितकरण में दोनों पैर उद्घट्टिता मुद्रा[3] में, तथा हाथ तलसंघट्टित मुद्रा[4] में एवं पार्श्व को नत (झुका हुआ) रखना चाहिए ॥ १६३-१६४ ॥

प्रयुज्यालातकं पूर्वं हस्तौ चापि हि रेचयेत् ॥ १६४ ॥
कुञ्चितावञ्चितौ चैव वृषभक्रीडिते सदा ।

(१०४) वृषभक्रीडित—करण में पहले अलात चारी का प्रयोग करके हाथों को रेचित करना चाहिए और फिर दोनों को कुंचित एवं अंचित मुद्रा में रखना चाहिए ॥ १६४-१६५ ॥

रेचितावञ्चितौ हस्तौ लोलितं वर्तितं शिरः ॥ १६५ ॥
उभयोः पार्श्वयोर्यत्र तल्लोलितमुदाहृतम् ।

(१०५) लोलित[5]—जब दोनों अंचित हस्त रेचित मुद्रा में हों तथा मस्तक को

---

१ सूची—अभिनवगुप्त के मत में सूची का अर्थ सूची-मुख हस्तमुद्रा (९·१९२) से है।

२. निकुट्टित—का अर्थ यहाँ झुकाया जाना है। नाट्यशास्त्र में प्रकाशित चित्र से भी पैरों का निकुट्टन स्पष्ट है।

३. उद्घट्टित मुद्रा—

स्थित्वा पादतलाग्रेण पार्ष्णिभूमौ निपात्यते ।
यस्य पादस्य करणे भवेदुद्घट्टितस्तु सः ॥ (९-२६५)

अर्थात् पैर के तलवे के अग्रभाग खड़े पर होकर एड़ी से जमीन को छूने की संज्ञा उद्घट्टित है।

४. तलसंघट्टित—दोनों करतलों के संघट्टन से शब्द उत्पन्न करना (ताली बजाना)।

५. अभिनवगुप्त की व्याख्यानुसार वैष्णव-स्थानक में खड़े रह कर दाहिने रेचित हंसपक्ष हस्त को द्रुतगति से चलाते हैं व बायें अलपल्लव हस्त को वक्ष पर रखते हैं।

डा० रघुवंश ने ध्यान दिलाया है कि कि गा० ओ० सी० के रेखा-चित्र में इस करण के महत्त्वपूर्ण अंग वैष्णव-स्थान का अंकन नहीं हुआ है तथा हाथ स्वस्तिक चेष्टा का है।

लोलित मुद्रा में दोनों पार्श्वों में घुमाया जाए तों उसे 'लोलित' करण कहते हैं ॥ १६५-१६६ ॥

स्वास्तिकापसृतौ पादौ शिरश्च परिवाहितम् ॥ १६६ ॥
रेचितौ च तथा हस्तौ स्यातां नागापसर्पिते ।

(१०६) नागापसर्पित—दोनों पैर स्वस्तिक स्थिति में पीछे की ओर हटाए जाएं, सिर परिवाहित मुद्रा में हो तथा हाथ रेचित रहें तो उसे 'नागपसर्पित'करण कहा जाता है[1] ॥ १६६-१६७ ॥

निषण्णाङ्गस्तु चरणं प्रसार्य तलसञ्चरम् ॥ १६७ ॥
उद्वाहितमुरः कृत्वा शकटास्यं प्रयोजयेत् ।

(१०७) शकटास्य[2]—शरीर को स्थिर रखते हुए यदि पैर को तलसंचर मुद्रा में फैलाया जाए तथा वक्षःस्थल को उद्‌वाहित (उठी हुई) स्थिति में रखा जाए तो उसे 'शकटास्य' करण कहा जाता है ॥ १६७-१६८ ॥

ऊर्ध्वाङ्गुलितलौ पादौ त्रिपताकावधोमुखौ ॥ १६८ ॥
हस्तौ शिरस्सन्नतं च गङ्गावतरणं त्विति ।

(१०८) गंगावतरण—यदि दोनों पैरों के तलवे और अंगुलियाँ ऊपर की ओर उठी दशा में रखे जाएं, त्रिपताका मुद्रा में स्थित दोनों हाथों की हथेलियाँ अधोमुख हो एवं सिर 'सन्नत' मुद्रा[3] में हो तो उसे 'गंगावतरण' कहा जाता है ॥१६८-१६९॥

(निम्न चार श्लोक कुछ प्रतियों में नहीं है और अभिनव ने व्याख्या भी नहीं की है अतः श्री घोष ने इसका अनुवाद नहीं किया ।)

---

१. अभिनवगुप्त की दृष्टि से इस करण का नाम नागापसर्पित इस कारण है कि इसमें कुटिल गति होती है हाथ सिर को क्रमशः पार्श्व में घुमाया जाता है—परिवाहितं पर्यायशः पार्श्वगतं कुटिलगतियोगान्नागापसर्पितम् ।

२. शकटास्य चारी—

निषण्णाङ्गस्तु चरणं प्रसार्य तलसंचरम् ।
उद्वाहितमुरः कृत्वा शकटास्यां प्रयोजयेत् ॥ (१०-१६)

अर्थात् पैरों को तलसंचर रूपेण आगे फैलाया जाता है एवं वक्ष उद्वाहित (उठा हुआ) रहता है ।

३. सिर को सन्नत रखने का तात्पर्य यह हो सकता है कि कमर बिल्कुल मुड़ जाए ।

करणों का उपसंहार—

यानि स्थानानि याश्चार्यो व्यायामे कथितानि तु ॥ १६९ ॥
पादप्रचारस्त्वेषां तु करणानामयं भवेत् ।

(नृत्तरूपी) व्यायाम[1] में जिन स्थानों[2] तथा चारियों[3] का वर्णन किया गया है, उन करणों का यह पाद प्रचार[4] है ॥ १६९-१७० ॥

करणों में नृत्तहस्तों की प्रयोग-विधि—

ये चापि नृत्तहस्तास्तु गदिता नृत्तकर्मणि ॥ १७० ॥
तेषां समासतो योगः करणेषु विभाव्यते ।

नृत्त प्रक्रिया में नृत्त हस्तों का जो उल्लेख किया गया है, करणों में उनका संश्लिष्टतया प्रयोग किया जाता है ॥ १७०-१७१ ॥

सभी करणों की सामान्य मुद्रा—

प्रायेण करणे कार्यो वामो वक्षःस्थितः करः ॥ १७१ ॥
चरणश्चानुगश्चापि दक्षिणस्तु भवेत्करः ।

करण में प्रायः बायाँ हाथ वक्षःस्थल पर रखना चाहिए और दाहिने हाथ को चरण की गति के अनुकूल रखना चाहिये ॥ १७१-१७२ ॥

मातृका लक्षण—

चार्यश्चैव तु याः प्रोक्ता नृत्तहस्तास्तथैव च ॥ १७२ ॥
सा मातृकेति विज्ञेया तद्भेदात्करणानि तु ।

जो चारियाँ तथा नृत्तहस्त बतलाये गये हैं उन्हीं को मातृका जानना चाहिए और उसी के भेद से करणों का ज्ञान करना चाहिए ॥ १७२-१७३ ॥

अङ्गहारों का उपक्रम—

अष्टोत्तरशतं ह्येतत्करणानां मयोदितम् ॥ १७३ ॥
अतः परं प्रवक्ष्यामि ह्यङ्गहारविकल्पनम् ।

मैंने इन एक सौ आठ करणों को बताया है। अब इसके बाद में अंगहारों के लक्षण बतलाऊँगा ॥ १७३-१७४ ॥

---

१. नृत्त को व्यायाम कहा गया है क्योंकि यह पूर्णतः अङ्गों के संचालन पर निर्भर होता है।

२. स्थान—खड़े होने की स्थिति।

३. चारी—पैरों के संचालन की प्रक्रिया।

४. पादप्रचार—पैर को उठाने एवं रखने की विधि।

प्रसार्योत्क्षिप्य च करौ समपादं प्रयोजयेत् ॥ १७४ ॥
व्यंसितापसृतं सव्यं हस्तमूर्ध्वं प्रसारयेत् ।
प्रत्यालीढं ततः कुर्यात् तथैव च निकुट्टकम् ॥ १७५ ॥
ऊरूद्वृत्तं ततः कुर्यादाक्षिप्तं स्वस्तिकं ततः ।
नितम्बं करिहस्तं च कटिच्छिन्नं च योगतः ॥ १७६ ॥
स्थिरहस्तो भवेदेष त्वङ्गहारो हरप्रियः ।

(१) स्थिर हस्त[1]—दोनों हाथों को प्रसारित करके ऊपर उठाकर समपाद[2] का प्रयोग करना चाहिए । दाहिने हाथ को ऊपर की ओर व्यंसित दशा में प्रसारित करें[3] फिर प्रत्यालीढ स्थान[4] नामक चेष्टा में खड़े रहकर क्रमशः निकुट्टक, ऊरुद्वृत्त, आक्षिप्त, स्वस्तिक, नितम्ब, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का प्रदर्शन करे तो शम्भु को प्रिय लगने वाला स्थिरहस्त नामक अंगहार बन जाता है ॥ १७४-१७७ ॥

तलपुष्पापविद्धे द्वे वर्तितं सनिकुट्टकम् ॥ १७७ ॥
ऊरूद्वृत्तं तथाक्षिप्तमुरोमण्डलमेव च ।
नितम्बं करिहस्तं च कटिच्छिन्नं तथैव च ॥ १७८ ॥
एष पर्यस्तको नाम ह्यङ्गहारो हरोद्भवः ।

---

१. अभिनवगुप्त के मत में इस अंगहार के प्रारम्भ में लीन नामक करण (४·६६) किया जाता है ।

२. समपाद—यह स्थान अर्थात् खड़े होने की स्थिति-विशेष का परिचायक है ।

३. व्यंसितापसृत—श्री घोष के अनुवाद में इसका अर्थ किया गया है—'कंधे के समतल फैलाया हुआ ।' डा० रघुवंश ने भी इसका यही अर्थ दिया है (दाहिने हाथ को कन्धों के स्तर से ऊपर की ओर फैलाया जाता है ।)

अभिनवगुप्त के अनुसार इसका तात्पर्य व्यंसित करण की स्थिति से फैलाये हुए दोनों हाथों से है ।

४. प्रत्यालीढ स्थानक—

कुञ्चितं दक्षिणं कृत्वा वामं पादं प्रसार्य च ।
आलीढपरिवर्तस्तु प्रत्यालीढमिति स्मृतम् ॥ (१०-७०-७१)

यह अभिनवगुप्त की उक्ति है, जिसके अनुसार प्रत्यालीढस्थानक के परिवर्तन से निष्पन्न होता है ।

(२) पर्यस्तक[1]—यदि पहले तलपुष्पपुट तथा अपविद्ध करणों का प्रयोग किया जाए, फिर वर्तित तथा निकुट्टक करणों का प्रयोग किया जाए, तत्पश्चात् उरुद्-वृत्त, आक्षिप्त तथा उरोमण्डल एवं नितम्ब, करिहस्त और कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाए तो शिव से उत्पन्न पर्यस्तक नामक अंगहार सिद्ध होता है ॥ १७७-१७९ ॥

अलपल्लवसूचीं च कृत्वा विक्षिप्तमेव च ॥ १७९ ॥
आवर्तितं ततः कुर्यात्तथैव च निकुट्टकम् ।
ऊरूद्वृत्तं तथाक्षिप्तमुरोमण्डलमेव च ॥ १८० ॥
करिहस्तं कटिच्छिन्नं सूचीविद्धो भवेदयम् ।

(३) सूचीविद्ध—जब हाथ अलपल्लव मुद्रा में तथा पैर सूची (मुख) मुद्रा हो तथा क्रमशः विक्षिप्त, आवर्तित[2], निकुट्टक, उरुद्वृत्त, आक्षिप्त, उरोमण्डल, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाए तो' सूचीविद्ध' अंगहार माना जाता है ॥ १७९-१८१ ॥

अपविद्धं तु करणं सूचीविद्धं तथैव च ॥ १८१ ॥
उद्वेष्टितेन हस्तेन त्रिकं परिवर्तयेत् ।
उरोमण्डलकौ हस्तौ कटिच्छिन्नं तथैव च ॥ १८२ ॥
अपविद्धोऽङ्गहारश्च विज्ञेयोऽयं प्रयोक्तृभिः ।

(४) अपविद्ध—सर्वप्रथम अपविद्ध तथा सूचीविद्ध करणों का प्रयोग करके फिर हाथ को उद्वेष्टित[3] रखते हुए त्रिक को घुमाना चाहिए । तत्पश्चात् उरोमण्डल करण के अनुरूप हाथ रख कर कटिच्छिन्न करण का प्रयोग करना चाहिए । प्रयोक्ताओं को इस प्रकार के अङ्गहार का नाम अपविद्ध जानना चाहिए ॥ १८१-१८३ ॥

करणं नूपुरं कृत्वा विक्षिप्तालातके पुनः ॥ १८३ ॥
पुनराक्षिप्तकं कुर्यादुरोमण्डलकं तथा ।

---

१. अभिनवगुप्त का विचार है कि इस अंगहार में प्रत्यालीढ नामक स्थान का प्रयोग होता है । इसमें दस करणों का उपयोग किया जाता है, जैसा कि अभिनव-भारती में भी उल्लिखित है—'' - - -एतेन करणदशकेन पर्यस्तकः ।''

२. अभिनव के अनुसार ना० शा० (४-१२०) में ''प्रसार्य कुञ्चितं पादं - - - -'' आदि द्वारा जिस आवर्त करण का लक्षण दिया गया है आवर्तित शब्द से उसी आवर्त करण का बोध कराया गया है ।

३. उद्वेष्टित—हस्तमुद्रा का प्रकार है । अभिनवगुप्त ने इसे उद्वेष्टित करण (ना० शा० ९-२१६) माना है ।

नितम्बं करिहस्तं च कटिच्छिन्नं तथैव च ॥ १८४ ॥
आक्षिप्तकः स विज्ञेयो ह्यङ्गहारः प्रयोक्तृभिः ।

(५) आक्षिप्तक—यदि सर्वप्रथम नूपुर करण का प्रयोग किया जाए, फिर विक्षिप्त, अलातक, आक्षिप्त, उरोमण्डल, नितम्ब, करिहस्त, तथा कटिच्छिन्न करणों का क्रमशः प्रयोग किया जाए तो उस अङ्गहार को प्रयोक्ताओं द्वारा 'आक्षिप्तक' संज्ञक जानना चाहिये[1] ॥ १८३-१८५ ॥

उद्वेष्टितापविद्धस्तु करः पादो निकुट्टितः ॥ १८५ ॥
पुनस्तेनैव योगेन वामपार्श्वे भवेदथ ।
उरोमण्डलकौ हस्तौ नितम्बं करिहस्तकम् ॥ १८६ ॥
कर्तव्यं सकटिच्छिन्नं नृत्ते तूद्घट्टिते सदा ।

(६) उद्घट्टित—दाहिना हाथ उद्वेष्टित[2] और अपविद्ध मुद्रा में हो और दाहिना पैर निकुट्टित रहे, तथा पुनः इसी रूप में बाये पार्श्व में किया जाए[3]। उरोमण्डलकरण के अनुकूल दशा में हाथ रखते हुए, क्रमशः नितम्ब, करिहस्त एवं कटिच्छिन्न करणों का प्रदर्शन करना उद्घट्टित अङ्गहार कहा जाता है ॥ १८५-१८७ ॥

पर्यायोद्वेष्टितौ हस्तौ पादौ चैव निकुट्टितौ ॥ १८७ ॥
कुञ्चितावञ्चितौ चैव ह्यूरूद्वृत्तं तथैव च ।
चतुरश्रं करं कृत्वा पादेन च निकुट्टकम् ॥ १८८ ॥
भुजङ्गत्रासितं चैव करं चोद्वेष्टितं पुनः ।
परिच्छिन्नं च कर्तव्यं त्रिकं भ्रमरकेण तु ॥ १८९ ॥
करिहस्तं कटिच्छिन्नं विष्कम्भे परिकीर्तितम् ।

(७) विष्कम्भ—विष्कम्भ अङ्गहार में हाथों को क्रम से उद्वेष्टित एवं पैरों को निकुट्टित रखते हुए इसी क्रम से हाथों को कुंचित (सिकोड़ा) और पैरों को अंचित[4] (घुमाया) जाए, फिर ऊरुद्वृत्त करण का प्रयोग करते हुए हाथों को चतुरस्र

---

१. अभिनवगुप्त का विचार है कि जहाँ कहीं पुनर्ग्रहण हुआ है वहाँ प्रयोग को दोहराने की भी सम्भावना है (यत्र यत्र पुनर्ग्रहणं तत्र तत्र केचित् द्वियोगमाहुः ।)

२-३ दाहिने पार्श्व में की जाने वाली सम्पूर्ण प्रक्रिया बायें पार्श्व में भी की जानी चाहिए। तदनुसार बायें पार्श्व में बायां हाथ उद्वेष्टित तथा अपविद्ध मुद्रा में रहेगा और बायाँ पैर निकुट्टित किया जाएगा।

४. अभिनवगुप्त के मतानुसार हाथों तथा पैरों के कुञ्चन के साथ अंचित करण का प्रयोग दोनों पार्श्वों से क्रमशः किया जाता है—

करके पैरों से निकुट्टक करण का प्रयोग करना चाहिए इसके बाद भुजङ्गत्रासित करण का प्रयोग करके हाथों को उद्वेष्टित मुद्रा में रखना चाहिए। फिर भ्रमर करण के प्रयोग के साथ त्रिक को वलित करना चाहिए और करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को प्रदर्शित करना चाहिए ॥ १८७-१९० ॥

दण्डपादं करं चैव विक्षिप्याक्षिप्य चैव हि ॥ १९० ॥
व्यंसितं वामहस्तं च सह पादेन सर्पयेत्।
निकुट्टकद्वयं कार्यमाक्षिप्तं मण्डलोरसि ॥ १९१ ॥
करिहस्तं कटिच्छिन्नं कर्तव्यमपराजिते।

(८) अपराजित—जब दण्डपाद करण के प्रयोग के बाद हाथों को विक्षिप्त (बाहर फेंका) एवं (आक्षिप्त शरीर की ओर वापिस लाया जाए) किया जाए, फिर व्यंसित करण का प्रयोग करते हुए बायें हाथ को पैर के अनुरूप गतिशील रखे[1], और फिर दोनों निकुट्टकों (निकुट्टक तथा अर्धकुट्टक) को प्रयुक्त करने के साथ साथ आक्षिप्त, उरोमण्डल एवं तत्पश्चात् करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का क्रमशः प्रयोग किया जाए तो उस 'अपराजित' अङ्गहार मानना चाहिए ॥ १९०-१९२ ॥

कुट्टितं करणं कृत्वा भुजङ्गत्रासितं तथा ॥ १९२ ॥
रेचितेन तु हस्तेन पताकं हस्तमादिशेत्।

"तेन कुञ्चितस्य करणस्याञ्चितस्य चाङ्गद्वयपर्यायेण प्रयोज्यत्वम्।"

श्री घोष ने इसमें छिन्न एवं भ्रमरक करणों का प्रयोग माना है। किन्तु अभिनवभारती के अनुसार भ्रमरक करण के प्रयोग में त्रिक छिन्न (वलित) की जाती है (छिन्नत्रिकं कुर्यात्) छिन्न करण का प्रयोग नहीं होता। यही कारण है कि हमने भी छिन्न करण की उपस्थिति नहीं मानी।

१. अभिनवगुप्त के अनुसार यहाँ प्रसर्पित करण—ना०शा० (४-१४८-४९) के अनुसार किया जाता है। (हस्तपाद का संचालन) प्रसर्पित करण का लक्षण निम्नलिखितहै—

एकस्तु रेचितो हस्तः लताख्यश्च तथापरः।
प्रसर्पित तलौ पादौ प्रसर्पितकमेव तत् ॥ (४-१४८-१४९)

किन्तु डा० रघुवंश का विचार है कि सर्पित स्वयं भी एक करण है (सं०८१) और उसके प्रयोग का संदर्भ भी यहाँ हो सकता है। इस भाँति डा० रघुवंश ने इसका अर्थ किया है कि बायें पैर के साथ बायाँ हाथ सर्पितरूप में संचालित होता है।

आक्षिप्तकं प्रयुञ्जीत ह्युरोमण्डलकं तथा ॥ १९३ ॥
लताख्यं सकटिच्छिन्नं विष्कम्भापसृते भवेत् ।

(९) विष्कम्भापसृत—जब कुट्टित और भुजङ्गत्रासित करणों का प्रयोग करने के साथ रेचित हस्त[१] पताका मुद्रा में हो और फिर क्रमशः आक्षिप्तक व उरोमण्डल करणों का तथा कटिच्छिन्न करण के साथ लता-हस्त का प्रयोग किया जाए तो 'विष्कम्भापसृत' अङ्गहार कहा जाता है ॥ १९४-१९६ ॥

त्रिकं सुवलितं कृत्वा नूपुरं करणं तथा ॥ १९४ ॥
भुजङ्गत्रासितं सव्यं तथा वैशाखरेचितम् ।
आक्षिप्तकं ततः कृत्वा परिच्छिन्नं तथैव च ॥ १९५ ॥
बाह्यभ्रमरकं कुर्यादुरोमण्डलमेव च ।
नितम्बं करिहस्तं च कटिच्छिन्नं तथैव च ॥ १९६ ॥
मत्ताक्रीडो भवेदेष ह्यङ्गहारो हरप्रियः ।

(१०) मत्ताक्रीड—यदि त्रिक को सुन्दरता से वलित करते हुए नूपुर करण का प्रदर्शन दिया जाए, फिर भुजङ्गत्रासित तथा वैशाखरेचित करण प्रयुक्त किए जाएं। इसके बाद क्रमशः आक्षिप्त, छिन्न, बाह्य भ्रमरक[२], उरोमण्डल, नितम्ब, करिहस्त तथा कटिछिन्न करणों का प्रयोग किया जाए तो शिव जी का प्रिय 'मत्ताक्रीड' नामक अङ्गहार कहा जाता है ॥ १९४-१९७ ॥

रेचितं हस्तपादं च कृत्वा वृश्चिकमेव च ॥ १९७ ॥
पुनस्तेनैव योगेन वृश्चिकं सम्प्रयोजयेत् ।
निकुट्टकं तथा चैव सव्यासव्यकृतं क्रमात् ॥ १९८ ॥
लताख्यः सकटिच्छेदो भवेत्स्वस्तिकरेचिते ।

---

१. अभिनवभारती के व्याख्यानुसार भुजङ्गत्रस्तरेचित करण के लक्षण—
भुजङ्गत्रासितं कृत्वा यत्रोभावपि रेचितौ ।
वामपार्श्वस्थितौ हस्तौ भुजङ्गत्रस्तरेचितम् ॥ (४-९६)
में जिस रेचित का उल्लेख हुआ है वही यहाँ अभिप्रेत है ।

२. श्री घोष के अनुवाद के अनुसार बाह्यभ्रमरक करण का यहाँ प्रयोग होता है, यद्यपि इस नाम के किसी करण का उल्लेख नहीं हुआ है । अभिनव के अनुसार यह वामभ्रमरकम् है (बाह्यभ्रमरकमिति वामभ्रमरकम्) जिसका यह अर्थ है कि भ्रमरक करण का वायें अङ्ग से प्रयोग किया जाए ।

इस भाँति बाह्यभ्रमरक करण, भ्रमरक का ही एक रूप मात्र कहा जा सकता है ।

(११) स्वस्तिक रेचित—यदि हाथ पैर को रेचित मुद्रा में रखकर वृश्चिक करण का प्रयोग किया जाए और फिर उन्हीं हाथ, पैरों से वृश्चिक करण का प्रयोग किया जाए एवं फिर क्रमशः दाहिने व बायें दोनों अंगों से निकुट्टक-करण का प्रयोग किया जाए एवं अन्ततः लता के साथ कटिच्छेद करण का प्रयोग किया जाए तो 'स्वस्तिक-रेचित' अङ्गहार सिद्ध होता है ॥ १९७-१९९ ॥

पार्श्वे तु स्वस्तिकं बध्द्वा कार्यं त्वर्धनिकुट्टकम् ॥ १९९ ॥
द्वितीयस्य च पार्श्वस्य विधिः स्यादयमेव हि ।
ततश्च करमावर्त्य ह्यरुपृष्ठे निपातयेत् ॥ २०० ॥
ऊरूद्वृत्तं ततः कुर्यादाक्षिप्तं पुनरेव हि ।
नितम्बं करिहस्तं च कटिच्छिन्नं तथैव च ॥ २०१ ॥
पार्श्वस्वस्तिक इत्येष ह्यङ्गहारः प्रकीर्तितः ।

(१२) पार्श्व स्वस्तिक—जिस अङ्गहार में चरणों को स्वस्तिक मुद्रा में पार्श्व में रखा जाए और उसी प्रकार अङ्ग से निकुट्टक करण का प्रयोग किया जाए व फिर दूसरे पार्श्व में उसी की आवृत्ति की जाए तथा हाथ को आवर्तित करके कटि प्रदेश पर स्थापित किया जाए एवं क्रम से ऊरुद्वृत्त, आक्षिप्त, नितम्ब, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाए तो उसे 'पार्श्वस्वस्तिक' अङ्गहार कहते हैं ॥ १९९-२०२ ॥

वृश्चिकं करणं कृत्वा लताख्यं हस्तमेव च ॥ २०२ ॥
तमेव च करं भूयो नासाग्रे सन्निकुञ्चयेत् ।
तमेवोद्वेष्टितं कृत्वा नितम्बं परिवर्तयेत् ॥ २०३ ॥
करिहस्तं कटिच्छिन्नं वृश्चिकापसृते भवेत् ।

(१३) वृश्चिकापसृत—यदि वृश्चिक करण का प्रयोग करके लता मुद्रा में स्थित हाथ को [नासिक के अग्रभाग पर झुका कर रखे तत्पश्चात् उसी हाथ को] उद्वेष्टित मुद्रा[1] में रखते हुए नितम्ब को गतिशील करे[2] फिर क्रमशः करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग करे तो उसे 'वृश्चिकापसृत' करण कहते हैं ॥ २०४-२०६ ॥

---

१. उद्वेष्टित मुद्रा से यहाँ हाथ की चक्राकार गति का तात्पर्य है ।

२. नितम्ब की गतिशीलता के विषय में अभिनवगुप्त का मत नितम्ब नामक करण का प्रयोग है जैसा कि उन्होंने लिखा है—'नितम्बादित्रयं पूर्ववत्' अर्थात् नितम्ब करिहस्त तथा कटिच्छिन्न ये तीन पूर्ववत् (पार्श्वस्वस्तिक अङ्गहार के समान) करना चाहिए ।

कृत्वा नूपुरपादं तु तथाक्षिप्तकमेव च ॥ २०४ ॥
परिच्छिन्नं च कर्तव्यं सूचीपादं तथैव च ।
नितम्बं करिहस्तं चाप्युरोमण्डलकं तथा ॥ २०५ ॥
कटिच्छिन्नं ततश्चैव भ्रमरः स तु संज्ञितः ।

(१४) भ्रमर—जब नूपुरपाद चारी के पश्चात् आक्षिप्तक, छिन्न[1], सूचीपाद, नितम्ब, करिहस्त, उरोमण्डल और कटिच्छिन्न करणों का इसी क्रम से प्रयोग किया जाए तो उसे 'भ्रमर' नामक अङ्गहार कहा जाता है ॥ २०४-२०६ ॥

मत्तल्लिकरणं कृत्वा करमावर्त्य दक्षिणम् ॥ २०६ ॥
कपोलस्य प्रदेशे तु कार्यं सम्यङ्निकुञ्चितम् ।
अपविद्धं द्रुतं चैव तलसंस्फोटसंयुतम् ॥ २०७ ॥
करिहस्तं कटिच्छिन्नं मत्तस्खलितके भवेत् ।

(१५) मत्तस्खलित—यदि मत्तल्लिकरण[2] का प्रयोग करके दाहिने हाथ को गोल घुमाकर गाल पर अच्छी तरह निकुञ्चित किया जाए[3] और फिर अपविद्ध करण के बाद फौरन ही तलसंस्फोटित एवं अन्त में करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाए तो वह 'मत्तस्खलित' अङ्गहार कहा जाता है ॥ २०६-२०८ ॥

दोलैः करैः प्रचलितैः स्वस्तिकापसृतैः पदैः ॥ २०८ ॥
अञ्चितैर्वलितैर्हस्तैस्तलसङ्घट्टितैस्तथा ।

---

१. अभिनवगुप्त ने यहाँ छिन्न करण की उपस्थिति मानी है। किन्तु श्री घोष ने इसके स्थान पर कटिच्छिन्न करण का होना माना है। श्री घोष का विचार इसलिए उपयुक्त नहीं प्रतीत होता कि आगे फिर कटिच्छिन्न करण का निर्देश दिया गया है। अतः छिन्न करण को मान्यता देने वाली अभिनव की धारणा का ही हमने समर्थन किया है।

२. अभिनवगुप्त के मत में मत्तल्लि-करण [ना० शा० ४-८८] का लक्षण है—

वामदक्षिणपादाभ्यां घूर्णमानोपसर्पणे ।
उद्वेष्टितापविद्धैश्च हस्तैर्मत्तल्लयुदाहृतम् ॥ (४.८७-८८)

मत्तस्खलित अङ्गहार में इस मत्तल्लिकरण का प्रयोग बायें व दाहिने दोनों पैरों से शुरू किया जाता है।

३. अभिनवगुप्त के अनुसार 'कपोलस्य' पद से गण्डसूची (ना० शा० ४-१३२) करण के तथा सम्यक् निकुञ्चन से लीन (ना० शा० ४-६६) करणों के प्रयोग का संकेत किया गया है।

निकुट्टितं च कर्तव्यमूरूद्वृत्तं तथैव च ॥ २०९ ॥
करिहस्तं कटिच्छिन्नं मदाद्विलसिते भवेत् ।

(१६) मदविलसित—जब गतियुक्त दोनों हाथ दोला मुद्रा में हों एवं पैरों को स्वस्तिक चेष्टा में फैलाया जाए तथा हाथों को अञ्चित, वलित एवं तलसंघट्टित किया जाए और इसके बाद क्रमशः निकुट्टित, ऊरुद्वृत्त, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को प्रयुक्त किया जाय तो 'मदविलसित' अङ्गहार सम्पन्न होता है[1] ॥ २०८-२१० ॥

मण्डलं स्थानकं कृत्वा तथा हस्तौ च रेचितौ ॥ २१० ॥
उद्घट्टितेन पादेन मत्तल्लिकरणं भवेत् ।
आक्षिप्तं करणं चैव ह्युरोमण्डलमेव च ॥ २११ ॥
कटिच्छिन्नं तथा चैव भवेत्तु गतिमण्डले ।

(१७) गतिमण्डल—जब मण्डल स्थानक का प्रयोग करके हाथों को रेचित मुद्रा एवं पैरों को उद्घट्टित प्रक्रिया में स्थित किया जाए और फिर क्रमशः मत्तल्लि, आक्षिप्त, उरोमण्डल तथा कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाए तो उस अङ्गहार को 'गतिमण्डल' कहा जाता है ॥ २१०-२१२ ॥

समपादं प्रयुज्याथ परिच्छिन्नं त्वनन्तरम् ॥ २१२ ॥
आविद्धेन तु पादेन बाह्यभ्रमरकं तथा ।
वामसूच्या त्वतिक्रान्तं भुजङ्गत्रासितं तथा ॥ २१३ ॥
करिहस्तं कटिच्छिन्नं परिच्छिन्ने विधीयते ।

(१८) परिच्छिन्न—पहले समपाद[2] स्थान का प्रयोग कर बाद में फिर

---

१. अभिनवभारती में इस बात का उल्लेख किया गया है कि आरम्भ के वलितादि तीन करणों का तीन बार प्रयोग करके तब निकुट्टित आदि चार करणों का प्रयोग करने का विधान कुछ आचार्यों ने किया है। इस प्रकार उन आचार्यों के अनुसार इस अङ्गहार में तेरह करण होते हैं। कुछ अन्य आचार्यों के विचारानुसार सम्पूर्ण सातों करण तीन बार प्रयुक्त होते हैं और इस भाँति कुल इक्कीस करण 'मदविलसित' अङ्गहार में होते हैं।

२. समपाद—अभिनवगुप्त ने इसे "श्लिष्टौ समनखौ पादौ" आदि लक्षणसम्पन्न समनख करण (ना० शा० ४-६५) के रूप में माना है और प्रत्येक चारी, हस्त-मुद्रा तथा स्थानक आदि आदि संकेतों की करण संदर्भ में ही व्याख्या की है।

श्री घोष ने इसे स्थान (खड़े होने की मुद्रा) माना है।

डा० रघुवंश ने भी अपने अनुवाद में 'समपाद स्थान (खड़े होने की चेष्टा)' इस अर्थ को मान्यता दी है।

परिच्छिन्न करण का प्रयोग किया जाए, फिर आविद्ध पैर से बाह्यभ्रमरक करण का तथा बायें पैर से सूची चारी के द्वारा अर्धसूची करण का और तदनन्तर क्रमशः अतिक्रान्त, भुजङ्गत्रासित, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाए, तो उस अङ्गहार की संज्ञा 'परिच्छिन्न' होती है ॥ २१२-२१४ ॥

शिरसस्तूपरि स्थाप्यौ स्वस्तिकौ विच्युतौ करौ ॥ २१४ ॥
ततः सव्यं करं चापि गात्रमानम्य रेचयेत् ।
पुनरुत्थापयेत्तत्र गात्रमुन्नम्य रेचितम् ॥ २१५ ॥
लताख्यौ च करौ कृत्वा वृश्चिकं सम्प्रयोजयेत् ।
रेचितं करिहस्तं च भुजङ्गत्रासितं तथा ॥ २१६ ॥
आक्षिप्तकं प्रयुञ्जीत स्वस्तिकं पादमेव च ।
पराङ्मुखविधिर्भूय एवमेव भवेदिह ॥ २१७ ॥
करिहस्तं कटिच्छिन्नं परिवृत्तकरेचिते ।

(१९) परिवृत्तक-रेचित–परिवृतक रेचित अङ्गहार में सर्वप्रथम दोनों हाथों को ढीले रखते हुए स्वस्तिक मुद्रा में मस्तक पर रखना चाहिए[1]। तत्पश्चात् शरीर को झुकाकर दाहिने हाथ को रेचित करना चाहिए। फिर रेचित हाथ को उठा कर शरीर को भी उन्नत कर लेना चाहिए। इसके बाद हाथों को लता-मुद्रा में रखकर क्रमशः वृश्चिक, रेचित करिहस्त, भुजङ्गत्रासित और आक्षिप्तक करणों का प्रयोग करके पैरों को स्वस्तिक मुद्रा में रखते हुए पराङ्मुख हो कर उपर्युक्त सभी करणों की पुनरावृत्ति करनी चाहिए। सबसे अन्त में करिहस्त एवं कटि-च्छिन्न करणों का प्रयोग करना चाहिए ॥ २१४-२१८ ॥

रेचितौ सह गात्रेण ह्यपविद्धौ करौ यदा ॥ २१८ ॥
पुनस्तेनैव देशेन गात्रमुन्नम्य रेचयेत् ।
कुर्यान्नूपुरपादं च भुजङ्गत्रासितं तथा ॥ २१९ ॥
रेचितं मण्डलं चैव बाहुशीर्षे निकुञ्चयेत् ।
ऊरूद्वृत्तं तथाक्षिप्तमुरोमण्डलमेव च ॥ २२० ॥
करिहस्तं कटिच्छिन्नं कुर्याद्वैशाख-रेचिते ।

(२०) वैशाखरेचित—जब शरीर के साथ दोनों हाथ रेचित करके अपविद्ध मुद्रा में रखे जाएं, फिर शरीर को दूसरी तरफ उन्नत करके उसी प्रक्रिया की

१. स्वस्तिकौ विच्युतौ करौ--श्री घोष के अनुसार तो इसका केवल यही तात्पर्य है कि सिर के उपर हाथों की ढीली सी स्वस्तिक मुद्रा रहे। परन्तु अभिनव-गुप्त यहाँ नितम्ब (४-१४६) एवं स्वस्तिक रेचित करण (४-६७) का सकेत मानते हैं।

पुनरावृत्ति की जाए और नूपुर तथा भुजङ्गत्रासित, तत्पश्चात् रेचित[1] और मण्डल करणों[2] का प्रयोग किया जाए और कन्धों को सिकोड़ लिया जाए और फिर ऊरुद्वृत्त, आक्षिप्तक, उरोमण्डल, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को प्रदर्शित किया जाए तो उसे 'वैशाखरेचित' नामक अङ्गहार कहा जाता है ॥ २१८-२२१ ॥

आद्यं तु जनितं कृत्वा पादमेकं प्रसारयेत् ॥ २२१ ॥
तथैवालातकं कुर्यात् त्रिकं तु परिवर्तयेत् ।
अञ्चितं वामहस्तं च गण्डदेशे निकुट्टयेत् ॥ २२२ ॥
कटिच्छिन्नं तथा चैव परावृत्ते प्रयोजयेत् ।

(२१) परावृत्त—सबसे पहले जनित करण[3] का प्रयोग करके एक पैर को आगे प्रसारित किया जाए; फिर अलात करण निष्पन्न करते हुए त्रिक को [भ्रमरी चारी में] घुमाया जाए; साथ ही बाएँ हाथ को अंचित मुद्रा में कपोल प्रदेश पर निकुट्टत किया जाए और अन्त में कटिच्छिन्न करण का प्रयोग किया जाए तो उसे 'परावृत्त' अङ्गहार कहते हैं ॥ २२१-२२३ ॥

स्वस्तिकं करणं कृत्वा व्यंसितौ च करौ पुनः ॥ २२३ ॥
अलातकं प्रयुञ्जीत ह्यूर्ध्वजानु निकुञ्चितम् ।
अर्धसूची च विक्षिप्तमुद्वृत्ताक्षिप्तके तथा ॥ २२४ ॥
करिहस्तं कटिच्छिन्नमङ्गहारे ह्यलातके ।

(२२) अलातक—यदि स्वस्तिक करण के प्रयोग के बाद दोनों हाथों को व्यंसित[4] रखे और फिर क्रम से अलातक: ऊर्ध्वजानु, निकुञ्चित अर्धसूची, विक्षिप्त,

---

१. अभिनवगुप्त के अनुसार रेचित से यहाँ उन्मत्त करण का संकेत है–(रेचितमित्युन्मत्तकरणम्) । उन्मत्त करण का लक्षण ना० शा० ५-७५ में प्राप्त होता है ।

२. अभिनवगुप्त ने मण्डल से मण्डल-स्वस्तिक करण का तात्पर्य लिया है–(मण्डलमिति मण्डलस्वस्तिकम्) । मण्डल-स्वस्तिक करण का लक्षण ना० शा० ८-६८ में प्राप्त होता है ।

३. अभिनवगुप्त के मत में 'आदय' शब्द से दक्षिण अङ्ग द्वारा जनितकरण के प्रयोग का तात्पर्य है—आद्यशब्दो दक्षिणाङ्गप्रयोज्यत्वमस्याह ।

४. अभिनवगुप्त के विचार में यहाँ व्यंसित करण का दुहरा प्रयोग अपेक्षित है क्योंकि "व्यंसितौ" में द्विवचन प्रयुक्त हुआ है–(व्यंसितौ चेति द्विवचनेन पुनश्शब्दे स्वस्तिकव्यवधानेन व्यंसितस्य द्विप्रयोगमाह) । परन्तु डा० रघुवंश की व्याख्यानुसार दोनों हाथों के इस करण में रेचित प्रयोग के कारण (करौ वक्षसि रेचितौ) भी द्विवचन का प्रयोग माना जा सकता है ।

उद्वृत्त, आक्षिप्त, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों को सम्पन्न किया जाए तो वह 'अलातक' अङ्गहार है ॥ २२३-२२५ ॥

निकुट्य वक्षसि करावूर्ध्वजानु प्रयोजयेत् ॥ २२५ ॥
आक्षिप्तस्वस्तिकं कृत्वा त्रिकं तु परिवर्तयेत् ।
उरोमण्डलकौ हस्तौ नितम्बं करिहस्तकम् ॥ २२६ ॥
कटिच्छिन्नं तथा चैव पार्श्वच्छेदे विधीयते ।

(२३) पार्श्वच्छेद— जब हाथों को निकुट्टित मुद्रा में वक्षःस्थल पर रखा जाए और ऊर्ध्वजानु, आक्षिप्त और स्वस्तिक करणों का प्रयोग करने के बाद त्रिक को (भ्रमरी चारी के अन्तर्गत) परिवर्तित किया जाए और हाथों द्वारा उरोमण्डल करण को सम्पन्न करते हुए नितम्ब, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करण का प्रयोग किया जाए तो उसे 'पार्श्वच्छेद' नामक अङ्गहार की संज्ञा दी जाती है ॥२२५-२२७॥

सूचीवामपदं दद्याद्विद्युद्भ्रान्तं च दक्षिणम् ॥ २२७ ॥
दक्षिणेन पुनः सूची विद्युद्भ्रान्तं च वामतः ।
परिच्छिन्नं तथा चैव ह्यतिक्रान्तं च वामकम् ॥ २२८ ॥
लताख्यं सकटिच्छिन्नं विद्युद्भ्रान्तश्च स स्मृतः ।

(२४) विद्युतभ्रान्त—बाएं पैर को सूची करण में रखकर दाहिने पैर को विद्युद्भ्रान्त करण की प्रक्रिया में रखा जाए और फिर दाहिने पैर से सूची करण और बायें पैर से विद्युद्भ्रान्त करण का प्रयोग किया जाए[1]। इसके बाद छिन्न करण को सम्पन्न करके त्रिक का परिवर्तन किया जाए[2]। इसके बाद लता-हस्त-मुद्रा में कटिछिन्न करण का सम्पादन किया जाए तो उसे 'विद्युद्भ्रान्त' अङ्गहार कहा जाता है ॥ २२७-२२९ ॥

कृत्वा नूपुरपादं तु सव्यवामौ प्रलम्बितौ ॥ २२९ ॥
करौ पार्श्वे ततस्ताभ्यां विक्षिप्तं सम्प्रयोजयेत् ।
ताभ्यां सूची तथा चैव त्रिकं तु परिवर्तयेत् ॥ २३० ॥
लताख्यं सकटिच्छिन्नं कुर्यादुद्वृत्तके सदा ।

(२५) उद्वृत्तक—पैर को नूपुरपादचारी में रखते हुए दाहिने ओर बायें हाथों

---

१. श्री घोष की व्याख्यानुसार इन करणों का प्रयोग का क्रम उल्टा है। तदनुसार पहले बायें व दाहिने पैर से और बाद में दाहिने व बायें पैर से इन करणों का प्रदर्शन करना चाहिए।

२. पाठभेद के अनुसार 'त्रिकं तु परिवर्तयेत्' के स्थान पर अतिक्रान्तं च वामकम्" पाठ मानने पर यहाँ छिन्न करण के प्रयोग के पश्चात् बायें अंग से अतिक्रान्त करण का प्रयोग मानना होगा।

को पार्श्व में लटकाए रखे[1] और फिर उन्हीं दोनों हाथों द्वारा विक्षिप्त करण का प्रयोग करे और फिर उन्हीं हाथों से सूचीकरण के प्रयोग के बाद (भ्रमरी चारी में) त्रिक को परिवर्तित करे व अन्त में लता (लतावृश्चिक) तथा कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग करें तो उसे 'उद्वृत्तक' अङ्गहार कहा जाता है ॥ २२९-२३१ ॥

आलीढव्यंसितौ हस्तौ बाहुशीर्षे निकुट्टयेत् ॥ २३१ ॥
नूपुरश्चरणो वामस्तथालातश्च दक्षिणः ।
तेनैवाक्षिप्तकं कुर्यादुरोमण्डलकौ करौ ॥ २३२ ॥
करिहस्तं कटिच्छिन्नमालीढे सम्प्रयोजयेत् ।

(२६) **आलीढ**—जब आलीढ नामक स्थानक के साथ व्यंसित करण का प्रयोग करते हुए दोनों हाथों को कन्धे पर निकुट्टित किया जाए और फिर बायें पैर से नूपुर करण तथा दाहिने से अलात करण को सम्पन्न किया जाए[2] और उसी के द्वारा फिर आक्षिप्तक करण का भी प्रदर्शन किया जाए। इसके बाद दोनों हाथों से उरोमण्डल करण का प्रयोग करते हुए करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का सम्यक् प्रयोग किया जाए तो उसको 'आलीढ' नामक अङ्गहार कहते हैं ॥ २३१-२३३ ॥

हस्तं तु रेचितं कृत्वा पार्श्वमानम्य रेचयेत् ॥ २३३ ॥
पुनस्तेनैव योगेन गात्रमानम्य रेचयेत् ।
रेचितं करणं कार्यमुरोमण्डलमेव च ॥ २३४ ॥
कटिच्छिन्नं तु कर्तव्यमङ्गहारे तु रेचिते ।

(२७) रेचित—यदि रेचित हाथ को एक पार्श्व में झुकाकर रेचित अवस्था पर रखे, फिर सम्पूर्ण शरीर को झुकाते हुए उसी तरह से रेचित दशा में रखे और रेचित करण का प्रयोग करके क्रमशः उरोमण्डल व कटिच्छिन्न करणों[3] का

---

१. अभिनवगुप्त के विचार में बाहुओं के प्रलम्बित होने से भुजङ्गाञ्चित (यौगपद्यं सूचयन् भुङ्गत्रासितं च द्वात्रिंशत्तमम् (भुजङ्गाञ्चितं चत्वारिंशत्तमम् ना० शा० ४-१०१) २ तथा गृध्रावलीनक (गृध्रावलीनकं चतुस्सप्ततितमङ्करुणं दर्शयति ना०शा० ४-१३५) करणों के प्रयोग का निर्देश है (कराविति च द्विवचनेन) ।

२. श्रीघोष के मत में इन पैरों से करणों को निष्पन्न करने का यह तात्पर्य है कि इनका प्रयोग उल्लिखित पैर से प्रारम्भ किया जाए ।

३. श्रीघोष ने इन उल्लिखित करणों के अनिरिक्त इस अङ्गहार में नूपुरपाद व भुजङ्गत्रासित करणों की भी उपस्थिति मानी है ।

सम्पादन करे तो उसे 'रेचित' संज्ञक अङ्गहार कहा जाता है[1] ॥ २३३-२३५ ॥

नूपुरं चरणं कृत्वा त्रिकं नु परिवर्तयेत् ॥ २३५ ॥
व्यंसितेन तु हस्तेन त्रिकमेव विवर्तयेत् ।
वामं चालातकं कृत्वा सूचीमत्रैव योजयेत् ॥ २३६ ॥
करिहस्तं कटिच्छिन्नं कुर्यादाच्छुरिते सदा ।

[२८] आच्छुरिति—यदि नूपुर पादाचारी में चरण का प्रयोग करके त्रिक को घुमाया जाए और फिर व्यंसित करण में हस्त को रख कर त्रिक को गोलाकार घुमाए, फिर बायें पैर से अलातक करण का प्रयोग करके सूची, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाए तो 'आच्छुरित' नामक अङ्गहार सिद्ध होता है ॥ २३५-२३७ ॥

रेचितौ स्वस्तिकौ पादौ रेचितौ स्वस्तिकौ करौ ॥ २३७ ॥
कृत्वा विश्लेषमेवं तु तेनैव विधिना पुनः ।
पुनरुत्क्षेपणं चैव रेचितैरेव कारयेत् ॥ २३८ ॥
उद्वृत्ताक्षिप्तके चैव ह्युरोमण्डलमेव च ।
नितम्बं करिहस्तं च कटिच्छिन्नं तथैव च ॥ २३९ ॥
आक्षिप्तरेचितो ह्येष करणानां विधिः स्मृतः ।

[२९] आक्षिप्तरेचित—यदि दोनों स्वस्तिक पैर और दोनों स्वस्तिक हाथ रेचित रहें और रेचित प्रक्रिया से ही उन्हें पृथक किया जाए और फिर रेचित क्रिया के द्वारा ही उन्हें ऊपर की ओर परिचालित किया जाए एवं इसके बाद क्रमशः उद्वृत्त, आक्षिप्त, उरोमण्डल, नितम्ब, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का प्रयोग किया जाए तो उसे आक्षिप्तरेचित नामक अङ्गहार कहा जाता

---

१. अभिनवगुप्त की व्याख्यानुसार इस अङ्गहार में रेचन-प्रक्रिया से युक्त नृत्त-हस्तों वाले सभी करणों का प्रयोग होता है। इन करणों की संख्या २५ है (एवं करणपञ्चविंशतिवैचित्र्येण प्रयोज्याः) इनके नाम निम्नलिखित हैं—

(१) स्वस्तिकरेचित, (२) अर्धरेचित, (३) वक्षःस्वस्तिक, (४) उन्मत्त (५) आक्षिप्तरेचित, (६) अर्धमत्तल्लि, [७] रेचितनिकुट्ट [८] भुजंगत्रस्तरेचित, [९] नूपुर, [१०] वैशाखरेचित्, [११] भुजंगाञ्चित, [१२] दण्डरेचित, [१३] वृश्चिक-रेचित, [१४] व्यंसित, [१५] विवृत्त, [१६] विनिवृत्त, [१७] विवर्तित, [१८] गरुडप्लुत, [१९] मयूरललित, [२०] सर्पितक, [२१] स्खलित, [२२] प्रसर्पितक, [२३] तलसंघट्टित, [२४] वृषभक्रीडित, [२५] लोलित।

है[1] ॥ २३७-२४० ॥

विक्षिप्तं करणं कृत्वा हस्तपादं मुखानुगम् ॥ २४० ॥
वामसूचीसहकृतं विक्षिपेद्वामकं करम् ।
वक्षःस्थाने भवेत्सव्यो वलितं त्रिकमेव च ॥ २४१ ॥
नूपुराक्षिप्तके चैव ह्यर्धस्वस्तिकमेव च ।
नितम्बं करिहस्तं च ह्युरोमण्डलकं तथा ॥ २४२ ॥
कटिच्छिन्नं च कर्तव्यं सम्भ्रान्ते नृत्तयोक्तृभिः ।

[३०] सम्भ्रान्त—विक्षिप्त करण का प्रयोग करके दोनों हाथों व पैरों को मुखाभिमुख रखते हुए बायें हाथ को सूची मुद्रा में रखे व दाहिने हाथ को वक्षःस्थल पर रखते हुए त्रिक बलित किया जाए और उसके बाद क्रम से नूपुर, आक्षिप्त, अर्धस्वस्तिक, नितम्ब, करिहस्त, उरोमण्डल और कटिच्छिन्न करण का प्रयोग किया जाए तो 'सम्भ्रान्त' नामक अङ्गहार कहा जाता है ॥ २४०-२४३ ॥

अपक्रान्तक्रमं कृत्वा व्यंसितं हस्तमेव च ॥ २४३ ॥
कुर्यादुद्वेष्टितं चैव ह्यर्धसूचीं तथैव च ।
विक्षिप्तं सकटिच्छिन्नमुद्वृत्ताक्षिप्तके तथा ॥ २४४ ॥
करिहस्तं कटिच्छिन्नं कर्तव्यमपसर्पिते ।

[३१] अपसर्पित—जब अपक्रान्त करण के प्रयोग के बाद केवल हाथों से व्यंसित करण सम्पादित किया जाए और फिर हाथों को उद्वेष्टित मुद्रा[2] में (गोलाकार घुमाते हुए) स्थित करके अर्धसूची, विक्षिप्त, कटिच्छिन्न, उद्वृत्त, आक्षिप्तक, करिहस्त तथा कटिछिन्न नामक करणों को क्रमशः निष्पन्न किया जाए तो उसे 'अपसर्पित' नामक अङ्गहार कहा जाता है ॥ २४३-२४५ ॥

---

१. अभिनवगुप्त के विचारानुसार इस अङ्गहार में उन सभी करणों का प्रयोग किया जाता है जिनमें हाथ और पैर स्वस्तिक के साथ रेचित किए जाते हैं। (यत्र यत्र करणे करयोः पादयोर्वा रेचितस्वस्तिकसाहित्यं तत्तदिहाप्यनुजानाति पृथगभिधानेन) । इनकी संख्या बारह है—

(१) स्वस्तिक रेचित, (२) पृष्ठस्वस्तिक, (३) दिक्स्वस्तिक (४) कटीसम, (५) घूर्णित, (६) भ्रमर, (७) वृश्चिकरेचित (८) पार्श्वनिकुट्टक, (९) उरोमण्डल, (१०) सन्नत, (११) सिंहाकर्षित, और (१२) नागापसर्पित ।

२. अभिनवगुप्त के मत में हाथों को उद्वेष्टित करने से करिहस्त करण का संकेत किया गया है—'उद्वेष्टितमिति करिहस्तकरणं निर्दिशति' । श्रीघोष ने उद्वेष्टन से हाथों की गति का ही अर्थ लिया है ।

कृत्वा नूपुरपादं च द्रुतमाक्षिप्य च क्रमम् ॥ २४५ ॥
पादस्य चानुगौ हस्तौ त्रिकं च परिवर्तयेत् ।
निकुट्य करपादं चाप्युरोमण्डलकं पुनः ॥ २४६ ॥
करिहस्तं कटिच्छिन्नं कार्यमर्धनिकुट्टके ।
द्वात्रिंशदेते सम्प्रोक्ता ह्यङ्गहारा द्विजोत्तमाः ॥ २४७ ॥

(३२) अर्धनिकुट्टक—जब शीघ्रता से नूपुरपादचारी का प्रयोग करके हाथ पैरों को क्रम से आक्षिप्त किया जाता है और पैरों की गति के अनुरूप हाथों की गति रखते हुए त्रिक को परिवर्तित किया जाता है एवं हाथ पैरों को निकुट्टित करते हुए क्रमशः उरोमण्डल, कटिहस्त तथा कटिच्छिन्न करणों का सम्पादन किया जाता है तो उसे 'अर्धनिकुट्टक' संज्ञक अङ्गहार कहते हैं। हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो। इन बत्तीस अङ्गहारों का मैने सुष्ठुरीत्या निरूपण किया है ॥ २४५-२४७ ॥

रेचकों के चार भेद—

चतुरो रेचकांश्चापि गदतो मे निबोधत ।
पादरेचक एकः स्याद् द्वितीयः कटिरेचकः ॥ २४८ ॥
कररेचकस्तृतीयस्तु चतुर्थः कण्ठरेचकः ।

मैं जिन चार रेचकों के विषय में जानता हूँ, उन्हें भी आप लोग जानिए। इनमें पहला पादरेचक, दूसरा कटिरेचक, तीसरा हस्तरेचक तथा चौथा ग्रीवारेचक कहा जाता है ॥ २४८-२४९ ॥

[रेचिताख्यः पृथग्भावो वलेने चाभिधीयते ॥
उद्वाहनात्पृथग्भावाच्चलनाच्चापि रेचकः ।
पार्श्वात्पार्श्वे तु गमनं स्खलितैश्चलितैः पदैः ॥
विविधैश्चैव वादस्य पादरेचक उच्यते ।
त्रिकस्योद्वर्तनं चैव कटीवलनमेव च ॥
तथाऽपसर्पणं चैव कटिरेचक उच्यते ।
उद्वर्तनं परिक्षेपो विक्षेपः परिवर्तनम् ॥
विसर्पणं च हस्तस्य हस्तरेचक उच्यते ।
उद्वाहनं सन्नमनं तथा पार्श्वस्य सन्नतिः ॥
भ्रमणं चापि विज्ञेयो ग्रीवाया रेचको बुधैः ।]

[इनका नाम रेचित इस कारण है कि इसमें पृथक् पृथक् रूप में वलनक्रिया की जाती है। अथवा इसे इस कारण भी रेचक कहते हैं कि इसमें किसी (अङ्ग को) ऊपर उठाकर गतिशील किया जाता है।

(१) पादरेचक—यदि लड़खड़ाती चाल वाले या हिलाए जाते पैरों को एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व में विभिन्न प्रकार की गतियों से चलाया जाए तो उसे 'पादरेचक' कहते हैं।

(२) कटिरेचक—यदि त्रिक का परिवर्तन किया जाए, कटि को वलित किया जाए[1] और फिर उसे अपसर्पित किया [अर्थात् पीछे की ओर खींचा] जाए तो वह 'कटिरेचक' कहलाता है।

[३] हस्तरेचक—हाथ को ऊपर की ओर उठाना, नीचे झुकाना, बाजू की ओर फैलाना और चक्राकार घुमाना तथा फिर पीछे की ओर हटाया जाना 'हस्तरेचक' कहलाता है।

[४] ग्रीवारेचक—ग्रीवा को ऊपर की ओर उठाये जाने, नीचे झुकाने, पार्श्व में नमित करने तथा भ्रमण को 'ग्रीवारेचक' कहा जाता है।

शिवजी द्वारा रेचकों तथा अङ्गहारों से युक्त नृत्य—

रेचकैरङ्गहारैश्च नृत्यन्तं वीक्ष्य शङ्करम् ॥ २४९ ॥
सुकुमारप्रयोगेण नृत्यन्तीं चैव पार्वतीम्।
मृदङ्गभेरीपटहैर्भाण्डडिण्डिमगोमुखैः ॥ २५० ॥
पणवैर्दर्दुरैश्चैव सर्वातोद्यैः प्रवादितैः।
दक्षयज्ञे विनिहते सन्ध्याकाले महेश्वरः ॥ २५१ ॥
नानाङ्गहारैः प्रानृत्यल्लयतालवशानुगैः।

शिव जी को इन रेचकों तथा अङ्गहारों से युक्त नृत्य करते देखकर पार्वती ने भी सुकुमार प्रयोगों से युक्त नृत्य किया। [शंकर जी के] इस नृत्य में मृदंग, भेरी, पटह, भाण्ड, डिण्डिम, गोमुख, पणव तथा दर्दुर आदि सभी वाद्य यन्त्रों का प्रयोग किया गया। दक्ष यज्ञ के प्रणष्ट हो जाने पर[2] एक संध्या में महेश्वर ने अनेक प्रकार के अङ्गहारों के साथ लय तथा ताल के अनुकूल नृत्य किया ॥ २४९-२५२ ॥

पिण्डी बन्धों का नाम करण—

पिण्डीबन्धांस्ततो दृष्ट्वा नन्दिभद्रमुखा गणाः ॥ २५२ ॥
चक्रुस्ते नाम पिण्डीनां बन्धमासां सलक्षणम्।

---

१. डा॰ रघुवंश के मत में कटि का क्षिप्रगति से चालन ही उसका वलन भी माना जाएगा।

२. यहाँ सती के पिता दक्ष द्वारा सम्पादित उस यज्ञ का निर्देश है जिनमें शंकर को आमन्त्रित न किये जाने पर अपमानित सती ने देहत्याग कर दिया था। फलस्वरूप शंकर ने दक्ष के यज्ञ का विनाश कर दिया और सन्ध्याकाल में सती के शव को कन्धे पर डालकर ताण्डव नृत्य किया।

तब नन्दी तथा भद्रमुख आदि गणों ने उस नृत्य में प्रयुक्त पिण्डीबन्धों[1] को देख कर उनके लक्षणों का प्रतिपादन तथा नामकरण किया ॥ २५२-२५३ ॥

विविध पिण्डीबन्धों के नाम—

ईश्वरस्येश्वरी पिण्डी नन्दिनश्चापि पट्टसी ॥ २५३ ॥

चण्डिकाया भवेत्पिण्डी तथा वै सिंहवाहिनी ।
तार्क्ष्यपिण्डी भवेद्विष्णोः पद्मपिण्डी स्वयम्भुवः ॥ २५४ ॥

शक्रस्यैरावती पिण्डी झषपिण्डी तु मान्मथी ।
शिखिपिण्डी कुमारस्य रूपपिण्डी भवेच्छ्रियः ॥ २५५ ॥

धारापिण्डी च जाह्नव्याः पाशपिण्डी यमस्य च ।
वारुणी च नदीपिण्डी याक्षी स्याद्धनदस्य तु ॥ २५६ ॥

हलपिण्डी बलस्यापि सर्पपिण्डी तु भोगिनाम् ।
गाणेश्वरी महापिण्डी दक्षयज्ञविमर्दिनी ॥ २५७ ॥

त्रिशूलाकृतिसंस्थाना रौद्री स्यादन्धकद्विषः ।
एवमन्यास्वपि तथा देवतासु यथाक्रमम् ॥ २५८ ॥

ध्वजभूताः प्रयोक्तव्याः पिण्डीबन्धाः सुचिह्निताः ।

ईश्वर की पिण्डी का नाम ईश्वरी[2], नन्दी की पट्टसी, चण्डिका की सिंह-

---

१. अग्निपुराण के अनुसार अङ्गहार एवं करण आदि के प्रयोग में निश्चित मुद्रा को पिण्डी बन्ध कहा जाता है । "पिण्डीबन्ध आकृतिविशेषस्तस्यैकदेशान्नि-बन्धनं पिण्डीति । - - - - पिण्डीबन्धः करणाङ्गहारादिः । - - - पिण्डी-बन्धग्रहणेन शिखिपिण्डीप्रभृत्युपायमयूरललितादिकरणसंग्रहः । - - - अङ्गहारा एव पिण्डीबन्धाः तथाऽन्येऽपि पिण्डीबन्ध इति केवलकरणसंग्रहः ।" इन उद्धरणों से पिण्डीबन्ध का कोई सुनिश्चित एवं सुस्पष्ट स्वरूप नहीं पता चलता । अभिनवगुप्त ने भी "पिण्डीबन्ध आकृतिविशेषः ।" ही कहा है । [अ० भा० १. पृ० १६८-१६९]। परन्तु भावप्रकाश में शारदातनय ने नर्तक या नर्तकियों के सामूहिक नृत्य को पिण्डीबन्ध की संज्ञा दी है—

षोडशवादशाष्टौ वा यस्मिन्नृत्यन्ति नायिकाः ।
पिण्डीबन्धादिविन्यासैः रासकं तदुदाहृतम् ॥

प्रस्तुत प्रसङ्ग में नृत्य के प्रसार की अपेक्षा पिण्डीबन्ध का अर्थ नृत्य की मुद्रा अधिक सटीक प्रतीत होता है ।

२. अभिनवगुप्त के मत में इससे शिवलिंगाकृति पिण्डी का अर्थ लिया

वाहिनी, विष्णु की तार्क्ष्य, स्वयंभू की पद्म, शक्र की ऐरावती, मन्मथ की झष' कुमार की शिखी, श्री की रूप[1], जाह्नवी की धारा, यम की पाश, वरुण की नदी[2], धनद [कुबेर] की याक्षी, बलराम की हल, भोगिन् की सर्प, गणेश्वर की दक्षयज्ञविमर्शिनी नामक महापिण्डी तथा अन्धकासुर के हन्ता शंकर की त्रिशूलाकारा रौद्री नामक पिण्डी होती है। इस भाँति अन्य देवताओं की भी अपने अपने चिन्हों से युक्त पिण्डियों के नाम होते हैं ॥ २५३-२५९ ॥

ताण्डव नृत्य की उत्पत्ति—

रेचका अङ्गहाराश्च पिण्डीबन्धास्तथैव च ॥ २५९ ॥
सृष्ट्वा भगवता दत्तास्तण्डवे मुनये तदा।
तण्डुनापि ततः सम्यग्गानभाण्डसमन्वितः ॥ २६० ॥
नृत्तप्रयोगः सृष्टो यः स ताण्डव इति स्मृतः।

शङ्कर भगवान् ने रेचक, अङ्गहार तथा पिण्डीबन्धों की सृष्टि करके तण्डुमुनि को दिया। तब उन्होंने [उन्हें] भलीभाँति गान तथा वाद्य यन्त्रों से

गया है। श्री घोष ने शिव की पिण्डी का नाम वृष माना है।

१. अभिनव के विचारानुसार स्वाकार [कमल के रूप में होने के कारण इसे रूपपिण्डा माना गया है।

२. धारा पिण्डी के अनेक बार प्रयोग से नदीपिण्डीबन्ध बनता है। इसका सम्बन्ध वरुण से है जो जल के देवता हैं।

इन पिण्डीबन्धों के नाम अपने देवी या देवता के नाम, वाहन अथवा विशेषता के आधार पर रखे गए हैं। अभिनवगुप्त का मत है कि इसके अभिनय से देवताओं का परितोष किया जाता है। इन पिण्डीबन्धों के अभिनय के समय उस देवता विशेष के आयुध, वाहन तथा कर्म आदि के भावों का आंगिक अनुकरण करना अभीष्ट है। इस भाँति भगवती का परितोष तलपुष्पपुट करण द्वारा एवं शिव का परितोष निस्तम्भित करण के सम्पादन द्वारा किया जाता है। विशेष प्रकार की पिण्डियों के अभिनय के प्रदर्शनार्थ विशिष्ट करणों का प्रयोग होता है। यथा निकुट्टककरण के प्रयोग से त्रिशूलाकृति का। नागापसर्पित करण से भोगपिण्डी का तथा प्रथम स्थितरहस्त अङ्गहार के द्वारा भौम, त्रिशूल, शिवलिंग आदि पिण्डीबन्धों का अभिनय किया जाता है। नन्दी आचार्य के विचार में रेचित नामक अङ्गहार के प्रयोग से सभी देवताओं को प्रसन्न किया जाता है।

संयुक्त करके जिस नृत्तप्रयोग की सृष्टि की उसका नाम ताण्डव[1] प्रसिद्ध हुआ ॥ २५९-२६१ ॥

ऋषि गणों का भरतमुनि से प्रश्न—

ऋषयः ऊचुः—

यदा प्राप्त्यर्थमर्थानां तज्ज्ञैरभिनयः कृत ॥ २६१ ॥
कस्मान्नृत्तं कृतं ह्येतत्कं स्वभावमपेक्षते ।

ऋषिगणों ने पूछा—'जब अर्थों[2] की अभिव्यंजना के निमित्त प्रयोक्ताओं ने अभिनय की सृष्टि की, तो उन्होंने नृत्त की सृष्टि किस अभिप्राय से दी ? और उस [नृत्त] की प्रवृत्ति [लक्षण या स्वरूप] क्या निर्धारित की गई ॥ २६१-२६२ ॥

न गीतकार्थसम्बद्धं न चाप्यर्थस्य भावकम् ॥ २६२ ॥
कस्मान्नृत्तं कृतं ह्येतद्गीतेष्वासारितेषु च ।

यह नृत्त न तो गीत के अर्थ से सम्बद्ध होता है और न उसके प्रतिपाद्य अर्थ (संवाद) की अभिव्यञ्जना करता है तो फिर इस नृत्त की सृष्टि आसारित गीत से सम्बद्ध रूप में किस लिए की गई है ? ॥ २६२-२६३ ॥

भरतमुनि द्वारा ऋषियों को उत्तर देना—

भरतः—

अत्रोच्यते न खल्वर्थं कञ्चिन्नृत्तमपेक्षते ॥ २६३ ॥
किं तु शोभां प्रजनयेदिति नृत्तं प्रवर्तितम् ।

भरत मुनि उत्तर देते हैं—नृत्त की उपयोगिता किसी अर्थ विशेष की अभिव्यक्ति में नहीं है, किन्तु इसकी रचना शोभा के उत्पादनार्थ हुई है ॥ २६३-२६४ ॥

नृत्त की उपयोगिता—

प्रायेण सर्वलोकस्य नृत्तमिष्टं स्वभावतः ॥ २६४ ॥
मङ्गल्यमिति कृत्वा च नृत्तमेतत्प्रकीर्तितम् ।

प्रायः सभी लोगों को नृत्त स्वाभाविक रूप से प्रिय होता है तथा यह शुभ भी है । इसलिए इस नृत्त का कथन किया जाता है ॥ २६४-२६५ ॥

विवाहप्रसवावाहप्रमोदाभ्युदयादिषु ॥ २६५ ॥
विनोदकारणं चेति नृत्तमेतत्प्रवर्तितम् ।

---

१. तण्डु मुनि से उद्भूत होने के कारण इस नृत्तप्रयोग का नाम ताण्डव पड़ा । डा० रघुबंश का विचार है कि आर्यपूर्व परम्परा में ताण्डव नृत्त विशेष का या उसका सामान्य नाम रहा होगा और उसी से तण्डु नाम की कल्पना की गई है ।

२. नाट्य में स्थित गति एवं संवादों में अन्तर्निहित अर्थों से तात्पर्य है ।

अतश्चैव प्रतिक्षेपाद् भूतसङ्घैः प्रवर्तिताः ॥ २६६ ॥

विवाह, बालक के जन्म, बारात के अवसर, मनोरंजन तथा विजयोल्लास के अवसर पर यह नृत्त आमोदकारी होता है, इसीलिए इस नृत्त की सृष्टि की गई है। इस प्रकार भूतगणों ने नृत्त को सुष्ठुरीत्या विभाजित करने के विचित्र गीतादि में प्रयुक्त होने वाले प्रतिक्षेपों[1] को प्रवर्तित किया ॥ २६५-२६६ ॥

ताण्डव नृत्य का प्रयोग—

ये गीतकादौ युज्यन्ते सम्यङ्नृत्तविभागकाः ।
देवेन चापि सम्प्रोक्तस्तण्डुस्ताण्डवपूर्वकम् ॥ २६७ ॥
गीतप्रयोगमाश्रित्य नृत्तमेतत्प्रवर्त्यताम् ।

भगवान् शङ्कर ने ताण्डव नृत्त के प्रयोग के साथ[2] तण्डु को बतलाया कि इस नृत्त का प्रयोग गीतों के प्रयोग के आधार पर ही किया जाना चाहिए ॥ २६७-२६८ ॥

ताण्डव नृत्य के प्रयोग के स्थल—

प्रायेण ताण्डवविधिर्देवस्तुत्याश्रयो भवेत् ॥ २६८ ॥
सुकुमारप्रयोगश्च शृङ्गाररससम्भवः ।

प्राय: ताण्डव [नृत्य] का प्रयोग देवताओं की वन्दना के लिया है। शृंगार रस

---

१. प्रतिक्षेपों का लक्षण नाट्यशास्त्र में अनुपलब्ध है। (इदं भरतमुनिना न क्वचिल्लक्षितम्।) अग्निपुराण के आधार पर अभिनव ने इसे अतिशय स्तुति से युक्त गीत विशेष का नाम माना है। [प्रचुर स्तुतियुक्तो गतिविशेषः प्रतिक्षेपः।] अभिनवगुप्त ने अन्य आचार्यों का मत भी उद्धृत किया है। तदनुसार इसका अर्थ गीत के अर्थ में अङ्गों के विक्षेप से किए जाने वाले वैचित्र्य आश्रित नृत्य से लिया गया है। अ० १, पृ० १७९ अन्ये तु गीतान्ते प्रयोज्या छन्दकादय एव नृत्तवैचित्र्याश्रया यथारुचि प्रतिक्षिप्यमाणांगकाः प्रतिक्षेपाः] नाट्यशास्त्र में वाद्ययन्त्रों को क्षेप प्रतिक्षेप से बजाए जाने का कथन है। [ना० शा० ४-३००] जिसके आधार पर यहाँ प्रतिक्षेप का अर्थ होगा कि वाद्ययन्त्रों के प्रतिक्षेप द्वारा नृत्त को सम्यक् रूपेण विभाजित किया जा सकता है।

२. अभिनवगुप्त ने जिस पाठ को आधार मान कर व्याख्या की है तदनुसार यहाँ "सन्तोषपूर्वक" पाठ होना चाहिए था। श्री घोष ने इसी पाठ को अधिक उचित भी माना है। तब इस श्लोक के पूर्वार्ध का अर्थ होगा—"भगवान् शङ्कर ने संतोषपूर्वक तण्डु को बतलाया............।"

से उद्भूत [भावों के प्रयोग की दशा में] ताण्डव का प्रयोग सुकुमार रूप में भी होता है ॥ २६८-२६९ ॥

वर्धमानक लक्षण—

तस्य तण्डुप्रयुक्तस्य ताण्डवस्य विधिक्रियाम् ॥ २६९ ॥
वर्धमानकमासाद्य संप्रवक्ष्यामि लक्षणम् ।

अब मैं वर्धमानक के सन्दर्भ में तण्डुमुनि से कहे गये 'ताण्डव' नृत्त के लक्षण बतलाऊँगा ॥ २६९-२७० ॥

कलानां वृद्धिमासाद्य ह्यक्षराणां च वर्धनात् ॥ २७० ॥
लयस्य वर्धनाच्चापि वर्धमानकमुच्यते ।

(क्योंकि) यह कला को बढ़ाता है[1], अक्षर की वृद्धि करता है[2] एवं लय में योग प्रदान करता है[3] अतः इसे 'वर्धमानक[4]' कहा जाता है ॥ २७०-२७१ ॥

वर्धमानक प्रयोग विधि—

कृत्वा कुतपविन्यासं यथावद् द्विजसत्तमाः ! ॥ २७१ ॥
आसारितप्रयोगस्तु ततः कार्यः प्रयोक्तृभिः ।

हे द्विजोत्तम गण ! वाद्ययंत्रों[5] को यथा स्थान व्यवस्थित करके नाट्यप्रयोक्ताओं को आसारित का प्रयोग करना चाहिए ॥ २७१-२७२ ॥

तत्र तूपोहनं कृत्वा तन्त्रीगानसमन्वितम् ॥ २७२ ॥
कार्यः प्रवेशो नर्तक्या भाण्डवाद्यसमन्वितः ।

---

१. समय के ८ पल के विभाग को यहाँ कला माना गया है। चार मात्रा का एक कल होता है। सत्तर कलों की कनिष्ठा, तैंतीस की मध्यम और पैंसठ की ज्येष्ठ कला होती है। इन कलाओं की लय एवं संख्या दोनों माध्यमों से वृद्धि होती है (कलानां लयद्वारेण संख्याद्वारेण च वृद्धिः ।)

२. समय के मात्रा काल की वृद्धि होने से अक्षर की भी वृद्धि होती है। अभिनवगुप्त का विचार है कि जैसे जैसे कला एवं अक्षरों की वृद्धि होती है, वैसे ही नर्तकियों की भी वृद्धि होती है। इस प्रकार प्रथम आसरितनृत्त में एक, द्वितीय आसारित में दो एवं आगे भी इसी तरह वृद्धिशील नर्तकियाँ होती है।

३. समय की वृद्धि से लय में भी वृद्धि हो जाती है।

४. वृद्धि होते जाने के कारण इसकी संज्ञा वर्धमानक है। जैसा कि अभिनवगुप्त की स्पष्टोक्ति है—अतो वृद्धियोगाद्वर्धमानकम् ?"

५. कुतप—'चतुर्विधमातोद्यं कुतपम्' अभिनव की इस व्याख्या के अनुसार आतोद्य वाद्य की संज्ञा कुतप है।

इसके बाद तंत्र वाद्य पर गान[1] के साथ उपोहन[2] का प्रयोग करने के उपरान्त पुष्कर वाद्य के वादन के साथ नर्तकी का (रंगमंच पर) प्रवेश होना चाहिए। ॥ २७२-२७३ ॥

विशुद्धकरणायां तु जात्यां वाद्यं प्रयोजयेत् ॥ २७३ ॥
गत्या वाद्यानुसारिण्या तस्याश्चारीं प्रयोजयेत् ।

इस समय विशुद्धकरणों और जातियों से युक्त वाद्यसंगीत का प्रयोजन करना चाहिए[3] और फिर वाद्य (के ताल) के अनुकूल गति से चारी का प्रयोग किया जाना चाहिए ॥ २७३-२७४ ॥

नर्तकी का प्रवेश

वैशाखस्थानकेनेह सर्वरेचकचारिणी ॥ २७४ ॥
पुष्पाञ्जलिधरा भूत्वा प्रविशेद्रङ्गमण्डपम् ।

वैशाखस्थान में सभी (चतुर्विध) रेचकों का प्रयोग करते हुए अंजलि में पुष्प लेकर नर्तकी को रङ्गमण्डप पर प्रवेश करना चाहिए[4] ॥ २७४-२७५ ॥

पुष्पाञ्जलिं विसृज्याथ रङ्गपीठं परीत्य च ॥ २७५ ॥
प्रणम्य देवताभ्यश्च ततोऽभिनयमाचरेत् ।

अञ्जलि से पुष्प गिराते हुए रङ्गपीठ पर चारों ओर घूमकर देवताओं को प्रणाम करते हुए अभिनय को प्रारम्भ करना चाहिए ॥ २७५-२७६ ॥

---

१. गान—सुषिर वाद्य (वंशी) तथा आतोद्य (तारयुक्त बाजे) के प्रयोग के साथ स्वरयुक्त गाने को गान कहते हैं (अभिगानं सुषिरातोद्यम्, गीयते यतः स्थान-स्वरादिति गानम्, तेन घनावनद्धातोस्यात्र निरासः)

२. उपोहन—अभिनवगुप्त के मत में कनिष्ठासारित में पञ्चकलों के अन्तर्गत शुष्काक्षर के प्रयोग को उपोहन कहा जाता है। (उपोहनं शुष्काक्षरं कनिष्ठासारिते पञ्चकलम् ।)

३. एकाक्षरं विशुद्धायां वाद्यं स्यात्सर्वमार्गकम् ।
द्धं, द्धं, खो, खो, णा णादि या विहितवाक्यया ।
सा शुद्धा विज्ञेया मध्यस्त्रीणां समा जातिः ॥
(ना० ३४-१३६-१३८)

नाट्यशास्त्र के इस उद्धरण के अनुरूप यहाँ एकाक्षर प्रयोग का संकेत है जिसके अनुसार द्ध खो, णा एवं रुन्दहि प्रयोक्तव्य है।

४. अभिनव के अनुसार यहाँ तलपुष्पपुट करण का प्रयोग किया जाना अपेक्षित है।

गीतयुक्त अभिनय में वाद्ययंत्र प्रयोग का निषेध—

यत्राभिनेयं गीतं स्यात्तत्र वाद्यं न योजयेत् ॥ २७६ ॥
अङ्गहारप्रयोगे तु भाण्डवाद्यं विधीयते ।

जब गीत के साथ अभिनय प्रदर्शित किया जा रहा हो तो उसके साथ वाद्य यन्त्रों का उपयोग नहीं करना चाहिए, किन्तु अङ्गहारों के प्रयोग के समय भाण्ड वाद्य का उपयोग किया जाना चाहिए ॥ २७६-२७७ ॥

ताण्डव में प्रयुक्त वाद्ययंत्र का लक्षण—

समं रक्तं विभक्तं च स्फुटं शुद्धप्रहारजम् ॥ २७७ ॥
नृताङ्गग्राहि वाद्यज्ञैर्वाद्यं योज्यं तु ताण्डवे ।

ताण्डव में जिस वाद्य का प्रयोग किया जाय उसे सम, रक्त[1], विभक्त, स्फुट, तथा नृत्त के विभागों का अनुसरण करने वाला होना चाहिए ॥ २७७-२७८ ॥

नर्तकी का निष्क्रमण तथा अन्य नर्तकियों का प्रवेश—

प्रयुज्य गीतवाद्ये तु निष्क्रामेन्नर्तकी ततः ॥ २७८ ॥
अनेनैव विधानेन प्रविशन्त्यपराः पृथक् ।

इस प्रकार गीत एवं वाद्य का प्रयोग करने के बाद नर्तकी को निकल जाना चाहिए[2]। फिर इसी प्रकार अन्य नर्तकियों को अलग से प्रवेश करना चाहिए ॥ २७८-२७९ ॥

पर्यस्तक व पिण्डीबन्ध के प्रयोग के बाद नर्तकियों का निष्क्रमण—

अन्याश्चानुक्रमेणाथ पिण्डीं बध्नन्ति याः स्त्रियः ॥ २७९ ॥
तावत्पर्यस्तकः कार्यो यावत्पिण्डी न बध्यते ।
पिण्डीं बध्वा ततः सर्वा निष्क्रामेयुः स्त्रियस्तु ताः ॥ २८० ॥

यह नर्तकियाँ जब तक क्रम से[3] पिण्डी बन्ध की रचना न करें तब तक

---

१. रक्त—अभिनवगुप्त की व्याख्या के अनुसार अक्षर, अङ्गताल, लय, मात्रा काल आदि के सम प्रयोग, एवं स्वरों के द्विधा ऊच्चारणस्थान से रक्त नामक प्रयोग किया जाता है—"अक्षराङ्गताललययतिपाणिग्रहन्यासविकृतमष्टविधकालदेशसमतात्मकं साम्यं पुष्कराध्याये च वक्ष्यते । तत्र षोढा तालकृतम् । द्विधा स्वरोच्चारणस्थानदेशकृतम् । तद्योगात् समरक्तभावः शब्दस्य हृद्यस्वरूपता ।" (पृ० १६८)

२. अभिनवगुप्त ने यहाँ हट कर रङ्गमञ्च पर ही अलग चले जाने का अर्थ लिया है, सर्वथा चले जाने का नहीं (सा तु निष्क्रामेदपसरेत् । न तु सर्वथैव निर्गच्छेत् ।)

३. अनुक्रम—अभिनवगुप्त के मत में यहाँ कनिष्ठा आदि चारों भेदों का ही तात्पर्य है ।

पर्यस्तक[1] का सम्पादन किया जाना चाहिए। पिण्डीबन्ध के प्रयोग के बाद सभी नर्तकियों को निष्क्रमण कर जाना चाहिए ॥ २७९-२८० ॥

पिण्डीबन्धों के प्रयोग के समय वाद्ययंत्र वादन-विधि—

पिण्डीबन्धेषु वाद्यं तु कर्तव्यमिह वादकैः।
पर्यस्तकप्रमाणेन चित्रौघकरणान्वितम् ॥ २८१ ॥

इन पिण्डी बन्धों के प्रयोग के अवसर पर वादकों को पर्यस्तक के समय प्रयुक्त वाद्यवादन की भाँति अनेक तरह के ओघ तथा करणों से युक्त वाद्यों का वादन करना चाहिए ॥ २८१ ॥

उपोहन तथा आसारित गायन—

तत्रोपवहनं[2] भूयः कार्यं पूर्ववदेव हि।
ततश्चासारितं भूयो गायनं तु प्रयोजयेत् ॥ २८२ ॥

इसके पश्चात् पहले की ही तरह फिर से उपोहन का प्रयोग करना चाहिए और इसी तरह आसारित गायन का भी प्रयोग करना चाहिए ॥ २८२ ॥

नर्तकी द्वारा द्वितीय आसारित गान का अभिनय—

पूर्वेणैव विधानेन प्रविशेच्चापि नर्तकी।
गीतकार्थं त्वभिनयेद् द्वितीयासारितस्य तु ॥ २८३ ॥

पूर्वोक्त विधान के ही अनुरूप नर्तकी का प्रवेश होना चाहिए और उसे द्वितीय आसारित गान के अर्थ का अभिनय करना चाहिए ॥ २८३ ॥

नृत्त प्रदर्शन तथा नर्तकी निष्क्रमण—

तदेव च पुनर्वस्तु नृत्तेनापि प्रदर्शयेत्।
आसारिते समाप्ते तु निष्क्रामेन्नर्तकी ततः ॥ २८४ ॥

पूर्ववत् ही नृत्त के द्वारा पुनः वस्तु[3] को प्रदर्शित करना चाहिए और इस

---

१. पर्यस्तक—अभिनव के अनुसार विशेष अङ्गविक्षेप का नाम पर्यस्तक है (महावाक्यानुसारादेकथन एव वाहिन्यात्मकोङ्गविक्षेपो यत्र प्रयोगे स पर्यस्तकः)। अथवा जिस अवस्था में अभिनय नहीं किया जाता उस दशा को पर्यस्तक कहते हैं— (अभिनयशून्यामाङ्गिकविधिः पर्यस्तकः।)

२. अभिनवसम्मतोऽयं पाठः। 'अथोपवाहनम्' अथवा 'तत्रैवोपोहनम्' इति वा पाठः।

३. वस्तु से यहाँ पर श्री घोष ने पदवस्तु का अभिप्राय लिया है।

प्रकार आसारित को पूर्ण करके नर्तकी को निकल जाना चाहिए ॥ २८४ ॥

अन्य नर्तकियों का प्रवेश तथा आसारित गीत का अभिनय—

पूर्ववत्प्रविन्त्यन्याः प्रयोगः स्यात्स एव हि।
एवं पदे पदे कार्यो विधिरासारितस्य तु ॥ २८५ ॥

तब पहले की ही तरह अन्य नर्तकियाँ प्रविष्ट होती हैं और वही प्रयोग पुनः प्रदर्शित किया जाता है। इस भाँति एक एक पद पर आसारित प्रयोग की विधि का अनुकरण करना चाहिए[1] ॥ २८५ ॥

गायन विधि—

भाण्डवाद्यकृते चैव तथा गानकृतेऽपि च।
एका तु प्रथमं योज्या द्वे द्वितीयं तथैव च ॥ २८६ ॥
तिस्रो वस्तु तृतीयं तु चतस्रस्तु चतुर्थकम्।

वाद्यवादन एवं गीत के गायन में गीत का प्रथम पाद एक बार, दूसरा पाद दो बार, तीसरा तीन बार और चौथा चार बार गाया जाता है ॥ २८६-२८७ ॥

पिण्डी के चार प्रकार—

पिण्डीनां विधयश्चैव चत्वारः सम्प्रकीर्तिताः ॥ २८७ ॥
पिण्डी शृङ्खलिका चैव लताबन्धोऽथ भेद्यकः।

पिण्डी के चार प्रकार कहे गये हैं—पिण्डी, शृङ्खलिका, लताबन्ध तथा भेद्यक ॥ २८७-२८८ ॥

पिण्डी बन्ध के चारों नामों की निरुक्तियाँ—

पिण्डीबन्धस्तु पिण्डत्वाद् गुल्मः शृङ्खलिका भवेत् ॥ २८८ ॥
जालोपनद्धा च लता सनृत्तो भेद्यकः स्मृतः।

पिण्डी या पिण्डीबन्ध नाम इस कारण है कि यह पिण्डीभूत होता है, गुच्छे (गुल्म) होने से शृङ्खलिका, जाल में फँसे होने से लताबन्ध, और एक अलग नर्तकी के द्वारा नृत्य में प्रयुक्त होने से भेद्यक कही जाती है[2] ॥ २८८-२८९ ॥

---

१. अर्थात् प्रत्येक बार नर्तकी ही पहले की भाँति प्रवेश, नृत्य एवं निष्क्रमण नहीं करती अपितु वादक एवं गायकगण भी पूर्वविहित विधि का यथावत् अनुकरण करते हैं।

२. अपरेनृंत्तभेदास्तु गुल्मशृङ्खलिका लताः।
भेद्यकश्चेति चत्वारः कथ्यन्ते च मनीषिभिः ॥
गुल्मः संभूय यन्नृत्तं शृङ्खलान्योन्यबन्धनी।
एकैकस्य बहिः संघान्नृत्तं यत्स च भेद्यकः ॥

तीनों आसारितों के पिण्डीबन्ध—

पिण्डीबन्धः कनिष्ठे तु शृङ्खला तु लयान्तरे ॥ २८९ ॥
मध्यमे च लताबन्धो ज्येष्ठे चैवाथ भेद्यकः ।

कनिष्ठ आसारित में पिण्डीबन्ध का, (लय के) अन्तर[1] में शृङ्खला का मध्य (आसारित) में लताबन्ध का और ज्येष्ठ आसारित में भेद्यक का प्रयोग किया जाता है[2] ॥ २८९-२९० ॥

पिण्डी के उद्गम के दो प्रकार—

पिण्डीनां विविधा योनिर्यन्त्रं भद्रासनं तथा ॥ २९० ॥
शिक्षायोगस्तथा चैव प्रयोक्तव्यः प्रयोक्तृभिः ।
एवं प्रयोगः कर्तव्यो वर्धमाने तपोधनाः ॥ २९१ ॥

पिण्डी का उद्गम दो प्रकार से होता है—एक यन्त्र[3] तथा दूसरा भद्रासन ।

परस्पराङ्गवेष्टेन यन्नृत्तं सा लता मता ।
पिण्डीबन्धश्च गुल्मश्च पर्यायाविति केचन ।

—भाव-प्रकाश पृ० २४६

प्रस्तुत व्याख्या के अनुसार जब नर्तकियाँ सामूहिक रूप से नृत्य करती हैं तो पिण्डी, एक दूसरे का हाथ पकड़ कर गुल्म रूप में नृत्य करने पर शृङ्खलिका, बाहों में बाहें फँसा कर नृत्य करने पर लताबन्ध और अलग अलग बिखर कर नृत्य करने पर भेद्यक नामक पिण्डीबन्ध होते हैं । भरत ने पिण्डीबन्ध का जो निरूपण किया है यह इससे काफी भिन्न है ।

अभिनवगुप्त ने सजातीय एवं विजातीय के भेद से इन पिण्डीबन्धों के दो प्रकार माने हैं । इनमें से सजातीय वे हैं जो एक नाल में बँधे कमलों के समान होते हैं और विजातीय वे हैं जो उस कमल की भाँति हैं जिसकी नाल को हंस ने ग्रहण कर लिया है (पिण्डीबन्धद्वयप्रकारः सजातीयौ वा ......विजातीयौ वा) ।

१. लय के अन्तर से श्री घोष ने संक्रमण का तात्पर्य लिया है ।

२. अभिनवगुप्त का कहना है कि पिण्डीभेद आधार-भेद से सम्पन्न होता है । अर्थात् कनिष्ठ आसारित में शुद्ध पिण्डीबन्ध का, इसी में लय का भेद होने पर शृङ्खला का, मध्यम आसारित में लताबन्ध का और ज्येष्ठ आसारित में भेद्यक पिण्डीबन्ध का प्रयोग किया जाता है ।

३. श्रीघोष के विचार में यह श्लोक अस्पष्ट है । यन्त्र एवं भद्रासन की अभिनव गुप्त कृत व्याख्याएँ उन्हें सन्तुष्ट नहीं कर पातीं । अभिनव ने भूमि देह आकाश आदि आधारखण्डलक के अनुसन्धान को यन्त्र माना है (यत्र पुत्रकादीनां यथा पृथ-

प्रयोक्तागणों को शिक्षाग्रहण करके इनका प्रयोग करना चाहिए। हे तपस्वियो! इसी प्रकार प्रयोक्ताओं द्वारा वर्धमानक का भी प्रयोग किया जाना चाहिए ॥ २९०-२९१ ॥

गीतों तथा छन्दकों की प्रयोग विधि—

गीतानां छन्दकानां च भूयो वक्ष्याम्यहं विधिम्।
यानि वस्तुनिबद्धानि चाङ्गकृतानि तु ॥ २९२ ॥
गीतानि तेषां वक्ष्यामि प्रयोगं नृत्तवाद्ययोः।
तत्रावतरणं कार्यं नर्तक्याः सार्वभाण्डिकम् ॥ २९३ ॥
क्षेपप्रतिक्षेपकृतं भाण्डोपोहनसंस्कृतम्[1]।

अब मैं फिर से गीतों तथा छन्दकों की प्रयोग विधि बताऊँगा। जो गीत विषय वस्तु से निबद्ध हैं और जो अङ्गों से युक्त हैं उनके तथा उनके साथ प्रयुक्त वाद्यों व नृत्तों के प्रयोग को बतलाऊँगा। गीत तथा नृत्त के प्रयोग के समय नर्तकी प्रवेश करती है, भाण्ड एवं अवनद्ध वाद्य बजाए जाते हैं तथा क्षेप प्रतिक्षेप के साथ भाण्डवाद्य का वादन किया जाता है ॥ २९२-२९४ ॥

प्रथमं त्वभिनेयं स्याद् गीतके सर्ववस्तुकम् ॥ २९४ ॥
तदेव च पुनर्वस्तु नृत्तेनापि प्रदर्शयेत्।

भूताङ्गानामनुसन्धिस्तथैव भूमिदेहाकाशाद्याधारखण्डलकाद्यनुसन्धनं यन्त्रम्।)

भद्रासन से अभिनव ने भूमि आदि पर आसन का तात्पर्य लिया है (भद्रं स्फुटमेवेत्यस्यासनं स्थानं भूम्यादौ स्फुटमेव दर्शनादित्येकभेदसंग्रहः)।

डा० रघुवंश ने यन्त्र तथा भद्रासन की जो व्याख्या दी है तदनुसार यन्त्र से यहाँ विविध प्रकार के वाद्यों का तात्पर्य है तथा भद्रासन से पैरों के द्वारा ताल देने की स्थितियों का संकेत है। यही विश्लेषण हमें भी समीचीन प्रतीत होता है।

१. 'तन्त्रीगानसमन्वितम्' इति वा पाठः।

२. प्रथम वस्तु से उपोहन करके क्षेप का और द्वितीय वस्तु से प्रत्युपोहन करके प्रतिक्षेप का प्रयोग किया जाता है। जैसा कि अभिनव का कथन है—"ये क्षेपः प्रथमवस्त्वादावुपोहनानि ये च प्रतिक्षेपाः द्वितीयवस्त्वादिषु प्रत्युपोहनानि.........।" अभिनव ने अन्यमत उद्धृत किया है। तदनुसार अन्तर्भूत पृथक्कालात्मक गीत की वस्तु को तन्त्री के माध्यम से क्षेपप्रतिक्षेप विधि द्वारा व्यंजित करना चाहिए। फिर भाण्ड वाद्यों के प्रयोग के साथ नर्तकी का आगमन होता है। डा० रघुवंश ने अन्य मत उद्धृत किया है जिसके अनुसार पहले वस्तु में आक्षिप्तिका तथा उपोहन का प्रयोग होता है, फिर नर्तकी का प्रवेश होता है।

सर्वप्रथम गीत की समस्त विषयवस्तु को (मुद्राओं द्वारा) अभिनीत किया जाना चाहिए, तदनन्तर फिर उसी विषयवस्तु को नृत्त के माध्यम से प्रदर्शित करना चाहिए ॥ २९४-२९५ ॥

यो विधिः पूर्वमुक्तस्तु नृत्ताभिनयवादिते ॥ २९५ ॥
आसारितविधौ स स्याद् गीतानां वस्तुकेष्वपि ।
एवं वस्तुनिबन्धानां गीतकानां विधिः स्मृतः ॥ २९६ ॥

नृत्त, अभिनय तथा वाद्यवादन की जो विधि पहले कही जा चुकी है उसी का प्रयोग आसारित[1] के अन्तर्गत गीतों की वस्तु के सम्बन्ध में भी होगा। इस प्रकार यह (विषय) वस्तु से निबद्ध गीतों की प्रयोगविधि की विवेचना की गयी है ॥ २९५-२९६ ॥

अङ्गों में निबद्ध गीतों की प्रयोग विधि—

शृणुताङ्गनिबद्धानां गीतानामपि लक्षणम् ।
य एव वस्तुकविधिर्नृत्ताभिनयवादिते ॥ २९७ ॥
तमेवाङ्गनिबद्धेषु च्छन्दकेष्वपि योजयेत् ।

अब अंगों में निबद्ध गीतों के प्रयोग की विधि को भी सुनें। जो विधि वस्तु के साथ नृत्त अभिनय एवं वादन में प्रयुक्त होती हैं, उसी का उपयोग अंगों में निबद्ध छन्दक[2] में किया जाना चाहिए ॥ २९७-२९८ ॥

वाद्यं गुर्वक्षरकृतं तथाल्पाक्षरमेव च ॥ २९८ ॥
मुखे सोपोहने कुर्याद्वर्णानां विप्रकर्षतः ।

मुख तथा उपोहन[3] के प्रयोग में वाद्यों का वादन गुरु तथा अल्प अक्षरों के भेद-

---

१. अभिनवगुप्त की व्याख्या के अनुसार आसारित में संख्या के नियम से नर्तकियों की संख्या बढ़ती जाती है। पहले एक नर्तकी का अभिप्राय होता है। उसी प्रकार गीतक के प्र योग में भी वस्तु की संख्या के अनुसार नृत्त होता है।

२. डा० रघुवंश ने छन्दक को गीत का ही प्रसङ्ग माना है। इसका अर्थ आङ्गिक संचलन अर्थात् नृत्त के समानान्तर चलने वाले गीतों के प्रयोग में भी किया गया है।

३. नाट्य सन्धि के प्रथम भेद का नाम मुख सन्धि है। अथवा छन्दक के प्रारम्भिक प्रयोग को भी मुख कहा जा सकता है। स्थायी स्वर के आधार पर आगे के स्वरों की स्थापना उपोहन के प्रयोग में की जाती है। डा० रघुवंश के मत में यहाँ मुख का उल्लेख 'वस्तु' के सन्दर्भ और 'उपोहन' के गान के सन्दर्भ में हुआ है।

प्रदर्शन के साथ ऐसे बजाना चाहिये कि वर्णों का व्यवधान स्पष्ट हो जाए[1] ॥ २९८-२९९ ॥

यदा गीतिवशादङ्गं भूयो भूयो निवर्तते ॥ २९९ ॥
तत्राद्यमभिनेयं स्याच्छेषं नृत्तेन योजयेत् ।

जब गीत के प्रयोगकाल में उसके कुछ भाग की बार बार आवृत्ति[2] हो तो उसके प्रथम (अभिहित) भाग का अभिनय मुद्राओं द्वारा करे और शेष भाग का प्रदर्शन नृत्त के माध्यम से करना चाहिए ॥ २९९-३०० ॥

यदा गीतिवशादङ्गं भूयो भूयो निवर्तते ॥ ३०० ॥
त्रिपाणिलयसंयुक्तं तत्र वाद्यं प्रयोजयेत् ।
यथा लयस्तथा वाद्यं कर्तव्यमिह वादकैः ॥ ३०१ ॥

जब गीत के प्रयोग के समय उसके कुछ अङ्गों की पुनरावृत्ति की जाए तो उसके साथ तीन प्रकार के पाणि[3] तथा त्रिविध लय[4] के प्रयोग से संयुक्त वाद्यों का वादन किया जाना चाहिए। इस समय वादकों द्वारा वाद्यों को लय के अनुसार रखना चाहिए ॥ ३००-३०१ ॥

---

१. अभिनवभारती के अनुसार घिंघि, ढन्, त्रन् जैसे गुरु अक्षर भी शीघ्रता से प्रयुक्त होने पर अनेक संख्यक हो सकते हैं। यथा एक कला में ही 'त्थीत्थी-त्थीत्थन् धृत् दत्थकुदहिं' यह सम्पूर्ण अक्षर प्रयुक्त किये जाते हैं।

२. अभिनवगुप्त के मत में छन्दक गीत के मुख्य अङ्ग बार-बार दुहराए जाते हैं। गीत की मागधी आदि रीतियों में प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय आदि पाद भागों में ऐसे ही अङ्गों को दुहराया जाता है (संगीतरत्नाकर, स्वराध्याय, पृ० २८०)।

३. पाणि को ताल कहा गया है। इसके तीन भेद हैं—

समपाणि, उपरिपाणि तथा अर्धपाणि।

'समपाणिरुपरिपाणिरर्धपाणिश्चेति'—ना० शा० ३१-३२९

संगीत व नृत्त के साथ समपाणि ताल, बाद में अर्धपाणि ताल तथा पहले उपरिपाणि ताल का प्रयोग होता है।

४. छन्द अक्षर एवं पादों की समता का नाम लय है। जैसा कि अभिनवगुप्त की स्पष्टोक्ति है—

'छन्दोक्षरपदानां साम्यं लयः।' इसके तीन भेद हैं—द्रुत, मध्यम एवं विलम्बित। —(ना० शा० ३१.३२६)

ताल के बाद जो विश्राम किया जाता है, वस्तुतः वही लय है।

[तत्त्वं चानुगतं चापि ओघं च करणान्वितम् ।
स्थिरे तत्त्वं प्रयोक्तव्यं मध्ये चानुगतं भवेत् ।
भूयश्चौघः प्रयोक्तव्यस्त्वेष वाद्यगतो विधिः ॥
छन्दोगीतकमासाद्य त्वङ्गानि परिवर्तयेत् ।
एष कार्यो विधिर्नित्यं नृत्ताभिनयवादिते ॥
यानि वस्तुनिबद्धानि तेषामन्ते ग्रहो भवेत् ।
अङ्गानां तु परावृत्तावादावेव ग्रहो मतः ॥]

[तत्त्व, अनुगत तथा ओघ सर्वदा करणों के साथ रहते हैं । वाद्यवादन के नियम के अनुसार इसमें से स्थिर लय के साथ तत्त्व का, मध्य लय के साथ अनुगत का और द्रुत लय के साथ ओघ का प्रयोग करना चाहिए । जब गीत के अङ्ग छन्दक अवस्था में हों तो उन्हें कई बार दोहराना चाहिए । यह द्वावर्तन का नियम नृत्त, अभिनय एवं वादन में एक जैसा रहता है । जिन गीतों में वस्तुरचना सन्निहित होती है, उनके अन्त में ग्रह (विशिष्ट वाद्यवादन) का प्रयोग किया जाता है । पर अंगों (बड़े गीतों के अंशों) की आवृत्ति के समय ग्रह का प्रयोग अन्त में किया जाता है[1] ।]

एवमेव विधिः कार्यो गीतेष्वासारितेष्वपि ।

इस प्रकार आसारित गीत के प्रयोग में यह विधि प्रयुक्त की जानी चाहिए ॥ ३०२ ॥

सुकुमार नृत्त के प्रयोग की विधि—

देवस्तुत्याश्रयं ह्येतत्सुकुमारं निबोधत ॥ ३०२ ॥
स्त्रीपुंसयोस्तु संलापो यस्तु कामसमुद्भवः ।
तज्ज्ञेयं सुकुमारं हि शृंगाररससम्भवम् ॥ ३०३ ॥

अब देवताओं की वन्दना से सम्बन्धित इस सुकुमार नृत्त के विषय में जानो । सुकुमार नृत्त शृंगार रस से उत्पन्न होता है, इसमें प्रणयोन्मत्त स्त्री-पुरुष का कथनोपकथन होता है ॥ ३०२-३०३ ॥

यस्यां यस्यामवस्थायां नृत्तं योज्यं प्रयोक्तृभिः ।
यत्सर्वं सम्प्रवक्ष्यामि तच्च मे शृणुत द्विजाः ॥ ३०४ ॥

---

१. श्री घोष के अनुसार जब लम्बे गीतों के अंश दोहराए जाते हैं तो उनके प्रारम्भ में ग्रह का प्रयोग किया जाता है ।

संगीतकार के अनुसार सम, अतीत और अनागत यह तीन ग्रह ताल के होते हैं (संगीत रत्नाकर, ताल, पृ० २७-२८) ।

हे ब्राह्मणों ! जिस अवसर तथा स्थितियों में प्रयोक्तागण को नृत्त की योजना करनी चाहिए वह सब मैं अब आप लोगों को बतलाऊंगा ॥ ३०४ ॥

अङ्गवस्तुनिवृत्तौ तु तथा वर्णनिवृत्तिषु ।
तथा चाभ्युदयस्थाने नृत्तं तज्ज्ञैः प्रयोजयेत् ॥ ३०५ ॥

नाटयज्ञ जनों द्वारा उस समय नृत्त का प्रयोग किया जाना चाहिए जब गीत अथवा नाटक की विषयवस्तु के अंग[1] एवं वर्ण[2] की समाप्ति हो, अथवा किसी पात्र के अभ्युदय[3] का अवसर हो ॥ ३०५ ॥

यत्तु संदृश्यते किञ्चिद्दम्पत्योर्मदनाश्रयम् ।
नृत्तं तत्र प्रयोक्तव्यं प्रहर्षार्थगुणोद्भवम् ॥ ३०६ ॥

जहाँ दम्पति की प्रणयलीला के आधार पर प्रदर्शन किया जाए वहाँ आनन्द-मूलक नृत्त की योजना करनी चाहिए ॥ ३०६ ॥

यत्र सन्निहिते कान्ते ऋतुकालादिदर्शनम् ।
गीतकार्थाभिसंबद्धं नृत्तं तत्रापि चेष्यते ॥ ३०७ ॥

जब नायक नायिका का मिलन हो, अनुकूल ऋतु या समय हो, उस समय गीत के अर्थ से सम्बन्धित नृत्त का प्रयोग करना चाहिए ॥ ३०७ ॥

खण्डिता विप्रलब्धा वा कलहान्तरितापि वा ।
यस्मिन्नङ्गे तु युवतिर्न नृत्तं तत्र योजयेत् ॥ ३०८ ॥

(नाटक के) जिस अंग में खण्डिता, विप्रलब्धा या कलहान्तरिता नायिका[4] का अभिनय हो वहाँ नृत्त का प्रयोग नहीं करना चाहिए ॥ ३०८ ॥

---

१. अङ्ग—जब गीत के पदभाग का रचनाक्रम समाप्त हो। अंग से यहाँ नाटकीय विभिन्न अंगों की रचना का अर्थ भी लिया जा सकता है।

२. वर्ण—श्री घोष के मत में गीत के आलंकारिक विशिष्ट अंग की ही संज्ञा वर्ण है। अभिनवगुप्त के मत में वर्ण का अर्थ गान-क्रिया से विस्तारपूर्ण स्थायी (वर्णानां स्थाय्यादीनां गीतक्रियाविस्ताररूपाणाम्) है।

३. श्री घोष के अनुसार अभ्युदय नाटक के पात्र का होता है। किन्तु डा० रघुवंश ने इसे गीत एवं नाट्यवस्तु के अभ्युदय स्थलों से सम्बद्ध माना है।

४. यह नायिका भेद से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्द है। तदनुसार जिस नायिका का प्रिय वचनबद्ध होकर भी न आए वह 'खण्डिता', जिसका नायक दूती से सन्देश पाकर भी न आए वह 'विप्रलब्धा' एवं जिसका नायक कलह के कारण चला गया हो वह 'कलहान्तरिता' कहलाती है। अर्थात् यह सभी नायिकाएं अपने प्रिय के मिलन-सुख से वञ्चित होती हैं।

सखीप्रवृत्ते संलापे तथाऽसन्निहिते प्रिये।
नहि नृत्तं प्रयोक्तव्यं यस्या वा प्रोषितः प्रियः॥ ३०९॥

जब सखी के साथ वार्तालाप हो रहा हो, प्रियतम समीप न हो अथवा पति परदेश गया हो तो नृत्त का प्रयोग नहीं करना चाहिए॥ ३०९॥

[दूत्याश्रयं यदा तु स्यादृतुकालादिदर्शनम्।
औत्सुक्यचिन्तासंबद्धं न नृत्तं तत्र योजयेत्॥]

(जब दूत के द्वारा ऋतु या समय का वर्णन किया जा रहा हो, उस समय उत्सुकता तथा चिन्ता की अवस्था के कारण नृत्त की योजना करनी निषिद्ध है।)

यस्मिन्नङ्गे प्रसादं तु गृह्णीयान्नायिका क्रमात्।
ततःप्रभृति नृत्तं तु शेषेष्वङ्गेषु योजयेत्॥ ३१०॥

यदि (नाट्य के) किसी अंग के प्रदर्शन में नायिका को क्रमशः आह्लाद की प्राप्ति होती हो[1] तो उस स्थिति की पूर्णता तक नृत्त की योजना करनी चाहिए॥ ३१०॥

देवस्तुत्याश्रयकृतं यदङ्गं तु भवेदथ।
माहेश्वरैरङ्गहारैरुद्धतैस्तत्प्रयोजयेत्॥ ३११॥

नाट्य में यदि कोई अंग[2] देवता की आराधना से सम्बन्धित हो तो वहाँ महेश्वर द्वारा निर्देशित उद्धत अंगहारों[3] से युक्त नृत्त का प्रयोग करना चाहिए॥ ३११॥

यत्तु शृङ्गारसम्बद्धं गानं स्त्रीपुरुषाश्रयम्।
देवीकृतैरङ्गहारैर्ललितैस्तत्प्रयोजयेत्॥ ३१२॥

स्त्री-पुरुष के शृंगाररस से सम्बन्धित सहगान के अवसर पर भगवती पार्वती द्वारा रचे गए ललित अंगहारों[4] से पूर्ण नृत्त का संयोजन करना चाहिए॥ ३१२॥

---

१. प्रिय के मिलन की आशा या कोई सुखद समाचार की प्राप्ति इस आह्लाद के कारण हो सकते हैं।

२. अभिनवगुप्त के अनुसार अंग का तात्पर्य छन्दकगीत के अंश विशेष से है (छन्दकसम्बन्धि)। परन्तु इसका अर्थ नाट्य की कथावस्तु के किसी अंग विशेष (विभाग) से भी हो सकता है।

३. उद्धत अङ्गहारों के अन्तर्गत अभिनव ने विद्युद्भ्रान्त तथा गरुडप्लुत आदि की गणना की है (उद्धतैरिति। विद्युद्भ्रान्तगरुडप्लुतकादिप्रधानैः)।

४. अभिनवगुप्त की व्याख्यानुसार ललित अङ्गहारों में तलपुष्पपुट, लीन, नितम्ब आदि की गणना होनी चाहिए (ललितैरिति। तलपुष्पपुटलीन-नितम्बाद्यारब्धैः)।

चतुष्पाद, नर्कुटक, खंजक तथा परिगीत आदि गीतों के गान के समय भाण्ड-वाद्य प्रयोग की विधि—

चतुष्पदा नर्कुटके खञ्जके परिगीतके ।
विधानं संप्रवक्ष्यामि भाण्डवाद्यविधिं प्रति ॥ ३१३ ॥

अब में चतुष्पाद[1], नर्कुटक[2], खंजक[3] तथा परिगीत[4] नामक गीतों के प्रमेय के समय प्रयुक्त किए जाने वाले भाण्ड वाद्यों की प्रयोगविधि बतलाऊँगा ॥ ३१३ ॥

खञ्जनर्कुटसंयुक्ता भवेद्या तु चतुष्पदा ।
पादान्ते सन्निपाते तु तस्या भाण्डग्रहो भवेत् ॥ ३१४ ॥

खंजक तथा निर्कुटक वर्णगीत तथा सन्निपात ग्रह सहित चतुष्पाद गीत के अन्तिम पाद के समाप्त होने पर वाद्यवादन प्रारम्भ होना चाहिए[5] ॥ ३१४ ॥

या ध्रुवा छन्दसा युक्ता समपादा समाक्षरा ।
तस्याः पादावसाने तु प्रदेशिन्या ग्रहो भवेत् ॥ ३१५ ॥

जो ध्रुवा[6] समान अक्षर तथा समान चरण वाले द्वन्द्वों से युक्त होती है,[7] तो उसके प्रथमपाद की समाप्ति पर प्रदेशिनी (तर्जनी) अङ्गुली से भाण्ड वाद्य बजाया जाता है[8] ॥ ३१५ ॥

कृत्वैकं परिवर्तं तु गानस्याभिनयस्य च ।
पुनः पादनिवृत्तिं तु भाण्डवाद्येन योजयेत् ॥ ३१६ ॥

---

१. ना० शा० ३१-५११ २. ना० शा० ३२-३०४
३. ना० शा० ३१-५१२ ४. ना० शा० ३२-४३४

५. अभिनवगुप्त के मत में चतुष्पाद ध्रुवा के खंजक तथा नर्कुटक नामक प्रकारों का प्रयोग जब किया जाता है तो पहला पाद समाप्त होते ही भाण्ड वाद्य बजाया जाता है, अर्थात् थाप देकर ताल दी जाती है। "खञ्जकजात्या नर्कुटक-जात्या वा या चतुष्पदाध्रुवा क्रियतेऽस्यां प्रथमपादस्य यावदुपा(न्त्य) (कला) तावच्च श्रीवशान्वितं गानम्" अभिनव ने एक अन्य मत उद्धृत किया है। जिसके अनुसार सन्निपात संज्ञक कला के गान के समय भाण्डवाद्य का आरम्भ किमा जाता है।

६. गीत के आधारभूत एक निश्चित पाद-समूह की संज्ञा ध्रुवा होती है।

७. समपादा—जिस ध्रुवा के पाद समान हो (यह लक्षण) अभिनव-गुप्त के मतानुसार चतुष्पादाध्रुवा का ही है—'समपादा चतुष्पादा'।

८. प्रायः प्रदेशिनी उंगली से टंकार देने का ही कार्य लिया जाता है। अतः यहाँ टंकार से ताल देने का तात्पर्य प्रतीत होता है।

ऐसा करने के बाद (उपर्युक्त विधि से वाद्यवादनपूर्वक ध्रुवा गीत गाये जाने पर) गान तथा अभिनय के प्रयोग द्वारा इस (ध्रुवा) की पुनरावृत्ति करनी चाहिए और अन्तिम पाद के समाप्त होने पर भाण्डवादन करा देना चाहिए[1] ॥ ३१६ ॥

अङ्गवस्तुनिवृत्तौ तु वर्णान्तरनिवृत्तिषु ।
तथोपस्थापने चैव भाण्डवाद्यं प्रयोजयेत् ॥ ३१७ ॥

गीत के अङ्ग अथवा विषय (वस्तु) की समाप्ति वर्णों की आन्तरिक निवृत्ति[2] के अवसर पर अथवा (गीत या वस्तु के) उपस्थापन के अवसर पर भाण्ड-वाद्य का संयोजन किया जाना चाहिए ॥ ३१७ ॥

येऽपि चान्तरमार्गास्स्युः तन्त्रीवाक्करणैः कृताः ।
तेषु सूची प्रयोक्तव्या भाण्डेन सह ताण्डवे ॥ ३१८ ॥

तन्त्री,, वाक् तथा करणों के द्वारा प्रयुक्त अन्तरमार्ग[3] के बीच में ताण्डव की योजना करनी चाहिए जिसमें भाण्डवाद्य सहित सूची चारी का प्रदर्शन किया जाना चाहिए ॥ ३१८ ॥

---

१. अभिनवगुप्त के विचार में शुद्धविभागयुक्त गीत की आवृत्ति भाण्डवादन के साथ ही होगी और उसका अभिनय किया जाएगा । अर्थात् जिस भाग के साथ पहले वादन हुआ था उसको अभिनय द्वारा नहीं प्रदर्शित किया जायगा । फिर आवृत्ति के समय उसको ही दोहराया जायगा अर्थात् उसका अभिनय किया जाएगा और उसी के अनुसार भाण्डवादन भी किया जाएगा । (योऽसौ शुद्धविभागः पूर्वं गीतः स परावर्तनीयो भाण्डवाद्येन सहाभिनेतव्य इति पश्चादसौ प्रयोज्य·········यावान्भागो भाण्डवाद्येन प्राङ्नियोजितोऽत एव नाभिनीतस्तावतो निवृत्तिः परावर्तनं कार्यमियुक्तं भवति ।)

२. निवृत्ति का अर्थ अभिनव के अनुसार परावर्तन है । कुछ लोग इसका अर्थ समाप्ति भी करते हे ।

३. अभिनवगुप्त के अनुसार स्वरों के साथ अन्तर्वर्ती अल्पस्वरों की विचित्रता को उत्पन्न करने वाली संगति का नाम अन्तरमार्ग है । संगीतरत्नाकर के अनुसार स्वरों की यह संगति न्यास, अपन्यास विन्यासग्रह और अंश के अतिरिक्त, बीच-बीच में अंश, ग्रह, अपन्यास, विन्यास एवं संन्यास स्वरों के साथ कहीं अपन्यास द्वारा प्रयुक्त की जाती है और कहीं लंघन द्वारा । अन्तरमार्ग का प्रयोग तन्त्री-वाद्य, कण्ठगान एवं नृत्त के करणों द्वारा किया जाता है—

'अन्तरं परस्परवैलक्षण्यं मन्यते येनोपायेन सोऽन्तरमार्गः ।'

ताण्डवनृत्त के प्रयोग का महात्म्य—

महेश्वरस्य चरितं य इदं सम्प्रयोजयेत्।
सर्वपापविशुद्धात्मा शिवलोकं स गच्छति ॥ ३१९ ॥

महेश्वर शिव द्वारा निर्मित इस ताण्डव नृत्य का समुचित रीति से प्रयोग करने वाला सब पापों से रहित होकर शिवलोक को प्राप्त करता है ।। ३१९ ॥

एवमेष विधिः सृ(दृ)ष्टस्ताण्डवस्य प्रयोगतः ।
भूयः किं कथ्यतामन्यन्नाटयवेदविधिं प्रति ॥ ३२० ॥

॥ इति भारतीये नाटयशास्त्रे ताण्डवलक्षणं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

ताण्डवनृत्त के प्रयोग की यह विधि कही गई है । नाट्यवेद के विधान के विषय में तुम लोगों को और क्या बतलाया जाए ? ।। ३२० ॥

॥ इस प्रकार भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र की 'नाटयप्रदीप' नामक हिन्दी व्याख्या का ताण्डवलक्षण नामक चतुर्थ अध्याय की पूर्ण हुआ ॥ ४ ॥

——*——

अथ पञ्चमोऽध्यायः

भरतमुनि से ऋषियों की पूर्वरङ्ग के स्वरूप की जिज्ञासा—

भरतस्य वचः श्रुत्वा नाट्यसन्तानकारणम्[१] ।
पुनरेवाब्रुवन् वाक्यमृषयो हृष्टमानसाः ॥ १ ॥
यथा नाट्यस्य जन्मेदं जर्जरस्य च सम्भवः ।
विघ्नानां शमनं चैव देवतानां च पूजनम् ॥ २ ॥
तदस्माभिः श्रुतं सर्वं गृहीत्वा चावधारितम् ।
निखिलेन यथातत्त्वमिच्छामो वेदितुं पुनः ॥ ३ ॥
पूर्वरङ्गं महातेजः सर्वलक्षणसंयुतम् ।
यथा बुद्धयामहे ब्रह्मंस्तथा व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४ ॥

नाटच के विषय को बताते रहने वाले आचार्य भरत से हर्षित मन वाले ऋषिगण बोले—हे मुनि ! आपसे हमलोगों ने नाटच की उत्पत्ति, जर्जर का उद्गम, नाटचविघ्नों का शमन तथा (रङ्गमञ्च के) देवताओं की पूजा की विधि सुनी । अब हमें भेदों एवं प्रभेदों के साथ एवं लक्षणों से युक्त पूर्वरङ्ग के स्वरूप को जानने की जिज्ञासा है । जिस तरह से हम समझ सकें कृपया उस तरह से आप उसकी व्याख्या कीजिए ॥ १-४ ॥

भरतमुनि द्वारा पूर्वरङ्ग के स्वरूप का वर्णन—

तेषां तु वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतो मुनिः ।
प्रत्युवाच पुनर्वाक्यं पूर्वरङ्गविधिं प्रति ॥ ५ ॥
पूर्वरङ्गं महाभागा गदतो मे निबोधत ।
पादभागाः कलाश्चैव परिवर्तास्तथैव च ॥ ६ ॥

ऋषिगणों की बातें सुनकर 'पूर्वरङ्ग विधान' के विषय में भरतमुनि ने कहा—हे महाभाग ! मैं आपलोगों को पूर्वरङ्ग तथा उससे सम्बन्धित जिन पादभाग[२],

---

१. 'लक्षणम्' इति वा पाठः ।

२. पादभाग—अभिनवगुप्त के मत में मात्राओं के संयोग से पादभाग का निर्माण होता है ।

श्री घोष का विचार है कि इसका ताल से सम्बन्ध होता है । संगीत रत्नाकर में चित्र, वार्तिक, दक्षिण एवं ध्रुव मार्ग में क्रमशः एक, दो, चार तथा आठ

कलाओं[1], एवं पादपरिवर्तों[2] के विषय में बतलाता हूँ उनको आप सुनिये ॥ ५-६ ॥

पूर्वरङ्ग नामकरण का कारण—

[3]यस्माद्रङ्गप्रयोगोऽयं पूर्वमेव प्रयुज्यते ।
तस्मादयं पूर्वरङ्गो विज्ञेयो द्विजसत्तमाः ॥ ७ ॥

क्योंकि रङ्गपीठ पर इसका सम्पादन नाटचप्रयोग में सर्वप्रथम किया जाता है अतः इसे पूर्वरङ्ग[4] कहा जाता है ॥ ७ ॥

मात्राओं से एक पादभाग के निर्माण का विधान किया गया है। इस विषय में ३१.३०८-३०९ में भी विचार किया गया है।

१. कला—वस्तुतः कला संगीतशास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है जो कि समय के पैमाने के रूप में स्वीकृत है। यों तो कला का समय ज्योतिष आदि शास्त्रों में एक निमेष के तुल्य माना जाता है किन्तु संगीत में कला का समय पाँच निमेष का माना जाता है। इस विषय में अभिनवगुप्त का मत है कि कला शब्द से निष्क्रामादि सात भेदों वाले ताल का बोध होता है, अर्थात् ताल का मात्राकाल 'कला' है—'अत्र कलाशब्देन सप्तविधा तालकला निष्क्रामादिरुच्यते। तया समस्तो मानात्मकस्तालमार्गो गृहीतः।'' ताल उस समय को कहा जाता है जो गीत, वाद्य एवं नृत्य को परिमित करता है।

कला का विशेष परिचय नाटचशास्त्र के इकत्तीसवें अध्याय के ४-५ श्लोकों में दिया गया है।

२. परिवर्त—पादभाग से युक्त ताल की आवृत्ति को 'परिवर्त' कहा जाता है। अभिनवगुप्त का कथन है कि गोलाकार घूमना ही परिवर्त है। (परिवर्तन्त इति परिवर्ताः)। घूमने का कार्य पैरों से ही सम्भव है। अतः पैरों के गोलाकार घूमने का ही नाम पादपरिवर्त कहा जाएगा। इसी अध्याय के पाँचवें, एवं पैंसठ से नवासी श्लोकों में परिवर्त का विशेष परिचय दिया गया है।

३. 'यस्माद्रङ्गे प्रयोगोऽयं' इति वा पाठः।

४. पूर्वरङ्ग— ''कलापाताः पादभागाः परिवर्ताश्च सूरिभिः ।
पूर्वं क्रियते यद्रङ्गैः पूर्वरङ्गो भवेदतः ॥

भावप्रकाश की इस व्याख्या के अनुसार सर्वप्रथम किए जाने वाले कलापात, पादभाग एवं परिवर्त की संज्ञा पूर्वरङ्ग है। अभिनवगुप्त का विचार हैं कि पूर्वरङ्ग शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जा सकती है (अ) पूर्वोरङ्गं पूर्वरङ्गः—ऐसा सुप्सुपा समास माना जा सकता है। (ब) राजदन्तादित्वात् परनिपाद्—ऐसा माना जा सकता है। वह सारी क्रियायें जो कि नाटच की सफलता के लिए

पूर्वरङ्ग के अङ्ग—

अस्याङ्गानि तु कार्याणि यथावदनुपूर्वशः ।
तन्त्रीभाण्डसमायोगैः पाठ्ययोगकृतैस्तथा ॥ ८ ॥
प्रत्याहारोऽवतरणं तथा ह्यारम्भ एव च ।
आश्रावणा वक्त्रपाणिस्तथा च परिघट्टना ॥ ९ ॥
सङ्घोटना ततः कार्या मार्गासारितमेव च ।
ज्येष्ठमध्य-कनिष्ठानि तथैवासारितानि च ॥ १० ॥
एतानि तु बहिर्गीतान्यन्तर्यवनिकागतैः ।
प्रयोक्तृभिः प्रयोज्यानि तन्त्रीभाण्डकृतानि च ॥ ११ ॥

इस पूर्वरङ्ग के अङ्ग तन्त्री वाद्य (वीणादि), भाण्ड वाद्य (मृदङ्गादि) एवं संवाद (पाठ्य अंश) के साथ क्रमशः प्रयोग किए जाने चाहिए । इन अङ्गों के नाम प्रस्तुत हैं--प्रत्याहार, अवतरण, आरम्भ, आश्रावणा, वक्त्रपाणि, परिघट्टना, संघोटना, मार्गासारित तथा ज्येष्ठ, मध्यम एवं कनिष्ठ आसारित । यवनिका के पीछे स्थित प्रयोक्ताओं को चाहिए कि (तन्त्री तथा भाण्डवाद्य के साथ) (इन

वास्तविक प्रयोग के पूर्व की जाती हैं 'पूर्वरङ्ग' कही जाती हैं । अभिनवभारती-कार का तर्क है कि यथा तन्तु, तुरी, वेमा आदि के अभाव में पट का निर्माण असम्भव है । उसी भाँति प्रत्याहारादि अङ्गों के पूर्ण प्रयोग से गायन आदि समस्त साधनों का संयोग होने पर नाट्य प्रयोग सफल हो सकता है (न ह्यहो किल तन्तु-तुरीवेमादेः (विना) शक्यः पटः कर्तुम्) ।

श्रीहर्ष के मत में रङ्गशब्द का अर्थ तौर्यत्रिक है । वही नाट्याङ्ग प्रयोग का पूर्व अङ्ग होता है । अतः 'पूर्वरङ्ग' पद का समासविच्छेद होगा—पूर्वश्चासौ रङ्गः (श्रीहर्षस्तु रङ्गशब्देन तौर्यत्रिकं ब्रुवन् नाट्याङ्गप्रयोगस्य तस्यैव पूर्वरङ्गतां मन्यमानः पूर्वश्चासौ रङ्ग इति समासममंस्त) । किन्तु श्रीहर्ष का मत अभिनवगुप्त को मान्य नहीं है । उनका विचार है कि यह मण्डप के किसी देश जैसा भाग नहीं है, किन्तु जैसे धूपादि से देवता की तुष्टि होती है उसी भाँति लौकिक अलौकिक फलशाली कार्य होने से यहाँ 'पूर्वो रङ्गे इति पूर्वरङ्गः' इस प्रकार की व्याख्या ही उचित है (रङ्गस्य पूर्वो भाग इति त्वसत् । न ह्ययं मण्डपस्यैकदेशः । नापि नाट्यस्य । न ह्ययं भावानुकीर्तनात्मकव्याख्यानानुकारस्वभावः । अपि तु शिक्षा-दिवत्पारमार्थिक एव प्रयोगसम्पत्त्युपकरणभूतो भोजनादितुल्यः प्रत्याहारादिरर्थः । ...देवतापरितोषणफलं धूपविलेपनादिदानवत् सत्यमेवेति पूर्वो रङ्ग इत्येष एवं (समासः) ।

बहिर्गीतों[1] को) प्रस्तुत करें ॥ ८-११ ॥

पूर्वरङ्ग के प्रयोग की विधि—

ततः सर्वैस्तु कुतपैः संयुक्तानीह कारयेत् ।
विघट्य वै यवनिकां नृत्तपाठ्यकृतानि तु ॥ १२ ॥
गीतानां मद्रकादीनां योज्यमेकं तु गीतकम् ।
वर्धमानमथापीह ताण्डवं यत्र युज्यते ॥ १३ ॥
ततश्चोत्थापनं कार्यं परिवर्तनमेव च ।
नान्दी शुष्कावकृष्टा च रङ्गद्वारं तथैव च ॥ १४ ॥
चारी चैव ततः कार्या महाचारी तथैव च ।
त्रिकं प्ररोचना चापि पूर्वरङ्गे भवन्ति हि ॥ १५ ॥

इसके पश्चात् 'यवनिका[2]' को ऊपर उठाकर वाद्यवादन के साथ नृत्त तथा पाठ्य का सम्पादन करना चाहिए मद्रक[3] जाति के गीतों में से एक गीत अथवा 'भाण्डव' का प्रयोग किए जाने पर वर्धमानक गीतों में से एक गीत का प्रयोग करना चाहिए और फिर क्रमशः उत्थापन, परिवर्तन, नान्दी, शुष्कावकृष्टा, रङ्गद्वार, चारी, महाचारी, त्रिक एवं प्ररोचना का प्रयोग किया जाना चाहिए ॥ १२-१५ ॥

एतान्यङ्गानि कार्याणि पूर्वरङ्गविधौ द्विजाः ।
एतेषां लक्षणमहं व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः ॥ १६ ॥

इन अङ्गों का प्रयोग पूर्वरङ्ग के विधान में विद्वानों द्वारा अवश्य किया जाना चाहिए। अब मैं क्रम से इन (अङ्गों) के लक्षणों की व्याख्या करता हूँ ॥ १६ ॥

कुतपस्य तु विन्यासः प्रत्याहार इति स्मृतः ।
तथावतरणं प्रोक्तं गायिकानां निवेशनम् ॥ १७ ॥

प्रत्याहार—वाद्यों को उचित स्थान पर व्यवस्थित करने को 'प्रत्याहार' कहा

---

१. बहिर्गीत—जिन गीतों के गायक अदृश्य हों अथवा जो गीत नाट्यवस्तु के अन्तर्गत न आते हों उन्हें 'बहिर्गीत' कहा जाता है।

२. यवनिका—श्री घोष के मत में यवनिका का अर्थ आगे वाले पर्दे से है जो कि आधुनिक पर्दे की भाँति होता है। उनका यह भी अभिमत है कि पूर्वरङ्ग की प्रथम नौ क्रियायें यवनिका के गिरे रहने पर ही सम्पन्न की जाती थीं।

३. मद्रक—मद्रक एक गीतविशेष की जाति का नाम है। मद्रक तथा वर्धमानक गीतों की विशेष परिचर्चा नाट्यशास्त्र के उन्तीसवें एवं इकतीसवें अध्याय में की गयी है।

जाता है[१]।

अवतरण—गायकों तथा गायिकाओं को अपने निर्दिष्ट स्थान पर आसीन कराने को 'अवतरण' कहते हैं[२] ॥ १७ ॥

परिगीतक्रियारम्भ आरम्भ इति कीर्तितः ।
आतोद्यरञ्जनार्थं तु भवेदाश्रावणाविधिः ॥ १८ ॥

आरम्भ—गायन के निमित्त कण्ठ से (आलाप आदि के) आरम्भ करने को 'आरम्भ' कहा जाता है[३]।

आश्रवणा—वादनार्थं वाद्यों को सुव्यवस्थित करना ही 'आश्रवणा'

---

१. विशिष्ट वाद्ययन्त्र के लिए विशिष्ट स्थान का निर्धारण अभिनवगुप्त के समय भी प्रचलित था। तदनुसार नेपथ्यगृह के द्वार पर पूर्वाभिमुख होकर मृदंग बजाने वाला बैठता है। उसकी बायीं ओर दो पणववादक, रङ्गपीठ के दाहिनीं ओर उत्तराभिमुख गायक तथा उसके ही आगे दक्षिणाभिमुख गायिकाएं बैठती हैं। गायकों के बायीं ओर वेणुवादक बैठता है। इन वाद्यवादकों के निर्धारित स्थान पर उस वाद्य के व्यवस्थित करने को 'प्रत्याहार' कहा जाता है।

२. अभिनवगुप्त ने उल्लेख किया है कि कुछ आचार्यों के मत में उपवेशन (असीन कराने) का अर्थ—स्थान एवं स्वरों का परिग्रह है (अन्ये मन्यन्ते निवेशनं स्थानस्वरादौ)।

अभिनवगुप्त का कथन है कि यह वाद्य एवं गीत योजना स्त्रियों एवं बालकों के लिए होती है (·········गीतानुवर्ति वाद्यं स्त्रीबालमूर्खादिकुतूहलादिजननम्)। इसका कारण श्री घोष के अनुसार यह हो सकता है कि तत्कालीन लोग समय का उतना ध्यान न रखने से देर से भी पहुँचते थे। अतः जो लोग पहले पहुँच जाते थे उनके मनोरंजनार्थ, आज की यात्राओं (खुले आकाश में नाटक) की भाँति कुछ वाद्य एवं संगीत का आयोजन नाट्यप्रयोग के पहले ही करना आवश्यक हो जाता था।

३. अभिनवगुप्त का मत है कि परिगीतक्रिया अर्थात् आलाप के बिना त्रिसामादि गानों का प्रयोग असंभव मानने वाली आशंका का यह उत्तर है कि यहाँ विभिन्न अंगों का जो विवेचन है उसे क्रमिक न माना जाए यह अंग दृष्टान्त के लिए प्रयुक्त हुए हैं। अतः पहले रंजकवर्ग (स्वर) को आलाप के द्वारा प्रस्तुत प्रस्तुत करने के बाद ही उपरंजक (गीत) की प्रधानता होती है।

अर्थ दृष्टव्य है—(तस्य च विम्बभूतं शारीरं शरीरस्वराणां मूलत्वात्)। स्वरों का निश्चितक्रम में आलाप ही आरम्भ है।

कहलाता है[1] ॥ १८ ॥

वाद्यवृत्तिविभागार्थं वक्त्रपाणिर्विधीयते ।
तन्त्र्योजःकरणार्थं तु भवेच्च परिघट्टना ॥ १९ ॥

वक्त्रपाणि—वाद्यवादन की विभिन्न वृत्तियों (शैलियों) का विभाग करना 'वक्त्रपाणि' कहलाता है[2] ।

परिघट्टना—समायोजन के लिए तन्त्री वाद्यों के तारों का झनझनाना परिघट्टना कहलाता है[3] ॥ १९ ॥

---

१. वाद्ययंत्रों के स्वरों में एकरूपता लाना या आलाप से वाद्यों की संगत बिठाने का अर्थ वही है जिसे हम आजकल साधारण भाषा में स्वर मिलाना कहते है। अभिनवगुप्त के अनुसार आश्रवण का अर्थ है—वाद्ययन्त्रों की ध्वनियों में ताल-लय के विषय में मान (प्रमाण, कालमान) की दृष्टि से अवलोकन करना अर्थात् सामंजस्य स्थापित करना ।

(मानरूपतालप्रधानसर्वातोद्यगर्भमनुसन्धानमानसमन्ताच्छ्रावयतीत्याश्रावणा) । तात्पर्य यह है कि कण्ठ से किए जा रहे आलाप के साथ तादात्म्य रखते हुए वाद्य यन्त्रों की ध्वनियों का परीक्षण करना चाहिए कि कण्ठ एवं वाद्य स्वर एक रूप है कि नहीं, जिससे उभयस्वर में संगत हो सके ।

२. यहाँ वक्त्र का अर्थ ठीक उसी अर्थ में है जिसमें मुख या वक्त्र का तात्पर्य प्राथमिक या प्रारम्भिक माना जाता है । इस भाँति 'वक्त्रे पाणिः" इस समास का अर्थ होगा—वाद्यादि के हाथों का प्रारम्भिक संचालन ।

अभिनवगुप्त के मत में मुखज श्वास से बजने वाले वेणु आदि वाद्यों से संगत करके उनके स्वरूप का अनुसन्धान करके दक्षिणादि वृत्तियों के विभाग को सुनना या परीक्षण करना 'वक्त्रपाणि' है (ततोऽपि प्रतिबिम्बभूतवैणवस्वरस्वरूपानुसन्धानाय दक्षिणादिवृत्तिविभागानुसन्धानात्मना वक्त्रपाणिः ।)

वक्त्रपाणि का विशेष परिचय उन्तीसवे अध्याय में दिया गया है ।

३. अभिनवगुप्त के विचार में तन्त्रीवाद्य की ज्या के घट्टन या घर्षण के द्वारा वृत्तियों के विभागों में शुष्क अक्षर प्रयोग (धुन) का अन्वेषण या सारणा करना 'परिघट्टना' है । (ततस्तु वृत्तिविभागगतशुष्कप्रयोगानुसन्धानात् ज्यापरिघट्टना) । तन्त्री को स्वर में बजाने के लिए उङ्गलियों को चलाना आवश्यक है तथा इस चालन क्रिया को तेज करना 'परिघट्टना' है । परिघट्टना के सन्दर्भ में ना० शा० २९. १४२-१४५ में विशेष रूप से लिखा गया है ।

तथा पाणिविभागार्थं भवेत्सङ्घोटनाविधिः ।
तन्त्रीभाण्डसमायोगान्मार्गासारितमिष्यते ॥ २० ॥

संघोटना--हाथों से वाद्यों[1] पर विभिन्न मुद्राओं में प्रहार करना 'संघोटना' कहलाता[2] है ।

मार्गासारित—तन्त्री एवं भाण्ड वाद्य के समवेत स्वरप्रयोग को 'मार्गासारित'[3] कहा जाता है ॥ २० ॥

कलापातविभागार्थं भवेदासारितक्रिया ।
कीर्तनाद्देवतानां च ज्ञेयो गीतविधिस्तथा ॥ २१ ॥

आसारित—कला के विभाग (मात्रा गणना) के लिए 'आसारित' का प्रयोग किया जाता है[4] ।

---

१. वाद्यों से यहाँ अवनद्ध वाद्यों या ताल वाद्यों का अभिप्राय है जिन पर हाथ मार कर आवाज पैदा की जाती है ।

२. संघोटना का अर्थ यह प्रतीत होता है कि अवनद्ध वाद्यों को हाथ से थाप देकर उनकी आवाज सुनते हुए कण्ठ एवं तन्त्रीस्वरों के साथ उनकी संगत का बैठाया जाना ।

अभिनवगुप्त के अनुस्वार वीणा वाद्य में अवनद्ध के समान तालात्मक अन्य वाद्यों के साथ संगत बैठाने के लिए संवादी स्वरों के अनुसंधानादि के द्वारा पंच-प्रहारों का योग करते हुए सुनना संघोटना है (वीणावाद्योपजीवकत्वादवनद्धस्यानु-संधानसंवाद्यादिना प्रहारपंचकयोगेन क्रियत इति संघोटना) । इस पंचप्रहार का विस्तृत विवरण नाट्यशास्त्र के उन्तीसवें एवं तैंतीसवें अध्याय में दिया गया है ।

३. अभिनवगुप्त के अनुसार कण्ठ स्वर के साथ तन्त्री वाद्य के सम्मिलित स्वर को उठाना तथा फिर अवरुद्ध वाद्य से उसका अनुकरण करना अर्थात् वाद्य-यन्त्रों के स्वर सम्बन्धी मार्गों का पुष्करादि वाद्यों से अनुसरण करना मार्गा-सारित है (मार्गे प्रकृत्यादिलक्षणादिगोचरे विकाररूपस्य पुष्करवाद्यस्या-समन्तात्सरणं गमनं यत्रेति) ।

मार्गासारित का विशेष विवरण ना० शा० के उन्तीसवें अध्याय में १४५-१४६ श्लोकों में दिया गया है ।

४. अभिनवगुप्त का कथन है कि शम्या आदि क्रियाओं के द्वारा कलाओं के पातों की गिनती करना आसारित कहलता है कलानामा (वा) पाद्यानां पातानां शम्यादीनां चानुसन्धितेत्यासारितविधिः) । कलाओं की इस गणना से विभाग स्पष्ट हो जाती हैं ।

प्रत्याहार से लेकर आसारित तक के अङ्गों की योजना यवनिका के अन्दर की

गीतविधि—देवताओं की स्तुति रूप में गाए जाने वाला गायन 'गीतविधि' कहा जाता है ॥ २१ ॥

उत्थापन विधि का वर्णन—

[अतः परं प्रवक्ष्यामि ह्युत्थापनविधिक्रियाम् ।]
यस्मादुत्थापयन्त्यत्र प्रयोगं नान्दिपाठकाः ।
पूर्वमेव तु रङ्गेऽस्मिंस्तस्मादुत्थापनं स्मृतम् ॥ २२ ॥

[उत्थापना—अब मैं उत्थापन विधि की क्रिया का वर्णन करता हूँ ।] क्योंकि नान्दी पाठ करने वाले जन इस (विधि) के ही अन्तर्गत रंगपीठ पर सर्वप्रथम कार्य आरम्भ करते हैं इसलिए इसे 'उत्थापना' कहते हैं[1] ॥ २२ ॥

यस्माच्च लोकपालानां परिवृत्य चतुर्दिशम् ।
वन्दनानि प्रकुर्वन्ति तस्माच्च परिवर्तनम् ॥ २३ ॥

परिवर्तन—क्योंकि चारों ओर घूमकर लोकपालों की वन्दना की जाती है अतः इसे 'परिवर्तन' कहा जाता है ॥ २३ ॥

आशीर्वचनसंयुक्ता नित्यं यस्मात्प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥ २४ ॥

नान्दी—क्योंकि सर्वदा[2] इसके द्वारा देव, द्विज एवं नृपादि[3] की आशीर्वादात्मक स्तुति[4] की जाती है इस कारण इसकी संज्ञा 'नान्दी' है ॥ २४ ॥

जाती है । इन प्रयोगों के पश्चात् यवनिका के बाहर गीतविधि आदि (जो बहिर्गीत के अन्दर आते हैं) की निष्पत्ति सम्पन्न की जाती है ।

१. अभिनवगुप्त ने उत्थापना की व्युत्पत्ति देते हुए बतलाया है कि अब तक जो प्रत्याहारादि प्रयोग सम्पन्न किये गये उन्हें रङ्गपीठ पर फल के स्वरूप के निरूपक पाठ्य आदि वाचिक अभिनय के द्वारा उत्थापित या विकसित करना 'उत्थापना' है । उत्थापन नामक अङ्ग में एक कला का पाठ सहित प्रयोग होता है । (रङ्गे यः पूर्वं प्रयोगः कृतः प्रत्याहरादिस्तं यस्मादुत्थापयन्ति फलस्वरूपनिरूपकपाठ्यतदभिनयादिना स्फुटीकुर्वन्ति तस्मादित्यर्थः पृ० २१६) ।

२. इस श्लोक में प्रयुक्त 'नित्यम्' शब्द से यह ध्वनि निकलती है कि नान्दी का इसी रूप में प्रयोग अपरिहार्य है । अभिनव का मत है कि उत्थापनादि का भिन्न रूप में प्रयोग हो सकता है । परन्तु नान्दी पाठ यथाविहितरूपेण ही होगा ।

३. अभिनवगुप्त के विचार में आदि शब्द की यह व्यञ्जना है कि नान्दी में देवता, ब्राह्मण या राजा के अतिरिक्त संरक्षक की भी स्तुति की जा सकती है (आदिग्रहणात्प्रेक्षापतिप्रभृतयः) ।

४. आशीर्वादात्मक का तात्पर्य यह है कि नान्दी में आशीर्वाद या अभ्यर्थना भी

अत्र शुष्काक्षरैरेव ह्यवकृष्टा ध्रुवा यतः[1]।
तस्माच्छुष्कावकृष्टेयं जर्जरश्लोकदर्शिका ॥ २५ ॥

शुष्कावकृष्टाध्रुवा—जब निरर्थक ध्वनि में अवकृष्टा ध्रुवा का प्रयोग किया जाता है तो उसे 'शुष्कावकृष्टा ध्रुवा' कहते हैं जिसके द्वारा जर्जर के श्लोकों को प्रस्तुत किया जाता है[2] ॥ २५ ॥

यस्मादभिनयस्त्वत्र प्रथमं ह्यवतार्यते।
रङ्गद्वारमतो ज्ञेयं वागङ्गाभिनयात्मकम् ॥ २६ ॥

रङ्गद्वार—क्योंकि (वाचिक एवं आङ्गिक इन दोनों प्रकार के) अभिनयों की सर्वप्रथम अवतारणा यहीं से होती है, अतः शब्द के अङ्गों के (वाचिक एवं आङ्गिक) अभिनय से युक्त यह अङ्गहार रङ्गद्वार कहा जाता है[3] ॥ २६ ॥

होती है एवं स्तुति अर्थात् प्रार्थना भी होती है।

१. 'नान्दीपादानामन्तरेषु चित्रे पूर्वरङ्गे वर्धमानं प्रयोज्यं प्रागुक्तलक्षणम्। अन्ये तु-गीतकप्रयोगादनन्तरं शुद्धे चित्रे पूर्वे रङ्गे वर्धमानप्रयोगमिच्छन्ति'—अधिकोऽयं पाठः।

अर्थात् कुछ लोग नान्दी के पश्चात् चित्र पूर्वरङ्ग में वर्धमान का प्रयोग मानते हैं। अन्य जन गीत प्रयोग के पश्चात् शुद्ध पूर्वरङ्ग में ही वर्धमान का प्रयोग उचित समझते हैं।

२. अन्य आचार्यों के मत का अवलम्बन करते हुए अभिनवगुप्त का विचार है है कि एक ही ध्रुवा में शुष्क तथा अवकृष्ट धर्मों के गुण का एक साथ होने से इसे शुष्कावकृष्टा बतलाया गया है।

अन्य कुछ आचार्यों के मत में इसमें दोनों धर्मों का अन्तर्भाव होने से ही इसे 'शुष्कावकृष्टा' कहते हैं। शुष्कावकृष्टा ध्रुवा का स्वरूप ना०शा० ५.५० में बताया गया है। यथा—

युक्तायामपकृष्टायां प्रीता नागा भवन्ति हि।
तथा शुष्कावकृष्टायां प्रीतः पितृगणो भवेत् ॥

३. अभिनवगुप्त के अनुसार रङ्गद्वार नामक अङ्ग में नाटयवस्तु के अभिनय का आरम्भ होता है। जिस रूपक का अभिनय होना है उसके द्वार अर्थात् प्रारम्भिक अङ्ग के समान रूपक प्रयोजक को संक्षेप में पाठ्यरूप में अभिनीत किया जाता है। यह आगे प्रस्तूयमान रूपक के द्वार या आरम्भ जैसा होने से 'रङ्गद्वार' कहलाता है (अभिनीयत इत्यभिनयो रूपकविशेषः। सोऽवतार्यते संक्षेपेण तस्यार्थ-प्रयोजनादिनिरूपणपाठ्यद्वारेण तथैव चाभिनयः क्रियते यत्र तद्रङ्गस्य भाविनो रूपकस्य द्वारमिव रङ्गद्वारादुत्थापनाङ्गे सामान्येन नाट्यमुत्थापितम् पृ० २२९)।

श्रृंगारस्य प्रचरणाच्चारी सम्परिकीर्तिता ।
रौद्रप्रचरणाच्चापि महाचारीति कीर्तिता ॥ २७ ॥

चारी तथा महाचारी—गति के द्वारा शृङ्गार रस के भावों को प्रदर्शित करना 'चारी' तथा रौद्र रस के भावों को प्रदर्शित करना 'महाचारी' कहा जाता है[1] ॥ २७ ॥

विदूषकः सूत्रधारस्तथा वै पारिपार्श्वकः ।
यत्र कुर्वन्ति सञ्जल्पं तच्चापि त्रिगतं मतम् ॥ २८ ॥

त्रिगत—सूत्रधार, पारिपार्श्विक तथा विदूषक इन तीनों के आपस में वार्तालाप करने को 'त्रिगत' कहते हैं[2] ॥ २८ ॥

उपक्षेपेण काव्यस्य हेतुयुक्तिसमाश्रया ।
सिद्धेनामन्त्रणा या तु विज्ञेया सा प्ररोचना ॥ २९ ॥

प्ररोचना—जब रूपक के कार्यों को सूत्रधार या नाट्यविशेषज्ञ हेतु या युक्ति के माध्यम से सिद्धसदृश कहें तो उसे 'प्ररोचना' कहते हैं[3] ॥ २९ ॥

---

१. अभिनवगुप्त की व्याख्यानुसार जिन अङ्गहारों व चारियों के प्रयोग से देवी पार्वती एवं भगवान् शङ्कर के शृङ्गारप्रधान चरित्र की प्रतीति होती है उसे 'चारी' कहते हैं। श्रृंगारात्मक स्तुति का बाहुल्य रहता है। त्रिपुर वधादि से सम्बन्धित शंकर के रौद्ररसप्रधान चरित्र की काव्यात्मक अभिव्यक्ति हो और उसे उद्धत अङ्गहारों के द्वारा प्रस्तुत किया जाए तो वह 'महाचारी' कहा जाता है। (शृङ्गारप्रधानं भगवतो महादेव्या सह यत्र चरित्रं वर्ण्यते काव्ये च तत्स्तुतिप्रधाने तदेव यत्राङ्गहारचार्यादिना प्रदर्श्यते सा चारी। (भगवतस्त्रिपुरमर्दनादीव गीतं रौद्ररसभूयिष्ठं यत्र काव्ये वर्ण्यते स्तुतिरूपेण तद्यत्र) तदुचितैरेवोद्धतैर्मण्डलाङ्गहारैः प्रयुज्यते सा महाचारी।)

२. अभिनवगुप्त के विचार में इन तीनों पात्रों के पारस्परिक सम्वाद द्वारा भविष्य में घटित होने वाले विषयों का संकेत दिया जाता है। विषय सूचक विधियों की विविधता को 'त्रि' शब्द से संकेतित करते हुए उसे तीनों पात्रों के अधीन बताया गया है (स एव काव्योपक्षेपस्त्रिषु समायत्तत्वात्त्रिगतशब्देनोक्तः)।

३. प्ररोचना—अभिनवगुप्त के मत में नाट्यवस्तु के फलरूप में जो सिद्ध करना अभीष्ट है उसे व्यंजित करना 'प्ररोचना' है। मुख्यवस्तु की स्थापना करने से यह सामाजिकों के मन में कौतूहल उत्पन्न करती है।

प्ररोचना विषयक विवरण नाट्यशास्त्र के इसी अध्याय में १४२ श्लोक में भी दिया गया है।

बहिर्गीत या निर्गीत की उत्पत्ति—

अतः परं प्रवक्ष्यामि ह्याश्रावणविधिक्रियाम् ।
बहिर्गीतविधौ सम्यगुत्पत्तिं कारणं तथा ॥ ३० ॥

अब मैं आश्रवण के विषय में बताऊँगा जो कि बहिर्गीत विधि में प्रयोज्य है। उसकी उत्पत्ति तथा कारण की भी मैं चर्चा करूँगा ॥ ३० ॥

चित्रदक्षिणवृत्तौ तु सप्तरूपे प्रवर्तिते ।
सोपोहने सनिर्गीते देवस्तुत्यभिनन्दिते ॥ ३१ ॥
नारदाद्यैस्तु गन्धर्वैः सभायां देवदानवाः ।
निर्गीतं श्राविताः सम्यग्लयतालसमन्वितम् ॥ ३२ ॥

नारदादि मुनियों एवं गन्धर्वों के द्वारा चित्र एवं दक्षिणमार्ग[1] से युक्त, सप्तरूप[2] समन्वित, उपोहन क्रिया[3] तथा निर्गीत[4] के सहित, देवताओं की स्तुतियों से प्रशस्त-रूप, और यथोचित लय तथा ताल से युक्त उस निर्गीत को देवताओं एवं दानवों की सभा में सुनाया गया ॥ ३१-३२ ॥

तच्छ्रुत्वा तु सुखं गानं देवस्तुत्यभिनन्दितम् ।
अभवन्क्षुभिताः सर्वे मात्सर्याद्दैत्यराक्षसाः ॥ ३३ ॥
सम्प्रधार्य च तेऽन्योन्यमित्यवोचन्नवस्थिताः ।
निर्गीतं तु सवादित्रमिदं गृह्णीमहे वयम् ॥ ३४ ॥
सप्तरूपेण सन्तुष्टा देवाः कर्मानुकीर्तनात् ।
वयं गृह्णीम निर्गीतं तुष्यामोऽत्रैव सर्वदा ॥ ३५ ॥
ते तत्र तुष्टा दैत्यास्तु साधयन्ति पुनः पुनः ।

---

१. तीन मार्ग मान्य हैं—चित्र, दक्षिण तथा वार्तिक ।

२. सप्तरूप से यहाँ मद्रकादि सात गीतों के विधान का तात्पर्य है। इससे ताल के सात भेदों (विस्तार, व्यंजना, आविद्ध, करण, संज्ञा, धातु तथा वाद्य) का भी अभिप्राय हो सकता है।

३. उपोहन क्रिया द्वारा गीत को प्रवृत्त किया जाता है और वह स्थायी स्वराश्रित बनता है।

४. निर्गीत—निर्गीत में सार्थक शब्द नहीं होते केवल तालादि से युक्त ध्वनि होती है। श्री घोषकृत अनुवाद में निर्गीत बहिर्गीत का दूसरा नाम है। साथ ही वे इसका अर्थ वाद्य संगीत भी करते हैं। अभिनव ने इसे वीणादि का वादन माना है (वादित्रं तद्गतं शुष्काख्यं वीणावाद्यम्) ।

तब आपस में विचार करके दैत्य लोग कहने लगे—वाद्यों से युक्त इस निर्गीत से हम प्रमुदित हुए हैं अतः इसे ग्रहण करेंगे। सप्तरूपों से समन्वित[1] और देवताओं के कर्मों का अनुकीर्तन करने वाले गीत से देवतागण ही सन्तुष्ट हों। हम इस निर्गीत को ही लेकर सन्तुष्ट हैं। इस प्रकार तुष्ट दैत्यगण निर्गीत को ही बारम्बार प्रयोग करते हैं॥ ३३-३६॥

रुष्टाश्चापि ततो देवाः प्रत्यभाषन्त नारदम्॥ ३६॥
एते तुष्यन्ति निर्गीते दानवाः सह राक्षसैः।
प्रणश्यतु प्रयोगोऽयं कथं वा मन्यते भवान्॥ ३७॥

तब देवता लोग क्रुद्ध होकर नारद से कहने लगे—राक्षसों के साथ-साथ यह दानवगण निर्गीत से ही सन्तुष्ट हैं। अतः हम इस (निर्गीत) प्रयोग का नाश करना चाहते हैं। इस बिषय में आपका क्या मत है॥ ३६-३७॥

देवानां वचनं श्रुत्वा नारदो वाक्यमब्रवीत्।
धातुवाद्याश्रयकृतं निर्गीतं मा प्रणश्यतु॥ ३८॥
किन्तूपोहनसंयुक्तं धातुवाद्यविभूषितम्।
भविष्यतीदं निर्गीतं सप्तरूपविधानतः॥ ३९॥
निर्गीतेनावबद्धाश्च दैत्यदानवराक्षसाः।
न क्षोभं न विघातं च करिष्यन्तीह तोषिताः॥ ४०॥

देवताओं के इस कथन को सुनकर नारद मुनि ने कहा—धातुवाद्यों पर आश्रित निर्गीत का नाश होना उचित नहीं है। उपोहन क्रिया के संयोग से तथा धातुवाद्यों से अलंकृत होकर यह (निर्गीत) विधिवत् सप्तरूपों में प्रसारित होगा तथा इस निर्गीत से बँधे होने के कारण दैत्य तथा दानवगण (नाट्यप्रयोग के समय) कोई उत्पात या बाधा नहीं खड़ी कर पाएंगे[2]॥ ३८-४०॥

एवं निर्गीतमेतत्तु दैत्यानां स्पर्धया द्विजाः।
देवानां बहुमानेन बहिर्गीतमिति स्मृतम्॥ ४१॥

---

१. सप्तरूपों के विषय में अभिनवगुप्त का उद्धरण इस प्रकार है—धातवस्तन्त्री-विशेषाङ्गुलिविशेषसंयोगजा वैणवस्वराः। रञ्जनया अदृष्टविशेषस्य क्रमेण चतुष्टयपृथक्कृता विस्तारव्यञ्जनाविद्धकरणसंज्ञा। धातुवाद्यं सप्तभेदलक्षणम्। अर्थात् अभिनव के मत में यह सातरूप कण्ठ गायन के न होकर वाद्यसंगीत के हैं।

२. ऐसा प्रतीत होता है कि निर्गीत एवं गीत इन दोनों के मिश्रण से दैत्यों एवं देवों दोनों को प्रसन्न करने का प्रयास किया है।

हे द्विजो ! इस प्रकार दैत्यों की स्पर्धा हेतु निर्मित यह निर्गीत ही देवताओं की प्रशस्ति हेतु प्रयुक्त होने पर बहिर्गीत संज्ञक होगा ॥ ४१ ॥

निर्गीत प्रयोग विधि—

धातुभिश्चित्रवीणायां गुरुलध्वक्षरान्वितम् ।
वर्णालङ्कारसंयुक्तं प्रयोक्तव्यं बुधैरथ ॥ ४२ ॥

सुविज्ञों को चाहिए कि धातुनिर्मिततन्तुओं से युक्त[1] चित्रवीणा पर गुरु तथा लघु अक्षरों (वर्णों) से युक्त तथा वर्ण एवं अलंकार से समन्वित इस निर्गीत का प्रयोग करें ॥ ४२ ॥

निर्गीत एवं बहिर्गीत नाम का करण—

निर्गीतं गीयते यस्मादपदं वर्णयोजनात् ।
अनसूयया च देवानां बहिर्गीतमिदं स्मृतम् ॥ ४३ ॥

विना किसी पद के, केवल वर्णों की योजना से गाये जाने के कारण इसे निर्गीत कहते हैं[2] तथा देवताओं की असन्तुष्टि के कारण इसे बहिर्गीत भी कहा जाता है ॥ ४३ ॥

निर्गीत आदि के प्रयोग के कारण—

निर्गीतं यन्मया प्रोक्तं सप्तरूपसमन्वितम् ।
उत्थापनादिकं यच्च तस्य कारणमुच्यते ॥ ४४ ॥

सातरूपों से समन्वित निर्गीत के तथा उत्थापनादि के विषय में मैंने जो बताया अब उस कथन का कारण भी बताता हूँ ॥ ४४ ॥

आश्रावणा से महाचारी तक के प्रयोग के कारण—

आश्रावणायां युक्तायां दैत्यास्तुष्यन्ति नित्यशः ।
वक्त्रपाणौ कृते चैव नित्यं तुष्यन्ति दानवाः ॥ ४५ ॥
परिघट्टनया तुष्टा युक्तायां रक्षसां गणः ।
सङ्घोटनाक्रियायां च तुष्यन्त्यपि च गुह्यकाः ॥ ४६ ॥

---

१. चित्रवीणा—अभिनवगुप्त के मत में इससे नाट्य प्रयोग के अवसर के नितान्त अनुकूल (नाट्योपरञ्जनार्था या वीणा सा) वीणा का तात्पर्य है। विचित्रवीणा नामक जो वाद्य आज भी दक्षिण में प्रचलित है उससे भरतकालीन विचित्रवीणा में कुछ सम्बन्ध मानना नितान्त असंगत न होगा ।

२. जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि निर्गीत में सार्थक शब्दों का अभाव रहता है एवं इनकी समायोजना निरर्थक ध्वनियों के माध्यम से की जाती है ।

मार्गासारितमासाद्य तुष्टा यक्षा भवन्ति हि ।
गीतकेषु प्रयुक्तेषु देवास्तुष्यन्ति नित्यशः ॥ ४७ ॥

वर्धमाने प्रयुक्ते तु रुद्रस्तुष्यति सानुगः ।
तथा चोत्थापने युक्ते ब्रह्मा तुष्टो भवेदिह ॥ ४८ ॥

तुष्यन्ति लोकपालाश्च प्रयुक्ते परिवर्तने ।
नान्दीप्रयोगेऽथ कृते प्रीतो भवति चन्द्रमाः ॥ ४९ ॥

युक्तायामवकृष्टायां प्रीता नागा भवन्ति हि ।
तथा शुष्कावकृष्टायां प्रीतः पितृगणो भवेत् ॥ ५० ॥

रङ्गद्वारे प्रयुक्ते तु विष्णुः प्रीतो भवेदिह ।
जर्जरस्य प्रयोगे तु तुष्टा विघ्नविनायकाः ॥ ५१ ॥

तथा चार्यां प्रयुक्तायामुमा तुष्टा भवेदिह ।
महाचार्यां प्रयुक्तायां तुष्टो भूतगणो भवेत् ॥ ५२ ॥

आश्रवणा के प्रयोग से सदा दैत्यों की तुष्टि होती है एवं वक्त्रपाणी के प्रयोग से दानव संतुष्ट होते हैं । परिघट्टना के प्रयुक्त होने पर राक्षस-समूह प्रसन्न होता है, तथा संघोटना क्रिया के करने पर गुह्यक संतोष पाते हैं । मार्गासारित के प्रयोग से यक्ष प्रसन्न होते हैं और गीतों के प्रयुक्त होने पर देवता संतुष्ट होते हैं । वर्धमानक के प्रयोग से रुद्र एवं उनके अनुचरों की तुष्टि होती है[1] तथा उत्थापना का प्रयोग होने से ब्रह्मा संतुष्ट होते हैं[2] परिवर्तन का प्रयोग करने पर लोकपाल प्रसन्न होते हैं तथा नान्दी के प्रयोग से चन्द्रमा को आनन्द मिलता है । अवकृष्टा (ध्रुवा) के प्रयोग से नाग प्रमुदित होते हैं[3] तथा शुष्कावकृष्टा (ध्रुवा) का समायोजन करने से पितरगण प्रसन्न होते हैं । रंगद्वार के प्रयोग से विष्णु हर्षित होते हैं तथा जर्जर के प्रयोग से विघ्नों के संहारक गणपति संतुष्ट होते हैं[4] । चारी

---

१. अभिनवगुप्त के मत में रुद्र के ही कर्म का अनुकीर्तन (तदियकर्मस्तुतेः) करने से वर्धमानक रुद्र को संतोषदायक हैं ।

२. अभिनवगुप्त का कथन है कि उत्थापना से नाट्यविषय का सर्वप्रथम उन्मेष होता है अतः ब्रह्मा के लिए यह आह्लादकारी है (प्रथमसृष्टिव्यापारः तत्र नाट्य-विषयः) ।

३. अभिनवगुप्त के अनुसार नागों की भी गति अवकृष्ट होने से (नागा इत्यव-कृष्टगतिः) उन्हें अवकृष्टा ध्रुवाप्रिय है ।

४. जर्जर पूजा विघ्नों के निवारण हेतु ही की जाती है ।

के प्रयोग पर देवी उमा को संतुष्टि मिलती है[1] और महाचारी के प्रयोग से भूतगण तुष्ट हो जाते हैं ॥ ४५-५२ ॥

उपसंहार—

आश्रावणादिचार्यन्तमेतद् वतपूजनम् ।
पूर्वरङ्गे मया ख्यातं तथा चाङ्गविकल्पनम् ॥ ५३ ॥

इस प्रकार मैंने आश्रवणा से प्रारम्भ करके महाचारी तक पूर्वरंग के अङ्ग-विभाग एवं देवताओं के पूजनकर्म का व्याख्यान किया ॥ ५३ ॥

पूर्वरंग विधि का माहात्म्य—

देवस्तुष्यति यो येन यस्य यन्मनसः प्रियम् ।
तत्तथा पूर्वरङ्गे तु मया प्रोक्तं द्विजोत्तमाः ॥ ५४ ॥

हे द्विजोत्तम ! (पूर्वरंग के अङ्गों के पूजन में) जो देवता जिस अङ्ग से संतुष्ट होते हैं एवं जो अंग जिस देवता को प्रिय हैं उन सब विवरणों को मैंने पूर्वरंगविधि के अन्तर्गत बताया है ॥ ५४ ॥

सर्वदैवतपूजार्हं सर्वदैवतपूजनम् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं पूर्वरङ्गप्रवर्तनम् ॥ ५५ ॥

सभी देवताओं के पूजन में समर्थ एवं समस्त देवताओं की पूजा करने वाली पूर्वरंग की यह विधि प्रेक्षकों तथा नाट्य प्रयोक्ताओं के लिए धन, यश तथा दीर्घायु प्रदान करने वाली है ॥ ५५ ॥

दैत्यदानवतुष्ट्यर्थं सर्वेषां च दिवौकसाम् ।
निर्गीतानि सगीतानि पूर्वरङ्गकृतानि तु ॥ ५६ ॥

---

१. देवी उमा के ही स्वरूप को चारी अभिव्यंजित करती है (तस्या एवं स्वरूपकीर्तनात्, अतः इसके सम्यक् प्रयोग से उमा तुष्ट होती है यह आंगिक की मान्यता है ।

अत्र कस्मिंश्चित्पुस्तके सार्धश्लोको दृश्यते—

प्रत्याहारे यातुधानाः प्रीयन्ते सह पन्नगैः ।
तुष्यन्त्यप्सरसस्त कृतेऽवतरणे द्विजाः ।
तुष्यन्त्यपि च गन्धर्वा आरम्भे सम्प्रयोजिते ॥

प्रत्याहार के प्रयोग से नागों के साथ ही राक्षसों की भी सन्तुष्टि होती हैं । अवतरण के सम्पादन से अप्सराएं तथा सम्प्रयोजित करने से गन्धर्वगण तुष्ट होते हैं ।

पूर्वरंग की विधि को निर्गीत अथवा संगीत किसी भी रूप में प्रस्तुत करने से दैत्य दानव एवं समस्त देवों की संतुष्टि हो जाती है ॥ ५६ ॥

नाट्य की प्रशंसा—

[या विद्या यानि शिल्पानि या गतिर्यच्च चेष्टितम् ।
लोकालोकस्य जगतस्तदस्मिन्नाटकाश्रये ॥]

[इस संसार में जो विद्याएं, जो शिल्प तथा जो गतियाँ व चेष्टाएं हैं और जो भी जड़ अथवा चेतन प्राणियों के रूप हैं वे सभी इस नाट्य के आश्रित होते हैं ।]

निर्गीत, संगीत एवं वर्धमानक का उपक्रम—

निर्गीतानां सगीतानां वर्धमानस्य चैव हि ।
ध्रुवाविधाने वक्ष्यामि लक्षणं कर्म चैव हि ॥ ५७ ॥

ध्रुवाविधान के अवसर पर (अध्याय २९ एवं ३१) मैं आप लोगों को निर्गीतों तथा वर्धमानक के विषय में उनके लक्षण एवं कर्मों को बताऊंगा ॥ ५७ ॥

उत्थापनी ध्रुवा का प्रयोगकाल—

प्रयुज्य गीतकविधिं वर्धमानमथापि च ।
गीतकान्ते ततश्चापि कार्या ह्युत्थापनी ध्रुवा ॥ ५८ ॥

गीतक विधि के एवं वर्धमानक के प्रयोग के उपरान्त तथा गीत की समाप्ति के अनन्तर उत्थापनी ध्रुवा का प्रयोग किया जाना चाहिए ॥ ५८ ॥

उत्थापनी ध्रुवा का लक्षण—

आदौ द्वे च चतुर्थं चाप्यष्टमैकादशे तथा ।
गुर्वक्षराणि जानीयात्पादे ह्येकादशाक्षरे ॥ ५९ ॥
चतुष्पदा भवेत्सा तु चतुरश्रा तथैव च ।
चतुर्भिस्सन्निपातैश्च त्रिलया त्रियतिस्तथा ॥ ६० ॥
परिवर्ताश्च चत्वारः पाणयस्त्रय एव च ।
जात्या चैव हि विश्लोका तां च तालेन योजयेत् ॥ ६१ ॥

उत्थापनी ध्रुवा[1] के ग्यारह अक्षर वाले पाद में पहला दूसरा, चौथा तथा

---

१. पूर्वरंग में उपयोगी होने के कारण ध्रुवाध्याय (ना० शा० अ० ३२) में उत्थापनी ध्रुवा का विवरण न देकर यहीं, पूर्वरंग के प्रसंग में ही 'उत्थापनी ध्रुवा' का लक्षण दिया गया है ।

ग्यारहवां अक्षर गुरु होता है। इसमें चारपाद होते हैं और यह चतुरश्र[1] तालयुक्त होती है। यह चार सन्निपातों से युक्त होती है। एवं इसमें तीन प्रकार की लय (द्रुत, मध्यम तथा विलम्बित) एवं तीन प्रकार की यति (समा, स्रोतोवहा एवं गोपुच्छा) होती है। इसमें चार परिवर्त और तीन पाणि (सम, अवर एवं उपरि) होते हैं। इसमें जाति वृत्त में प्रयुक्त विश्लोक छन्द का चतुरस्रताल में प्रयोग किया जाता है ॥ ५९-६१ ॥

चतुरस्र ताल के चार सन्निपात—

शम्या तु द्विकला कार्या तालो द्विकल एव च।
पुनश्चैककला शम्या सन्निपातः कलात्रयम् ॥ ६२ ॥

(चतुरस्र ताल में) दो कला के प्रमाण वाली शम्या, दो कला की ताल, फिर एक कला की शम्या और अब तीन कला का सन्निपात होता है[2] ॥ ६२ ॥

परिवर्त का लक्षण—

एवमष्टकलः कार्यः सन्निपातो विचक्षणैः।
चत्वारः सन्निपाताश्च परिवर्तः स उच्यते ॥ ६३ ॥

विद्वानों को चाहिए कि इस प्रकार चारों सन्निपातों में आठ कलाएं जानें तथा ऐसे चार सन्निपातों के योग को परिवर्त कहा जाता है ॥ ६३ ॥

प्रथम तथा तृतीय परिवर्त की विधि—

पूर्वं स्थितलयः कार्यः परिवर्तो विचक्षणैः।
तृतीये सन्निपाते तु तस्य भाण्डग्रहो भवेत् ॥ ६४ ॥

पूर्वरंग में प्रयुक्त प्रथम परिवर्तक की योजना विलम्बित (स्थित) लय[3] में की जानी चाहिए तथा तीसरे सन्निपात के अवसर पर इस परिवर्त में भाण्डवाद्य का प्रयोग किया जाना चाहिए[4] ॥ ६४ ॥

---

१. अभिनव भारती का उद्धरण है—तालश्चास्याश्चच्चत्पुटः द्विकलः। भावि-विधिना तल्लाभेऽपि चतुरश्रग्रहणाद् द्विकलचच्चत्पुटपादभागविषयो वक्ष्यमाणाङ्गुलिनियमोपजीवनार्थः।

२. शम्या, ताल एवं कला की विस्तृत चर्चा नाट्यशास्त्र के इक्तीसवे अध्याय में हुई है।

३. अभिनवभारती का कथन है—स्थितलयो विलम्बितलय उक्तः।

४. अभिनवगुप्त के मत में अब तक तन्त्रीगान का ही प्रयोग हुआ था, अब तुर्यपाद की समाप्ति पर्यन्त पुष्करवाद्य का प्रयोग अभीष्ट है।

द्वितीय परिवर्त की विधि—

एकस्मिन्परिवर्ते तु गते प्राप्ते द्वितीयके ।
कार्यं मध्यलये तज्ज्ञैः सूत्रधारप्रवेशनम् ॥ ६५ ॥

प्रथम परिवर्तक की समाप्ति के बाद, द्वितीय परिवर्त के प्रयोगकाल में मध्यलय का समायोजन करते हुए सूत्रधार[1] का रङ्गप्रवेश करवाना चाहिए ॥ ६५ ॥

रंग प्रवेश विधि—

पुष्पाञ्जलिं समादाय रक्षामङ्गलसंस्कृताः ।
शुद्धवस्त्राः सुमनसस्तथा चाद्भुतदृष्टयः ॥ ६६ ॥
स्थानन्तु वैष्णवं कृत्वा सौष्ठवाङ्गपुरस्कृतम् ।
दीक्षिताः शुचयश्चैव प्रविशेयुः समं त्रयः ॥ ६७ ॥

अञ्जलि में पुष्प लेकर, विघ्नों के शमनार्थ रक्षासूत्र को धारण करके, शुद्ध वस्त्र[2] पहनकर, प्रमुदित चित्त से, अद्भुत दृष्टि[3] और वैष्णव स्थान[4] से युक्त होकर तथा शरीर को सौष्ठवशील रखते हुए एवं (नाट्यानुष्ठान हेतु) दीक्षित[5] व पवित्र उन तीनों (सूत्रधार तथा उसके दोनों पारिपार्श्विकों) को रंगस्थल पर प्रवेश करना चाहिए ॥ ६६-६७ ॥

भृङ्गारजर्जरधरौ भवेतां पारिपार्श्विकौ ।
मध्ये तु सूत्रभृत्ताभ्यां वृत्तः पञ्चपदीं व्रजेत् ॥ ६८ ॥

इन दोनों पारिपार्श्विकों में से एक भृङ्गार एवं दूसरा जर्जर को लेकर चले । इन दोनों के बीच सूत्रधार को होना चाहिए । जो इन दोनों के साथ पाँच कदम रखते हुए आगे बढ़े ॥ ६८ ॥

---

१. अभिनवगुप्त के अभिमत में सूत्रधार का प्रवेश अकेले न होकर दो पारिपार्श्विकों के साथ होता है (तत्साहचर्यात् पारिपार्श्विकावपि)। इस अध्याय के आगामी श्लोकों से इस धारणा की पुष्टि भी होती है ।

२. शुद्ध वस्त्र का अर्थ अभिनव ने श्वेतवस्त्र किया है । (शुद्धं शुक्लं) ।

३. या चाकुञ्चितपक्ष्माग्रा साश्चर्योद्वृत्ततारका ।
सौम्या विकसितान्ता च साद्भुता दृष्टिरद्भुते ॥ —ना० शा० ८-५१

४. किञ्चिदञ्चितजंघं च सौष्ठवाङ्गपुरस्कृतम् ।
वैष्णवं स्थानमेतद्धि विष्णुरत्राधिदैवतम् ॥ —ना० शा० १०-५३

५. अभिनवगुप्त के विचार में दीक्षित का अर्थ 'कृतोपवास' व्यक्ति से है ।

६. भृङ्गार का अर्थ श्री घोष ने स्वर्णिम घट किया है । अभिनव के मत में पवित्रता हेतु भृङ्गार का प्रयोग होता है ।

पञ्चपदी गमन विधि—

पदानि पञ्च गच्छेयुर्ब्रह्मणो यजनेच्छया।
पदानाञ्चापि विक्षेपं व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः ॥ ६९ ॥

ब्रह्मा का पूजन करने की इच्छा से आगे की ओर पाँच कदम रखे जाते हैं। इन पाँच कदमों को क्रमशः रखने के विधान की भी मैं व्याख्या करूँगा ॥ ६९ ॥

त्रितालान्तरविष्कम्भमुत्क्षिपेच्चरणं शनैः।
पार्श्वोत्थानोत्थितं चैव तन्मध्ये पातयेत्पुनः ॥ ७० ॥

पैरों की ताल[1] के अन्तर से शनैः शनैः ऊपर की ओर पार्श्वोन्मुख रखते हुए उठाना चाहिए तथा फिर उन्हें उसी अन्तर से भूमि पर गिराना चाहिए ॥ ७० ॥

एवं पञ्चपदीं गत्वा सूत्रधारः सहेतरः।
सूचीं वामपदे दद्याद्विक्षेपं दक्षिणेन च ॥ ७१ ॥

इस प्रकार पाँच कदम चलकर दोनों पारिपार्श्वकों के साथ सूत्रधार को बाएँ पैर से सूची और फिर दाहिने पैर से विक्षेप चारी का प्रयोग करना चाहिए ॥ ७१ ॥

पुष्प समर्पण विधि—

पुष्पाञ्जल्यपवर्गश्च कार्यो ब्राह्मेऽथ मण्डले।
रङ्गपीठस्य मध्ये तु स्वयं ब्रह्मा प्रतिष्ठितः ॥ ७२ ॥

इसके पश्चात् सूत्रधार को ब्रह्मा के मण्डल (ब्राह्ममण्डल[2]) में पुष्प अर्पित करने चाहिए क्योंकि रङ्गपीठ के मध्यभाग में स्वयं ब्रह्मा प्रतिष्ठित रहते हैं ॥ ७२ ॥

ब्रह्मा की वन्दना की विधि—

ततः सललितैर्हस्तैरभिवन्द्य पितामहम्।
अभिवादानि कार्याणि त्रीणि हस्तेन भूतले ॥ ७३ ॥
कालप्रकर्षहेतोश्च पादानां प्रविभागतः।

(उपर्युक्त प्रक्रिया के उपरान्त) सललित हस्तमुद्रा से ब्रह्मा की वन्दना करनी चाहिए; जिसके लिए हाथों से पृथ्वी को तीन बार स्पर्श किया जाए और काल विभाग के बोध हेतु पदन्यास किया जाए[3] ॥ ७३-७४ ॥

---

१. श्रीघोष ने ताल को दूरी नापने की इकाई माना है। इसका प्रमाण है मध्यमा अंगुली की नोक से कलाइ तक की लम्बाई।

२. रङ्गपीठ के मध्यभाग को ब्राह्ममण्डल कहा जाता है क्योंकि इस भाग के अधिष्ठाता देवता का नाम ब्रह्मा है।

३. प्रणाम की अवधि ज्ञान के लिए श्री घोष ने पृथ्वी पर हाथों के तीन बार स्पर्श को मान्यता दी है। अर्थात् जितनी देर में पृथ्वी को तीन बार स्पर्श किया जा

सूत्रधारप्रवेशाद्यो वन्दनाभिनयान्तकः ॥ ७४ ॥
द्वितीयः परिवर्तस्तु कार्यो मध्यलयाश्रितः ।

सूत्रधार के प्रवेश से लेकर ब्रह्मा की वन्दना पर्यन्त करने वाले इस द्वितीय परिवर्त[1] का प्रयोग मध्यम लय में करना चाहिए ॥ ७४-७५ ॥

तृतीय परिवर्त की विधि—

ततः परं तृतीये तु मण्डलस्य प्रदक्षिणम् ॥ ७५ ॥
भवेदाचमनं चैव जर्जरग्रहणं तथा ।
उत्थाय मण्डलात्तूर्णं दक्षिणं पादमुद्धरेत् ॥ ७६ ॥
वेधं तेनैव कुर्वीत विक्षेपं वामकेन च ।
पुनश्च दक्षिणं पादं पार्श्वसंस्थं समुद्धरेत् ॥ ७७ ॥
ततश्च वामवेधस्तु विक्षेपो दक्षिणस्य च ।
इत्यनेन विधानेन सम्यक्कृत्वा प्रदक्षिणम् ॥ ७८ ॥
भृङ्गारभृतमाहूय शौचं चापि समाचरेत् ।
यथान्यायं तु कर्तव्या तेन ह्याचमनक्रिया ॥ ७९ ॥
आत्मप्रोक्षणमेवाद्भिः कर्तव्यं तु यथाक्रमम् ।

इसके पश्चात् तृतीय परिवर्त के अन्तर्गत सूत्रधार को ब्रह्ममण्डल की प्रदक्षिणा, आचमन एवं जर्जर का ग्रहण करना चाहिए । सबसे पहले ब्राह्ममण्डल से शीघ्रतापूर्वक उठकर दाहिने पैर को उठाना चाहिए, और उससे वेध (सूचीचारी[2]) प्रयोग करना चाहिए, तथा बायें पैर से विक्षेप करना चाहिए । इसके बाद दाहिने पैर को

सकता है उतनी देर तक प्रणाम की क्रिया जारी रहेगी । इसी के प्रणाम से पादविक्षेप का भी समायोजन अपेक्षित है ।

अभिनवगुप्त के मत में नृत्तहस्त एवं करण का प्रयोग करते हुए प्रणाम की क्रिया की जानी चाहिए । काल के विभागज्ञान के लिए अभिनव पदविक्षेप को उत्तरदायी मानते हैं । (तदुपलक्षितानां कलानां यः प्रविभागः कालपरिमाणान्तरमाश्रित्य) । जबकि श्रीघोष हाथ से भूमि स्पर्श को प्रणामावधि का पैमाना बनाते हैं ।

१. इस परिवर्त के अन्तर्गत सूत्रधार का दोनों पारिपार्श्विकों के साथ रंगपीठ पर आकर पञ्चपादविक्षेप, पुष्पांजलि समर्पण और वन्दना यह तीन कृत्य शामिल हैं, जैसा कि अभिनवगुप्त का भी कथन है (एवं द्वितीये परिवर्ते कर्मत्रयं प्रदर्श्य...) ।

२. वेध का अर्थ अभिनवगुप्ताचार्य के मत में सूचीचारी है ।

पार्श्व तक उठाकर[1] बायें पैर से सूची का प्रयोग करना चाहिए व दाहिने पैर को विक्षेप करना चाहिए। इस विहित प्रक्रिया के करने के बाद भृङ्गारवाहक पारिपार्श्विक[2] को बुलाकर अपने को (भृङ्गार के जल से पवित्र करना चाहिए एवं यथोचितरूपेण आचमन करके अपने ऊपर जल छिड़क लेना चहिए ॥ ७५-८० ॥

प्रयत्नकृतशौचेन सूत्रधारेण यत्नतः ॥ ८० ॥
सन्निपातसमं ग्राह्यो जर्जरो विघ्नजर्जरः।
प्रदक्षिणाद्यो विज्ञेयो जर्जरग्रहणान्तकः ॥ ८१ ॥
तृतीयः परिवर्तस्तु विज्ञेयो वै द्रुते लये।

यत्नपूर्वक पवित्र होकर सूत्रधार प्रयत्नपूर्वक विघ्नों को जर्जरित करने वाले जर्जर को धारण करे। यह जर्जर ग्रहण तृतीय परिवर्त के अन्तिम सन्निपात[3] की प्रारम्भिक दशा में ही कर लेना चाहिए। प्रदक्षिणा से लेकर जर्जर ग्रहण तक चलने वाला यह तृतीय परिवर्त द्रुत लय में होना चाहिए ॥ ८०-८१ ॥

चतुर्थ परिवर्त विधि—

गृहीत्वा जर्जरं त्वष्टौ कला जप्यं प्रयोजयेत् ॥ ८२ ॥
वामवेधं ततः कुर्याद्विक्षेपं दक्षिणस्य च।
ततः पञ्चपदीं चैव गच्छेत्तु कुतपोन्मुखः ॥ ८३ ॥
वामवेधस्तु तत्रापि विक्षेपो दक्षिणस्य तु।
जर्जरग्रहणाद्योऽयं कुतपाभिमुखान्तकः ॥ ८४ ॥

जर्जर का ग्रहण करने के पश्चात् उसे आठ कला तक (मन्त्र का) जाप करना चाहिए और फिर बायें पैर को सामने की ओर रखते हुए सूचीचारी का प्रयोग करना चाहिए एवं तत्पश्चात् दाहिने पैर से भी विक्षेप करना चाहिए, एवं साथ ही वाद्ययन्त्रों की तरफ पाँच कदम चलना चाहिए फिर से बायें पैर से सूचीचारी का

---

१. अभिनवगुप्त के विचारानुसार दाहिने पैर को पार्श्व तक उठाने से पार्श्वक्रान्ताचारी का (ना० शा० १०·३२) तात्पर्य है (पार्श्वसंस्थमिति पार्श्वक्रान्तां चारीमाह)।

२. अभिनवगुप्त का कथन है कि भृङ्गारवाहक पारिपार्श्विक को प्रदक्षिणा एवं परिवर्त के समय चुपचाप रहना चाहिए (भृङ्गारधारिणः प्रदक्षिणभ्रमणे तूष्णींभावेन स्थितः)।

३. जिस समय तृतीय परिवर्त की प्रतिक्रिया चलती है, उसी समय उत्थापनी ध्रुवा का गान चलता है जिसे द्रुत लय में करना चाहिए। तीसरे परिवर्त के अन्तिम सन्निपात को जर्जर-ग्रहण के समय तक चलना चाहिए।

एवं दाहिने पैर से विक्षेप का प्रयोग करना चाहिये। इस चतुर्थ परिवर्त की अवधि जर्जर ग्रहण से लेकर वाद्ययन्त्रों के अभिमुख जाने तक की होती हैं ॥ ८२-८४ ॥

चतुर्थः परिवर्तस्तु कार्यो द्रुतलये पुनः।
करपादनिपातास्तु भवन्त्यत्र तु षोडश ॥ ८५ ॥
त्र्यश्रे द्वादश पातास्तु भवन्ति करपादयोः।

चतुर्थ परिवर्त की समायोजना द्रुतलय में की जाती है एवं इसमें हस्तपाद का संचालन सोलह (कलाओं) का होता हैतथा त्र्यश्र में हस्तपाद का संचालन बारह कलाओं का होता है ॥ ८५-८६ ॥

उपसंहार—

वन्दनान्यथ कार्याणि त्रीणि हस्तेन भूतले ॥ ८६ ॥
आत्मप्रोक्षणमद्भिश्च त्र्यश्रे नैव विधीयते।
एवमुत्थापनं कार्यं ततस्तु परिवर्तनम् ॥ ८७ ॥

इसके पश्चाद् पृथ्वी का स्पर्श करके तीन बार वन्दना करनी चाहिए। त्र्यश्र परिवर्त के पहले जल से अपना प्रोक्षण नहीं किया जाना है। इस भाँति उत्थापना (ध्रुवा) का सम्पादन करके परिवर्तनी ध्रुवा को करना चाहिए ॥ ८६-८७ ॥

परिवर्तनी ध्रुवा की विधि—

चतुरश्रं लये मध्ये सन्निपातैरथाष्टभिः।
यस्या लघूनि सर्वाणि केवलं नैधनं गुरु ॥ ८८ ॥
भवेदतिजगत्यान्तु सा ध्रुवा परिवर्तनी।

(परिवर्तनी ध्रुवा) का प्रयोग चतुरस्र [ताल] तथा मध्यम लय में एवं आठ सन्निपातों के साथ किया जाता है। इसमें सभी वर्ण लघु होते हैं, केवल अन्तिम वर्ण गुरु होता है तथा इसमें अतिजगती जाति (त्रयोदशाक्षर छन्द) का प्रयोग किया जाता है ॥ ८८-८९

वार्तिकेन तु मार्गेण वाद्येनानुगतेन च ॥ ८९ ॥
ललितैः पादविन्यासैर्वन्द्या देवा यथादिशम्।

(परिवर्तनी ध्रुवा के गान के समय) सूत्रधार वार्तिक मार्ग[1] से वाद्य ध्वनि तथा ताल के अनुकूल ललितपादन्यास द्वारा सभी दिशाओं के अधिष्ठाता देवताओं को प्रणाम करें ॥ ८९-९० ॥

---

१. वार्तिकमार्ग—तीन मार्गों में एक मार्ग को वार्तिक मार्ग कहते हैं। इसमें एक कला का चार मात्राओं से निर्माण होता है।

द्विकलं पादपतनं पादचार्यां गतं भवेत् ॥ ९० ॥
वामपादेन वेधस्तु कर्तव्यो नृत्तयोक्तृभिः ।
द्वितालान्तरविष्कम्भो विक्षेपो दक्षिणस्य च ॥ ९१ ॥

उपर्युक्त पादचारी में प्रत्येक कदम का प्रमाण दो कला होना चाहिए । इसके पश्चात् नृत्य प्रयोक्ता को बायें पैर से दो ताल के अन्तरसहित सूची का तथा दाहिने पैर से विक्षेप का प्रयोग करना चाहिए ॥ ९०-९१ ॥

दिशाओं के देवताओं की वन्दना—

ततः पञ्चपदीं गच्छेदतिक्रान्तैः पदैरथ ।
ततोऽभिवादनं कुर्याद्देवतानां यथादिशम् ॥ ९२ ॥

इसके पश्चात् अतिक्रान्ता चारी में पाँच कदम चलकर यथाक्रम प्रत्येक दिशा के अधिष्ठाता देवता की वन्दना करनी चाहिए ॥ ९२ ॥

वन्देत प्रथमं पूर्वां दिशं शक्राधिदैवताम् ।
द्वितीयां दक्षिणामाशां वन्देत यमदैवताम् ॥ ९३ ॥
वन्देत पश्चिमामाशां ततो वरुणदैवताम् ।
चतुर्थीमुत्तरामाशां वन्देत धनदाश्रयाम् ॥ ९४ ॥

सर्वप्रथम इन्द्र द्वारा अधिष्ठित पूर्वदिशा की वन्दना करनी चाहिए फिर यमदेव की अधिष्ठित दक्षिण दिशा में प्रणाम करना चाहिए । इसके पश्चात् वरुण देवता द्वारा अधिष्ठित पश्चिम दिशा का अभिवादन करना चाहिए और फिर चौथी दिशा, उत्तर की, वन्दना करनी चाहिए जिसके अधिष्ठाता देवता कुबेर हैं ॥ ९३-९४ ॥

दिशां तु वन्दनं कृत्वा वामवेधं प्रयोजयेत् ।
दक्षिणेन च कर्तव्यं विक्षेपपरिवर्तनम् ॥ ९५ ॥

दिशाओं की वन्दना करने के बाद बायें पैर से सूची का दाहिने से विक्षेप एवं परिवर्तन का प्रयोग करना चाहिए ॥ ९५ ॥

त्रिदेव वन्दना—

प्राङ्मुखस्तु ततः कुर्यात् पुरुषस्त्रीनपुंसकैः ।
त्रिपद्या सूत्रभृद्रुद्रब्रह्मोपेन्द्राभिवादनम् ॥ ९६ ॥

इसके पश्चात् पूर्वदिशा की ओर अभिमुख होकर पुरुष, स्त्री एवं नपुंसक चरणों से यथाक्रम ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव का अभिवादन करना चाहिए ॥ ९६ ॥

पुरुष स्त्री एवं नपुंसक पाद—

दक्षिणं तु पदं पुंसो वामं स्त्रीणां प्रकीर्तितम् ।
पुनर्दक्षिणमेव स्यान्नात्युत्क्षिप्तं नपुंसकम् ॥ ९७ ॥

दाहिने पैर की संज्ञा पुरुष, बायें की स्त्री तथा ऊपर की ओर अधिक न उठाए गए दाहिने पैर की संज्ञा नपुंसक पाद होती है ॥ ९७ ॥

तीनों पादों के कार्य—

वन्देत पौरुषेणेशं स्त्रीपदेन जनार्दनम् ।
नपुंसकपदेनापि तथैवाम्बुजसम्भवम् ॥ ९८ ॥

पुरुष पाद से शिव भगवान् को, स्त्रीपाद से विष्णु को एवं नपुंसक पाद से कमलयोनि ब्रह्मा को प्रणाम किया जाता है ॥ ९८ ॥

चतुर्थकार के कार्य—

परिवर्तनमेवं स्यात्तस्यान्ते प्रविशेत्ततः ।
चतुर्थकारः पुष्पाणि प्रगृह्य विधिपूर्वकम् ॥ ९९ ॥

इस विधि से परिवर्तनी ध्रुवा का सम्पादन करके फिर एक चतुर्थकार (चतुर्थपात्र)[1] को अञ्जलि में पुष्प लेकर रंगपीठ पर यथाविधि प्रवेश करना चाहिए ॥ ९९ ॥

यथावत्तेन कर्तव्यं पूजनं जर्जरस्य तु ।
कुतपस्य च सर्वस्य सूत्रधारस्य चैव हि ॥ १०० ॥

उस (चतुर्थकार) को विधिपूर्वक जर्जर का, वाद्ययन्त्रों का एवं सूत्रधार का भी पूजन करना चाहिए ॥ १०० ॥

तस्य भाण्डसमः कार्यस्तज्ज्ञैर्गतिपरिक्रमः ।
न तत्र गानं कर्तव्यं तत्र स्तोभक्रिया भवेत् ॥ १०१ ॥

(पूजा के समय) उसकी पद-गति को भाण्डवादन के अनुकूल रहना चाहिए । उस समय कोई गीत नहीं गाना चाहिए । केवल अर्थहीन अक्षरों[2] का ही उच्चारण करना चाहिए ॥ १०१ ॥

---

१. अभिनवगुप्त के विचार में उसे चतुर्थकार इस कारण कहा जाता है कि वह सूत्रधार एवं दोनों पारिपार्श्विकों के त्रिविध कार्य से भिन्न कार्य करता है (सूत्रधारस्य पारिपार्श्विकयोश्च तिस्रः क्रिया । तद्व्यतिरिक्तं चतुर्थं कर्मकरोतीति चतुर्थकारः ।)

२. स्तोभक्रिया से निरर्थक अक्षरों के गायन का अर्थ है । अभिनवगुप्त ने स्तोभ की व्याख्या इस प्रकार की है—'स्तोभानां शुष्काक्षराणां' अर्थात् गीत न गाकर शुष्क या अर्थहीन अक्षरों का सस्वरगान (प्रभावोत्पादनार्थ) किया जाता है । आधुनिक काल में भरतनाट्यम् शैली में प्रचलित थिल्लाना कुछ इसी प्रकार का गायन प्रतीत होता है ।

अवकृष्टा ध्रुवा की विधि—

चतुर्थकारः[1] पूजां तु स कृत्वान्तर्हितो भवेत्।
ततो गेयावकृष्टा तु चतुरश्रा स्थिता ध्रुवा ॥ १०२ ॥

पूजा करने के पश्चात् चतुर्थकार को निष्क्रमण कर जाना चाहिए। इसके पश्चात् अवकृष्टा ध्रुवा का गायन चतुरस्र ताल तथा विलम्बित (स्थिति[2]) लय में किया जाना चाहिए ॥ १०२ ॥

गुरुप्राया तु सा कार्या तथा चैवावपाणिका[3]।
स्थायिवर्णाश्रयोपेता कलाष्टकविनिर्मिता ॥ १०३ ॥

अवकृष्टा ध्रुवा में समस्त वर्ण गुरु होते हैं, यह अवपाणिक ताल[4] से युक्त होती है, स्थायी वर्णों[5] पर आश्रित होती है तथा आठ कलाओं[6] से बनी होती है ॥ १०३ ॥

[चतुर्थं पञ्चमं चैव सप्तमं चाष्टमं तथा।
लघूनि पादे पङ्क्त्यान्तु सावकृष्टा ध्रुवा स्मृता ॥]

(जिस ध्रुवा पाद में चतुर्थ, पंचम, सप्तम तथा अष्टम वर्ण लघु होता है उसे अवकृष्टा ध्रुवा कहा जाता है)

नान्दी पाठ विधि—

सूत्रधारः पठेत्तत्र मध्यमं स्वरमाश्रितः।
नान्दीं पदैर्द्वादशभिरष्टभिर्वाऽप्यलङ्कृताम् ॥ १०४ ॥

इस के पश्चात् सूत्रधार को मध्यम स्वर में आठ या बारह पद[7] से युक्त नान्दी का पाठ करना चाहिए ॥ १०४ ॥

---

१. 'चतुष्प्रकारपूजां तु' इति वा पाठः।

२. अभिनव ने स्थित को विलम्बित लय का परिचायक माना है (स्थितेति विलम्बितलया)।

३. 'चैवार्धपाणिका' इति वा पाठः।

४. अवपाणि अथवा अवरपाणि ताल का एक प्रभेद है।

५. "स्थिताः स्वराः समा यत्र स्थायी वर्णः सः" (ना० शा० २९-१९) इस लक्षण के अनुसार जिस वर्ण में स्वर सम रूप में स्थित रहते हैं उसे स्थायी वर्ण कहते हैं। तदनुसार अवकृष्टा ध्रुवा का प्राण सम-स्थित स्वर है।

६. अभिनवभारती के अनुसार आठ कलाओं में द्विकला की दो कलाओं एवं चंचत्पुट की छः कलाओं का परिगणन किया जाता है।

७. नान्दी में पाद से क्या तात्पर्य है इस विषय में अनेक मतभेद हैं, जिसके लिए श्रीघोष ने लेवी पृ० १३२-१३३, २२५-२६ का सन्दर्भ दिया है। श्रीघोष ने यह

नान्दी श्लोक—

नमोऽस्तु सर्वदेवेभ्यो द्विजातिभ्यः शुभं तथा।
जितं सोमेन वै राज्ञा शिवं गोब्राह्मणाय च ॥ १०५ ॥

समस्त देवताओं को प्रणाम है, ब्राह्मणों का कल्याण हो, सोमरूपी राजा की जय हो एवं गो जाति तथा ब्राह्मणों का मङ्गल हो ॥ १०५ ॥

ब्रह्मोत्तरं तथैवास्तु हता ब्रह्मद्विषस्तथा।
प्रशास्त्विमां महाराजः पृथिवीं च ससागराम् ॥ १०६ ॥

ब्राह्मणों की निरन्तर उन्नति हो, ब्रह्मद्वेषी लोगों का नाश हो तथा हमारे महाराज सागरपर्यन्त फैली इस पृथ्वी का शासन करें ॥ १०६ ॥

राष्ट्रं प्रवर्धतां चैव रङ्गस्याशा समृद्धयतु।
प्रेक्षाकर्तुर्महान्धर्मो भवतु ब्रह्मभाषितः ॥ १०७ ॥

राष्ट्र की उन्नति हो, उस रङ्ग[1] की आशाएं समृद्ध हों, प्रेक्षाकारक[2] को वेदोक्त धर्म की प्राप्ति हो ॥ १०७ ॥

काव्यकर्तुर्यशश्चास्तु धर्मश्चापि प्रवर्धताम्।
इज्यया चानया नित्यं प्रीयन्तां देवता इति ॥ १०८ ॥

इस (दृश्य) काव्य (अर्थात् नाटक) के रचयिता को ख्याति मिले तथा उसका धर्म भी बढ़े और इस काव्यमय यज्ञ से देवतागण भी सदा प्रसन्न होते रहें ॥ १०८ ॥

नान्दीपदान्तरेष्वेषु ह्येवमार्येति नित्यशः।
वदेतां सम्यगुक्ताभिर्वाग्भिस्तौ पारिपार्श्विकौ ॥ १०९ ॥

भी उल्लेख किया है कि शाकुन्तल की टीका करते हुए (पृ०–६) राघवभट्ट ने पदविषयक अभिनवगुप्त का यह अभिमत उद्धृत किया है—'पदानि श्लोकावयवभूतानि तिङन्तानि सुबन्तानि, वा श्लोकतुरीयांशानि वा अवान्तररूपाणि वा आचार्यस्वरमस्तववान्तरवाकेष्वेव पदत्वम्।' इस व्याख्या के अनुसार पद से श्लोक के अवयवभूत सुबन्त या तिङन्त, दूसरा श्लोक पद, या अवान्तरस्वरूप वाक्य का अभिप्राय हो सकता है।

१. अभिनवगुप्त के विचार में रङ्ग से यहाँ अभिनेताओं आदि (नटकुशीलववर्गस्य) का अभिप्राय है।

२. प्रेक्षाकारक से यहाँ नाट्य की अर्थव्यवस्था के उत्तरदायी साहूकार या नाट्य को प्रस्तुत करने वाले नाट्यपति या सूत्रधार से हो सकता है।

उपर्युक्त प्रकार की नान्दी के पदों के पाठ के उपरान्त दोनों पारिपार्श्विकों को सुष्ठु वाणी में "ऐसा ही हों" कहना चाहिए ॥ १०९ ॥

एवं नान्दी विधातव्या यथावल्लक्षणान्विता ।
ततश्शुष्कावकृष्टा स्याज्जर्जरश्लोकदर्शिका ॥ ११० ॥

इस प्रकार लक्षणों से युक्त नान्दी का सम्पादन करना चाहिए । तत्पश्चात् जर्जर की स्तुतिपरक शुष्कावकृष्टा ध्रुवा का गायन किया जाना चाहिए ॥ ११० ॥

शुष्कावकृष्टा ध्रुवा का लक्षण—

नवगुर्वक्षराण्यादौ षड्लघूनि गुरुत्रयम् ।
शुष्कावकृष्टा तु भवेत्कला ह्यष्टौ प्रमाणतः ॥ १११ ॥
यथा—
दिग्ले दिग्ले दिग्ले दिग्ले जम्बुकपालितकते तेजाः ।

यदि आरम्भ में नौ वर्ण गुरु हों, फिर छः वर्ण लघु हों और अन्त में पुनः तीन वर्ण गुरु हों तथा (समयगत परिणाम) आठ कला का हो तो उसे 'शुष्काव-कृष्टा ध्रुवा' कहते हैं । यथा—दिग्ले दिग्ले झण्टुझण्टु जम्बुकपलितकते तेजाः ॥ १११-११२ ॥

देवता राजा या ब्राह्मणों की स्तुति से युक्त श्लोक पाठ—

कृत्वा शुष्कावकृष्टां तु यथावद्द्विजसत्तमाः ॥ ११२ ॥
ततः श्लोकं पठेदेकं गम्भीरस्वरसंयुतम् ।
देवस्तोत्रं पुरस्कृत्य यस्य पूजा प्रवर्तते ॥ ११३ ॥
राज्ञो वा यत्र भक्तिः स्यादथ वा ब्राह्मणस्स्तवम् ।

हे श्रेष्ठ ब्राह्मणजन ! शुष्कावकुष्टा ध्रुवा के गान के पश्चात् उस (सूत्रधार) को गम्भीर स्वर से एक श्लोक का पाठ करना चाहिए । यह श्लोक उस देवता की स्तुति पर हो जो नाट्य का इष्टदेव हो या प्रजावत्सल राजा अथवा ब्राह्मण की स्तुति में प्रयुक्त श्लोक पढ़ना चाहिए ॥ ११२-११४ ॥

जर्जर श्लोक पाठ—

गदित्वा जर्जरश्लोकं रङ्गद्वारे च यत्स्मृतम् ॥ ११४ ॥
पठेदन्यं पुनः श्लोकं जर्जरस्य विनाशनम् ।

इस भाँति रङ्गद्वार में जर्जर श्लोक के पाठ के उपरान्त उसे जर्जर के यश को प्रकाशित करने वाले एक अन्य श्लोक का पाठ करना चाहिए[1] ॥ ११४-११५ ॥

१. अभिनवगुप्त के मत में देवता की स्तुतिपरक श्लोक के पश्चात् जर्जर श्लोक, तब विष्णुस्तुतिकृद्रङ्गद्वारश्लोक एवं फिर जर्जरश्लोक का पाठ किया जाता है ।

चारी प्रयोग—

जर्जरं नमयित्वा तु ततश्चारीं प्रयोजयेत् ॥ ११५ ॥
पारिपार्श्विकयोश्च स्यात्पश्चिमेनापसर्पणम् ।

इसके पश्चात् जर्जर को प्रणाम करके चारी का प्रयोग किया जाना चाहिए। उस समय पारिपार्श्विकों को पश्चिम दिशा की ओर से निकल जाना चाहिए ॥ ११५-११६ ॥

अड्डिता ध्रुवा का प्रयोग—

अड्डिता चात्र कर्त्तव्या ध्रुवा मध्यलयान्विता ॥ ११६ ॥
चतुर्भिः सन्निपातैश्च चतुरश्रा प्रमाणतः ।

अब मध्य लय, चतुरश्र ताल एवं चार सन्निपातों से युक्त अड्डिता ध्रुवा[1] का प्रयोग किया जाना चाहिए ॥ ११६-११७ ॥

अड्डिता ध्रुवा का लक्षण—

आद्यमन्त्यं चतुर्थं च पञ्चमं च तथा गुरु ॥ ११७ ॥
यस्यां ह्रस्वानि शेषाणि सा ज्ञेया त्वड्डिता बुधैः ।

यदि (बारह वर्णों में से) प्रथम, पंचम तथा अन्तिम वर्ण गुरु हों तथा शेष ह्रस्व हों तो उसे विद्वज्जन 'अड्डिता ध्रुवा' कहते हैं ॥ ११७-११८ ॥

(देवतास्तोत्रमिति श्लोकः । ततो जर्जरश्लोकः । ततो विष्णुस्तुतिरुद्ररङ्गद्वार-श्लोकः ततो जर्जरश्लोक इति) ।

श्री घोष ने रङ्गद्वार का अर्थ नाट्यप्रयोग की शुरुआत माना है। रङ्गद्वार को पूर्वरङ्ग अथवा वास्तविक नाट्यप्रयोग की पूर्व दशा मानना हमें भी अभिप्रेत है।

१. अभिनवगुप्त के मत में कुछ आचार्य अड्डिता ध्रुवा का प्रयोग रंगद्वार में चारी के साथ किया जाना मानते हैं एवं अन्य आचार्य रंगद्वार के सान्निध्य के कारण रंगद्वार में अवकृष्टा का प्रयोग मानते हैं (रङ्गद्वारे चार्या चेति केचित् । अन्ये तु सन्निधानाद्रङ्गद्वारेऽवकृष्टैवेत्याहुः । अध्रुवमेव रङ्गद्वारमित्येके) अर्थात् भरत के मत में अड्डिता जाति है (अड्डिता जातिरिति) । अभिनवगुप्त ने अड्डिता का यह लक्षण भी दिया है जिसके अनुसार वह एक वृत्त सिद्ध होती है।

आद्यं चतुर्थं दशममष्टमेकादशे तथा ।
गुरूणि दोधके या स्यादड्डिता नाम सा स्मृता ॥

अर्थात् दोधकवृत्त के पाद में जब पहला, चौथा, आठवाँ, दसवाँ और ग्यारहवाँ वर्ण गुरु एवं अन्य लघु रहें तो उसे 'अड्डिता ध्रुवा' मानना चाहिए।

अड्डिता ध्रुवा का इतिहास—

अस्याः प्रयोगं वक्ष्यामि यथा पूर्वं महेश्वरः ॥ ११८ ॥
सहोमया क्रीडितवान्नानाभावविचेष्टितैः ।

भूतकाल में भगवान् शिव ने उमा के साथ अनेक भावों व चेष्टाओं के द्वारा क्रीड़ा करते हुए इस ध्रुवा का जिस रूप में प्रयोग किया था वह मैं बतलाऊँगा ॥ ११८-११९ ॥

जर्जरग्रहण, पंचपदीगमन, आर्यापाठ, चारी, महाचारी—

कृत्वाऽवहित्थं स्थानं तु वामं चाधोमुखं भुजम् ॥ ११९ ॥
चतुरश्रमुरः कार्यमञ्चितश्चापि मस्तकः ।
नाभिप्रदेशे विन्यस्य जर्जरं च तुलाधृतम् ॥ १२० ॥
वामपल्लवहस्तेन पादैस्तालान्तरोत्थितैः ।
गच्छेत्पञ्चपदीं चैव सविलासाङ्गचेष्टितैः ॥ १२१ ॥
वामवेधस्तु कर्तव्यो विक्षेपो दक्षिणस्य च ।
शृङ्गाररससंयुक्तां पठेदार्यां विचक्षणः ॥ १२२ ॥
चारीश्लोकं गदित्वा तु कृत्वा च परिवर्तनम् ।
तैरेव च पदैः कार्यं पश्चिमेनापसर्पणम् ॥ १२३ ॥
पारिपार्श्विकहस्ते तु न्यस्य जर्जरमुत्तमम् ।
महाचारीं ततश्चैव प्रयुञ्जीत यथाविधि ॥ १२४ ॥

सबसे पहले सूत्रधार को अवहित्थ स्थान[1] का प्रयोग करना चाहिए और बायीं भुजा को निम्नाभिमुख करके वक्षःस्थल को चतुरश्र तथा मस्तक को अञ्चित रखते हुए नाभिप्रदेश पर जर्जर को संतुलित रखते हुए आगे की ओर पाँच कदम चलना चाहिए। इसके बाद बाएं हाथ को पल्लव चेष्टा में रखना चाहिए। तथा चलने के समय एक ताल के अन्तर से प्रत्येक कदम रखते हुए अपने अङ्गों को विलासमय चेष्टा में रखना चाहिए। तदुपरान्त बायें पैर से सूची का व दाहिने पैर

---

१. अभिनवगुप्त के मत में अविहत्थस्थान स्त्री स्थानक होता है।

पूर्वो विरचितस्त्यश्रस्तदन्योऽपसृतः समः ।
पादस्तालान्तरन्यस्तस्त्रिकमीषत्समुन्नतम् ॥ ना० शा० १२-१६८
पाणिर्लताख्यो यत्रैकस्तदन्यस्तु नितम्बगः ।
अवहित्थं समाख्यातं स्थानमागमभूषणैः ॥ ना०शा० ॥ १२-१६९-१७० ॥

अवहित्थ स्थान में लताहस्त को अधोमुख स्थापित करने का उद्देश्य जर्जर को नाभिप्रदेश पर संतुलित करना है।

से विक्षेप का प्रयोग करना चाहिए। उसके बाद बुद्धिमान सूत्रधार को शृंगार रस से युक्त एक आर्या का पाठ करना चाहिए। फिर चारी श्लोक का पाठ करके और गोलाकार घूम कर (पूर्वकथित जो विधि यहाँ तक आने की बताई गई थी) उन्हीं कदमों से पीछे की ओर वापिस चला जाए। इसके बाद पारिपार्श्विक के हाथ में उत्तम जर्जर को देकर उसे यथाक्रम महाचारी का प्रयोग करना चाहिए ॥ ११९-१२४ ॥

महाचारी लक्षण—

चतुरश्रा ध्रुवा तत्र तथा द्रुतलयान्विता।
चतुर्भिस्सन्निपातैश्च कला ह्यष्टौ प्रमाणतः ॥ १२५ ॥
आद्यं चतुर्थमन्त्यं च सप्तमं दशमं गुरु।
लघु शेषं [1]ध्रुवायोगे त्रैष्टुभे चरणे तथा ॥ १२६ ॥

(महाचारी में) चतुरश्र ताल एवं द्रुतलय से युक्त ध्रुवा गीत होता है। इसमें चार सन्निपातों के साथ आठ कलाएँ होती हैं। (इसके ग्यारह वर्णों में से) पहला, चौथा, सातवाँ, दसवाँ तथा अन्तिम (ग्यारहवाँ) वर्ण गुरु, एवं शेष वर्ण लघु होते हैं। इस ध्रुवा का प्रत्येक पाद एकादशाक्षर होता है ॥ १२५-१२६ ॥

महाचारी का श्लोक—

(यथा—)

पादतलाहतिपातितशैलं
क्षोभितभूतसमग्रसमुद्रम् ।
ताण्डवनृत्तमिदं प्रलयान्ते
पातु जगत्सुखदायि हरस्य ॥ १२७ ॥

(जैसे—) प्रलय के उपरान्त शिव का ताण्डवनृत्य आपकी रक्षा करे जिसमें चरण तल के प्रहार से पर्वत टूट कर गिर गए हैं और जलस्थित समस्त प्राणियों के साथ सागर विक्षुब्ध हो गया है[2]।

---

१. 'ध्रुवापादे चतुर्विंशतिके भवेत्' इति बड़ौदासंस्करणे पाठः।

२. यह श्लोक चतुरस्रा ध्रुवा के उदाहरणरूप में प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक पाद में लघु गुरु का क्रम निर्दिष्टरूपेण है। यथा 'पादतलाहतिपातितशैलम्' में पहला वर्ण पा, चौथा वर्ण ला, सातवां पा एवं दसवां शै तथा ग्यारहवां लं गुरु हैं एवं दूसरा वर्ण द, तीसरा त, पांचवां ह, छठा ति, आठवां ति एवं नवां वर्ण त लघु हैं। इसको अधिक सूचारु रूप से व्यक्त करने का साधन निम्नलिखित है—

पादतलाहतिपातितशैलम् ।
S I I S I I S I I S S

भाण्डवाद्याभिमुखीकरणविधि—

भाण्डोन्मुखेन कर्तव्यं पादविक्षेपणं ततः।
सूचीं कृत्वा पुनः कुर्याद्विक्षेपपरिवर्तनम् ॥ १२८ ॥

इसके पश्चात् भाण्डवाद्य की ओर अभिमुख होकर (सूत्रधार को) पदन्यास करके जाना चाहिए और फिर सूची चारी का प्रयोग करके विक्षेप एवं तत्पश्चात् गोल चक्कर (परिवर्तन) का सम्पादन करना चाहिए ॥ १२८ ॥

अतिक्रान्तैः सललितैः पादैर्द्रुतलयान्वितैः।
त्रितालान्तरमुत्क्षेपैर्गच्छेत्पञ्चपदीं ततः ॥ १२९ ॥

तत्रापि वामवेधस्तु विक्षेपो दक्षिणस्य च।
तैरेव च पदैः कार्यं प्राङ्मुखेनापसर्पणम् ॥ १३० ॥

पुनः पदानि त्रीण्येव गच्छेत्प्राङ्मुख एव तु।
ततश्च वामवेधः स्याद्विक्षेपो दक्षिणस्य च ॥ १३१ ॥

अतिक्रान्तचारी में द्रुतलय से युक्त एवं (ललित चरणों द्वारा) तीन ताल के अन्तर से उठते हुए पाँच कदम चलना चाहिए और फिर बायें पैर से सूची (वेध) चारी एवं दक्षिण पद से विक्षेप का प्रयोग करे। इसके बाद फिर इन्हीं पदों से सामने की ओर मुख रखते हुए पीछे की ओर चले। तत्पश्चात् पुनः सामने की ओर तीन कदम आगे रखे और फिर से बायें पैर से सूची का एवं दाहिने पैर से विक्षेप का प्रयोग करे ॥ १२९-१३१ ॥

रौद्र रस युक्त श्लोक का पाठ—

ततो रौद्ररसं श्लोकं पादसंहरणं पठेत्।
तस्यान्ते तु त्रिपद्याथ व्याहरेत् पारिपार्श्विकौ ॥ १३२ ॥

इसके पश्चात् एक रौद्ररस के पादसंकुलित[1] श्लोक का पाठ करना चाहिए। उसके समाप्त होने पर तीन कदम आगे चलकर दोनों पारिपार्श्विकों से बात करनी चाहिए ॥ १३२ ॥

---

१. अभिनवगुप्त के मत में परस्पर संकुलित होने का अभिप्राय है कि समासों के बाहुल्य के कारण पाद अलग अलग न रहकर गुम्फित हो गए हों (यथा पादानां च संहरणं समासयोजनयैक्यं यत्रेत्योजःप्रधानत्वं दर्शितम्)। श्री घोष ने इससे पैर को एक साथ रखने का अर्थ लिया है किन्तु यह इस प्रसंग में अनुपयुक्त प्रतीत होता है।

नर्कुटक गान तथा त्रिगत—

तयोरागमने कार्यं गानं नर्कुटकं बुधैः ।
तथा च भारतीभेदे त्रिगतं सम्प्रयोजयेत् ।। १३३ ।।

उन दोनों (पारिपार्श्विकों) के आने के समय सुविज्ञों को नर्कुटक ध्रुवा[1] का गान करना चाहिए तथा भारतीवृत्ति में त्रिगत[2] सम्पादन करवाना चाहिए ।। १३३ ।।

विदूषक के कार्य—

विदूषकस्त्वेकपदां सूत्रधारस्मितावहाम् ।
असम्बद्धकथाप्रायां कुर्यात् कथनिकां ततः ।। १३४ ।।

विदूषक को ऐसी कथनिका का प्रयोग करना चाहिए जिससे सूत्रधार मुसकुराने लगे और जो अनर्गल बातों से युक्त हो ।। १३४ ।।

[वितण्डां गण्डसंयुक्ता तालिकाञ्च प्रयोजयेत् ।
कस्तिष्ठति जितं केनेत्यादिकाव्यप्ररूपिणीम् ।।
पारिपार्श्विकसञ्जल्पो विदूषकविरूपितः ।
स्थापितः सूत्रधारेण त्रिगतं सम्प्रयुज्यते ।।]

[इस बातचीत को विवादात्मक, उलझन भरी, तथा पहेलियों से युक्त होना चाहिए । कौन है ? कौन जीता ? आदि नाटक (काव्य) की गति को बढ़ाने वाले प्रश्न उसमें होने चाहिए । पारिपार्श्विक द्वारा प्रयुक्त संगत कथन को भी विदूषक द्वारा असंगत सिद्ध किया जाना चाहिए और फिर सूत्रधार को उन्हीं कथनों को प्रतिष्ठित करना चाहिए । इन तीनों (पारिपार्श्विक, विदूषक और सूत्रधार) के वार्तालाप को त्रिगत कहते हैं ।]

प्ररोचना का पाठ—

प्ररोचना च कर्तव्या सिद्धेनोपनिमन्त्रणम् ।
रङ्गसिद्धौ पुनः कार्यः काव्यवस्तुनिरूपणम् ।। १३५ ।।

---

१. नर्कुटक ध्रुवा का विशेष परिचय ना०शा० में आगे दिया गया है । इसको सूत्रधार एवं दोनों पारिपार्श्विक मिलकर गाते हैं । अथवा यह तीनों गतिशील रहते हैं एवं गायक नर्कुटकध्रुवा का प्रयोग करते हैं ।

अष्टौ नर्कुटकानां तु विज्ञेया मूलजातयः ।
रथोद्धता बुदबुदकम्' इत्यादि (ना०शा०३२·२८०)
तदन्यतमध्रुवोपलक्षितं गानं नर्कुटकम् ।

२. त्रिगत से तीनों नटों अर्थात् सूत्रधार एवं दोनों पारिपार्श्विकों के सम्भाषण का तात्पर्य है ।

इसके बाद सूत्रधार को आह्वानमयी प्ररोचना का पाठ करना चाहिए तथा नाट्य की सफलता के हेतु प्रस्तूयमान नाटक की विषयवस्तु का निरूपण करना चाहिए ॥ १३५ ॥

तीनों पात्रों का निष्क्रमण—

सर्वमेव विधिं कृत्वा सूचीवेधकृतैरथ ।
पादैरनाविद्धगतैर्निष्क्रामेयुः समं त्रयः ॥ १३६ ॥

इस सम्पूर्ण प्रक्रिया का सम्पादन करके सूचीचारी का प्रयोग करने के बाद इन तीनों ही पात्रों को चाहिए कि आविद्ध चारी को छोड़कर अन्य किसी भी चारी में निष्क्रमण कर जाएँ ॥ १३६ ॥

चतुरश्र पूर्वरंग विधि का उपसंहार—

एवमेष प्रयोक्तव्यः पूर्वरङ्गो यथाविधिः ।
चतुरश्रो द्विजश्रेष्ठास्त्र्यश्रं चापि निबोधत ॥ १३७ ॥

इस प्रकार इस चतुरश्र पूर्वरंग विधि का प्रयोग करना चाहिए । हे ऋषियो ! आप लोग अब त्र्यश्र पूर्वरंग विधि को भी जान लीजिए ॥ १३७ ॥

त्र्यश्र पूर्वरंग विधि—

अयमेव प्रयोगः स्यादङ्गान्येतानि चैव हि ।
तालप्रमाणं सङ्क्षिप्तं केवलं तु विशेषकृत् ॥ १३८ ॥

(त्र्यश्र पूर्वरंग में भी) यहीं (चतुरश्र के समान) प्रयोग विधि होती है तथा इतने ही अङ्ग होते हैं । केवल ताल के प्रमाणों को संक्षिप्त करना ही इसकी विशिष्टता है ॥ १३८ ॥

त्र्यश्र के सन्निपात—

शम्या तु द्विकला कार्या तालो ह्येककलस्तथा ।
पुनश्चैककला शम्या सन्निपातः कलाद्वयम् ॥ १३९ ॥

उसमें शम्या[1] दो कला की सम्पन्न की जाती है, तथा ताल एक कला[2] के प्रमाण की होती है, तब फिर से एक कला की शम्या एवं दो कला के प्रमाण का सन्निपात होता है ॥ १३९ ॥

---

१. दाहिने हाथ से ताली बजाने की क्रिया को शम्या कहा जाता है । इसको एक हाथ से सम्पन्न होने वाली क्रिया माना जाता है ।

२. कला उस शब्द युक्त क्रिया की संज्ञा है जो गुरुमात्रा के काल से सम्पन्न की जाती है । भरत के अनुसार पाँच निमेष के समय को लघु ताल कहते हैं । दो लघु ताल का एक गुरु ताल होता है । अतः कला का समय प्रमाण दस निमेष है ।

त्र्यश्र के कला, ताल एवं लय आदि—

अनेन हि प्रमाणेन कलाताललयान्वितः ।
कर्तव्यः पूर्वरङ्गस्तु त्र्यश्रोऽप्युत्थापनादिकः ॥ १४० ॥

कला, ताल एवं लय के सन्दर्भ में इसी (चतुरश्र पूर्वरङ्ग में वर्णित) प्रमाण के अनुरूप ही उत्थापनादि के साथ त्र्यश्र पूर्वरङ्ग का सम्पादन करना चाहिए ॥ १४० ॥

त्र्यश्र पूर्वरंग की उत्थापनी ध्रुवा के छन्द का लक्षण—

आद्यं चतुर्थं दशममष्टमं नैधनं गुरु ।
यस्यास्तु जागते पादे सा त्र्यश्रोत्थापिनी ध्रुवा ॥ १४१ ॥

त्र्यश्र पूर्वरङ्ग में प्रयुक्त की जाने वाली उत्थापनी ध्रुवा में (बारह अक्षरों से युक्त) जगती छन्द के प्रथम, चतुर्थ, अष्टम, दशम तथा अन्तिम वर्ण गुरु होते हैं ॥ १४१ ॥

वाद्य, गतिप्रचार ध्रुवा-ताल आदि—

वाद्यं गतिप्रचारश्च ध्रुवातालस्तथैव च ।
संक्षिप्तान्येव कार्याणि त्र्यश्रे नृत्तप्रवेदिभिः ॥ १४२ ॥

नृत्यज्ञ जनों को इस त्र्यश्र पूर्वरंग के वाद्य, गतिप्रचार, ध्रुवा एवं ताल को संक्षेप में ही प्रयुक्त करना चाहिए ॥ १४२ ॥

आंगिक व्यापार—

वाद्यगीतप्रमाणेन कुर्यादङ्गविचेष्टितम् ।
विस्तीर्णमथ सङ्क्षिप्तं द्विप्रमाणविनिर्मितम् ॥ १४३ ॥

वाद्यसंगीत एवं कण्ठसंगीत के अनुरूप ही विस्तृत अथवा संक्षिप्त दोनों प्रकार का आंगिक व्यापार किया जाना चाहिए ॥ १४३ ॥

हस्तपाद संचालन—

हस्तपादप्रचारस्तु द्विकलः परिकीर्तितः ।
चतुरश्रे परिक्रान्ते पाताः स्युः षोडशैव तु ॥ १४४ ॥
त्र्यश्रे द्वादश पातास्तु भवन्ति करपादयोः ।
एतत्प्रमाणं विज्ञेयमुभयोः पूर्वरङ्गयोः ॥ १४५ ॥

इसमें हाथों एवं चरणों का संचालन दो कलाओं तक होता है। चतुरश्र पूर्वरंग के परिक्रान्त में हस्तपाद का संचालन सोलह बार होता है। पर त्र्यश्रपूर्वरंग में बारह बार होता है। इस प्रकार इन दोनों पूर्वरंगों में (हस्तपादसंचालन का) प्रमाण जानना चाहिए ॥ १४४-१४५ ॥

त्र्यश्र पूर्वरंग में त्रिपदीगमन—

केवलं परिवर्ते तु गमने त्रिपदी भवेत् ।
दिग्वन्दने पञ्चपदी चतुरश्रे विधीयते ॥ १४६ ॥

केवल परिवर्त की अवस्था[1] में (त्र्यश्र पूर्वरंग में) तीन कदम आगे बढ़ाया जाता है जबकि चतुरश्र पूर्वरंग में दिग्वन्दन के समय पाँच कदम आगे बढ़ाया जाता है ॥ १४६ ॥

त्र्यश्र पूर्वरंग का उपसंहार—

आचार्यबुद्धया कर्तव्यस्त्र्यश्रस्तालः प्रमाणतः ।
तस्मान्न लक्षणं प्रोक्तं पुनरुक्तं भवेद्यतः ॥ १४७ ॥

नाट्याचार्य को अपने बुद्धिकौशल से ताल के प्रमाणानुरूप त्र्यश्रपूर्वरंग का प्रयोग कर लेना चाहिए। इसी कारण इसका लक्षण नहीं कहा गया है कि यह पुनरुक्ति मात्र होता (क्योंकि कुछ थोड़ी भी विशेषताओं को छोड़कर त्र्यश्रपूर्वरंग, चतुरश्र पूर्वरंग के ही अनुरूप होता है) ॥ १४७ ॥

शुद्ध पूर्व-रंग का उपसंहार—

एवमेष प्रयोक्तव्यः पूर्वरङ्गो द्विजोत्तमाः ! ।
त्र्यश्रश्च चतुरश्रश्च शुद्धो भारत्युपाश्रयः ॥ १४८ ॥

हे श्रेष्ठ ब्राह्मणजन ! इस प्रकार त्र्यश्र एवं चतुरश्र रूप, भारती वृत्ति पर आश्रित, शुद्ध पूर्वरंग का प्रयोग करना चाहिए ॥ १४८ ॥

चित्र पूर्वरंग विधि—

एवं तावदयं शुद्धः पूर्वरङ्गो मयोदितः ।
चित्रत्वमस्य वक्ष्यामि यथाकार्यं प्रयोक्तृभिः ॥ १४९ ॥

इस भाँति मैने यह शुद्ध पूर्वरंग का वर्णन किया। अब मैं इस पूर्वरंग के चित्र-स्वरूप का प्रयोग किस प्रकार करना चाहिए, इसकी व्याख्या करूँगा ॥ १४९ ॥

वृत्ते ह्युत्थापने विप्राः कृते च परिवर्तने ।
चतुर्थकारदत्ताभिः सुमनोभिरलङ्कृते ॥ १५० ॥

उदात्तगानैर्गन्धर्वैः परिगीते प्रमाणतः ।
देवदुन्दुभयश्चैव निनदेयुर्भृशं ततः ॥ १५१ ॥

हे ब्राह्मणों ! उत्थापनी ध्रुवा की समाप्ति के बाद, परिवर्तन के सम्पादित

१. जैसा कि पहले कहा जा चुका है, चारों दिशाओं के अधिष्ठाता देवताओं के वन्दन हेतु घूम घूम कर प्रणाम करने की प्रक्रिया का नाम परिवर्त है।

होने पर चतुर्थ पात्र के द्वारा पुष्पांजलि अर्पण के उपरान्त[1], तथा गन्धर्वजन द्वारा यथोचित गीतों के गाये जाने पर देवदुन्दुभियों का तुमुल नाद करना चाहिए ॥ १५०-१५१ ॥

सिद्धाः कुसुममालाभिर्विकिरेयुः समन्ततः ।
अङ्गहारैश्च देव्यस्ता उपनृत्येयुरग्रतः ॥ १५२ ॥

(चित्र पूर्वरंग के समय) सफेद रंग की पुष्पमालाओं को रंगमंच पर चारों ओर बिखेरना चाहिए तथा देवियों के रूप में सुसज्जित नर्तकियों द्वारा अङ्गहारों का प्रयोग करते हुए नाचना चाहिए ॥ १५२ ॥

यस्ताण्डवविधिः प्रोक्तो नृत्ते पिण्डीसमन्वितः ।
रेचकैरङ्गहारैश्च न्यासोपन्याससंयुतः ॥ १५३ ॥

नान्दीपदानां मध्ये तु एकैकस्मिन्पृथक्पृथक् ।
प्रयोक्तव्यो बुधैः सम्यक्चित्रभावमभीप्सुभिः ॥ १५४ ॥

चित्र पूर्वरंग के रूप में विधान करने के इच्छुक प्रयोक्ताओं को चाहिए कि पिण्डी बन्ध से युक्त, रेचकों एवं अंगहारों से समन्वित एवं न्यास[2] तथा अपन्यास[3] से संयुक्त जिस ताण्डवविधि का नृत्त के प्रकरण में उल्लेख हुआ है, उसका पृथक् पृथक् सम्यक् उपयोग नान्दी के एक-एक पद के मध्य में करें ॥ १५३-१५४ ॥

एवं कृत्वा यथान्यायं शुद्धं चित्रं प्रयत्नतः ।
ततः परं प्रयुञ्जीत नाटकं लक्षणान्वितम् ॥ १५५ ॥

इस प्रकार अवसर के अनुकूल शुद्ध या चित्र पूर्वरङ्ग का प्रयत्नपूर्वक प्रयोग करने के उपरान्त लक्षणों से युक्त नाटक का प्रयोग करना चाहिए ॥ १५५ ॥

ततस्त्वन्तर्हिताः सर्वा भवेयुर्दिव्ययोषितः ।
निष्क्रान्तासु च सर्वासु नर्तकीषु ततः परम् ॥ १५६ ॥

पूर्वरङ्गे प्रयोक्तव्यमङ्गजातमतः परम् ।
एवं शुद्धो भवेच्चित्रः पूर्वरङ्गो विधानतः ॥ १५७ ॥

---

१. श्री घोष के अनुवाद के अनुसार इस अंश का अर्थ इस भाँति होगा—'चतुर्थकार द्वारा प्रदत्त पुष्पों से उत्थापनी ध्रुवा के अलंकरण के उपरान्त ।

२. जिस पर गीत वाद्य या नृत्त का एक प्रबन्ध समाप्त होता हो उसे न्यास कहते हैं ।

३. जिस स्वर पर गीत वाद्य या नृत्त का मध्यभाग समाप्त हो उसे अपन्यास कहते हैं ।

इसके पश्चात् देवीरूपेण सुसज्जित उन नर्तकियों को नेपथ्य में चले जाना चाहिए और उन नर्तकियों के चले जाने पर पूर्वरङ्ग के अन्य अंगों का सम्पादन किया जाना चाहिए। इस प्रकार के विधान से शुद्ध पूर्वरङ्ग की संज्ञा 'चित्रपूर्वरङ्ग' हो जाती है ॥ १५६-१५७ ॥

त्रिविध पूर्वरंगों में गीत वाद्य या नृत्य की अधिकता के दोष—

कार्यो नातिप्रसङ्गोऽत्र नृत्तगीतविधिं प्रति।
गीते वाद्ये च नृत्ते च प्रवृत्तेऽतिप्रसङ्गतः ॥ १५८ ॥

इन (त्रिविध पूर्वरङ्गों[1]) में अधिक गीत, वाद्य या नृत्य की अनर्गल रूप से आवश्यकता से अधिक योजना नहीं की जानी चाहिए ॥ १५८ ॥

खेदो भवेत्प्रयोक्तॄणां प्रेक्षकाणां तथैव च।
खिन्नानां रसभावेषु स्पष्टता नोपजायते ॥ १५९ ॥
ततः शेषप्रयोगस्तु न रागजनको भवेत्।

अधिक देर संगीत चलने पर प्रयोक्तागण एवं प्रेक्षकगण दोनों थक जाएँगे और फिर खिन्न (अभिनेताओं व दर्शकों) को रस एवं भाव की निष्पत्ति सम्पूर्णतया नहीं हो पाएगी और आगे प्रस्तूयमान नाट्य प्रयोग में उन्हें उत्साह नहीं रहेगा ॥ १५९-१६० ॥

[लक्षणेन विना बाह्यलक्षणाद्विस्तृतं भवेत् ॥
लोकशास्त्रानुसारेण तस्मान्नाट्यं प्रवर्तते ॥]

(मूल लक्षण का बिना अनुसरण किए बाह्य लक्षण का प्रयोग करने से व्यर्थ ही विस्तार हो जाता है। अतएव लोक एवं शास्त्र के अनुसार नाटक का प्रवर्तन करना चाहिए।)

सूत्रधार पारिपार्श्वक निष्क्रमण—

त्र्यश्रं वा चतुरश्रं वा शुद्धं चित्रमथापि वा ॥ १६० ॥
प्रयुज्य रङ्गान्निष्क्रामेत्सूत्रधारः सहानुगः।

---

१. आचार्य अभिनवगुप्त ने अङ्गों की संख्या का यह क्रम बतलाया है–उत्थापन, परिवर्तन, अवकृष्टागान, नान्दीपाठ, शुष्कावकृष्टा, जर्जरश्लोक, ध्रुवा, रंगद्वार, अड्डिता, आर्यापाठ, ध्रुवा, रौद्रश्लोकपाठ, नर्कुटक, त्रिगत एवं प्ररोचना। यही अंगहारषोडश त्र्यश्रपूर्वरङ्ग में भी होते हैं और नान्दी के पादों के बीच में नृत्य भी होता है।

अभिनव द्वारा गणित अंगों की संख्या १५ है। पूर्वरंग के प्रसंग में इस क्रमावलि में गीत का भी उल्लेख हुआ है। उसका आकलन यह करने पर ही षोडशांग पूरा होना सम्भव है।

त्र्यश्र, चतुरश्र, शुद्ध अथवा चित्र में से किसी भी भाँति के पूर्वरङ्ग के सम्पादन के पश्चात् सूत्रधार को चाहिए कि अपने सहायकों के साथ चला जाये ॥ १६०-१६१ ॥

आश्रवणा, नान्दी, सूत्रधार प्रवेश, प्रस्तावना—

[देवपार्थिवरङ्गानामाशीर्वचनसंयुताम् ॥
कवेर्नामगुणोपेतां वस्तूपक्षेपरूपिकाम् ।
लघुवर्णपदोपेतां वृत्तैश्चित्रैरलङ्कृताम् ॥
अन्तर्यवनिकासंस्थः कुर्यादाश्रावणां ततः ।
आश्रावणावसाने नान्दीं कृत्वा स सूत्रधृत् ॥
पुनः प्रविश्य रङ्गं तु कुर्यात्प्रस्तावनां ततः ।]

(इसके पश्चात् देवता, राजा रङ्गमंच के निमित्त आशीर्वादात्मक वचनों से युक्त, कवि (नाटक के रचयिता) के नाम तथा गुणों के वर्णन से समन्वित एवं नाटक की कथावस्तु के बोधक लघुवर्ण के पदों से युक्त तथा अनेक प्रकार में वृत्तों (घटनाओं या छन्दों) से युक्त आश्रवणा का प्रयोग यवनिका के अन्दर रहते हुए ही करना चाहिए। आश्रवणा के समाप्त होने पर एवं नान्दी के समापन के पश्चात् (सूत्रधार को) फिर से रङ्ग पर प्रवेश करके प्रस्तावना का प्रयोग करना चाहिए।)

स्थापक का प्रवेश—

प्रयुज्य विधिनैवं तु पूर्वरङ्गं प्रयोगतः ॥ १६१ ॥
स्थापकः प्रविशेत्तत्र सूत्रधारगुणाकृतिः ।

इस भाँति यथाविधि पूर्वरंग के विधान को सम्पन्न करके सूत्रधार के प्रतिरूपवत्[1] स्थापक को प्रवेश करना चाहिए ॥ १६१-१६२ ॥

स्थानं तु वैष्णवं कृत्वा सौष्ठवाङ्गपुरस्कृतम् ॥ १६२ ॥
प्रविश्य रङ्गं तैरेव सूत्रधारपदैर्व्रजेत् ।

---

१. इस पद का शाब्दिक अर्थ यह है कि स्थापक के गुण एवं आकृति सूत्रधार के समान होने चाहिए। किन्तु इसका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि स्थापक एवं सूत्रधार की रूपसज्जा एवं शैली बिल्कुल एक दूसरे के समान होनी चाहिए। अर्थात् उसे भी सूत्रधार के समान विस्मययुक्त अद्भुत दृष्टि से युक्त होना चाहिए। अभिनवगुप्त का तो विचार है कि सूत्रधार एवं स्थापक एक ही व्यक्ति की दो संज्ञायें हैं। सूत्रधार के रूप में पूर्वरंग का प्रयोग करने के पश्चात् वही सूत्रधार स्थापक के रूप में मंच पर प्रवेश करता है। (सूत्रधार एवं स्थापक इति सूत्रधारः पूर्वरङ्गं प्रयुज्य स्थापकः सम्प्रविशदिति न भिन्नकर्तृकता)।

जिस प्रकार के चरणों को सूत्रधार ने प्रयुक्त किया था उन्हीं पदों का अनुसरण करते हुए रंगपीठ पर प्रवेश करके स्थापक को वैष्णवस्थान एवं सौष्ठव अङ्ग का आश्रय लेना चाहिए ॥ १६२-१६३ ॥

मध्यलया ध्रुवा का प्रयोग—

स्थापकस्य प्रवेशे तु कर्तव्याऽर्थानुगा ध्रुवा ॥ १६३ ॥
त्र्यश्रा वा चतुरश्रा वा तज्ज्ञैर्मध्यलयान्विता ।

स्थापक के प्रवेश करने पर विज्ञजनों को त्र्यश्रा अथवा चतुरश्रा जिसका भी उपयोग उचित हो—उस ध्रुवा का मध्य लय में[1] प्रयोग करना चाहिए ॥ १६३-१६४ ॥

देव-द्विज वन्दनात्मक चारी—

कुर्यादनन्तरं चारीं देवब्राह्मणशंसिनीम् ॥ १६४ ॥
सुवाक्यमधुरैः श्लोकैर्नानाभावरसान्वितैः ।

इसके पश्चात् उसे (स्थापक को) मधुरवाक्यों तथा विविध रसों एवं भावों से पूर्ण श्लोकों के द्वारा इष्टदेव तथा ब्राह्मणों की अभिशंसात्मक चारी का प्रयोग करना चाहिए ॥ १६४-१६५ ॥

उद्घोषणा तथा प्रस्तावना—

प्रसाद्य रङ्गं विधिवत्कवेर्नाम च कीर्तयेत् ॥ १६५ ॥
प्रस्तावनां ततः कुर्यात्काव्यप्रख्यापनाश्रयाम् ।

रंग[2] (सामाजिकों) का यथाविधि अभिनन्दन करने के पश्चात् उसे नाट्य के प्रणेता का नाम उद्घोषित करना चाहिए और इसके बाद उसे नाट्य की कथावस्तु का स्तवन करने वाली प्रस्तावना[3] करनी चाहिए ॥ १६५-१६६ ॥

---

१. अभिनवगुप्त के विचार में शोक के अवसर पर विलम्बित लय एवं रोष आदि के अवसर पर द्रुतलय का प्रयोग अपेक्षित है। इसके द्वारा सामाजिकों का हृदय समुचित रसास्वादन की योग्यता को प्राप्त कर लेता है।

२. रंग को प्रसन्न करने का अर्थ अभिनवगुप्त के मत में रंगस्थ सामाजिकों के हृदय को प्रसन्न करना है।

३. अभिनवगुप्त के मत में पहले से ही प्रस्तावना द्वारा नाट्यवस्तु का बोध कराने का यह उद्देश्य हो सकता है कि दर्शकों के हृदय में पहले से ही कुछ संस्कार उत्पन्न हो जाए (प्रथमतः एतत्प्रभृति सामाजिकाः संक्षेपेण संस्कारवन्तो भवन्ति)।

उद्घात्यक, रूपसज्जा तथा ज्ञापन के बाद स्थापक निष्क्रमण—

उद्घात्यकादि कर्तव्यं काव्योपक्षेपणाश्रयम् ॥ १६६ ॥
दिव्ये दिव्याश्रयो भूत्वा मानुषे मानुषाश्रयः ।
दिव्यमानुषसंयोगे दिव्यो वा मानुषोऽपि वा ॥ १६७ ॥
मुखबीजानुसदृशं नानामार्गसमाश्रयम् ।
नानाविधैरुपक्षेपैः काव्योपक्षेपणं भवेत् ॥ १६८ ॥
प्रस्ताव्यैवं तु निष्क्रामेत्काव्यप्रस्तावकस्ततः ।
एवमेष प्रयोक्तव्यः पूर्वरङ्गो यथाविधिः ॥ १६९ ॥

नाटक की कथावस्तु की बोधक उद्घात्यक[1] आदि का प्रयोग किया जाना चाहिए। दिव्य नाटक के प्रसंग में दिव्य रूप सज्जा, मानवीय नाटक होने पर मानवीय रूपसज्जा तथा दिव्य एवं मानवीय दोनों प्रकार के वृत्तों से युक्त नाटक होने पर दिव्य या मानवीय किसी एक रूप सज्जा से अलंकृत होकर उसे अनेक प्रकार से नाटक के प्रतिपाद्य मुख एवं बीज[2] के अनुरूप अनेक उपक्षेपों का आश्रय लेकर ज्ञापन कराना चाहिए। इस प्रकार काव्य की प्रस्तावना करने के पश्चात् द्विज स्थापक को निष्क्रमण कर देना चाहिए। पूर्वरंग में इस विधि का प्रयोग किया जाना चाहिए ॥ १६६-१६९ ॥

विधियुक्त प्रयोग की महिमा—

य इमं पूर्वरङ्गं तु विधिनैव प्रयोजयेत् ।
नाशुभं प्राप्नुयात्किञ्चित्स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ १७० ॥

विधिपूर्वक इस पूर्वरंग का प्रयोग करने वाले व्यक्ति का कोई भी अमङ्गल नहीं होता और वह स्वर्गलोक को जाता है ॥ १७० ॥

विधिहीन प्रयोगजन्य दोष—

यश्चापि विधिमुत्सृज्य यथेष्टं संप्रयोजयेत् ।
प्राप्नोत्यपचयं घोरं तिर्यग्योनिं च गच्छति ॥ १७१ ॥

और जो भी इस विधि को छोड़कर मनमाना प्रयोग करेगा उसे घोर अवनति मिलेगी और वह तिर्यग्योनि को प्राप्त करेगा ॥ १७१ ॥

न तथाऽग्निः प्रदहति प्रभञ्जनसमीरितः ।
यथा ह्यपप्रयोगस्तु प्रयुक्तो दहति क्षणात् ॥ १७२ ॥

वायु के वेग से प्रदीप्त अग्नि भी उतनी शीघ्रता से नहीं जलती जितनी जल्दी

---

१. यह प्रस्तावना के एक भेद का नाम है ।

२. मुख एवं बीज उन उन नाम की सन्धियों की संज्ञा है। नाटक की इन पञ्चसन्धियों के विषय में ना० शा० के इक्कीसवें अध्याय में विशेष प्रकाश डाला गया है।

नाट्य की विधियों का दोषपूर्ण विधान (मनमानी करने वाले प्रयोक्ता को) नष्ट करता है ॥ १७२ ॥

देशानुसार पूर्वरंग का प्रयोग—

इत्येवावन्तिपाञ्चालदाक्षिणात्यौढ्रमागधैः ।
कर्तव्यः पूर्वरङ्गस्तु द्विप्रमाणविनिर्मितः ॥ १७३ ॥

पाञ्चाल, दाक्षिणात्य, आन्ध्र एवं मगध देश के निवासियों को दो प्रमाणों[1] वाले इस पूर्वरंग का प्रयोग करना चाहिए ॥ १७३ ॥

पूर्वरङ्ग का उपसंहार—

एष वः कथितो विप्राः पूर्वरङ्गाश्रितो विधिः ।
भूयः किं कथ्यतां सम्यङ्नाट्यवेदविधिं प्रति ॥ १७४ ॥

॥ इति भारतीये नाट्यशास्त्रे पूर्वरङ्गप्रयोगो नाम पञ्मोऽध्यायः[2] ॥ ५ ॥

हे ब्राह्मणो ! इस प्रकार आपसे पूर्वरङ्ग सम्बन्धी विधि बताई गयी । अब आप लोगों को नाट्यवेद से सम्बन्धित अन्य किस विधि के विषय में बतलाया जाए ॥ १७४ ॥

॥ इस प्रकार भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र की 'नाट्यप्रदीप' नामक हिन्दी व्याख्या का 'पूर्वरङ्गप्रयोग' नामक पञ्चम अध्याय पूर्ण हुआ ॥ ५ ॥

—o—

त्रिविध पूर्वरङ्गों की ध्रुवा योजना—

[[3]पुनश्चित्रे तथा मिश्रे शुद्धे चैव ब्रवीम्यहम् ।
यथा योज्या ध्रुवाः पञ्च तथा वक्ष्यामि तत्त्वतः ॥

चित्र, मिश्र, तथा शुद्ध पूर्वरङ्ग में प्रयुक्त की जाने वाली पाँच ध्रुवाओं की किस भाँति योजना करनी चाहिए वह मैं अब बताऊँगा ।

पाँच ध्रुवायें—

आदावुत्थापनी कार्या परिवर्तस्तथा भवेत् ।
अवकृष्टाड्डिता चैव विक्षिप्ता चैव पञ्चमी ॥

---

१. दो प्रमाणों द्वारा पूर्वरंग के त्र्यश्र एवं चतुरश्र इन दोनों भेदों का संकेत है । आचार्य अभिनवगुप्त की भी यही मान्यता है—पूर्वरङ्गो द्विविधस्त्र्यश्रश्चतुरश्रश्च ।

२. पुस्तकेष्वत्राध्यायसमाप्तिः । उपरितनो भागो न दृश्यते ।

३. पुस्तकान्तरे एवायं भागो दृश्यते ।

सबसे पहले उत्थापनी ध्रुवा को निष्पन्न किया जाता है फिर परिवर्तनी, अवकृष्टा, अड्डिता एवं पाँचवीं विक्षिप्ता ध्रुवा की जाती हैं।

एवं पञ्च ध्रुवा ज्ञेया उपोहनसमन्विताः।
कर्तव्यास्तु प्रयत्नेन पूर्वरङ्गे प्रयोक्तृभिः॥

उपोहन[1] से युक्त इन पाँच ध्रुवाओं को जाना जाता है। पूर्वरङ्ग में प्रयोक्ताओं को इनका प्रयोग यत्नपूर्वक करना चाहिए।

पाँचों ध्रुवाओं की उपोहन विधि—

अतः परं प्रवक्ष्यामि ह्युपोहनविधिक्रियाम्।
उत्थापनस्याष्टकलं परिवर्तस्य षट्कलम्॥
अवकृष्टं पुनः कार्यं कलाभिः पञ्चभिर्युतम्।
ध्रुवायामड्डितायां च चतुष्कलमथापि च॥
क्षिप्तायां चैव विज्ञेयं कलात्रयसमन्वितम्।
एवं ह्युपोहनानां तु प्रमाणं समुदाहृतम्॥

इसके बाद मैं उपोहन की विधि बतलाऊँगा। उत्थापनी ध्रुवा में आठ कला, परिवर्तनी में छः अवकृष्टा में पाँच, अड्डिता में चार तथा विक्षिप्ता ध्रुवा में तीन कला के प्रमाण का उपोहन विहित माना है।

चित्रमार्ग के अक्षर कला एवं ताल—

गुरुलाघवसंयुक्तं कलातालसमन्वितम्।
पूर्वरङ्गे सदा ज्ञेयं चित्रमार्गे ह्युपोहनम्॥

चित्रमार्ग में उपोहन में गुरु तथा लघु अक्षर एवं कला तथा ताल का योग होता है।

त्रिविध पूर्वरङ्गों में त्रिविधमार्गों के अनुसार कलाओं का प्रयोग—

चित्रे चैत्राः कला ज्ञेया मिश्रे वार्तिकमाश्रिताः।
शुद्धे दक्षिणमार्गेण प्रयोक्तव्याः प्रयोक्तृभिः॥

प्रयोक्ताओं को चित्रपूर्वरंग में चित्र-मार्ग के अनुसार मिश्र पूर्वरंग में वार्तिक-मार्ग के अनुसार तथा शुद्ध पूर्वरङ्ग में दक्षिणमार्ग के अनुसार कलाओं का प्रयोग करना चाहिये।

---

१. वस्तु या गीत के प्रयोग में ताल के नियमन हेतु जो आलाप किया जाता है उसे उपोहन कहते हैं।

गीतियों के चार भेद—

चतस्रो गीतयः कार्या मागधी ह्यर्धमागधी।
संभाविता तथा चैव पृथुला च प्रकीर्तिता॥

मागधी, अर्धमागधी, संभाविता एवं पृथुला इन चार गीतियों का प्रयोग किया जाना चाहिए।

चित्रपूर्वरङ्ग की गीतियाँ—

मागधी त्वथ कर्तव्या त्वथवा त्वर्धमागधी।
पूर्वरङ्गे भवेच्चित्रे चित्रमार्गसमाश्रिता॥

चित्रमार्ग के अनुसार होने वाले चित्र नामक पूर्वरंग में मागधी अथवा अर्धमागधी का प्रयोग किया जाना चाहिए।

मिश्र पूर्वरङ्ग की गीतियाँ—

यथा मिश्रस्तु योक्तव्यः पूर्वरङ्गे भवेदिह।
मिश्रे सम्भाविता कार्या तदा वार्तिकमाश्रिता॥
शुद्धे च पृथुला कार्या दक्षिणं मार्गमाश्रिता।

मिश्र पूर्वरङ्ग (जो वार्तिक मार्ग के अनुसार होता है) में सम्भाविता गीति का एवं शुद्ध पूर्वरङ्ग (जो दक्षिणमार्ग के अनुसार होता है) में पृथुला गीति का प्रयोग किया जाना चाहिए[1]।

उपोहन के गुरु लघु वर्ण—

अतः परं प्रवक्ष्यामि गुरुलाघवतः क्रियाम्॥
उपोहनक्रियायां तु यथायोज्यं प्रयोक्तृभिः।

अब इसके पश्चात् मैं प्रयोक्ताओं द्वारा प्रयोग के अनुसार उपोहन के सम्बन्ध में गुरु तथा लघु मात्रा विषयक क्रियाओं को बतलाऊँगा।

उपोहन विधि के अक्षर—

दिग्ले दिग्ले पुनः कार्यमन्ते झण्टुं सदा बुधैः॥
मध्ये लघ्वक्षराणि स्युः षोडशैव तु नित्यशः।
एवं ह्युपोहनं कृत्वा तथा वस्तु समाचरेत्॥

आरम्भ में दिग्ले, दिग्ले तथा अन्त में झण्टुं झण्टुं किया जाना चाहिए एवं मध्य में सोलह लघु अकार रखे जाने चाहिए। इस प्रकार उपोहन विधि करने के पश्चात् वस्तु का समायोजन करना चाहिए।

---

१. भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के इक्तीसवें अध्याय में पूर्वरङ्ग के अतिरिक्त नाट्य तथा संगीत की योजना के साथ भी गीति का प्रयुक्त किया जाना स्वीकार किया है।

उत्थापनी ध्रुवा—

उत्थापन्यां प्रयोगेऽस्मिन्कलाकालसमन्वितम् ।
अक्षराणां कलायास्तु गुरुलाघवमेव च ।
पूर्वं तु कथितं यस्मात्तस्मान्नाभिहितं भवेत् ॥

उत्थापनी ध्रुवा के प्रसंग में कला एवं काल के आधार पर किया जाने वाला अक्षरों तथा कला का गुरु एवं लाघव विवेचित किया जा चुका है। अतः उसकी यहाँ पुनर्विवक्षा नहीं की गई है।

उत्थापनी ध्रुवा का उदाहरण श्लोक—

यथा—

देवं विभुं त्रिभुवनाधिपतिं कैलासपर्वतगुहाभिरतम् ।
शैलेन्द्रराजतनयादयितं मूर्ध्ना नतोऽस्मि पुरनाशकरम् ॥

तीनों लोकों के स्वामी, कैलासपर्वत की गुहा में रहने वाले, पर्वतसुता पार्वती के पति, पुरन्दर भगवान् शिव को मैं शिरसा प्रणाम करता हूँ।

उत्थापनी ध्रुवा का उपसंहार—

एवमुत्थापनी कार्या पूर्वरङ्गप्रयोक्तृभिः ।
अतोऽन्यत्परिवर्ताया लक्षणं संविधीयते ॥

पूर्वरङ्ग का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों को इसी विधि से उत्थापनी ध्रुवा का प्रयोग करना चाहिए। इसके आगे अब परिवर्तिनी ध्रुवा का स्वरूप निरूपित किया जायगा।

परिवर्तिनी ध्रुवा का उपोहन—

अस्यास्तूपोहनं कार्यं षट्कलं परिसङ्ख्यया ।
आदौ दिग्ले द्विरुक्तस्तु अन्ते झण्टुं सदा भवेत् ॥

परिवर्तनी ध्रुवा छन्द के वर्ण, लय, यति, परिवंत तथा पाणि—

मध्यलघ्वक्षराण्येव द्वादशैव प्रयोजयेत् ।
वस्तुनोऽत्र प्रवक्ष्यामि गुरुलघ्वक्षरक्रमम् ॥

परिवर्तिनी ध्रुवा में छः कला के परिमाण का उपोहन किया जाता है। प्रारम्भ में दो बार दिग्ले तथा अन्त में सदा झण्टुं होता है तथा मध्य में बारह लघु अक्षर रखे जाते हैं। अब मैं वस्तु के गुरु व लघु अक्षरों के क्रम को बतलाऊँगा।

द्वे चादौ चतुर्थं च अष्टमं दशमं तथा ।
चतुर्दशं पञ्चदशं पादे गुर्वक्षराणि तु ॥

सा ध्रुवा परिवर्ताख्या त्रिलया त्रियतिस्तथा।
परिवर्तास्तु चत्वारः पाणयस्त्रय एव च॥

यदि पाद के प्रारम्भ के दो अक्षर, चतुर्थ, अष्टम, दशम, चतुर्दश एव पंचदश संख्यक अक्षर गुरु हों, तथा वह तीन लय, तीन यति, चार परिवर्त और तीन पाणि से युक्त हो तो उसे परिवर्ता ध्रुवा मानना चाहिए।

परिवर्तिनी ध्रुवा के सन्निपात तथा कलायें—

चतुर्भिस्सन्निपातैस्तु द्वात्रिंशत्कलिकान्विता।
पूर्वरङ्गे प्रयोक्तव्यः परिवर्तः प्रयोक्तृभिः॥

प्रयोक्ताओं द्वारा चार सन्निपातों तथा बत्तीस कलाओं के साथ इस (परिवर्ता ध्रुवा) का प्रयोग पूर्वरङ्ग में किया जाना चाहिए।

परिवर्तिनी ध्रुवा का उदाहरण श्लोक—

यथा—

चन्दार्धभूषणजटं वरं वृषभकेतुं
कैलासपर्वतनिवासिनं सुरवरिष्ठम्।
शैलाधिराजतनयाप्रियं प्रमथनाथं
मूर्ध्ना नतोऽस्मि त्रिपुरान्तकं परमयोगिनम्॥

आधे चाँद को जटा में सजाने वाले, वृषभांक, कैलासपर्वत पर रहने वाले, देवों में श्रेष्ठ, पर्वततनया पार्वती के प्रियतम, गणों के स्वामी त्रिपुरारि, परमयोगी भगवान् शिव को मैं शिरसा प्रणाम करता हूँ।

अवकृष्टा ध्रुवा का उपोहन तथा गुरु लघुवर्ण—

अवकृष्टामिदानीं तु कथ्यमानां निबोधत।
अस्यास्तूपोहनं कार्यं कलाभिः पञ्चभिर्युतम्॥
दिग्ले दिग्ले पुनश्चान्ते झण्टुमस्य प्रयोजयेत्।
अष्टावेव तु कार्याणि मध्ये लघ्वक्षराणि तु॥
तृतीयं चैव षष्ठं तु नवमैकादशे तथा।
पादे पञ्चदशं चैव षोडशं भवेद् गुरु॥

अब मैं अवकृष्टा ध्रुवा के विषय में बताता हूँ, उसे आप लोग सुनें। इसमें पाँच कलाओं से युक्त उपोहन किया जाना चाहिए। आरम्भ में दिग्ले दिग्ले, और अन्त में झण्टु का प्रयोग होना चाहिए एवं मध्य में लघु आठ अक्षर रहने चाहिए। और प्रत्येक पाद के तीसरे, छठे नवें, ग्यारहवे, पन्द्रहवे और सोलहवे अक्षर को गुरु होना चाहिए।

अवकृष्टा ध्रुवा के गण, सन्निपात तथा पाणि आदि—

अष्टषष्टिगणैः पादैरवकृष्टविधिर्बुधाः ।
चतुर्भिः सन्निपातैश्च पाणिभिस्त्रिभिरेव च ।।

अवकृष्टा ध्रुवा के प्रत्येक पाद में साढ़े छः गण[1] अर्थात् बाइस मात्रायें होती हैं जिनका विभाजन चार सन्निपात तथा तीन पाणि के द्वारा किया जाता है ।

अवकृष्टा ध्रुवा का उदाहरण श्लोक—

यथा—

वरदं सगणं त्रिपुरान्तकं वृषभकेतुम् ।
गजचर्मपटं विषमेक्षणं भुवननाथम् ।
भुजगाभरणं जगतां हितं भुवनयोनिम् ।
प्रणतोऽस्मि भवन्तमुमापतिं त्वसितकण्ठम् ।।

मनोरथ पूर्ण करने वाले, गणों के स्वामी, त्रिपुरासुरहन्ता वृषभचिह्न वाले गजचर्म के धारणकर्ता, त्रिनेत्र, लोकत्रय के अधिपति, सर्पों से अलंकृत, विश्वकल्याण-कारक, संसार के उत्पादक, नीलकण्ठ पार्वती पति शिव को मैं प्रणाम करता हूँ ।

अड्डिता ध्रुवा छन्द के गुरु लघु वर्ण तथा गण—

तृतीयं चैव षष्ठं च गुरुपादे त्रयोदशम् ।
चतुर्गुणसमायुक्ता सा कार्या त्वड्डिता ध्रुवा ।।

जिस छन्द का प्रत्येक पाद १३ अक्षर वाला हो तथा प्रत्येक पाद का तीसरा, छठा तथा १३ वां अक्षर गुरु हो, इस प्रकार प्रत्येक पाद चार गणों[2] अर्थात् १६ मात्राओं से युक्त हो उसे अड्डिता ध्रुवा कहते हैं ।

अड्डिता ध्रुवा की उपोहन विधि—

तत्राप्युपोहनं कार्यं चतुष्कलसमन्वितम् ।
अड्डितायाः प्रयोगज्ञैरन्ते झण्टुविभूषितम् ।।

---

१. इस श्लोक अष्टषष्टि गणैः के स्थान पर पाठ भेद अर्धषष्ठगणैः ही ठीक है । क्योंकि उदाहरण में साढ़े छः गण ही प्राप्त होते हैं ।

अभिनवभारती में इसकी टीका में 'अष्टषष्टिगणैरिति पात भागाः' में यह लिखा है कि वह भ्रामक है । इसमें ६८ पात नहीं होते । मूल में पादैः, 'शब्द है 'पातैः,' नहीं ।

२. इस श्लोक में 'चतुर्गुण शब्द के स्थान पर 'चतुर्गण' पाठ होना चाहिये जैसा कि पाठभेद में द प्रति में दिया गया है । ध्रुवाओं के छन्दों के विधान में गणों का वर्णन होता है गुणों का नहीं ।

दिग्ले दिग्ले ततश्चैव कार्यमन्ते सदा बुधैः ।
चत्वार्येव हि कार्याणि मध्ये लघ्वक्षराणि तु ॥

(अड्डिता ध्रुवा में) चार कलाओं से उपोहन विधि की जानी चाहिए और अन्त में झण्टु एवं प्रारम्भ में दिग्ले दिग्ले का प्रयोग करना चाहिए तथा मध्य में चार लघु अक्षर रखे जाने चाहिए ।

अड्डिता ध्रुवा का उदाहरण श्लोक—

यथा—

प्रवरं वरदं प्रणमत सततम् ।
गजचर्मपटं मुनिजनसहितम् ।
उमया सहितं भुजगवलयिनम् ।
प्रणतोऽस्मि शिवं त्रिभुवनसमितम्[1] ॥

देवों में श्रेष्ठ, वर देने वाले, गजचर्म को धारण करने वाले, ऋषिजनों से सुशोभित, पार्वती से युक्त सर्पों के वलय से अलंकृत और त्रिलोक के स्वामी शिव की मैं सदा वन्दना करता हूँ ।

अड्डिता ध्रुवा का उपसंहार—

प्रयोज्या त्वड्डिता ह्येवं पूर्वरङ्गे यथार्थतः ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि विक्षिप्तायास्तु लक्षणम् ॥

इस प्रकार पूर्वरंग में अड्डिता ध्रुवा का यथाविधि प्रयोग किया जाना चाहिए । अब मैं 'विक्षिप्ता' ध्रुवा के लक्षण बतलाता हूँ ।

विक्षिप्ता ध्रुवा के छन्द का लक्षण—

तृतीयं चैव षष्ठं च नवमं दशमं तथा ।
गुर्वक्षराणि पादे तु यस्यां विक्षिप्तिका तु सा ॥

यदि १० अक्षर वाले पाद का तीसरा, छठा, नवाँ और दसवाँ अक्षर गुरु हो तो उसे विक्षिप्ता ध्रुवा जानना चाहिये ।

विक्षप्ता ध्रुवा का उपोहन—

दिग्ले त्रिभिर्गुणैर्युक्ताः पातास्तस्य भवन्ति हि ।
त्रिकलं चापि निर्दिष्टमुपोहनमतः परम् ॥
दिग्ले दिग्ले पुनः कार्यमन्ते झण्टुं प्रयोक्तृभिः ।
लघ्वक्षरैर्विहीनं तु विक्षिप्तोपोहनं भवेत् ॥

---

१. 'त्रिभुवननमितम्' इति वा पाठः ।

(विक्षिप्ता ध्रुवा में) दिग्ले के प्रयोग द्वारा तीन गणों[1] से युक्त पाद निष्पन्न किये जाते हैं और तीन कलाएँ होती हैं। उपोहन की क्रिया में प्रारम्भ में दिग्ले दिग्ले और अन्त में झण्टु का प्रयोग किया जाता हैं तथा इसमें उपोहन में लघु अक्षर नहीं प्रयुक्त किये जाते हैं।

विक्षिप्ता ध्रुवा का उदाहरण श्लोक—

यथा—

त्रिपुरान्तकरं बहुलीलमुमया सहितं बहुरूपम्।
भुजगाभरणं त्रिपुरान्तकं प्रणमामि सदा परमीशम्॥

त्रिपुरासुर के हन्ता, नानाविधलीलाओं से युक्त, उमा के स्वामी, अनेक स्वरूप धारण करने वाले, सर्पों से अलंकृत एवं त्रिपुर के नाशक भगवान् शिव को मैं नित्य प्रणाम करता हूँ।

ध्रुवाओं का उपसंहार—

एवं सर्वा ध्रुवाः कार्या युग्मौजकृतगीतकाः।
आचार्यबुद्धया कर्त्तव्याः पूर्वरङ्गे यथाविधि॥

इस प्रकार चतुरश्र एवं त्र्यश्र ताल में युक्त इन ध्रुवाओं का पूर्वरंग में आचार्य की बुद्धि के अनुरूप यथाविधि प्रयोग करना चाहिये।

अध्याय का उपसंहार—

एवं वः कथितं सम्यक् पूर्वरङ्गं त्रिधा मया।
किमन्यत्संप्रवक्ष्यामि भूयोऽभीष्टं द्विजोत्तमाः॥

॥ इति भारतीये नाट्शास्त्रे पूर्वरङ्गविधानं नाम पञ्चमोऽध्यायः॥

हे श्रेष्ठ ब्राह्मणों! इस भाँति मैंने तीनों प्रकार के पूर्वरंग का निरूपण किया। अब आगे आप लोगों के किस अभीप्सित पदार्थ का वर्णन किया जाए।

॥ इस प्रकार भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र की 'नाट्यप्रदीप' नामक हिन्दी व्याख्या का पूर्वरङ्गविधान' नामक पाँचवाँ अध्याय का प्रक्षिप्त भाग पूर्ण हुआ॥ ५॥

——०——

१. इस श्लोक में 'त्रिभिर्गणैः युक्ताः पाताः' के स्थान पर 'म' प्रति का पाठान्तर 'त्रिभिर्गणयु पादाः' यह पाठ संगत है क्योंकि विक्षिप्ता ध्रुवा के उपोहन में इस श्लोक में 'दिग्ले दिग्ले झण्टुं' इन शब्दों का वर्णन किया गया है ये तीनों शब्द चार चार मात्रा वाले तीन गणों से युक्त हैं केवल तीन गणों से नहीं।

अथ षष्ठोऽध्यायः

मुनियों का भरतमुनि से प्रश्न—

पूर्वरङ्गविधिं श्रुत्वा पुनराहुर्महत्तमाः ।
भरतं मुनयः सर्वे प्रश्नान्पञ्चाभिधत्स्व नः ॥ १ ॥

(पिछले अध्याय में वर्णित) पूर्वरंग के विधान को सुनकर सब महत्तम मुनि लोग भरत से (प्रथम अध्याय में पूछे गए) पाँचों प्रश्नों का उत्तर पूँछने लगे ॥ १ ॥

ये रसा इति पठ्यन्ते नाट्ये नाट्यविचक्षणैः ।
रसत्वं केन वै तेषामेतदाख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

नाट्यशास्त्र के ज्ञाता लोग नाट्य में जिनको रस कहते हैं उनमें रसत्व क्या है, यह बतलाने की कृपा कीजिए[२] ॥ २ ॥

भावाश्चैव कथं प्रोक्ताः किं वा ते भावयन्त्यपि ।
संग्रहं कारिकां चैव निरुक्तं चैव तत्त्वतः ॥ ३ ॥

भावों के विषय में किस लिए प्रतिपादन किया गया है और वह किसे भावित करते हैं ? इसके अतिरिक्त उन भावों के संग्रह[३], कारिका[४] एवं निरुक्त[५] के विषय में

---

१. मुनि लोगों ने अब जो पाँच प्रश्न पूछे हैं वह नये हैं किन्तु अभिनवगुप्त के मत में वे प्रथम अध्याय में किये गये पाँचों प्रश्नों का विस्तार मात्र हैं ।

२. अभिनव की व्याख्यानुसार "रसानाथर्वणात्" (ना० शा० १-१७) में जिन रसों का उल्लेख हुआ है वे अम्लादि छः रस नाट्य के किसी भी रूप में प्रयुक्त नहीं होते तथा 'शृङ्गार रसपरक श्लोक है' या 'यह रौद्ररसपरक श्लोक है' आदि के उद्गारों से जिस शृङ्गारादि को रस माना गया हैं वहाँ रस-पद-वाच्यता कैसे होगी ? क्योंकि रस नामक गुण का ग्रहण तो रसनेन्द्रिय के ही द्वारा संभव है और शृङ्गारादि रसनाग्राह्य नहीं हो सकते । इसके प्रति अत्यन्त आदर भावना दिखायी पड़ती है अतः उसका विवेचन भी आवश्यक है । (न चायमनादरस्थानभूतोऽर्थो येनाविचारित एवोपेक्ष्यते 'खिन्नानां रसभावेषु' इत्यादावादरातिशयप्रतीतेः) यही कारण है कि अंगों एवं अभिनय के अन्तर्गत इसका आंशिक विवेचन हो चुकने पर भी अलग से रस के विषय में पूँछा जा रहा है ।

३. संग्रह का तात्पर्य है—उद्देश्य । श्रीघोष ने इसका अर्थ 'डाइजेस्ट' माना है ।

४. कारिका का अर्थ लक्षण है ।

५. निरुक्त का तात्पर्य परीक्षा है ।

भी बतलाइये क्योंकि भाव की सिद्धि तो इन्हीं के द्वारा होती है ॥ ३ ॥

भरतमुनि का उत्तर—

तेषां तु वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतो मुनिः ।
प्रत्युवाच पुनर्वाक्यं रसभावविकल्पनम् ॥ ४ ॥

ऋषियों के इस कथन को सुनकर भरत मुनि रस तथा भावों के लक्षणपरक इन वाक्यों को बोले ॥ ४ ॥

अहं वः कथयिष्यामि निखिलेन तपोधनाः ।
संग्रहं कारिकां चैव निरुक्तं च यथाक्रमम् ॥ ५ ॥

हे मुनिजन ! मैं आपको विस्तारपूर्वक संग्रह, कारिका तथा निरुक्त (के साथ रस एवं भावों) के विषय में क्रमशः बतलाऊँगा ॥ ५ ॥

न शक्यमस्य नाट्यस्य गन्तुमन्तं कथञ्चन ।
कस्याद्बहुत्वाज्ज्ञानानां शिल्पानां वाप्यनन्ततः ॥ ६ ॥

इस नाट्य का अन्त पाना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है क्योंकि ज्ञान तथा शिल्प[1] अनन्त है (अतः उनके प्रतिपादक होने से नाट्य की भी कोई सीमा नहीं है) ॥ ६ ॥

एकस्यापि न वै शक्यस्त्वन्तो ज्ञानार्णवस्य हि ।
गन्तुं किं पुनरन्येषां ज्ञानानामर्थतत्त्वतः ॥ ७ ॥

क्योंकि इनमें से एक भी विद्या के समुद्र को पार करना असम्भव है तो फिर सभी ज्ञानों के तात्त्विक आशय तक पहुँचना नितान्त दुष्कर है[2] ॥ ७ ॥

किन्त्वल्पसूत्र-ग्रन्थार्थ[3]मनुमानप्रसाधकम् ।
नाट्यस्यास्य प्रवक्ष्यामि रसभावादिसङ्ग्रहम् ॥ ८ ॥

फिर भी आप लोगों को सूत्र तथा ग्रन्थ (परीक्षा) के भूत अर्थ वाले तथा अनुमान से सिद्ध होने वाले, रस एवं भाव के संग्रह रूप इस नाट्य को बतलाता हूँ ॥ ८ ॥

विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्रभाष्ययोः ।
निबन्धो यः समासेन सग्रहं तं विदुर्बुधाः ॥ ९ ॥

---

१. अभिनवगुप्त के मत में यहाँ ज्ञान शब्द से व्याकरणादि शास्त्रों का एवं शिल्प से चित्र-पुस्तकादि कर्म का संकेत किया गया है ।

२. अभिनवभारती के अनुसार जब अंगभूत विद्याओं का ही पार पाना कठिन है तो फिर अंगीभूत नाट्य को पार पाना तो नितान्त कठिन है ।

३. 'गूढार्थम्' इति वा पाठः ।

सूत्र एवं भाष्य के विस्तारपूर्वक प्रतिपादित अर्थों को[1] संक्षिप्तरूप में जब निबद्ध किया जाता है, तो उसे ही विद्वज्जन 'संग्रह' कहते हैं ॥ ९ ॥

नाट्यशास्त्र विषयक संग्रह के ११ अङ्ग—

रसा भावा ह्यभिनयाः धर्मी वृत्तिप्रवृत्तयः ।
सिद्धिः स्वरास्तथातोद्यं गानं रङ्गश्च संग्रहः ॥ १० ॥

रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्तियाँ, सिद्धि, स्वर, वाद्य, गान एवं रङ्ग को 'संग्रह' कहा जाता है[2] ॥ १० ॥

कारिका लक्षण—

अल्पाभिधानेनार्थो यः समासेनोच्यते बुधैः ।
सूत्रतः साऽनुपठिता[3] कारिकार्थप्रदर्शिनी ॥ ११ ॥

विद्वान् लोग जब किसी अर्थ को संक्षेप में सीमित शब्दों वाले सूत्र द्वारा व्यक्त करते हैं तो उस अर्थनिबोधिनी उक्ति को 'कारिका' कहा जाता है[4] ॥ ११ ॥

---

१. अभिनवगुप्त के मत में सूत्र द्वारा लक्षण का परिज्ञान कराया जाता है (सूत्रं लक्षणम्) और लक्षण को भाष्य में भलीभाँति विस्तार दिया जाता है (भाष्यं तद्व्यक्तीकरणरूपा परीक्षा) ।

२. आचार्य अभिनवगुप्त का अभिमत है कि यद्यपि यहाँ संग्रह के एकादश अंग बताये गये हैं किन्तु वे भरतसम्मत न होकर कोहलाचार्य के मतानुसार हैं । (अनेन तु श्लोकेन कोहलमतेनैकादशाङ्गत्वमुच्यते, न तु भरते । तत्संगृहीतस्यापि पुनरत्रोपद्देशः) । भरत के अनुसार केवल पाँच अंग होने चाहिये जिनमें त्रिविध अभिनय एवं गान तथा वाद्य का समावेश होता है (अभिनयत्रयं गीतातोद्यं चेति पञ्चाङ्गं नाट्यम् ।)

३. 'साऽनुमन्तव्या' इति वा पाठः ।

४. अभिनवगुप्त के मत में सूत्र द्वारा व्यक्त किया जाने वाला अर्थ और अर्थ को व्यक्त करने वाली उक्ति (सूत्र) एवं सूत्र के अर्थ को प्रतिपादित करने वाले श्लोक–इन तीनों की संज्ञा 'कारिका' है (अनेन अर्थस्य लक्षणरूपस्य, तद्वाचकस्य सूत्रस्य, तत्संक्षिप्तार्थविवरणात्मकस्य च श्लोकस्य कारिकात्वं दर्शयति) ।

कारिका की इस परिभाषा को देखते हुए दो प्रकार की कारिकाओं की स्थिति सिद्ध होती है—१. सूत्रात्मक कारिका, एवं २. श्लोकात्मक कारिका । कारिका के द्वारा पद्यात्मक रूप में तथा सूत्ररूप में लक्षणात्मक अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है, जिसमें लक्षणीय अर्थ का अन्य धर्मियों से भेद प्रतीत होता हैं अर्थात् लक्षण को ही कारिका कहा जाता है ।

निरुक्त लक्षण—

नानानामाश्रयोत्पन्नं निघण्टुनिगमान्वितम् ।
धात्वर्थहेतुसंयुक्तं नानासिद्धान्तसाधितम् ।। १२ ।।
स्थापितोऽर्थो भवेद्यत्र समासेनार्थसूचकः ।
धात्वर्थवचनेनेह निरुक्तं तत्प्रचक्षते ।। १३ ।।

विविध प्रकार की संज्ञा के आश्रय से (अर्थान्त् सुबन्त से) उत्पन्न होने वाले एवं कोश तथा व्याकरण के नियमों के अनुकूल, तथा सहेतु अर्थ की ज्ञापक मूल धातु से युक्त एवं अनेक प्रकार के सिद्धान्तों से साधित (परीक्षित) तथा संक्षेप में आशय को प्रकट करने वाली एवं धातु के अर्थ का समर्थन करने वाली उक्ति को "निरुक्त" कहते हैं[1] ।। १२-१३ ।।

---

१. अभिनवगुप्ताचार्य ने शंका उठाई है कि नाम (सुबन्त) पदों में आक्षेप एवं प्रतिसमाधान किस प्रकार होता है ? तथा इसका समाधान इस रूप में किया है कि निघण्टु (शब्दकोश) तथा निगम (शब्दशास्त्र) के द्वारा ऐसा किया जाता है । निघण्टु से रूढ़ शब्दों की एवं निगम से यौगिक या योगरूढ़ शब्दों की व्याख्या की जाती है ।

लक्षणवाक्य में जिस धातु के अर्थ का संयोग स्थापना के निमित्त किया जाता है उसे भी 'निरुक्त' कहते हैं । इसके अन्तर्गत लक्षण वाक्य में पहले आक्षेप किया जाता है कि इस अर्थ का प्रयोग इस विशिष्ट अर्थ में किस भाँति हुआ है और फिर इसकी विवेचना करते हुए उत्तर दिया जाता है । निरुक्त के चार भेद हैं:—

१. नाम या प्रातिपादिक के द्वारा व्याख्या करना, यथा—उलूखल शब्द की 'ऊर्ध्वं" खमस्योलूखलः" इस प्रकार निर्वचन करना ।
२. धातु के द्वारा व्याख्या करना । जैसे—रस शब्द को 'रस्यते इति रसः' इस प्रकार रस्यते क्रिया का प्रयोग करते हुए विवेचित करना ।
३. नाम एवं धातु दोनों के द्वारा व्याख्या करना । यथा–पिशाच शब्द की "पिशित-मश्नातीति पिशाचः" है इस भाँति व्याख्या करने के लिए पिशित शब्द एवं अश्नाति क्रिया, दोनों का प्रयोग किया जाता है ।
४. संकेत के द्वारा । संकेत द्वारा व्याख्या तीन प्रकार से की जा सकती है ।
   (अ) लौकिक शब्द से, यथा—'भू सत्तायाम्' ।
   (ब) वैदिक शब्द से, जैसे—केवल वेद में प्रयुक्त दीधीङ् धातु दीप्ति और देवन (अक्षक्रीडन) के अर्थ में प्रयुक्त की जाती है ।
   (स) पारिभाषिक शब्द से, जैसे—गान्धर्व वेद में विशेषगीत के सन्दर्भ में प्रयुक्त

संग्रहो यो मया प्रोक्तः समासेन द्विजोत्तमाः ।
विस्तरं तस्य वक्ष्यामि सनिरुक्तं सकारिकम् ।। १४ ।।

हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! मैने सूक्ष्म रूप में जो संग्रह (उद्देश) बताया है उसी के विस्तार (विभाग) को मैं लक्षण (कारिका) तथा परीक्षण (निरुक्त) के साथ बतलाऊँगा ।। १४ ।।

आठ रस—

शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ।। १५ ।।

नाट्य[1] में शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स एवं अद्भुत नामक आठ रस होते हैं ।। १५ ।।

होने वाला 'ओवेणक' शब्द । इस प्रकार के पारिभाषिक शब्द प्रत्येक शास्त्र में प्रयुक्त होते हैं जो उस विशेष शास्त्र के सन्दर्भ में एक विशेष अर्थ के द्योतक होते हैं; यथा पाणिनि के वृद्ध, वि, टि आदि संकेत ।

१. अभिनवगुप्ताचार्य के मत में नाट्य उस अर्थ को कहते हैं जो नट द्वारा प्रदर्शित अभिनय के फलस्वरूप साक्षात् रूप से दृश्यमान होता है तथा एकाग्र मन से अनुभूत किया जाता है । उसका ज्ञान सभी नाटकों और कभी कभी किसी काव्य से भी होता है (तत्र नाट्यं नाम नटगताभिनयप्रभावसाक्षात्कारायमाणैकघनमानसनिश्चलाध्यवसेयः समस्तनाटकाद्यन्यतमकाव्यविशेषाच्च द्योतनीयोऽर्थः) ।

आलम्बन एवं उद्दीपन रूपी विभावों की बहुलता के कारण नाट्य अनन्तविभावादि रूप है, तथापि समस्त विभावों का पर्यवासन ज्ञान में एवं ज्ञान का पर्यवसान उपभोक्ता में तथा भोक्ताओं के ज्ञान का पर्यवसान नायक में होने के कारण नायक की रत्यादि स्थायीभावात्मक चित्तवृत्ति को ही नाट्य माना जाता है ।

अभिनवगुप्त का मत हैं कि नायक की चित्तवृत्ति, (जो कि प्रधान चित्तवृत्ति रूपा होती है) ही लौकिक गीतों के गेयपदादि, लास्य नृत्य के दस अंगों, तथा स्वीकृत लक्षणयुक्त गुण, अलंकार, गीत, वाद्य आदि के संयोग द्वारा अत्यधिक रमणीय होकर काव्य के प्रभाव एवं नट द्वारा अनुष्ठित प्रयोग एवं परम्परा अभ्यासविशेषण के प्रभाव से स्वकीय परकीय की भावना से रहित होकर—साधारणीकरण हो जाने से नायक की चित्तवृत्ति की परिधि में सामाजिक का भी प्रवेश होने से नायक और सामाजिक की चित्तवृत्ति में अभेद या साधारणीकरण होने से, अनुमान, आगमरूप

परीक्षात्मक एवं इन्द्रियसन्निकर्ष के बिना ही उद्भूत योगिप्रत्यक्ष से उत्पन्न रसादि के अनुभव से उदासीन प्रमाता एवं प्रमेय से विलक्षण और लौकिक चित्त-वृत्ति से भिन्नरूपा प्रतीत होने वाली, नायक के अपने सीमित स्वरूप के आश्रय से प्रतीत न होने के कारण लौकिक अङ्गना आदि से उत्पन्न अपनी रीति और शोक की भाँति अन्य चित्तवृत्ति को उत्पन्न करने में असमर्थ होने से निर्विघ्न अनुभूति के विश्रान्ति स्वरूप आस्वादन नाम की प्रक्रिया स्वीकृत होने के कारण "रस" कही जाती है।

अभिनवगुप्ताचार्य की सुदृढ़ मान्यता है कि रस ही नाट्य है (रस एव नाट्यम्)। यह रस त्रिविध है (१) स्फोट के समान असत्यभूत, (२) अन्विताभिधान के समान उपायात्मक सत्यरूप तथा (३) अभिहितान्वयवाद के समान—प्रधान रस समुदाय-रूप। इस प्रकार के अन्य रस प्रधानरस के अंशरूप में वर्णित किए जाते है। यहाँ यह स्मणीय है कि स्फोट सिद्धान्त के अनुसार वर्ण, पद एवं वाक्य अखण्ड होते है, वाक्य में पदों की तथा पदों में वर्णों की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। स्फोटवाद में अखण्डपदों को "पदस्फोट" तथा अखण्डवाक्य को "वाक्यस्फोट" कहा जाता है तथा यह स्फोट ही अर्थ का प्रकाशक होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे वाक्य एवं पद में अवयवों की प्रतीति असत्य रूपा होती है और अखण्ड रूप से वहाँ अर्थ का प्रकाशन होता है उसी प्रकार नाट्य में भी रस की प्रतीति अखण्डाभिव्यक्तिरूपा होती है।

इसी सन्दर्भ में अन्विताभिधानवाद का भी परिचय देना उपयुक्त होगा। इस वाद में वाक्यार्थ बोध के लिए पदों का अभिहित होने के बाद अन्वय नहीं माना जाता। अपितु पदों के द्वारा अन्वित अर्थ को ही अभिहित माना जाता है। इस प्रकार अन्वित पदार्थ की ही प्रतीति होने से पदार्थ ही सत्य होता है। उनकी अलग अलग स्थिति उपायमात्र होती है। इसका तात्पर्य यह है कि नाट्यरस के साथ अन्य रसों की स्थिति उपायारत सत्य के सदृश है।

इसके विपरीत प्रभाकरमिश्र द्वारा प्रवर्तित सिद्धान्त "अन्विताभिधानवाद" के अनुसार पदों के द्वारा अन्वित अर्थ ही अभिहित होता है अर्थात पहले पदार्थों का बोध होता है फिर उनके समुदाय रूप में वाक्यार्थ का बोध होता है। इसी प्रकार नाट्यरस के अन्तर्गत अन्य सभी रसों की स्थिति पदार्थों के समान अंगभूत होती है और इनसे अङ्गीभूत प्रधानरस का बोध समुदाय रूप में होता है।

रसों की संख्या के विषय में भरत की मान्यता है कि नाट्य में आठ ही रस होते हैं किन्तु अभिनवगुप्त ने शान्तरस की उपस्थिति को स्वीकार करते हुए नाट्य में नौ रसों की गणना की है।

एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना।
पुनश्च भावान्वक्ष्यामि स्थायिसञ्चारिसत्त्वजान् ॥ १६ ॥

महर्षि ब्रह्मा के द्वारा यह आठ रस कहे गए हैं। इसके पश्चात् अब मैं आप लोगों से स्थायी, संचारी तथा सात्त्विक भावों के विषय में बतलाऊँगा ॥ १६ ॥

भरत ने रसों का उल्लेख जिस विशिष्टक्रम में किया है उसके मनोवैज्ञानिक आधार को प्रकाशित करते हुए अभिनवगुप्त ने बड़ी सुन्दर व्याख्या दी है। तदनुसार शृंगाररस को भरत द्वारा सर्वोच्च स्थान देने का कारण यह कि वह सकलजाति-सामान्य, अर्थात् सभी प्राणियों में सुलभ व अत्यन्तपरिचित सा होता है तथा सबके लिए हृद्य होता है (सकलजातिसुलभतयात्यन्तपरिचितत्वेन सर्वान् प्रति हृदयतेतिपूर्वंशृंगारः)।

शृंगार का अनुगामी होने से हास्य का द्वितीय स्थान रखा गया है (तदनुगामी च हास्यः)।

शृंगार से निरपेक्ष एवं हास्य के विपरीत होने के कारण करुण को तृतीय स्थान मिलता है (निरपेक्षभावत्वात् तद्विपरीतस्ततः करुणः)। करुण का निमित्तभूत अर्थात् करुण से उत्पन्न होने के कारण तथा अर्थ प्रधान होने से रौद्र रस का स्थान चतुर्थ माना गया है (ततस्तन्निमित्तं रौद्रः। च चामर्षप्रधानः)।

इसके 'पश्चात् काम तथा अर्थ दोनों का धर्ममूलक होने के कारण धर्मप्रधान वीररस का स्थान आता है (ततः कामार्थयोर्धर्ममूलत्वाद् वीरः। स हि धर्मप्रधानः)। वीर रस का उद्देश्य भयार्तजन को अभय देना है। अतः वीररस के बाद सप्तम स्थान में भयानक रस की गणना की जाती है (तस्य च भीताभयप्रदानसारत्वात् तदनन्तरं भयानकः) भयानक एवं वीभत्स रस के विभावों की समानता होने की सम्भावना होने से भयानक के बाद वीभत्सरस का स्थान है (तद्विभावसाधारण्यसम्भावनात् ततो वीभत्स इति)। वीरता के परिणामस्वरूप में आठवें स्थान पर अद्भुतरस को माना जाता है। (वीरस्य पर्यन्तेऽद्भुतः। यद्वीरेणाक्षिप्तं फलमित्यन्तरं तदुपादानम्।) इस प्रकार यह आठों रस त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ एवं काम) से सम्बन्धित हैं और प्रवृत्तिधर्म हैं।

भरत द्वारा मान्य इन आठों रसों के अतिरिक्त अभिनव शान्तरस नामक नवें रस को भी मान्यता देते हैं। उन्हीं के शब्दों में नवम संख्यक शान्तरस निवृत्तिधर्मा होता है तथा उभयधर्मोपयोगी तथा मोक्षफलक होता है (निवृत्तिधर्मात्मको मोक्षफलः शान्तः)। इस शान्तरस में आत्मनिष्ठ होकर रस का आस्वादन किया जाता है। इसका स्थायी भाव "निर्वेद" माना जाता है जो तत्त्वज्ञान से उत्पन्न होता है।

आठ स्थायीभाव—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ॥ १७ ॥

रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा एवं विस्मय यह आठ स्थायी भाव माने गए हैं[1] ॥ १७ ॥

तैंतीस संचारी भाव—

निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथासूया मदः श्रमः।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥ १८ ॥
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च ॥ १९ ॥
सुप्तं विबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥ २० ॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥ २१ ॥

(१) निर्वेद, (२) ग्लानि, (३) शंका, (४) असूया, (५) मद, (६) श्रम, (७) आलस्य, (८) दैन्य, (९) चिन्ता, (१०) मोह, (११) स्मृति, (१२) धृति,

---

१. अभिनवगुप्त की व्याख्या के अनुसार कुछ लोग स्थायीभावों की नामगणना के पाठ में "जुगुप्सा विस्मयशमाः" इस प्रकार का पाठ करते हैं और इस प्रकार शम् को शान्त रस का स्थायी भाव मानते हैं। किन्तु अन्य कुछ विद्वान् उत्साह को एवं कतिपय विद्वान् जुगुप्सा को शान्त रस का स्थायी भाव स्वीकार करते हैं। कुछ लोगों की मान्यता है कि सभी स्थायी भाव शान्त रस के स्थायी हो सकते हैं। अतः उसके लिए पृथक स्थायी भाव की कल्पना करना अनावश्यक है। इस विषय में अभिनवगुप्त की यह धारणा है कि तत्त्वज्ञान से उत्पन्न वैराग्य (निर्वेद) ही इस शान्तरस का वास्तविक स्थायी भाव हैं (तत्त्वज्ञानजो निर्वेदोऽस्य स्थायी)। यही कारण है कि निर्वेद में स्थायीभाव तथा व्यभिचारीभाव दोनों के धर्म रहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि शान्तरस में निर्वेद स्थायी भाव के रूप में रहता है एवं अन्य रसों में व्यभिचारी भाव के रूप में। यहीं कारण है कि अमंगलभूत होने पर भी व्यभिचारी भावों की गणना में सबसे पहले निर्वेद का पाठ किया गया है। तथा इसके लिए भरत ने स्थायी भावों की संख्या की गणना में संख्या का निर्देश नहीं किया है। यही स्थायीभाव अन्य रसों में व्यभिचारी भाव के रूप में भी प्रयुक्त किए जाते हैं।

(१३) व्रीडा, (१४) चपलता, (१५) हर्ष, (१६) आवेग, (१७) जडता, (१८) गर्व, (१९) विषाद, (२०) औत्सुक्य, (२१) निद्रा, (२२) अपस्मार, (२३) सुप्त, (२४) प्रबोध, (२५) अमर्ष, (२६) अवहित्था, (२७) उग्रता, (२८) मति, (२९) व्याधि, (३०) उन्माद, (३१) मरण, (३२) त्रास तथा (३३) वितर्क—ये तैंतीस संचारी भाव कहे जाते हैं ॥ १८-२१ ॥

आठ सात्त्विकभाव—

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥ २२ ॥

(१) स्तम्भ, (२)स्वेद, (३) रोमांच, (४) स्वरभंग, (५) कम्पन, (६) विवर्णता (७), अश्रु तथा (८) प्रलय—यह आठ सात्त्विक भाव[1] कहे जाते हैं ॥ २२ ॥

चार प्रकार के अभिनय—

आङ्गिको वाचिकश्चैव ह्याहार्यः सात्त्विकस्तथा ।
चत्वारोऽभिनया ह्येते विज्ञेया नाट्यसंश्रयाः ॥ २३ ॥

(१) आङ्गिक, (२) वाचिक, (३) आहार्य[2] एवं (४) सात्त्विक—यह चार प्रकार के नाट्याश्रित अभिनय माने जाते हैं ॥ २३ ॥

दो प्रकार के धर्मी—

लोकधर्मी नाट्यधर्मी धर्मीति द्विविधः स्मृतः ।

---

१. अभिनव के मत में सात्त्विक भाव व्यभिचारी भावों के तथा अभिनय दोनों के धर्मों से युक्त होते हैं। परन्तु अभिनय से सम्बन्धित होते हुए भी यह अभिनय से भिन्न होते हैं। अतः इसके नाम अलग से गिनाए गए हैं (सात्त्विका व्यभिचारिवृत्तमभिनयवृत्तं चोपजीवन्तीति पृथगभिनयादिभ्यो गणिताः)।

२. आहार्य अभिनय से तात्पर्य है धनुष मुकुटादि से प्रतिलक्षित अभिनय। अभिनवगुप्त का विचार है कि अभिनय की साक्षात्कार बुद्धि के उपयोग में आहार्य अभिनय की अन्तरंगता सूचित होती है (आहार्यस्यापि धनुः प्रतिशीर्षकमुकुटादेः प्रत्यक्षबुद्धावुपयोगेऽन्तरंगत्वं सूचयति)। अभिनवगुप्त के मत में "नाट्यसंश्रया" पद से यह सूचित होता है कि लोक में तो सहज परिचित होने से चाहे आहार्य वेषभूषादि का अधिक उपयोग न भी हो किन्तु नाट्यप्रयोग में तो यह वेषभूषादि नाट्य के प्राण स्वरूप होते हैं। इसी कारण रस तथा भाव के पश्चात् अभिनय के विषय में कहा गया है।

धर्मी[1] के दो रूप माने गए हैं :—(१) लोकधर्मी तथा (२) नाट्यधर्मी ।

चार प्रकार की वृत्तियाँ—

भारती सात्वती चैव कैशिक्यारभटी तथा ॥ २४ ॥
चतस्रो वृत्तयो ह्येता यासु नाट्यं प्रतिष्ठितम् ।

(१) भारती, (२) सात्त्वती, (३) कैशिकी और (४) आरभटी—यह उन चार वृत्तियों के नाम हैं जिन पर नाट्यप्रयोग आधारित होता है[2] ॥ २४-२५ ॥

पाँच प्रकार की प्रवृत्तियाँ —

आवन्ती दाक्षिणात्या च तथा चैवौढ्रमागधी ॥ २५ ॥
पाञ्चालमध्यमा चेति विज्ञेयास्तु प्रवृत्तयः ।

(१) आवन्ती, (२) दाक्षिणात्या, (३) अर्धमागधी एवं (४) पाञ्चाली तथा (५) मध्यमा यह पाँच प्रकार की प्रवृत्तियां[3] होती हैं ॥ २५-२६ ॥

दो प्रकार की सिद्धियाँ—

दैविकी मानुषी चैव सिद्धिः स्याद् द्विविधैव तु ॥ २६ ॥

---

१. धर्मी का तात्पर्य है स्वभाव । दसवीं कारिका में भरत ने जिन ग्यारह नाट्यांगों का उल्लेख किया था उनमें चतुर्थ संख्या धर्मी की थी । तदनुसार १. रस २. भाव एवं ३. अभिनय के वर्णन के बाद धर्मी का निरूपण किया जा रहा है। लोकधर्मी एवं नाटयधर्मी के भेद से यह द्विविध है। जैसा लोक में प्रचलित परम्परा है उसी के अनुसार यदि नाट्य में कार्य हो यथा पुरुष पुरुषवत् एवं स्त्री स्त्रीवत् आचरण करे तो उसे लोकधर्मी कहेंगे । किन्तु यदि लोक के विरुद्ध आचरण हो, अर्थात् ऐसा व्यापार हो जो नाट्य में ही संभव है यथा स्त्री का पुरूषवत् या पुरुष का स्त्रीवत् आचरण हो तो उसे नाट्यधर्मी कहा जाता है । धर्मी का विशेष विवरण नाट्यशास्त्र के आगामी अध्याय (१२.७०-७४) में दिया गया है ।

२. अभिनवभारती का कथन है कि वृत्तियों का सम्बन्ध अभिनय की पद्धति से है । बिना अभिनेतव्य के अभिनय की संभावना नहीं है । दस प्रकार के रूपकों को विविध रूपों में प्रस्तुत करने के कारण वृत्तियों को रूपकों की उपकारक कहा जाता है (न चाभिनयोऽभिनेतव्यमन्तरेणास्तीति दशरूपकयोगद्वारेण च तदुपकारिण्यो वृत्तयः) ।

३. देश पर आधारित होने के कारण प्रवृत्तियों का कथन वृत्तियों के पश्चात् कहा गया है । (ता अपि देशवशाद् भूयसा भवन्तीति तदनन्तरं प्रवृत्तयः) ।

(१) दैवी और (२) मानुषी दो प्रकार की सिद्धियाँ[1] होती हैं ॥ २६ ॥

सात स्वर तथा उनके दो वर्ग—

शारीराश्चैव वैणाश्च सप्त षड्जादयः स्वराः ।
[निषादर्षभ - गान्धार-मध्य - पञ्चम - धैवताः ।]

षड्जादि सात स्वरों के शरीर तथा वैणव के भेद से दो वर्ग कहे गए हैं। (इन सात स्वरों के नाम हैं—१- निषाद, २- ऋषभ, ३- गान्धार, ४- मध्यम, ५- पंचम, ६- धैवत और ७- षड्ज)

चार प्रकार के वाद्य—

ततं चैवावनद्धं च घनं सुषिरमेव च ॥ २७ ॥
चतुर्विधं च विज्ञेयमातोद्यं लक्षणान्वितम् ।

(१) तत (वीणादि की भाँति तारयुक्त) (२) अवनद्ध (मृदंगादिवत् मढ़े हुए) (३) घन तथा (४) सुषिर (बाँसुरी आदि के समान फूँके जाने वाले) यह चार प्रकार के आतोद्य[3] वाद्य माने जाते हैं ॥ २७-२८ ॥

चार प्रकार के वाद्यों के लक्षण—

ततं तन्त्रीगतं ज्ञेयमवनद्धं तु पौष्करम् ॥ २८ ॥
घनस्तु तालो विज्ञेयः सुषिरो वंश एव च ।

तन्त्रीयुक्त (वीणादि को) तत् अवनद्ध (मढ़े हुए) वाद्य को पौष्कर, तालोप-

---

१. अभिनवगुप्त के अनुसार सभी प्रकार के अभिनयों का परिसमापन कार्य की सिद्धि में होता है। अतः द्विविध सिद्धियों का उल्लेख किया गया है । इसके विषय में ना० शा० अध्याय २७ में विस्तारपूर्वक कहा गया है ।

२- पाठ्य तथा गान में स्वरों का अन्तर्भाव हो जाने पर भी उन्हें पृथक् माना जाता है क्योंकि वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं (स्वराः पाठ्यगानसंगृहीता अपि पृथगुपात्ताः) नाट्य का सौन्दर्य केवल स्वरों से भी जाना जाता है जिसे अन्तरालाप कहते हैं (केवलानामपि प्रयोगोपरंजकत्वं यल्लक्ष्ये दृश्यते, यत्र अन्तरालाप इति प्रसिद्धिस्तदभ्युपगमार्थम्) ।

३. "आतुद्यते इति आतोद्यम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार हाथ या वायु आदि से ताडित होने पर ध्वनि उत्पन्न करने के कारण इन वाद्यों की संज्ञा आतोद्य होती है । यों तो वाद्य असंख्य हैं, किन्तु लक्षणानुसार वाद्यों की यही चार श्रेणियाँ हैं । इस प्रकार लोक में प्रचलित मल्लक पट आदि बहुसंख्यक वाद्यों की गणना इन शास्त्रीय वाद्यों की श्रेणियों में नहीं की जाएगी ।

योगी व ठोंक कर बजाए जाने वाले वाद्य (मंजीरा आदि) को घन तथा फूँक कर बजाए जाने वाले वाद्य (बाँसुरी आदि) को सुषिर कहा जाता है ॥ २८-२९ ॥

पाँच प्रकार का ध्रुवागान—

प्रवेशाक्षेपनिष्क्रामप्रासादिकमथान्तरम् ॥ २९ ॥
गानं पञ्चविधं ज्ञेयं ध्रुवायोगसमन्वितम् ।

ध्रुवा[१] से युक्त गायन पाँच प्रकार का होता है [१] प्रवेशक[२] [२] आक्षेप[३], [३] निष्काम[४] [४] प्रसादिक तथा[५] [५] आन्तर[६] ॥ २९-३० ॥

त्रिविध रङ्गमण्डप —

चतुरश्रो विकृष्टश्च रङ्गस्त्र्यश्रश्च कीर्तितः ॥ ३० ॥

रङ्गमण्डप के तीन रूप हैं—[१] चतुरस्र, [२] विकृष्ट एवं [३] त्र्यस्र ॥ ३० ॥

उपसंहार—

एवमेषोऽल्पसूत्रार्थो निर्दिष्टो नाट्यसंग्रहः ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि सूत्रग्रन्थविकल्पनम् ॥ ३१ ॥

---

१. ध्रुवा कहते हैं गीत के आधारभूत निर्धारित पदसमूह को (ध्रुवा गीत्याधारो नियतः पदसमूहः) । ध्रुवा से सम्बन्धित गायन विशिष्ट होने के कारण साधारण संगीत से भिन्न होता है ।

२. प्रवेशक—पात्रों के मञ्च पर प्रवेश के समय उनकी प्रकृति एवं भावादि का सूचक गायन ।

३. आक्षेप—प्रकृत रस से भिन्न रस का आक्षेप करने वाला गायन ।

४. निष्काम—मञ्च से निष्क्रमण करते समय गाया जाने वाला गान ।

५. प्रासादिक—सामाजिकों के प्रति प्रविष्ट पात्र की आन्तरिक चित्तवृत्ति का सूचक गायन ।

६. आन्तर—प्रवेश एवं निष्क्रमण के अन्तराल में (गीत आदि के समय) गाया जाने वाला गान ।

तीन प्रकार का जन स्वभाव—

[उत्तमाधममध्या च प्रकृतिस्त्रिविधा स्मृता ।
बाह्याभ्यन्तरसम्भूतमुपचारद्वयं भवेत् ॥]

जन स्वभाव के तीन प्रकार होते हैं—[१] उत्तम, [२] अधम, [३] मध्यम । और द्विविध उपचार होते हैं:—[१] बाह्य एवं [२] आभ्यन्तर ।

इस प्रकार मैंने संक्षेप में नाट्य के ग्यारह अङ्गों का उल्लेख किया। अब मैं उनके सूत्रादि लक्षण तथा भाष्य आदि परीक्षण को कहूँगा ॥ ३१ ॥

रस निरूपण—

तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यास्यामः ।
न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते ।

सबसे पहले हम रसों की ही विशेष व्याख्या करेंगे; क्योंकि रस के बिना अन्य नाट्यांग रूप अर्थ की प्रवृत्ति नहीं होती (अतः सर्वप्रथम उसका ही निरूपण करना आवश्यक है[1])।

रस का लक्षण सूत्र—

तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।

उनमें विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति[2] होती है।

---

१. अभिनवगुप्त की व्याख्यानुसार रस के विशेष विवरण के लिए निम्न कारण उत्तरदायी हैं—

१. रस के बिना विभावादि अर्थ व्याख्येय रूप से बुद्धि में नहीं आ सकते (रसं विना विभावादिरर्थो बुद्धौ व्याख्येयतया न प्रवर्तते)
२. रस के विना नाटक में प्रीतिमय उपदेश नहीं मिल सकता जो कि नाटक का मुख्य प्रयोजन है। [तं विनार्थः प्रयोजनं प्रीतिपुरस्सरं व्युत्पत्तिमयं न प्रवर्तते]
३. जो सामाजिक रस का आदर करते हैं व उसकी प्रतीति में आनन्दानुभव करते हैं उसे रस से भिन्न भाव आदि अन्य अर्थ स्पष्टतः नहीं समझ में आता क्योंकि विभावानुभाव रूप समस्त अचेतन वर्ग की चित्तवृत्ति से उपकृत जो स्थायीभाव होता है उसी स्थायीभाव नाम की प्रधान चित्तवृत्ति के अन्तर्गत विभावादि वर्ग की प्रतीति होती है। रस के बिना भावादि की प्रतीति न हो सकने से नट तथा सामाजिक सभी के लिए समस्त नाट्याङ्गों में रस ही सबसे महत्त्वपूर्ण हैं इसलिए सर्वप्रथम उसी का अभिधान किया गया है।

२. नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त यह निष्पत्ति शब्द अत्यधिक विवादास्पद है। मूलग्रन्थ में एतद्विषयक कोई सुनिश्चित व्याख्या न मिलने के कारण परवर्ती व्याख्याकारों यथा भट्टलोल्लट, श्री शंकुक, भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त ने रस सम्बन्धी

विभिन्न धारणाओं का प्रतिपादन किया है। आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी समालोचनात्मक व्याख्या अभिनवभारती में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यताओं का समीक्षण करते हुए रसविषयक अपनी प्रौढ़ एवं प्रबुद्ध मान्यता का प्रतिपादन अत्यन्त विश्लेषणात्मक रूप में किया है। अभिनवभारती के ही आधार पर रस विषयक उन धारणाओं का अध्ययन नीचे किया गया है—

भट्टलोल्लट का मत—

भट्टलोल्लट कृत व्याख्या के अनुसार रस सूत्र का तात्पर्य यह है कि विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारिभाव के साथ स्थायी भाव के संयोग से ही रस की उत्पत्ति होती हैं। इस प्रक्रिया में स्थायीभाव रूप चित्तवृत्ति की उत्पत्ति में विभाव कारण होते हैं। यहाँ अनुभाव से रसजन्य कटाक्षादि स्वरूप अनुभव का तात्पर्य नहीं है क्योंकि रस के कारणों में उनकी गणना न होकर भावों की गणना होती है। एवं जो व्यभिचारिभाव चित्तवृत्त्यात्मक होने के कारण यद्यपि स्थायीभाव के सहभावी नहीं हो सकते तब भी यहाँ रत्यादि स्थायीभाव के साथ व्यभिचारी भाव क्रमशः वासनात्मक तथा उद्बुद्ध रूप से रह सकते हैं। भरत ने रस के सम्बन्ध में जो दृष्टान्त दिया है उनमें भी नाना व्यञ्जन और मसालों से संस्कृत षाडव रस या पकवान् आदि के बीच में किसी की स्थायीभाव के समान वासनात्मक और किसी की व्यभिचारीभाव के समान उद्भूत रूप में स्थिति होती है। अतः विभाव, अनुभाव आदि से परिपुष्ट किए गए स्थायीभाव को ही रस मानना चाहिए। यह परिपुष्ट स्थायीभाव अनुकार्य एवं अनुकार्य दोनों में रहता है। मुख्यरूप से वह अनुकार्य रामादि में तथा गौण रूप से रामादि का अनुकरण करने वाले नट में अनुसन्धान बल से रहता है।

भट्टलोल्लट ने, ऐसा लगता है कि सूत्र में आए हुए निष्पत्ति शब्द का अर्थ "उत्पत्ति" किया है। परन्तु लोल्लट के विवरण से यह स्पष्ट है कि उत्पत्ति का यहाँ लाक्षणिक अर्थ है, नैयायिक का अभाव से भाव का उत्पत्तिरूप नहीं। क्योंकि जिस दृष्टान्त का विवेचन लोल्लट करते हैं उसमें सर्वत्र स्थायी भाव की वासनारूप से अवस्थिति मानी गयी है और इसी वासनात्मक स्थायी के परिपोष, उपचय अर्थात् घनीभूत और व्यक्तरूप को रस कहा गया है।

प्राचीन आचार्यों का यही मत है। इसी कारण काव्यादर्श नामक अलंकार ग्रंथ में रसवत् अलंकार का प्रतिपादन करते हुए दण्डी ने कहा है कि "रूप बाहुल्य (उपचय) के कारण रति (नामक स्थायीभाव) श्रृंगार (रस) बन जाता है" तथा "अधिकतम सीमा पर पहुँचकर क्रोध (नामक स्थायी भाव) रौद्ररस बन जाता है।" (काव्यादर्श २.२८१-२८३)

शंकुक का मत—

इस मत के प्रवर्तक श्री शंकुक हैं। उनके प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार विभावादि का योग हुए बिना स्थायीभाव का अनुमान करने वाला हेतु नहीं होगा। अतः स्थायीभाव की प्रतीति नहीं हो सकेगी। भरत को रस के पूर्व, न रस के बाद, भाँवों की चर्चा करनी पड़ती जबकि भरत ने रस के पहले (छठे अध्याय) और भावों की बाद में [सातवें अध्याय में] चर्चा की है तथा विभावादि के प्रयोग के पहले भी रस की स्थिति सिद्ध होती है। रस की पूर्व सिद्धि होने पर अन्य लक्षणों की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती और यदि रत्यादि स्थायीभाव की मात्रा में न्यूनाधिक्य या तारतम्य को सम्भव मानें तो रस में मन्द, मन्दतर, मध्यम आदि अनेक भेद मानने पड़ेंगे। हास्यरस में स्थायी के तारतम्य से छः भेदों का विधान किया गया है। उनका भी अभाव मानना पड़ेगा, तथा यदि स्थायी के तारतम्य से रस भेद मानें तो काम की दस दशाओं के अगणित रस भाव मानने पड़ेंगे। शोकादि स्थायीभावों में आरम्भ में शोक अधिक होता है जो क्रमशः मन्द होता जाता है तथा क्रोध, उत्साह एवं रति आदि स्थायी भावों में अमर्ष, स्थैर्य और सेवा आदि पोषक सामग्री के अभाव में अवनति हो जाती है। अतः यह कहना ठीक नहीं कि उपचय के स्थान पर अपचय रूपी विपर्यय के प्राप्त होने के कारण उपचित स्थायी भाव रस होता है।

अतः विभावादि हेतुओं तथा अनुभाव आदि कार्यों एवं निर्वेदादि व्यभिचारी भाव रूप सहचारी के द्वारा [नट के अभ्यासादि] प्रयत्न से उत्पन्न होने के फलस्वरूप कृत्रिम होने पर भी अकृत्रिम प्रतीत होने वाले कारण, कार्य, सहकारी रूप विभावादि के कारण या चिह्न की सामर्थ्य द्वारा अनुकर्त्ता [नट] में वर्तमान रूप से अनुमान द्वारा ज्ञेय अनुकार्य राम में विद्यमान रहने वाला रत्यादि स्थायीभाव का ही इसमें अनुकरण स्वरूप होता है। स्थायी भाव का तद्रूप न होकर उसका अनुकरण रूप होने के कारण ही इसका दूसरा नाम 'रस' है।

विभावों का अनुसन्धान काव्य से, अनुभावों का शिक्षा से, एवं व्यभिचारी भावों की प्रतीति अपने कृत्रिम अनुभावों के द्वारा होती है किन्तु स्थायीभाव का अनुसन्धान काव्य के अवगाहन से भी नहीं होता। नाट्य या काव्य में प्रयुक्त रति, शोक आदि शब्द रति एवं शोक आदि भावों का ही अभिधान करते हैं पर वाचिक अभिनय के रूप में उनकी प्रतीति नहीं कराते।

वाक् या शब्द के प्रयोग का ही नाम वाचिक अभिनय नहीं है अपितु उस वाक् के द्वारा किये जाने वाले अभिनय का नाम वाचिक अभिनय होता है, जैसे अङ्गों

से किए जाने वाले अभिनय का नाम आंगिक अभिनय होता है।

अभिनगुप्त ने एक श्लोक को उदाहृत करते हुए इस तथ्य को अच्छी तरह प्रकाशित किया है। श्लोक का अर्थ है—'जैसे अत्यन्त बड़े, अगाध व अनन्त समुद्र को भी वाडवाग्नि समाहित कर लेता है उसी प्रकार अत्यन्त प्रौढ़ शोक को भी क्रोध समाप्त कर देता है।' तथा शोक के कारण निश्चेष्ट एवं निरन्तर रुदन करते हुए इस राजा का हृदय विदीर्ण न हो जाए इसलिए मन्त्री उसकी रक्षा के लिए भगवान् से प्रार्थना कर रहे हैं। 'इन दोनों उदाहरणों में शोक अभिनेय न होकर अभिधेय हैं। किन्तु नीचे जो उदाहरण दिया गया है—'चित्र रचना करते समय उसके जो अश्रुबिन्दु चित्र पर गिर पड़े वह ऐसे सुशोभित हो रहे हैं जैसे कि उसके हाथ के स्पर्श से शरीर पर स्वेद बिन्दु आ गए हों।' [रत्नावली २.११]

इस श्लोक में अभिधार्थ से भिन्न उदयन विषयक सुखात्मक रति स्थायीभाव का अभिनय अभिप्रेत है, मात्र कथन अभिप्रेत नहीं है। अभिधाशक्ति के अतिरिक्त एक अन्य शक्ति अभिनय की है जिससे शब्द अपना अर्थ बोध कराता है। अतः अभिनय से स्थायीभाव का बोध होने से विभावानुभाव आदि के साथ सूत्र में स्थायीभाव का भिन्न विभक्ति में भी प्रयोग नहीं किया गया है। अर्थात् उपचित स्थायीभाव रस नहीं होता अपितु अनुक्रियमाण स्थायीभाव ही रस होता है। इसीलिए अनुक्रियमाण रति ही श्रृंगार रस होती है। अतः वह स्थायीभावरूप एवं स्थायीभाव मूलक दोनों होती है [तेन रतिरनुक्रियमाणा श्रृंगार इति तदात्मकत्वं तत्प्रभवत्वञ्च युक्तम्]।

बौद्ध भी इस मत से सहमत दिखाई पड़ते हैं। धर्मकीर्ति ने अपने प्रमाणवार्तिक [२.५७] में यह प्रतिपादित किया हैं कि—अर्थ का व्यक्त कराने वाली क्रिया मिथ्या ज्ञान से भी होना सम्भव है। उदाहरणस्वरूप—

मणि और दीप की ज्योति को मणि समझकर प्राप्त करने के लिए दो व्यक्तियों में ज्ञान और मिथ्याज्ञान के समान रहने पर भी उनमें अर्थक्रिया [फलप्राप्ति] को लेकर अन्तर हो जाता है। शंकुक का वक्तव्य है कि जब भ्रान्तज्ञान भी अर्थक्रियाकारी हो सकता है तो अनुकरण में रसबोध की क्षमता मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये। यहाँ पर ऐसी प्रतीति नहीं होती कि केवल नर्तक ही सुखी है और न यही प्रतीति है कि यही राम है, इसके अतिरिक्त यह प्रतीति भी नहीं होती है कि यह सुखी नहीं है अथवा यह राम है या नहीं है। साथ ही ऐसी प्रतीति भी नहीं होती कि यह उसके समान है अपितु सम्यक्, मिथ्या, संशय एवं सादृश्य इन सभी प्रतीतियों से विलक्षण अश्व के चित्र में बने हुए ज्ञान की भाँति जो सुखी राम है,

वह यह है, इस प्रकार की प्रतीति होती है। शंकुक स्पष्ट कहते हैं कि रसानुभव-काल में होने वाला ज्ञान न तो सन्देह रूप है, न वास्तविक तत्त्व रूप, और न भ्रान्ति रूप है। वह यह है यह चेतना होती है न कि यह वही है। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध ज्ञानों के सम्मिश्रण न होने के कारण विरुद्ध भावो के संप्लव या संकर से रहित इस विलक्षण रसानुभव, जो साक्षात् अनुभव का विषय है, का किसी भी युक्ति से खण्डन नहीं किया जा सकता।

आचार्य भट्टतौत के मत में यह मत तर्कसंगत नहीं है। क्योंकि यदि रस को अनुकरण रूप माना जाए तो यह स्पष्ट नहीं होता कि ऐसा सामाजिक के [अ] अभिप्राय से कहा गया है या [ब] नट के अभिप्राय से अथवा [स] वस्तु तथ्य के विवेचक व्याख्याताओं के अभिप्राय से [द] अथवा भरतमुनि के अभिप्राय से।

आचार्य भट्टतौत के अनुसार इसमें पहला पक्ष असंगत है। क्योंकि जो किसी प्रमाण से गृहीत होता हो वही अनुकरण कहा जाता है। जैसे कि यदि कोई यह कहे कि 'वह इस भाँति सुरापान करता है और स्वयं दुग्धपान करे तो यहाँ प्रत्यक्ष-रूपेण दूध का पीना देखा जाता है। पर यहाँ अभिनय के अन्तर्गत रस के सन्दर्भ में नट में ऐसी कौन सी वस्तु है जो प्रमाण रूप में उपलब्ध होने के कारण अनुकार्य के अनुकरण रूप में प्रतीत होती है, यह विवेचनीय है। नट का शरीर, उसके मुख पर लगा हुआ प्रतिशीर्षक [मुखौटा] आदि अथवा रोमांच, गद्गद आदि अथवा भुजाक्षेप, अङ्गों का वर्तन आदि या भ्रूक्षेप, कटाक्ष आदि इत्यादि चित्तवृत्तिरूप स्थायीभाव के अनुकरणरूप में किसी को प्रतीत नहीं हो सकते। यहाँ नट का शरीर इत्यादि जड है और बाह्यपक्ष आदि इन्द्रियों के विषय हैं जब कि रति आदि स्थायी भाव जड़ नहीं हैं और अन्तःकरण के विषय हैं। इसी प्रकार मुखौटे आदि का अधिकरण शरीर है जबकि रति का अधिकरण मन है इस कारण स्थायी भाव और दृश्यमान सामग्री में बहुत अन्तर है। अतः ये स्थायी भाव के अनुकरण किसी भी तरह नहीं हो सकते। दूसरी बात यह है कि मुख्य [अनुकार्य] तथा अमुख्य [अनुकरण] का अवलोकन करने पर ही प्रतीत होता है कि अमुख्य मुख्य का अनु-करण है। किन्तु यहाँ रामगत रति, जो कि मुख्य अनुकार्य रूप है, उसका किसी सामाजिक ने पहले साक्षात्कार नही किया अतः नट राम का अनुकरण करता है यह मत उपयुक्त नहीं प्रतीत होता।

यदि माना जाए कि नटगत चित्तवृत्ति ही प्रतीति का विषय बनकर या अगात होकर रति का अनुकरणरूप श्रृंगार रस है तो फिर प्रश्न उठता है कि उसकी प्रतीति किस रूप से होगी। यदि यह माना जाए कि विभाव, अनुभावों तथा व्यभिचारिभावों के हेतुओं से विभावादि कारणों से कार्यरूप, अनुभावादि कार्यों से कारणरूप तथा

व्यभिचारि के सहकारी रूप से जो लौकिक चित्तवृत्ति साक्षात्कार को प्राप्त होती है उसी रूप में प्रेक्षक को नट की चित्तवृत्ति का प्रतिभान होता है और यही रत्यादि की प्रतीति रस है। ऐसा मानने पर रति रूप में ही उसका ग्रहण होगा न कि रति की अनुकृति के रूप में। इस प्रकार रति को अनुकरण रूप कहने वाली वचन भङ्गिमा टिक नहीं पाती।

पुनश्च, अनुकार्य में जो आलम्बन व उद्दीपन रूप विभाव होते हैं वे वास्तविक होते हैं किन्तु यहाँ प्रयोगकर्ता नट में वास्तविक नहीं हैं। यही दोनों में वैशिष्ट्य है। यदि ऐसा मान भी लें कि वे विभावादि उस नट गत रति के विभाव (कारण) अनुभाव (कार्य) तथा व्यभिचारिभाव (सहकारी) न होते हुए भी काव्य शिक्षा तथा अभ्यासादि के कारण परिकल्पित किए जाकर, कृत्रिम होने पर भी सामाजिकों के द्वारा विभावादि के रूप में उनका ग्रहण क्या कृत्रिम रूप में किया जाता है या नहीं। यदि उनका ग्रहण कृत्रिम रूप में होता है तो उन कृत्रिम साधनों से वास्तविक रति का ज्ञान होना असम्भव है।

यदि शंकुक की ओर से यह तर्क रखा जाए कि कृत्रिम साधनों से प्रतीयमान रति ही अनुकरणात्मक [रत्यादि की] वृद्धि का कारण होती है तो यह तर्क भी उपयुक्त नही है। जो कारण लोकविख्यात हैं उनसे भिन्न कारणों से उत्पन्न कार्यों में उनका ज्ञान होने पर उस विषय के विशेषज्ञ व्यक्ति के द्वारा दूसरी वस्तु का प्रसिद्ध कारणों को छोड़कर सम्यक् अनुमान करना उचित हो सकता है। किन्तु साधारण पुरुष तो उसी प्रसिद्ध कारण का अनुमान करते हैं; जैसे कि विच्छू को देखकर उसके कारणरूप में गोबर का ही अनुमान किया जाता है। इससे भिन्न वृश्चिक रूप कारण के ज्ञान की संज्ञा मिथ्याज्ञान ही होगी।

जहाँ कहीं लिंग का मिथ्या ज्ञान होता है [तथा कोहरे में धुएं का] वहाँ भी साध्य के आभास रूप अन्य वस्तु का अनुभव मानना उचित नहीं है। क्योंकि कोहरे के धूमवत् प्रतीयमान होने पर भी धुएं का बिल्कुल अनुकरण सा लगने पर भी उससे अग्नि का अनुकरण करने वाली किसी अन्य कृत्रिम वस्तु का अनुमान करना उचित नहीं होगा। क्योंकि धूम के समान प्रतीत होने वाले कोहरे से अग्नि की भाँति प्रतीत होना उचित न होगा।

पूर्वपक्षी की शंका है कि अभिनेता यद्यपि क्रोधित नहीं होता किन्तु क्रोधित सा प्रतीत होता है। अतः रत्यादि के अनुकरण को रस मानना उपयुक्त है। इस शंका का समाधान करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त का कथन है कि यह ठीक है कि नट क्रोधित जैसा प्रतीत होता है। क्रोधित व्यक्ति के साथ यह सादृश्य भृकुटि

आदि के द्वारा परिलक्षित होता है, किन्तु यह ज्ञान उसी प्रकार का है जैसे गवय के साथ गाय का सादृश्य मुखादि के द्वारा होता है। किन्तु इससे अनुकरणात्मकता की तो सिद्धि नहीं होती। सामाजिक को राम के सादृश्य की तो वास्तव में प्रतीति ही नहीं होती और सामाजिक नट के केवल अनुभव आदि को ही ग्रहण नहीं करता है अपितु चित्तवृत्ति का भी ग्रहण करता है, अर्थात् नट के विषय में उसकी प्रतीति भावशून्य नहीं होती। अतः रस रत्यादि के अनुकरण का प्रतिभास है, यह कहना ठीक नहीं है।

यदि यह कहा जाए कि नट को देख कर यह प्रतीति होती है कि "यह राम है" तो इस प्रतिपत्ति के उत्तरकाल में बाधक का अभाव होने से उसकी तात्त्विक प्रतीति माननी चाहिए और यदि बाधक है तो उसे मिथ्या ज्ञान मानना चाहिए। सच पूछिए तो बाधक का उदय हो या न हो, यह मिथ्या ज्ञान होगा क्योंकि रामोऽयम् के द्वारा संबद्ध व्यक्ति नट है, राम नहीं। इसे यों भी कह सकते हैं कि शंकुक जब सहानुभूति को अनुकरणात्मक मानते हैं तो इसका निहितार्थ यही है कि वह अवास्तविक है। अतः शंकुक का विरुद्धबुद्धिसंभेदात् रत्यादि कथन भी असंगत है। अन्य अभिनेता में भी राम होने का ज्ञान होता है। अतः यह सिद्ध होना है कि रामत्व एक सामान्य गुण है। जबकि अनुकरण हमेशा विशेष का होता है सामान्य का नहीं।

शंकुक का यह कथन कि "काव्य से विभावों का अनुसन्धान किया जाता है" भी ठीक से समझ में नहीं आता। क्योंकि किसी नट को आत्मीयतया ऐसा भान नहीं होता है कि "यह मेरी सीता है"। यदि ऐसा मानें कि काव्य के द्वारा विभावादि को सामाजिक की प्रतीति के योग्य बनाया जाता है और इसी कार्य को अनुसन्धान कहा जाता है तो यह अनुसन्धान विभावादि की अपेक्षा स्थायी भाव के सन्दर्भ में अधिक उचित होगा। क्योंकि इसी स्थायीभाव की प्रधानता के कारण सामाजिकों को यह प्रतिपत्ति होती है कि राम में यह रत्यादि स्थायीभाव है। अतः रत्यादि के अनुकरण को रस न मानना ही अधिक उचित है।

आचार्य शंकुक ने वाक् एवं वाचिक का भेद प्रदर्शित करते हुए अभिनय की विशेषज्ञता का जो परिचय दिया है उसकी विवेचना अभिनवगुप्ताचार्य ने नाट्यशास्त्र के आगामी चौदहवें अध्याय में की है। अतः यह मानना ठीक नहीं है कि सामाजिक की प्रतीति के अनुसार "स्थायीभाव के अनुकरण को रस कहते हैं"।

नट को भी ऐसी प्रतिपत्ति नहीं होती कि मैं राम की चित्तवृत्तियों का अनुकरण कर रहा हूँ। यदि सदृशकरण की संज्ञा अनुकरण है तो जिसे मूल अनुकार्य का ज्ञान नहीं हुआ वह उसका अनुकरण कर ही नहीं सकता और यदि पश्चात्-

करण को अनुकरण माना जाए तो वैसी अनुकरणात्मकता लोक में अतिव्याप्त हो जाएगी क्योंकि लोक में वह रति राम आदि के बाद देखी जा रही है। अतः लौकिक रत्यादि को देखने पर भी रस की अनुरति मानी जाएगी।

यह मानने पर कि किसी खास व्यक्ति का अनुकरण न करके उत्तम प्रकृति का अनुकरण किया जाता है। अर्थात् नट द्वारा अपने शोक से उत्तम प्रकृति के शोक का अनुकरण किया जाता है तो वह साध्य कौन सा है जिससे अनुकरण किया जाता है। यदि यह मानें कि जब नट शोक का अनुकरण करता है तो उसे वास्तव में शोक नहीं होता अपितु वह अश्रुपात आदि से शोक का अनुकरण करता है, तो अश्रुपात इत्यादि से शोक का अनुकरण संभव नही प्रतीत होता क्योंकि जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, अश्रुपात इत्यादि अनुभाव और शोक रूप स्थायी भाव एक दूसरे से अत्यन्त विलक्षण हैं।

अस्तु, इतना तो हो ही सकता है कि नट ऐसी कल्पना कर लेता हो कि "मैं आदर्श व्यक्ति के शोकगत अनुभावों का अनुकरण कर रहा हूँ" तो प्रश्न उठेगा कि कि किस आदर्श व्यक्ति का नट अनुकरण कर रहा है। जिस किसी के भी शोक का अनुकरण मानना ठीक नहीं क्योंकि विशिष्ट स्वरूप के बिना उसे बुद्धि में बैठाना सम्भव नहीं होगा। जो मेरो (नट की) भाँति रुदन करता है उसका मैं अनुकरण करता हूँ। 'ऐसा मानना व्यर्थ है क्योंकि अनुकार्य की प्रतीति में नट का अपना स्वरूप भी समाविष्ट हो जाने से अनुकार्य और अनुकर्ता का भाव विगलित हो जाता है।

नट शिक्षावश और अपने विभावों की स्मृति के कारण चित्तवृत्ति के साधारणी· भाव के द्वारा होने वाले हृदय के सम्वाद से केवल अनुभावों को प्रदर्शित करते हुए उचित काकुध्वनि से काव्य पाठ करते हुए तदनुरूप चेष्टा करता है—शंकुक का यह कथन सिर्फ उतने मात्र की प्रतीति कराता है न कि किसी प्रकार के अनुकरण का ज्ञान। क्योंकि स्त्री के वेष के अनुकरण की भाँति राम के व्यापारों का अनुकरण नहीं हो सकता, यह हमने पहले अध्याय में ही प्रदर्शित किया है।

वस्तुवृत्त के अनुसार भी उन स्थायीभावों का अनुकरण नहीं हो सकता क्योंकि जो स्थायीभाव बाद में प्रतीत होते हैं उनका वस्तुवृत्तत्व (अर्थात् वास्तविक घटितता) कैसे सिद्ध होगा? वास्तविक वस्तुवृत्तत्व की व्याख्या आगे अपने सिद्धान्त निरूपण के प्रसङ्ग में की जाएगी।

भरत मुनि ने भी कहीं पर ऐसा नहीं कहा कि रस स्थायीभाव का अनुकरण है। भरतमुनि ने ऐसा कोई संकेत भी नहीं दिया जिससे स्थायी भाव के अनुकरण

को रस माना जा सके। इसकी अपेक्षा अभिनय की परिपुष्टता के निमित्त ध्रुवा, गान, तालवैचित्र्य और लास्यांगों का निरूपण विपरीत पक्ष का समर्थक प्रतीत होता है क्योंकि लौकिक जीवन की किसी बात का वे अनुकरण नहीं करते हैं। नाट्य-शास्त्र के सन्ध्यङ्गाध्याय (१९ वें अध्याय के अन्त) में अपनी व्याख्या में अभिनवगुप्त ने इस बात को विस्तार से समझाया है। प्रथम अध्याय में नाट्य को जो सप्तद्वीप का अनुकरण (सप्तद्वीपानुकरणं नाट्यमेतद् भविष्यति) बताया गया है उसे स्थायीभाव के अनुकरणरूप न मानकर दूसरे ढंग से (अर्थात् अनुकीर्तन अनुव्यवसाय के रूप में) भी समझा जा सकता है और अब यदि स्थायीभाव का अनुकरण मान भी लिया जाए तो कान्ता आदि के वेश अथवा गति के अनुकरण की भाँति 'रस' इस दूसरे नाम की क्या आवश्यकता रहेगी।

और जो यह कहा जाए कि जैसे चित्र में हरिताल आदि रगों को तूलिका से मिलाने से (संयुज्यमान:) गौ आदि की प्रतीति होती है। उसी भाँति विभावादि को मिलाकर रस की अभिव्यक्ति हो जाती है तथा उसका नाम भी विभा-वादि से भिन्न 'रस' हो जाता है। यहाँ संयुज्यमान का अर्थ अभिव्यज्यमान मानना उचित नहीं है। दीपक के आलोक में जैसे वास्तविक गौ व्यक्त होती है वैसी सिंदुरादि रङ्गों से नहीं होती, अपितु गौ के सदृश अङ्गों की रचना स्पष्ट होती है। गौ के अङ्गों के सन्निवेश के समान सन्निवेशविशेष रूप में सिन्दुरादि स्थित होकर यह भान कराते हैं कि यह आकृति गौ सदृश है। किन्तु इस प्रकार विभावादि समूह रति के समान (सदृश) हैं। यह बोध किसी भी ज्ञान से नहीं होता है। क्योंकि काव्यात्मकवर्णना, जो एक तरह से अनुभाव या भौतिक उपकरण सामग्री का काम करती हे। रति, शोक जैसी मानस वृत्ति, जो कि वस्तुत: अपनी प्रकृति में आध्यात्मिक है, का अनुकरण नहीं कर सकती। अत: रत्यादि स्थायीभावों के अनुकरण को रस मानने वाला यह मत युक्तियुक्त नहीं है।

जिन लोगों ने भरत के 'सुखप्रायेषु सम्पन्न: (६.४६) श्लोक को ठीक से नहीं समझा है उनका कहना है कि रस, जो सुखदु:खात्मक होता है, विषय सामग्री का बाह्य संघात मात्र है जिसमें सुख-दु:ख उत्पन्न करने की क्षमता है। यह मत सांख्य से मिलता है। सांख्य की दृष्टि में संसार के सभी पदार्थ त्रिगुणात्मक होने से रस भी सुख-दु:ख एवं मोहस्वभाव वाला माना जाएगा। तथा इस सामग्री में विभाव दाल के स्थानीय हैं तथा अनुभाव एवं व्यभिचारिभाव छौंक के सदृश हैं। विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव आदि सामग्री से उत्पन्न आन्तरिक शोक या मोहादि स्थायीभाव हैं। इससे रस और स्थायी भाव के पारमार्थिक भेद का अपलाप हो

जाता है और इस मत के पोषकों को भरत के कथन 'स्थायिभावों को रसना तक ले जायेंगे' ('स्थायिभाववान् रसत्वम् उपनेष्यामः' ना० शा० छठा अध्याय) में लक्षणा माननी पड़ती है। कठिनाई यह है कि स्थायी की प्रतीति भिन्न है और रस की भिन्न। स्थायी और रस यदि एक हैं। उनमें केवल औपचारिक भेद है तो रस और स्थायी के प्रतीति वैषम्य को वे लोग कैसे समझायेंगे।

भट्टनायक का मत

भरत के रस सूत्र की व्याख्या सहृदयदर्पण के रचयिता भट्टनायक नामक एक अन्य व्याख्याकार ने भी की है। इनका मत मुख्यतः वेदान्त और योग की कतिपय दार्शनिक मान्यताओं पर आधारित हैं। उनके मत में रस न तो प्रतीत होता है, न उत्पन्न और न अभिव्यक्त। सामाजिक द्वारा अपने में रस की प्रतीति मानने पर करुण रस के अनुभव काल में सामाजिक को दुःख की प्रतीति होनी चाहिए किन्तु ऐसी स्थिति असंगत होगी। शोक की कारणभूत सीतारूपी विभाव के अनुपस्थित रहने से, अपनी पत्नी आदि की नाट्य प्रसंग में स्मृति न होने से, जब देवतादि विभाव हों तो उनमें साधारणीकरण के अयोग्य होने से तथा हनुमानादि विभावों द्वारा समुद्र लङ्घनादि के समान किये गए कार्यों का साधारणीकरण असम्भव होने से सामाजिक को स्वगत रूप में रस की प्रतीति नहीं होती। रसप्रतीति को यदि परगत अर्थात् सामाजिक से भिन्न किसी अन्य में परिनिष्ठित माना जाए तो सामाजिक उदासीन हो जायेगा।

किसी भी नाट्यप्रयोग का आस्वादन करते हुए रत्यादि से युक्त राम का स्मरण सम्भव नहीं है क्योंकि उसका पहले ज्ञान नहीं हुआ है। शब्द और अनुमान आदि प्रमाणों से भी उसकी प्रतीति मानना उचित नहीं है क्योंकि ऐसी स्थिति में, यदि रस शब्द या अनुमान से उत्पन्न हो सके तो, संसार में लौकिकप्रत्यक्ष से रसानुभव मानना उचित होगा, जब कि लौकिक अनुभव में ऐसा देखने को नहीं मिलता, उल्टे प्रत्यक्ष रूप में, रत्यादि में रत नायक नायिका को देखने पर रस के स्थान पर रसिक की अपनी मनःस्थिति और अवस्था के लज्जा या जुगुप्सा आदि वृत्तियों के उदय होने से मन की तन्मयता भङ्ग होगी फलतः रसबोध की संभावना दुष्कर हो जायगी। अतः अनुभव या स्मृति आदि के रूप में रस की प्रतीति मानना तर्क संगत नहीं है।

यही सब दोष तब भी आयेंगे जब जब रस की प्रतीति को उत्पत्तिरूप माना जाए। इसी प्रकार रस की प्रतीति को यदि अभिव्यक्तिरूप माना जाए तो इसका सीधा सा अर्थ होगा कि शक्तितया या बीजतया पहले से अवस्थित पदार्थ की अभिव्यक्ति। ऐसी अवस्था में रसार्जन में तारतम्य मानना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में

हम शंकुक की मन्दतर, मन्दतम, मध्यस्थ आदि अनन्त स्थितियों की आपत्ति का पुनरभिधान कर रहे हैं। रसानुभूति को चाहे प्रतीतिरूप माना जाए, चाहे उत्पत्तिरूप और चाहे अभिव्यक्तिरूप, उसे स्वगत अथवा परगत मानने पर सभी स्थितियों में ऊपर वाले दोष समान रूप से आ खड़े होंगे। अर्थात् स्वगत मानने पर करुण रस के अनुभव काल में सामाजिक दुःखी और परगत मानने पर तटस्थ अथवा उदासीन ही रहेगा।

इस कारण से काव्य में दोष शून्यता तथा गुणालङ्कार की उपस्थिति एवं नाटक में चतुर्विध अभिनय के माध्यम से शब्दों द्वारा अर्जित एक विशेष सामर्थ्य जिसे भावकत्व व्यापार कहा गया है और जो अभिधा से भिन्न उसका दूसरा अंश है, के द्वारा रस का भावन (विषयान्तर-परिहारपूर्वक चित्र में बार-बार निवेशन) किया जाता है। इस भावकत्व व्यापार के दो कृत्य हैं एक तो अपनी चेतना को ढँक लेने वाले घनीभूत मोह, जो रसानुभव में एक प्रकार का बाधक है, का निवारण और दूसरे विभावादि का साधारणीकरण। इस भावकत्व व्यापार के द्वारा भावित किया जाता हुआ रस स्मृति, अनुभव एवं प्रतीति आदि से विलक्षण भोग—जो सहृदय के विशिष्ट सामर्थ्य का प्रतीक है—के द्वारा भोगा जाता है। सहृदयगत यह भोग या भुक्ति सामाजिक की वह विशिष्ट मनःस्थिति है जिसका रजस् और तमस् अभिनिवेशवैचित्र्य के कारण पर्यायशः द्रुति, विस्तार या विकास के रूप में उन्मेष होता है और जो सत्त्व के उद्रेक के बल से प्रकाश और तज्जन्य आनन्द से युक्त आत्मसंवित् में एक प्रकार की विश्रान्ति है। इस भुक्ति की तुलना परब्रह्म के आस्वादन से ही सम्भव है। यदि लोचनकार के शब्दों में कहा जाए तो भट्टनायक तीन प्रकार के व्यापारों का आश्रय लेकर रसभुक्तिता का विवेचन करते हैं जिनमें अभिधा का सम्बन्ध है वाच्य से, भावना का सम्बन्ध है रस से और भोगीकरण का सम्बन्ध है सहृदय से।

अभिनवगुप्त के विचार से भट्टनायक चूंकि भट्टलोल्लट का खण्डन करते हैं। इसीलिए वह मान्य है, ऐसा नहीं है। भट्टनायक द्वारा प्रस्तुत पूर्वपक्ष तो उठ ही नहीं पाता। अतः उसमें दोष दिखाने की आवश्यकता रह नहीं जाती। फिर भी भट्टनायक जब यह कहते हैं कि रस की प्रतीति में ही भोग होता है तो प्रतीति इत्यादि से भिन्न संसार में और भी कोई भोग होता है, यह हमें नहीं मालूम। भुक्ति को यदि रसना या (या आस्वादन) रूप माना जाए तो वह भी एक प्रकार की प्रतीति ही है। केवल साधन को विलक्षणता (विभाव इत्यादि) को देखते हुए उसका नाम बदल दिया गया जान पड़ता है—जैसे साधनभेद से होने वाली प्रमा को हम दर्शन, अनुमिति, श्रुति और उपमिति इत्यादि कह बैठते हैं। निष्पत्ति

अर्थात् उत्पत्ति और अभिव्यक्ति इन दोनों को न मानने पर रस को या तो असत् होना पड़ेगा या नित्य। इसके अलावा उसकी तीसरी गति तो हो नहीं सकती और जिसकी प्रतीति न होती हो ऐसी कोई वस्तु व्यवहार के योग्य नहीं होती। (इसके विपरीत रस का तो हमें व्यवहार में अनुभव होता है।)

यदि यह कहा जाए कि रस की प्रतीति का अर्थ है भोगीकरण और उसका स्वरूप है द्रुति या विस्तार या विकास, जिसे रसना का नाम दिया जाता है। तो भी इतने ही से कुछ नहीं होता। जितने रस हैं उतने ही रसनामयी प्रतीतियाँ हैं जिनका स्वभाव भोगीकरण है। उनमें भी सत्त्व, रजस्, तमस् के अभिनिवेश-वैचित्र्य के फलस्वरूप उनके पारस्परिक अङ्गाङ्गिभेद के आधार पर अनन्त भेदों की कल्पना करनी पड़ेगी। अतः तीन भेदों से ही (द्रुति, विस्तार, विकास) सीमा बाँधने से क्या लाभ?

संक्षेप में भट्टनायक की मान्यता है कि अभिधा, भावना एवं भोगीकृतिरूप काव्यगत तीन व्यापार माने गये हैं। अभिधा के द्वारा शब्दार्थ और अलंकार पहले वाच्यरूप में उपस्थित होते हैं, इसके पश्चात् भावना व्यापार से साधारणीकरण द्वारा जो काव्यार्थ भावित किया जाता है उसका सहृदय सामाजिक भोगीकरण के रूप में आस्वादन करता है।

अभिनवगुप्त का मन्तव्य है कि भट्टनायक भी प्रकारान्तर से ध्वनि के माध्यम से अभिव्यक्त संवेदनात्मक रस के ही पक्षधर हैं जो कि अभिनवगुप्त का अपना सिद्धान्त है। इसीलिए उनकी दृष्टि में भरतमुनि जब यह कहते हैं कि काव्य से रस भावित होते हैं तो यहाँ पर भावन का अर्थ यदि भट्टनायक विभावादि से उत्पन्न चर्वणात्मक आस्वाद रूप प्रतीति का विषय बन पाने से लेते हैं तो अभिनवगुप्त को कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि स्वयं भट्टनायक ने अन्यत्र स्पष्ट कहा है कि "दूसरे की प्रतीति का विषय बनता हुआ आस्वादनात्मक अनुभवरूप रस ही काव्यार्थ कहा जाता है जिसका एक नाम संवेदन भी है।" यहाँ पर व्यङ्ग्य शब्द से रस की व्यज्यमानता लक्षित होती है और अनुभव शब्द से उसके विषय का पता चलता है।

इस प्रकार रस वस्तुतः क्या है इसकी गवेषणा करने अभिनवगुप्त निकल पड़ते हैं।

अभिनवगुप्त का मत

रस की व्याख्या—रस के वास्तविक एवं परिशुद्ध रूप की परिचर्चा करते हुए अभिनवगुप्त का मत है कि स्वयं भरत के अनुसार रस कोई नई या अपूर्व वस्तु नहीं है

[न त्वपूर्वं किञ्चित्]। सप्तम अध्याय के प्रारम्भ में भरत कहते हैं कि भावों का काम है काव्यार्थों का भावन करना। यही काव्यार्थ रस है। जैसे कि ब्राह्मण ग्रन्थों में आए हुए स्तुतिपरक अर्थवाद वाक्यों (जैसे 'वनस्पतियाँ रात भर रहीं' या 'प्रजापति ने अपनी चर्बी की अग्नि में आहुति दी' इत्यादि) में सुनते ही अधिकारी (किसी अर्थिता या आकांक्षा से जो याग पें प्रवृत्त हुआ है) व्यक्ति को सामने की क्रिया में अत्यन्त रुचि के कारण पहले तो सामान्य अभिधेयार्थ की ही प्रतीति होती है, पर उसके ठीक बाद उपात्तकाल (भूतकाल) के तिरस्कार द्वारा 'बैठूँ', 'आहूति दूँ' (वर्तमान काल) इस प्रकार की प्रतीति होती है जो अर्थसंक्रमणरूपा है। इसी को भिन्न-भिन्न दर्शनों में प्रतिभा (वेदान्ती, प्रत्यभिज्ञावादी) भावना (कौमारिल), विधि या नियोग (प्रभाकर) जैसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा गया है। ठीक इसी प्रकार काव्यात्मक शब्द से भी अधिकारी व्यक्ति को साधारण वाक्यार्थबोध से अतिरिक्त प्रतीति या बोध होता है।

यहाँ पर काव्य के क्षेत्र में अधिकारी है विमल प्रतिभा से युक्त हृदय वाला व्यक्ति अर्थात् सहृदय। ऐसे व्यक्ति में "यह सामने हिरन कितनी सुन्दरता से अपनी ग्रीवा मोड़कर देख रहा है" (अभि० शाकु० १.२), "नील अलकों में लगे कर्णिकार पुष्पों को गिराती उमा (कुमार. ३.६२) और "शिव कुछ" (कुमार० ३.६७) इन वाक्यों से वाक्यार्थबोध के मानस साक्षात्कार के समान एक ऐसी प्रतीति उत्पन्न होती है जिसमें उन वाक्यों द्वारा लाए गए देश, काल इत्यादि का पूर्णतः उन्मूलन होता हैं। इस प्रतीति में जो मृग का छौना भासित होता है उसका कोई विशेष या निजीरूप न होने के कारण केवल "डरा हुआ" और फिर सामाजिक को डराने वाले मृग के वास्तविक न होने के कारण (क्योंकि यहाँ मृग तो अभिनेतामात्र है) देश और काल से पूरी तरह से अनालिङ्गित केवल भय की ही प्रतीति होती है। भय का यह प्रत्यक्ष भय के साधारण प्रत्ययों (जैसे मैं डरा हुआ हूँ, यह शत्रु, मित्र, उदासीन—डरा हुआ है) से विलक्षण है क्योंकि वे सुख-दुःख के द्वारा उत्पन्न ग्रहण और त्यागरूप दूसरी प्रतीतियों के नियमतः उदय के कारण विघ्नों से भरे हुए हैं, जब कि यह भय निर्विघ्न प्रतीति का विषय बनता हुआ साक्षात् हृदय में घुसता हुआ सा आँखों के सामने नाचता हुआ सा भयानक रस ही है। इस प्रकार के भय में सामाजिक की आत्मा न तो पूर्ण तौर पर तिरस्कृत रहती है और न ही विशेष रूप से उद्रिक्त। और न 'पर' अर्थात् अभिनीयमान पात्र या नट न तो पूर्णतः पृष्ठभूमि में रहता है और न चेतना पर अच्छी तरह से छाया रहता है।

फलतः भय की यह साधारण या सामान्य अवस्था (साधारण्य) सीमित नहीं है

बल्कि व्यापक है—वैसे ही जैसा कि धुआँ और आग। सच पूछिए तो भय और कम्प, व्याप्ति ग्रहण के समय होता है। अन्तर यही है कि यहाँ पर इसकी (भय की) साक्षात्कारकल्पता का पोषण नटादि सामग्री के द्वारा होता है (रसानुभव इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के अभाव में साक्षात्कार रूप नहीं है। फिर भी वह साक्षात्कार जैसा होता है। अतः साक्षात्कारात्मकता का अंश नटादि सामग्री से आता है)। इस नटादि सामग्री में वास्तविक और काव्यार्पित दोनों प्रकार के देश, काल, प्रमाता रूप नियमन के हेतुओं का एक दूसरे के अत्यन्त प्रतिबन्धक या प्रतिरोधक होने के कारण अन्ततः उनका उन्मूलन हो जाने पर वही साधरणीभूत भाव ही नितान्त पुष्ट हो पाता है। इसीलिए सभी सामाजिकों की एकघनतया प्रतीति रस का और भी परिपोषण करती है; क्योंकि अनादि वासना के द्वारा सबमें वासनागत मैत्री या संवाद (पारस्परिक समकोटिक औन्मुख्य) तो रहता ही है। इस विघ्नरहित प्रतीति को चमत्कार कहते हैं और इससे उत्पन्न कम्प, पुलक, शरीर का साह्लाद हिलना इत्यादि विकार भी चमत्कार कहलाते हैं। उदाहरण के लिए इस प्राकृत गाथा को देखा जा सकता है "आज भी विष्णु चमत्कृत हैं कि समुद्रमन्थन के समय चन्द्रकला की कान्ति वाले लक्ष्मी के कोमल अवयव मेरुपर्वत से पिच क्यों नहीं गए ?" इसी प्रकार चमत्कार उस प्रकार के भोग में पूर्ण मज्जन (भोगावेश) का नाम भी है जिसकी तृप्ति कभी समाप्त नहीं होती और इस कारण से जिसका प्रवाह अविच्छिन्न बना रहता है। चमत्कार का वास्तविक अर्थ है भोगते हुए—अर्थात् अद्भुत आनन्द की क्रिया में सराबोर व्यक्ति की क्रिया (शाब्दिक तौर पर भोजन से पूर्ण तृप्ति होने पर चटखारी लेने का नाम है 'चमत्'-कार)। यह साक्षात्कारात्मक मानसिक अध्यवसाय या इच्छा या साक्षात्कारमयी स्मृति के रूप में उभर सकता है। क्योंकि, जैसा कि कालिदास ने कहा है, "एक प्राणी सुखी होने पर बहुधा रम्य पदार्थों को देखकर या मधुर शब्दों को सुनकर कुछ उत्कंठित (उतावला) सा हो उठता है। उस समय निश्चय ही, पहले से न जानने के कारण, वह मन से पूर्वजन्म के उन संपर्कों का स्मरण करता है जो वासना रूप से उसके अवचेतन में आकर जम गए हैं (शाकु. ५)' यहाँ पर स्मरण करता है (स्मरतीति) पद से जो स्मृति दिखाई गई है वह तार्किकों या नैयायिकों द्वारा अभ्युद्गत स्मृति से भिन्न है क्योंकि स्मृति के लिए पदार्थ का पूर्व अनुभव आवश्यक है और यहाँ पर उस पदार्थ का पूर्व अनुभव हुआ नहीं है। अपितु अपनी प्रकृति में यह एक प्रकार का साक्षात्कार है। जिसका दूसरा नाम प्रतिभान (या प्रातिभ दर्शन) है। क्योंकि यह प्रतीति निरन्तर आस्वादात्मक प्रतीति है जिसमें रति ही (या अन्य कोई स्थायी भाव) भान होती है।

इसीलिए किसी भी दूसरे विशेष से असंपृक्त (अनुपहित) रहने के कारण वह रसना अर्थात् अस्वाद का विषय बनती हुई न तो लौकिक प्रतीति है, न मिथ्या है, न अनिर्वचनीय, न किसी लौकिक प्रतीति के समान है और न ही किसी का आरोपण रूप। कहने के लिए (लोल्लट के मत से) वह उपचय रूप अवस्था हो सकती हैं क्योंकि देश और काल के नियंत्रण से वह मुक्त है; वह अनुकरणरूप भी हो सकती है क्योंकि भावों का अनुगामिरूप से पुनर्प्रस्तुतीकरण होता है। विज्ञानवाद का सहारा लेकर (प्रवृत्ति और आलयविज्ञान की मौलिक एकता के कारण ?—अभिनवभारती का यह अंश अस्पष्ट है) यह भिन्न घटकों का संघात या विषय-सामग्री भी कही जा सकती है। चाहे जिस दृष्टि से देखें, हर तरह रसनामयी विघ्नरहित प्रतीति से ग्राह्य भाव ही रस है।

यहाँ विघ्न को दूर करने वाले हैं विभाव, अनुभाव इत्यादि। लौकिक व्यवहार में भी सारे विघ्नों से मुक्त चेतना ही चत्मकार, निर्वेश, रसना, आस्वादन, भोग समापत्ति, लय और विश्रान्ति इत्यादि शब्दों से पुकारी जाती है। इस प्रत्यक्ष प्रतीति में सात प्रकार के विघ्न हैं—(१) सम्भावना के अभाव के कारण ज्ञान के विषय रूप में पदार्थ की अयोग्यता, (२) नियमतः आत्मसंबद्ध या पर-संबद्ध रूप से प्रतीत होने वाले देश विशेष और कालविशेष में लीन होना, [३] अपने सुख दुःख के वश में होना, [४] प्रतीति के उपाय में दोष का होना, [५] स्फुटता या प्रामाणिकता का अभाव, [६] किसी प्रधानतत्व का अभाव और [७] संदेह का उपस्थित होना। इन्हें हम अब क्रम से लेते हैं—

[१] संवेद्य को संभव न मानता हुआ जो संवेद्य में ही अपनी मति को ठीक से नहीं बैठा पाता, वहाँ कैसे टिकेगा—यह पहला विघ्न है। इसको हटाने का उपाय है संसार की सामान्य वस्तुओं के सम्बन्ध में होने वाला हृदयसंवाद ; और जब असाधारण घटनाओं का चित्रण करना होता है, तब उपाय है रामादि नामक प्रख्यात चरित्रों का आश्रयण, जिनका नाम ही चिरन्तन काल से चली आती हुई अविच्छिन्न कीर्ति से उत्पन्न हमारी चेतना में [अर्थात् हमारे सांस्कृतिक अवचेतन में] गहरे पैठे विश्वास को उभारने में समर्थ है। यही कारण है कि अलौकसामान्य व्यक्ति के उत्कर्ष के विषय में ज्ञान करना [व्युत्पत्ति] और शिक्षा देना [उपदेश] जिनके दो प्रयोजन हैं—ऐसे नाटक [और महाकाव्य] इत्यादि को लेकर [आगे आठवें अध्याय में] यह नियमपूर्वक विधान किया जाएगा कि इनकी विषयवस्तु प्रख्यात होनी चाहिए। प्रहसनादि में ऐसा नहीं होता। यह बात अपने मौके पर कही जाएगी, अतः इस विषय में यहीं रुकना ठीक रहेगा।

[२] एक प्रधान विघ्न जो नियमतः घटित होता है वह है सामाजिक के द्वारा एकमात्र अपने में रहने वाली (स्वगत) सुख और दुःख की चेतनाओं के आस्वादन में मुख्य संवेदन से भिन्न दूसरे संवेदन का उदय। होता यह है कि यथा संभव सामाजिक के इस भय से कि सुख की अनुभूति कहीं बीत न जाए या इस व्यग्रता से कि ये सुख की अनुभूति बनी रहें, या इस इच्छा से कि सुख की ऐसी अनुभूतियाँ और भी होती रहें, या इस कामना से कि यह दुःख की अनुभूति छोड दूँ या इसको पूरी तरह से कह सकूँ या छिपा सकूँ या अन्य किसी प्रकार से एक दूसरे संवेदन का उद्गम ही बड़ा भारी विघ्न बन जाता है।

इसी प्रकार दूसरे में रहने वाले (परगत) सुख, दुःख, की संवेदना होने पर सामाजिक के मन में नियमतः सुख, दुःख, मोह और उदासीनता रूप [मुख्य संवेदन से भिन्न] अन्य संवेदनों के उदय की संभावना से अनिवार्यतः विघ्न पैदा हो जाता है। इस विघ्न को दूर करने का उपाय है भाषागत भेद, (नर्तकियों के) लास्य के अङ्ग, रंगपीठ, मण्डप में पायी जाने वाली, कक्ष्या रूप लोक में अप्राप्य नाट्यधर्मियों के ग्रहणपूर्वक मुखौटे;प्रसाधन इत्यादि के प्रयोग के द्वारा नट का अपने स्वरूप को छिपाने के भिन्न प्रकारों का आश्रयण। यह बात दर्शकों को पूर्वरङ्ग में [देखिए ना. शा. ५.१६५-६६ "पूर्वरङ्ग को बहुत फैलाना नहीं चाहिए"] और प्रस्तावना के समय [देखिए ना. शा.–'नटी या विदूषक" इत्यादि] ही स्पष्ट हो जाती है। उपर्युक्त तत्त्वों की उपस्थिति में इस प्रकार की प्रतीति नहीं होने पाती—इसी का, यहीं, पर इस समय सुख या दुःख है—क्योंकि एक ओर नट के वास्तविक स्वरूप का गोपन होता है और दूसरी ओर आरोपित चरित्र में सामाजिक की चेतना के पूरी तौर पर टिक न पाने के कारण [राम आदि आरोपित चरित्र के) वास्तविक रूप में सामाजिक की चेतना विश्रान्त नहीं हो पाती। इन सब बातों का परिणाम यह होता है कि यहाँ पर दोनों के वास्तविक स्वरूप का गोपन होता है—नट का और नट द्वारा अभिनीयमान चरित्र का। यद्यपि अभिनीयमान चरित्र नट और अनुकार्य दोनों का गोपन करता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह है ही नहीं ; क्योंकि उसका अस्तित्व सामाजिक की चेतना का एक तथ्य, एक प्रदत्त है। जैसे कि यह कहना सही है कि आसीन पाठ्य, पुष्पगंडिका जैसे लास्य के प्रकार सामान्यतः संसार में नहीं देखे जाते किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनकी किसी भी प्रकार से सत्ता नहीं है; क्योंकि किसी न किसी रूप में उनकी संभावना है। बात यह है कि मुनि ने संबद्ध और प्रासंगिक सामग्री का यह जमावड़ा साधारणीभाव की सिद्धि द्वारा रसचवर्णा में उपयोगी के रूप में किया है। इसलिए लास्य इत्यादि का रहस्य भी

वहीं पर [१९वें अध्याय में] स्पष्ट होगा । अतः इस समय इस दिशा में हमें प्रयास नहीं करना चाहिए । यहाँ तो हमने अपने में या दूसरे में नियतरूप से रहने वाले देश, काल इत्यादि के प्रतीति रूप विघ्न के निराकरण के उपाय का प्रतिपादन किया है ।

३. जो अपने ही सुख या दुःख के वशीभूत है वह दूसरी वस्तु में चित्त कैसे लगा पाएगा । अतः इस विघ्न के निवारण के लिए उचित समय और अवसरों पर प्रयोग के लिए गेय और वाद्य संगीत, सुसज्जित मण्डप, विदग्धगणिका रूप उपायों का आश्रय लिया गया है। ऊपर वर्णित साधारण्य की महिमा से शब्दादि विषय वाले ये सारे पदार्थ ऐसे हैं जो सारे प्रमाताओं के द्वारा भोगे जाने योग्य हैं और इस प्रकार से [सारी वस्तु स्थिति] को रंग देते हैं [उपरंजन] कि साधारणतः हृदयहीन प्रमाता भी सहृदय बन जाता है । शब्द और रूप विषयों की इस उपरंजकता की दृष्टि से ही काव्य को 'दृश्य या श्रव्य' [ना० शा० १.११] कहा गया है । और क्या, अगर प्रतीति के साधनों का ही अभाव है तो मानी हुई बात है कि प्रतीति का भी अभाव रहेगा ।

५. [शाब्दबोध या अनुमान जैसी] अस्फुट प्रतीति के जनक शब्द या हेतु के होने पर भी बुद्धि पूरी तरह से उन पर टिक नहीं पाती; क्योंकि स्फुट प्रतीति रूप प्रत्यक्ष के अनुरूप बोध की आकांक्षा ऐसे स्थलों पर बनी ही रहती है । जैसा कि न्याय सूत्र में वात्स्यायन ने कहा है "और यह सारी प्रमा प्रत्यक्ष पर निर्भर है" [न्या. सू. भा. १] क्योंकि यह बात सुनिश्चित है कि जिस पदार्थ का ज्ञान प्रत्यक्ष से हुआ है उसको सैकड़ों आगम या अनुमान प्रमाणों से उसका भिन्न रूप का [अन्यथाभाव] ज्ञान नहीं हो सकता । यहाँ तक कि अलातचक्र जैसे [भ्रान्त-प्रत्यक्ष के] स्थलों पर भी दूसरे प्रत्यक्ष से ही भ्रान्ति का निश्चय होता है [कि यह अग्नि का चक्का नहीं बल्कि मशाल है] । यही संसार का क्रम है । इस कारण से इन दोनों विघ्नों का नाश करने के लिए लोकधर्मियों [यथातथ्य प्रस्तुतीकरण], वृत्तियों [कौशिकी, सात्वती, आरभटी और भारती नामक शैलियाँ] और प्रवृत्तियों [स्थानीय प्रयोग] से उपस्कृत चारों प्रकार के अभिनयों का आश्रय लिया जाता है । सच पूछिए तो अभिनय एक ऐसा व्यापार है जो शब्द और लिङ्ग के व्यापार से भिन्न है और प्रत्यक्ष के व्यापार के समान है । इसका विस्तार में निश्चय आगे चल कर होगा ।

६. गौण पदार्थ में किसकी बुद्धि टिकती है ? क्योंकि अप्रधान वस्तु का ज्ञान दूसरी प्रधान वस्तु के पीछे भागते रहने के कारण आत्मनिर्भर या अपने में पर्यवसित

नहीं होता। रस के सन्दर्भ में यह अप्रधानता विभावों और अनुभावों-[जो जड हैं]- में और व्यभिचारियों—जो चेतन होने पर भी नियमतः दूसरे [स्थायीभाव] का मुँह जोहते रहते हैं—में पायी जाती है अतः इनसे भिन्न स्थायी ही उस प्रकार की चर्वणा का विषय है।

इन स्थायिभावों में कुछ स्थायी पुरुषार्थपरक हैं ; अतः वे ही प्रधान हैं। जैसे रति [शृङ्गार का स्थायिभाव] काम और उससे संबद्ध धर्म और अर्थ नामक पुरुषार्थों पर आश्रित है। क्रोध [रौद्र का स्थायी भाव] कोपप्रधान व्यक्तियों में पाया जाने पर भी अर्थनिष्ठ है और फिर काम और धर्म में भी पर्यवसित होता है। उत्साह [वीर का स्थायिभाव] धर्म, अर्थ, काम सभी तीनों में पाया जाता है और शम [शान्त का स्थायी भाव] तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद या वैराग्य जैसा भाव मोक्ष का उपाय है। इस प्रकार इन्हीं चारों की प्रधानता है। यद्यपि आपस में ये भी एक दूसरे से गौण बनकर आते हैं, तब भी एक नाटक में एक प्रधान तो दूसरे में दूसरा। इस प्रकार रूपक भेद से बारी बारी से सभी की प्रधानता दिखाई पड़ती है। जो लोग दूर तक देखने में समर्थ हैं उनकी दृष्टि में तो एक ही रूपक में स्थलभेद से उनकी प्रधानता पृथक् दिखाई देती है। इनमें सभी रस सुखप्रधान हैं क्योंकि अपनी ही चेतना का आस्वादन रूप घनीभूत प्रकाश का सार है आनन्द। यहाँ तक कि लौकिक जीवन में भी रति के अंतरंग क्षणों में स्त्रियाँ जब एकघन शोक की अनुभूति के आस्वादन में डूबी रहती हैं उस समय उसमें उनका हृदय रमता है क्योंकि सुख का स्वरूप ही है किसी प्रकार के व्यवधान से रहित विश्रान्ति। विश्रान्ति का न होना ही दुःख है। यही कारण है कि कपिल के अनुयायियों ने दुःख को रजोगुण की वृत्ति बताते हुए प्रकारान्तर से चञ्चलता को ही दुःख के प्राणरूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार सारे रस आनन्दरूप हैं, किन्तु उपरञ्जक विषयों के कारण उनमें भी कहीं कहीं कड़ुएपन का स्पर्श हो जाता है जैसे वीररस में। क्योंकि उसका प्राण ही है क्लेश सहिष्णुता। इस प्रकार रति आदि स्थायीभाव प्रधान कहलाते हैं। सारे संसार में सहज ही प्राप्त होने के कारण अपने विभावों से हृदय को रंग लेने की शक्ति के कारण हास आदि की भीं प्रधानता मानी हैं। इसीलिए छोटे व्यक्तियों में हास इत्यादि अधिकता से पाए जाते हैं। छोटे दर्जे के लगभग सभी व्यक्ति हँसते हैं, दुखी होते हैं, डरते हैं और दूसरे की निन्दा में मजा लेते हैं। छोटी सी भी सुख की बात से चकित हो उठते है। रत्यादि के अंग के रूप में ये हास इत्यादि पुरुषार्थसिद्धि में भी उपयोगी होते हैं। इन्हीं की प्रधानता और अप्रधानता को लेकर रूपकों के दस भेद किए गए हैं, आगे चलकर अभिनवगुप्त द्वारा इसका स्पष्ट प्रतिपादन प्राप्त होता है।

इतने ही स्थायीभाव हैं। पैदा होते ही प्राणी इतनी चित्तवृत्तियों से पूरी तरह घिर जाता है। वस्तुतः "प्राणी दुःख के स्पर्श से भागता है और सुख के आस्वादन के प्रति आकृष्ट होता है" इस उक्ति के अनुसार प्रत्येक प्राणी रमण (रति) की इच्छा से व्याप्त रहता हैं, अपने को दूसरे से अच्छा मानते हुए दूसरे का उपहास उड़ाता है (हास), अभिलषित पदार्थ से वञ्चित कर दिए जाने पर दुःखी होता है (शोक), इस वियोग के कारणों को लेकर क्रोध के बस में हो जाता है (क्रोध), इन कारणों को दूर कर पाने में अक्षम होने पर उनसे डरता है (भय), फिर भी, उन पर कुछ न कुछ विजय तो पाना ही चाहता है (उत्साह), अनुचित वस्तु के विषय में विरक्ति या विमुखता उसे घेर लेती है और उसको वह अवांछनीय के रूप में मानने लगता है (जुगुप्सा), अपने या किसी अन्य के असाधारण कार्यों को देखने से उसे विस्मय होता है (विस्मय) और कुछ न कुछ त्यागने के लिए इच्छुक रहता है (शम) कोई भी जीवित प्राणी इन चित्तवृत्तियों की वासना अर्थात् संस्कार से रहित नहीं होता। केवल किसी की कोई चित्तवृत्ति कुछ ज्यादा और किसी की कुछ कम होती है। किसी की चित्तवृत्ति का उद्रेक सामान्य (उचित) विषय से हो जाता है और किसी का सामान्येतर विषय से। इस प्रकार कुछ ही चित्तवृत्तियाँ (केवल स्थायी न कि व्यभिचारी भी) पुरुषार्थ के साधन में उपयोगी होती हैं। अतः उन्ही का उपदेश किया जाना चाहिए (क्योंकि काव्य या नाटक कान्तासम्मित उपदेश है)। इन चित्तवृत्तियों के विभावों—आलंबन—से ही उत्तम प्रकृति आदि के मनुष्यों का निर्णय होता है। फिर जो ये ग्लानि, शङ्का इत्यादि विशिष्ट चित्तवृत्तियाँ हैं वे यदि उनके विभाव नहीं हैं तो, जन्म ही नहीं लेती। उदाहरण के लिए रसायन का उपयोग किए हुए मुनि में ग्लानि, आलस्य, श्रम इत्यादि चित्तवृत्तियाँ उठ ही नहीं पाती, और जिसके होती भी हैं उस व्यक्ति के भी हेतु के नष्ट हो जाने पर खुद भी नष्ट होती हुई संस्कार या वासना रूप में भी अपना अवशेष नहीं छोड़ती। इसके विपरीत उत्साह आदि चित्तवृत्तियाँ तो अपना कर्तव्य कर चुकने पर विलीनप्राय होती हुई भी संस्काररूप में अवश्य बनी रहती हैं, क्योंकि दूसरे करणीय के विषय में उत्साह आदि अखंडित रहते हैं। जैसा कि पतञ्जलि (वस्तुतः यह उक्ति व्यास की है) ने कहा भी है [यो० सू० २.४ पर व्या.भा.]— "चैत्र एक स्त्री में अनुरक्त है इसका अर्थ यह नहीं है कि वह अन्य स्त्रियों में विरक्त है।"

इस प्रकार स्थायिरूप चित्तवृत्ति में गुंथे हुए ही ये क्षणिक भाव इसीलिए व्यभिचारि कहलाते हैं क्योंकि आविर्भाव और तिरोभाव जन्य अनन्त वैचित्र्य मय स्वरूप को यह धारण करते हैं; क्योंकि ये स्फटिक, कांच, अभ्रक, पुखराज, पन्ना,

नीलम इत्यादि रत्नों के समान हैं जो लाल नीले आदि रंग के तागे में पोए जाकर उनके बीच में झलकने वाले तागे के खाली अंश, [रत्नों के योजना भेद से] जिसकी हजारों भंगिमाएं सम्भव हैं, में अपने संस्कार जन्य वैचित्र्य का आधान न करते हुए भी उस रंगीन तागे [और रत्नों की योजना भेद से होने वाले विरलभाव के विभिन्न रूपों] के द्वारा [इन रत्नों में] किए गए उपकारों अर्थात् सौन्दर्यों को धारण करते हैं और स्वयं भिन्न भिन्न तरह के होने के कारण ये स्थायिरूप तागे को वैचित्र्य से मण्डित करते हैं अर्थात् बीच बीच में वर्तमान शुद्ध स्थायिरूप तागे को दो रत्नों के प्रतिभासन परिधि में लाकर पहले और पीछे वाले व्यभिचारीरूप रत्नों की छाया की शबलिमा से उपरंजित करते हैं। यही कारण है कि इन्हें अस्थिर या व्यभिचारी कहा जाता है! इसीलिए जब कोई यह कहता है कि "यह ग्लान है" तो तत्काल ही उसके कारण को लेकर प्रश्न उठता है" क्यों (यह ग्लानियुक्त है) ?" । इससे इस चित्तवृत्ति की अस्थायिता सूचित होती है किन्तु यह कहने पर कि "राम से बड़ा उत्साह है" कोई इसके कारण के बारे में सवाल नहीं पूछता। अतः यहाँ पर विभाव स्थायिरूप चित्तवृत्तियों को उद्बुद्ध करते हुए और उनके स्वरूप को अपने वैशिष्ट्य से रंगते हुए केवल रति और उत्साह इत्यादि के औचित्य या अनौचित्य को ही धारण करते हैं। ऐसा नहीं है कि विभावों के अभाव में स्थायीभावों का कोई अस्तित्व ही नहीं है; क्योंकि वासना रूप से ये चित्तवृत्तियाँ सारे प्राणियों में रहती ही हैं यह बात पहले प्रतिपादित की जा चुकी है। किन्तु व्यभिचारियों के विषय में ऐसा नहीं है। अपने विभावों के अभाव में तो उनका नाम तक नहीं रहता। आठवें अध्याय में यह बात विस्तार से समझाई गई है। इस प्रकार अप्रधानता दोष का परिहार स्थायिभावों के निरूपण द्वारा भी भरत ने इस कथन के द्वारा कर दिया है कि "अब हम स्थायिभावों को रसत्व तक पहुँचाएंगे [ना. शा. ६.५० के बाद का गद्यांश] जहाँ "विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" रूप रस के सामान्यलक्षण के अंगरूप में ही स्थायिविशेषों के स्वरूप पर विचार किया गया है।

रस के सभी घटकों में विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी का किसी स्थायीभाव विशेष से कोई नियत संबंध नहीं है क्योंकि आँसू [अनुभाव] इत्यादि आनन्द, आँख के रोग आदि से उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं। बाघ [विभाव] क्रोध को भी उत्पन्न कर सकता है और भय को भी। श्रम, चिन्ता जैसी चित्तवृत्तियाँ [व्यभिचारी] भय, उत्साह आदि अनेक स्थायिभावों के साथ देखी जाती हैं। किन्तु अपनी समग्रता में [एक सामग्री के रूप में] इनका स्थायीविशेष से विपरीत आचरण नहीं होता। उदाहरण के लिए सम्बन्धियों का विनाश

जहाँ विभाव हो, विलाप और आँसुओं का गिरना जहाँ अनुभाव हो चिन्ता एवं दीनता जहाँ व्यभिचारी हो वहाँ अवश्य शोक नामक स्थायी भाव की स्थिति होगी। यही कारण है कि विभाव इत्यादि को लेकर संदेह का उदय होने पर शंका रूपी विघ्न को शान्त करने के लिए भरत ने रससूत्र में 'संयोग' का प्रयोग किया है।

[यह बात ध्यान देने की है कि यद्यपि स्थायी ही रस बनता है [स्थायी एव रसीभूतः) ; पर रस और स्थायि एक नहीं हैं। रस स्थायी से भिन्न है। अभिनवगुप्त ने इसे लोकजीवन में व्यक्ति और काव्यजीवन में सामाजिक की भूमिकाओं की तुलना करते हुए इसे बड़े अच्छे ढंग से स्पष्ट किया है।] लोक व्यवहार में कार्य, कारण और सहकारिकारणरूप हेतु को देखकर एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की स्थायिरूप चित्तवृत्ति का अनुमान कर लेता है। धीरे धीरे अभ्यास के इस प्रकार के अनुमान करने में कुशलता प्राप्त हो जाने के कारण अब नाटक के सन्दर्भ में उन्हीं उद्यान [कारण], कटाक्ष [कार्य] और धृति [सहकारी], जो सामाजिक की बुद्धि में संयोग, सम्यक् योग सम्बन्ध अर्थात् एकाग्रता प्राप्त कर एक सामग्री के रूप में उभरते हैं—के लौकिक संवेदनों से भिन्न और विघ्नों से रहित संवेदनात्मक आस्वादन का विषय बनता हुआ अर्थ 'रस' कहलाता है। चवर्ण प्रक्रिया का विषय बने रहना ही [चर्व्यमाणता] इसका एकमात्र स्वभाव हैं। यह सिद्ध स्वभाव वाला अर्थात् परिघटित विषय रूप नहीं है। चर्वणा काल में ही इसका अस्तित्व है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी काल में यह उपलब्ध नहीं होता। अर्थात् यह साध्य या प्रक्रिया रूप है, सिद्धरूप नहीं। इसीलिए यह स्थायी से विलक्षण है। नाट्य संदर्भ में उपयुक्त उद्यान इत्यादि लौकिक कारण-भूमि या कार्यभूमि से परे हो जाते हैं और उसका एकमात्र प्रयोजन रह जाता है विभावना [रत्यादि में आस्वादाङ्कुरण की योग्यता का लाना], अनुभावना रत्यादि का समनन्तर रसादि रूप में भावन] और सचारण [इस प्रकार के स्थायिभाव को सम्यक् गति प्रदान करना] रूप व्यापारों के द्वारा सामाजिक की बुद्धि का उपरञ्जन। इसलिए कार्यकारण की लौकिक संज्ञाओं से भिन्न उन्हें विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि जैसे लोकोत्तर व्यपदेश से संबोधित किया जाता है। इस नामकरण का उद्देश्य पूर्व कारण कार्य इत्यादि के द्वारा छोड़े हुए संस्कारों पर इनकी निर्भरता [उपजीवन] को बताना है। ये विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी बारी-बारी से गौण या प्रधान रूप से सामाजिक की चेतना में एक विशिष्ट सम्बन्ध में अनुगुम्फित होकर एक सामग्री का निर्माण करते हैं जिसके द्वारा ही, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, लोकोत्तर वीतविघ्न चर्वणात्मक संवेदन की गोचरता को प्राप्त तत्त्व 'रस' कहलाता है। यह स्थायी नहीं, स्थायी से विलक्षण है। न कि जैसा शङ्कुक आदि ने कहा है कि चूँकि विभावादि के द्वारा

स्थायी की प्रतीति होती है और चूँकि वह आस्वादन का विषय बनता है अतः वही रस है। यदि शंकुक की बात मान ली जाए तो लौकिक स्थायीभाव को ही रस क्यों न मान लिया जाए। जिस मत में असत् अर्थात् अनुकृत स्थायी रसनीयता मानी जाती हो वहाँ वास्तविक अर्थात् लौकिक स्थायी की रसनीयता क्यों नहीं होगी? इसलिए स्थायी की प्रतीति को अनुमिति रूप कहना चाहिए, रस नहीं। यही कारण है कि रस सूत्र में भरत ने स्थायी शब्द का ग्रहण नहीं किया है, बल्कि इसका ग्रहण काँटे की तरह खटकने वाला होता। [भरत ने 'स्थायिनः विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' नहीं कहा। कहते तो अर्थ होता कि रस किसी भी अन्य व्यक्ति के स्थायी भाव की प्रतीति है।] 'स्थायी रस बनता है' इस प्रकार की बातें केवल औचित्य के आग्रह से कही जाती हैं। औचित्य केवल इतना है कि जो स्थायि विशेष के साथ कारण कार्य इत्यादि के रूप में प्रसिद्ध थे उन्हीं का चर्वणा में उपयोगी होने के नाते विभाव आदि के रूप में अवलम्बन लिया जाता है।

इस प्रकार लौकिक चित्तवृत्ति के अनुमान में कोई रसत्व नहीं है। इसलिए लोकोत्तर चमत्कार रूप रस का आस्वादन स्मृति, अनुमान इत्यादि अपने लौकिक संवेदनों से विलक्षण है। इस बात को यों समझा जा सकता है—लौकिक अनुमान के संस्कारों से युक्त सामाजिक नाटक में किसी प्रमदा को उदासीन भाव से नहीं देखता; अपितु हृदयसंवादरूप अपनी सहृदयता के बल से अनुमान, स्मृति आदि की सीढ़ी पर चढ़े बिना ही पूरे होने वाले रसास्वाद के अंकुर के रूप में और तन्मयीभाव की उपयुक्त चर्वणा के प्राण या स्रोत के रूप में ग्रहण करता है। यह चर्वणा अतीत में किसी अन्य प्रमाण से उद्भूत नहीं हुई और न ही इस चर्वणा की निष्पत्ति में प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणों का व्यापार है बल्कि लोकोत्तर विभावादि के एकमात्र संयोग की सामर्थ्य से ही इस चर्वणा का उद्रेक होता है।

यह रसना [१] प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान आदि लौकिक प्रमाणों से होने वाले रति आदि स्थायीभावों के बोध से भिन्न है। [२] इसी प्रकार योगिप्रत्यक्ष से होने वाले दूसरे के चित्त के तटस्थ ज्ञान से भिन्न है। और [३] सभी विषयगत उपरागों से मुक्त, शुद्ध परमयोगी को होने वाले स्वात्मानन्द के एकघन अनुभव से भी भिन्न है। क्योंकि बोध के इन तीनों प्रकारों में क्रमशः उपार्जन रूप भिन्न-भिन्न विघ्नों के उदय के कारण, उदासीनता तथा तज्जन्य अस्फुटता के कारण और विषय स्पर्श की विवशता के अभाव अर्थात् विषयास्वाद की शून्यता के कारण सौन्दर्य का अभाव रहता है। यहाँ पर इसके विपरीत सुख दुःख के संवेदनों का केवल हमसे संबन्धित रूप में ग्रहण न होने के कारण विषय के आवेश में रहने की

कोई विवशता नहीं है। अपना भी उल्लेख [स्वानुप्रवेश] होने से संवेदनों का एकमात्र दूसरे से सम्बद्धरूप में ग्रहण न होने के कारण उदासीनता और अस्फुटता नहीं पायी जाती; और अपनी रत्यादि वासना—जो उपयुक्त विभावादि के साधारणीकरण के द्वारा जगाई जा चुकी है और विभावादि के अनुरूप है—में आवेश बने रहने के कारण अन्य विघ्नों का उदय सम्भव नहीं है यह बात हम कई बार कह चुके हैं।

अतः विभावादि रस की उत्पत्ति के हेतु [कारक हेतु] नहीं है क्योंकि तब उनका बोध समाप्त हो चुकने पर भी रसानुभव को होते रहना चाहिए। न ही वे रस की ज्ञप्ति के हेतु [ज्ञापक हेतु] हैं; जिनसे कि उनकी गणना प्रमाणों के बीच की जाए, क्योंकि विषयभूत किसी भी ऐसे रस का अस्तित्व नहीं है जो प्रमेय बन सके। प्रश्न यह है कि फिर ये विभावादि क्या हैं? सच बात यह है कि चर्वणा का साधक विभावादि का व्यवहार अलौकिक ही है। ऐसी वस्तु कहीं देखी भी गयी है—यदि ऐसा कोई पूछे तो लोकोत्तरता सिद्धि के हमारे अभियान में यह दूषण नहीं बल्कि भूषण हैं। पानक रस का स्वाद क्या गुड़ काली मिर्च आदि उसके घटकों में कहीं देखा गया है। उपर्युक्त बात भी ऐसी ही है।

कोई कह सकता है कि तब रस ज्ञान का विषय नहीं हो सकेगा। यह कहना उचित है। वस्तुतः यह रस्यात्मक अर्थात् रस्य है प्रमेयरूप नहीं। तब सूत्र में यह कैसे कहा गया है कि रस की निष्पत्ति होती है। वस्तुतः यह निष्पत्ति रस की नहीं; अपितु रसविषयक रसना की होती है। रसविषयक रसना की निष्पत्ति से यदि एकमात्र उसी के अधीन जीवन वाले रस की निष्पत्ति भी कही जाती है तो इससे कोई दोष नहीं होता; और वह रसना न प्रमाण का व्यापार है, न कारक का। स्वयं में वह अप्रामाणिक भी नहीं कही जा सकती; क्योंकि अपने ही संवेदन से उसकी सत्ता प्रमाणित है। यह रसना निश्चय ही बोधरूपा है। किन्तु बोध की लौकिक विधाओं से विलक्षण है; क्योंकि इसके विभावादि उपाय ज्ञान के लौकिक उपायों से भिन्न हैं। अतः विभावादि के संयोग से चूँकि रसना की निष्पत्ति होती है उसी कारण से उस प्रकार की रसना के द्वारा ग्राह्य या आस्वादनीय लोकोत्तर अर्थ रस है—यह इस सूत्र का तात्पर्य है।

इसे संक्षेप में यों कहा जा सकता है—मुकुट और मुखौटे इत्यादि से पहले तो यह नट है यह प्रतीति छिप जाती है। फिर, पूर्वकालीन बुद्धि के गहरे संस्कारों के कारण, काव्य के बल लाई जाती हुई भी राम की प्रतीति नट में पूरी तरह से स्थिर नहीं हो पाती। अतः सामाजिक के मन में दोनों के [नट और राम—अनुकर्ता और अनुकार्य] देश और काल का उन्मूलन हो जाता है। रोमाञ्च आदि लौकिक

को दृष्टान्तः। अत्राह—यथा हि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रस-निष्पत्तिः तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः। यथा हि—गुडादिभिर्द्रव्यै-र्व्यञ्जनैरौषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।

अत्राह—रस इति कः पदार्थः? उच्यते—आस्वाद्यत्वात्।

भरत मुनि ने प्रश्न उठाया है कि क्या इस विषय में कोई दृष्टान्त है? जैसे नाना व्यञ्जन, औषधि एवं द्रव्यों के संयोग से पेय रस की निष्पत्ति होती है, वैसे ही नाना भावों के उपगम से (दृश्यकाव्य में) रस की निष्पत्ति होती है। जैसे गुड़ इत्यादि पदार्थों एवं इमली, हल्दी आदि औषधियों से युक्त व्यंजन[1] छः प्रकार का हो सकता है उसी भाँति अनेक भावों से युक्त स्थायी भाव "रसत्व" को प्राप्त होते हैं।

भरत मुनि पुनः प्रश्न करते हैं कि यह कौन सी वस्तु है?[2] इसके उत्तर में

होने पर भी अनेक बार रति के द्योतक के रूप में ही सामाजिक के द्वारा देखे गए हैं। अतः लौकिक देशकाल के बन्धन से मुक्त होकर वे उस रति का अवगमन कराते हैं, जिसमें उस वासना से युक्त होने के कारण सामाजिक का आत्मोल्लेख भी होता है। अतः रति का बोध न तो सामाजिक उदासीन भाव से करता है और न ही निश्चित आलम्बन के रूप में अपने से संपृक्त रूप में; जिससे कि उपार्जन आदि विघ्नों की सम्भावना हो वही नियत दूसरे व्यक्ति से सम्बद्ध रूप में जिससे दुःख, द्वेष, ईर्ष्या आदि की सम्भावना हो। अतः इस प्रकार से, साधारणीभूत प्रवाह वृत्ति वाली एक ही संविद् की आस्वाद्यभूत रति शृंगार है और यह साधारणीभाव विभावादि के द्वारा उपलब्ध होता है।

१ व्यंजन का अर्थ अभिनव के मत में उपसेचन पदार्थ है। तिक्त, मधुर, चुक्र, लवण, कड़वा व कसैला छः भेद व्यंजनों के होते हैं। इनमें से भिन्न स्वाद के इमली, गेहूँ, काँजी, हल्दी आदि पदार्थों के संयोग से पाचक जिस षाडव रस का निर्माण करता है उसमें इनमें से किसी भी स्वाद की अलग सत्ता नहीं होती। अपितु इन सबके मिश्रण से एक अभूतपूर्व अनोखे स्वाद की ही स्थिति होती है। इसी भाँति विभावादि द्वारा उत्पन्न होकर प्रत्यक्षकल्पना को प्राप्त रूप में, लौकिक भावों की अपेक्षा से जो स्थायीभाव हैं वे अपने रसमयतारूप प्राणतत्व के साथ नाटकादि में रसत्व को प्राप्त करते हैं।

२. इस प्रश्न द्वारा यहाँ सूत्र के लक्षणपद की व्याख्या के लिए प्रश्न किया गया है। रस शब्द का प्रयोग अधिकतर मधुरादि रस, पारद, विषय, सार, जल-संस्कार, अभिनिवेश, क्वाथ, देह, धातु का सार आदि अर्थों में प्रसिद्ध है। पर इस

कहा गया है कि आ वादित की जाने वाली वस्तु की सज्ञा 'रस' है।[1]

कथमास्वाद्यते रसः । यथा हि—नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति । तस्मान्नाट्यरसा इत्यभिव्याख्याताः ।

जिज्ञासा उठती है कि रस का आस्वादन किस प्रकार किया जाता है ? इसका उत्तर है कि जैसे रसिक जन अनेक प्रकार के व्यंजन से परिमार्जित अन्न का भोजन करते हुए मधुर आदि रसों का आस्वादन करते हैं[2], वैसे ही सहृदय प्रेक्षक अनेक भावों से अभिव्यक्त किए जाने वाले एवं वाचिक आङ्गिक तथा सात्विक [अभिनय] से युक्त स्थायी भाव का आस्वादन करके प्रसन्नता प्राप्त करते हैं। इस प्रकार नाट्य तथा रस की व्याख्या की गई है।

नाट्य रस—

अत्रानुवंश्यौ श्लोकौ भवतः—

यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम् ।
आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तविदो जनाः ॥ ३२ ॥

प्रसंग में शृंगारादि अर्थ में प्रयुक्त होने वाले रस शब्द के अर्थ एवं उनके प्रवृत्तिनिमित्त का आग्रह इस प्रश्न से होता है। प्रस्तुत प्रश्न से यह व्यंजना भी निकलती है कि रस शब्द से उसके विशिष्ट अर्थ का नियमन कैसे होता है और उस विशिष्ट अर्थ को ग्रहण करने में प्रयोक्ता की कैसे प्रवृत्ति होती है ?

१. शृंगारादि के प्रति रस शब्द की प्रवृत्तिनिमित्तता बताने के लिए "आस्वाद्यमानात्" इस प्रयोग का भरतमुनि ने उपयोग किया है। रस शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त आस्वादन क्रिया है। शृङ्गारादि का ज्ञान यद्यपि रसनेन्द्रिय से नहीं होता, तब भी उसे आस्वादन इसलिए कहा जाता है कि यहाँ प्रयुक्त "यथा" एवं "तथा" शब्द से यह सूचित होता है कि यह औपचारिक क्रिया का आश्रय लेकर सादृश्य को व्यक्त करने के लिए कहा गया है।

२. कुछ लोगों के मत में अन्नादि के आस्वादन में। आत्मा [आस्वादयिता], २. रसना [आस्वादन क्रिया] तथा ३. मन, यह तीन भेद होते हैं। पर रस में केवल आस्वादन मात्र होता है। अतः इन दोनों का सादृश्य दिखाना उचित नहीं। और इसका परिहार यह बताया है कि यहाँ आत्मा मनः स्थानीय हो जाता है व मन रसस्थानीय होता है। आचार्य अभिनव का मत है कि यह तर्क अनुपयुक्त है क्योंकि यहाँ भरतमुनि का उद्देश्य केवल रसोत्पति में उपचार या सादृश्य का ही मुख्यरूपेण प्रतिपादन करना है।

भावाभिनयसंबद्धान्स्थायिभावांस्तथा बुधाः ।
आस्वदयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः ॥ ३३ ॥

इस विषय में दो परम्परागत श्लोक भी प्रचलित हैं—

जैसे भोजन के ज्ञाता जन अनेक द्रव्य एवं नाना व्यंजनों से युक्त भोजन का आस्वादन करते हैं उसी प्रकार प्राज्ञजन अनेक भावों और अभिनय से युक्त स्थायी भावों का मानसिक आस्वादन करते हैं। इसी कारण [ये स्थायी भाव] नाट्य रस कहे जाते हैं ॥ ३२-३३ ॥

भावों से रसों की उत्पत्ति—

अत्राह—किं रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरुताहो भावेभ्यो रसानामिति ? केषाञ्चिन्मतं परस्परसम्बन्धादेषामभिनिर्वृत्तिरिति । तन्न । कस्मात्, दृश्यते हि भावेभ्यो रसानामभिनिर्वृत्तिर्न तु रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरिति ।

यहाँ शंका उठती है—रस से भावों की उत्पत्ति होती है अथवा भावों से रस की ? इसके विषय में कहा जाता है कि कुछ लोगों के अनुसार यह पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा उत्पन्न होते हैं। किन्तु ऐसा मानना उचित नहीं, क्योंकि भावों से रसों की उत्पत्ति तो दिखाई पड़ती है ; किन्तु रसों से भावों की उत्पत्ति नहीं दीख पड़ती ।

भावों का लक्षण—

भवन्ति चात्र श्लोकाः—

नानाभिनयसम्बन्धान्भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ॥ ३४ ॥

इस विषय में परम्परागत श्कोक इस प्रकार हैं—

क्योंकि नानाविध अभिनयों से संबद्ध रसों को यह भावित करते हैं ; अतः नाट्यप्रयोक्ता द्वारा इन्हें "भाव" माना जाता है ॥ ३४ ॥

भावों से रसों की निष्पत्ति—

नानाद्रव्यैर्बहुविधैर्व्यञ्जनं भाव्यते यथा ।
एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह ॥ ३५ ॥

जिस प्रकार विविध रीतियों से तथा प्रभूत सामग्री से व्यंजनों[1] का सम्पादन किया जाता है उसी प्रकार भावों द्वारा विभिन्न अभिनयों के माध्यम से रसों का सम्पादन किया जाता है ॥ ३५ ॥

---

१. विविध द्रव्यों के योग से बनने वाले पदार्थ की संज्ञा 'व्यंजन' होती है। यहाँ तात्पर्य यह कि जैसे अनेक द्रव्यों के सानुपात मिश्रण से एक व्यंजन बनता है, वैसे ही विविध भावों के संयोग से एक रस की निष्पत्ति होती है ।

रसों तथा भावों का सम्बन्ध—

न रसो भावहीनोऽस्ति न भावो रसवर्जितः ।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत् ॥ ३६ ॥

भाव से रहित रस नहीं होता और रस से रहित भाव भी नहीं रहता, इनके अन्योन्याश्रय सम्बन्ध से अभिनय में पूर्णता आती है[1] ॥ ३६ ॥

व्यञ्जनौषधिसंयोगो यथाऽन्नं स्वादुतां नयेत् ।
एवं भावा रसाश्चैव भावयन्ति परस्परम् ॥ ३७ ॥

जैसे मसाले आदि के योग से व्यंजन स्वादिष्ट बनता है ; उसी प्रकार रस एवं भाव एक दूसरे को भावित करते हैं[2] ॥ ३७ ॥

यथा बीजाद्भवेद्वृक्षो वृक्षात्पुष्पं फलं यथा ।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः ॥ ३८ ॥

जिस प्रकार बीज से वृक्ष, और वृक्ष से फूल एवं फल होते हैं, वैसे रस ही मूल है और उसी पर भाव आधारित रहते हैं[3] ॥ ३८ ॥

---

१. रस के विना भाव की स्थिति नहीं होती इस कथन का अभिप्राय है कि लोक के विना विभावादि का व्यवहार नहीं होता । रस एवं भाव के पारस्परिक योग से अभिनय में सिद्धि होती है । चूँकि अभिनय में रस का अनुभव होने पर उसके सहायक होने से कारणादि विभाव कहलाते हैं अतः इन दोनों के योग से अभिनय का सिद्ध होना नितान्त उपयुक्त है । किन्तु यहाँ अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता, जैसा कि अगले श्लोक से स्पष्ट है ।

२. रस तथा भाव कर्ता रूप में स्थित होकर कर्मभूत दूसरे को भावित करते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि जैसे एक विषय में एक ही क्रिया होने पर अन्योन्याश्रय दोष हो जाता है वैसा यहाँ नहीं होता क्योंकि इसमें क्रियाभेद रहता है । भावों द्वारा स्थायीभाव रस्यमान होता है और रसों द्वारा कारणरूप [रामादि] को विभाव माना जाता है । अतः क्रियाभेद रहने से अन्योन्याश्रय दोष नहीं आने पाता ।

३. यदि भावों से रस की उत्पत्ति मानी जाय तो फिर "न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते" इस उक्ति की सार्थकता कैसे सिद्ध होगी ? इसका उत्तर है कि जैसे वृक्ष के मूल में कारणरूप बीज रहता है, वैसे ही काव्य के मूल में रस रहता है [बीजं यथा वृक्षमूलत्वेन स्थितं तथा रसाः] । कविगतसंविद् ही वास्तव में मूलभूत रस है [कविगतसाधारणीभूतसंविन्मूलश्च काव्यपुरस्सरो नट-

चार मूल रस—

तदेषां रसानामुत्पत्तिवर्णदैवतनिदर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः। तेषामुत्पत्तिहेतवश्चत्वारो रसाः। तद्यथा—शृंगारो रौद्रो वीरो बीभत्स इति। अत्र—

यह रस संज्ञक स्थायिभाव माने जाते हैं। अब हम इन रसों की उत्पत्ति, वर्ण, देवता एवं उदाहरणों की व्याख्या करेंगे। इन रसों की उत्पत्ति के चार हेतु हैं। यथा—शृंगार, रौद्र, वीर एवं वीभत्स। यहाँ श्लोक इस प्रकार है—

मूल रसों से अन्य रसों की उत्पत्ति—

शृंगाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्वीभत्साच्च भयानकः॥ ३९॥

शृंगार से हास्य की, रौद्र से करुण की, वीर से अद्भुत की एवं वीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति होती[1]॥ ३९॥

शृंगारानुकृतिर्या तु स हास्यस्तु प्रकीर्तितः।
रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः॥ ४०॥
वीरस्यापि च यत्कर्म सोऽद्भुतः परिकीर्तितः।
बीभत्सदर्शनं यच्च ज्ञेयः स तु भयानकः॥ ४१॥

व्यापारः] इसी से व्यक्ति को विभावादि की प्रतीति होती है। काव्यगत उद्भावना में कवि सामाजिकवत् होता है; जैसा कि ध्वन्यालोककार का भी कहना है—'शृङ्गारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्' [ध्व. ३.४२] बीजरूपी इसी रस से वृक्षरूपी काव्य होता है। इसमें अभिनयादि पुष्परूपी एवं रस का आस्वादन फलरूपी होता है।

दूसरे व्याख्याताओं के अनुसार बीजरूपी भाव होता है जिससे वृक्षरूपी रस की उत्पत्ति होती है एवं पुष्परूपी अभिनय द्वारा फलरूपी भोग मिलता है। यहाँ व्याख्या उचित नहीं है क्योंकि इसमें आदि एवं अन्त दोनों में भाव आता है जो असंगत है [एवं हि भावस्यैवोपक्रमपर्यवसानवर्तित्वमुक्तं स्यादित्यास्ता चैतत्]।

१. चार रस मुख्य बताए गए हैं जिनसे अन्य चार गौण रसों की उत्पत्ति का निर्देश किया गया है। इनका तात्पर्य यह है कि मुख्य रसों के विभावों द्वारा गौण रसों की उत्पत्ति होती है। किन्तु कभी कभी इसके अतिरिक्त विभावों से भी इन रसों की उत्पत्ति हो जाती है यथा वीर रस के विभाव से भी हास्य की उत्पत्ति हो जाती है। अतः उत्पत्ति का अर्थ यहां यह होगा कि हास्य शृंगार मूलक होता है, इत्यादि।

जो शृंगार को अनुकृति होती है उसे 'हास्य' कहा जाता है, रौद्र का कर्म करुण, वीर का अद्भुत तथा वीभत्स का कर्म भयानक रस जानना चाहिए[1] ॥ ४०-४१ ॥

रसों के वर्ण—

अथ वर्णाः—

श्यामो भवति शृङ्गारः सितो हास्यः प्रकीर्तितः ।
कपोतः करुणश्चैव रक्तो रौद्रः प्रकीर्तितः ॥ ४२ ॥
गौरो वीरस्तु विज्ञेयः कृष्णश्चैव भयानकः ।
नीलवर्णस्तु वीभत्सः पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः ॥ ४३ ॥

शृंगार रस का वर्ण श्याम, हास्य का श्वेत, करुण का कपोत सदृश, रौद्र का लाल, वीर का गौर, भयानक का काला, वीभत्स का नीला एवं अद्भुत रस का वर्ण पीला होता है[2] ॥ ४२-४३ ॥

रसों के देवता—

अथ दैवतानि—

शृङ्गारो विष्णुदेवत्यो हास्यः प्रमथदैवतः ।
रौद्रो रुद्राधिदैवत्यः करुणो यमदैवतः ॥ ४४ ॥
बीभत्सस्य महाकालः कालदेवो भयानकः ।
वीरो महेन्द्रदेवः स्यादद्भुतो ब्रह्मदैवतः ॥ ४५ ॥

शृंङ्गार रस के अधिष्ठातृ देवता विष्णु[3], हास्यरस के प्रमथगण, रौद्ररस के रुद्र देव, करुण के यम, वीभत्स के महाकाल, भयानक के काल, वीर के महेन्द्र एवं अद्भुतरस के ब्रह्मा हैं[4] ॥ ४४-४५ ॥

---

१. यहाँ शृङ्गारादि चार रसों को हास्यादि चार रसों का मूल कारण कहा गया है। यह मूल रस धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूपी पुरुषार्थ चतुष्टय से अतिक्रान्त होने के साथ साथ सौन्दर्यातिशय के भी जनक हैं।

२. अभिनवगुप्त के मत में इन रसों के वर्णों का उल्लेख उनकी पूजा आदि के अवसर पर उपयोगी हैं [वर्णाभिधानं पूजादौ ध्यान उपयोगि]। किन्तु कुछ आचार्यों का मत है कि पात्रों के मुख की सज्जा करने में इन वर्णों का उपयोग होता है।

यहाँ शान्तरस का उल्लेख नहीं है। अतः शान्तरस की सत्ता मानने वाले "स्वच्छपीतौ शमाद्भुतो" यह मूल पाठ मानकर शान्तरस का वर्ण स्वच्छ मानते हैं।

३. अभिनवगुप्त के मत में विष्णु से यहाँ कामदेव का तात्पर्य है।

४. अभिनवगुप्त का कथन है कि जो आचार्य शान्तरस को मान्यता देते हैं वे यहाँ "बुद्धशान्तेऽब्जजोऽद्भुते" यह पाठ मानकर परोपकारी एवं ज्ञानी बुद्ध भगवान् को शान्त रस का अधिष्ठातृ देवता स्वीकार करते हैं।

उपक्रम—

एवमेतेषां रसानामुत्पत्तिवर्णदैवतान्यभिव्याख्यातानि। इदानीमनुभावविभावव्यभिचारिसंयुक्तानां लक्षणनिदर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः। स्थायिभावांश्च रसत्वमुपनेष्यामः।

इस प्रकार इन रसों की उत्पत्ति, वर्ण एवं अधिष्ठातृ देवताओं की व्याख्या की गयी। अब हम विभाव, अनुभाव, एवं व्यभिचारि भाव से संयुक्त होने पर इनके लक्षण तथा उदाहरणों की व्याख्या करेंगे। तथा रसों के स्थायी भावों का भी वर्णन करेंगे।

अथ शृङ्गाररसप्रकरणम्

शृङ्गार रस का लक्षण—

तत्र शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभवः। उज्ज्वलवेषात्मकः। यत्किञ्चिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारेणोपमीयते। यस्तावदुज्ज्वलवेषः स शृङ्गारवानित्युच्यते। यथा च गोत्रकुलाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि पुंसां नामानि भवन्ति तथैवैषां रसानां भावानां च नाटचाश्रितानां चार्थानामाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि नामानि। एवमेष आचारसिद्धो हृद्योज्ज्वलवेषात्मकत्वाच्छृङ्गारो रसः। स च स्त्रीपुरुषहेतुक उत्तमयुवप्रकृतिः।

इनमें शृङ्गार रस रति नामक स्थायिभाव से उत्पन्न होता है। यह उज्ज्वल स्वरूप वाला होता है। संसार में जो कुछ पवित्र है, पूजनीय है, शुभ्र है तथा दर्शनीय है उसकी उपमा शृङ्गार द्वारा दी जाती है। यथा उज्ज्वल वेशधारी व्यक्ति को शृंगारवान् कहा जाता है। जिस प्रकार लोगों के नाम गोत्र, कुल एवं आचार के अनुसार तथा आप्तपुरुष के कथन पर आधारित होते हैं, उसी प्रकार इन रसों, भावों एवं नाट्याश्रित अर्थों के नाम व्यवहार तथा आप्त पुरुषों के उपदेश पर आधारित होते हैं। इस भाँति शृंगार रस अनेक आचारयुक्त, चित्तरञ्जक एवं उज्ज्वल वेष से सम्पन्न होता है। उत्तम प्रकृति वाले नायक एवं नायिका इस शृंगार रस के हेतु होते हैं।

शृंगार रस के दो भेद—

[क] सम्भोग शृङ्गार—

तस्य द्वे अधिष्ठाने सम्भोगो विप्रलम्भश्च। तत्र सम्भोगस्तावत् ऋतुमाल्यानुलेपनालंकारेष्टजन - विषयवरभवनोपभोगोपवनगमनानुभवन-श्रवणदर्शनक्रीडालीलादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।

इसके दो अधिष्ठान[1] हैं—संयोग एवं विप्रलम्भ। इनमें सम्भोग श्रृंगार, ऋतु, पुष्पमाला, सुगन्धित अंगराग, अलंकार, इष्ट जन, विषय, सुन्दर भवन का उपभोग, उपवन में विहार, अनुभव अथवा श्रवण दर्शन, क्रीडा एवं लीलादि से उत्पन्न होता है।

तस्य नयनचातुर्यभ्रूक्षेपकटाक्षसञ्चारललितमधुराङ्गहारवाक्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिणश्चास्यालस्यौग्र्यजुगुप्सावर्ज्याः।

इस [संभोग श्रृङ्गार] का अभिनय, नेत्रों के चातुर्य से, भ्रू विक्षेप से, कटाक्ष से, ललित मधुर अङ्गहारों से एवं प्रिय वाक्यों आदि से किया जाता है।

इस [श्रृङ्गार रस] के व्यभिचारीभाव आलस्य उग्रता एवं जुगुप्सा को छोड़कर शेष होते हैं।[2]

[ख] विप्रलम्भ श्रृङ्गार—

विप्रलम्भकृतस्तु निर्वेदग्लानिशंकासूयाश्रमचिन्तौत्सुक्यनिद्रास्वप्नविबोधव्याध्युन्मादापस्मारजाड्य[मोह]मरणादिभिरनुभावैरभिनेतव्यः।

विप्रलम्भ श्रृङ्गार का अभिनय निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, चिन्ता, औत्सुक्य, निद्रा, स्वप्न, विबोध, व्याधि, उन्माद, अपस्मार, जाड्य (मोह) एवं मरण[3] आदि अनुभावों द्वारा होता है।

---

१. यहाँ अधिष्ठान का अर्थ अभिनव ने अवस्था लिया है।

२. इसका तात्पर्य यह है कि कुल व्यभिचारी भावों की संख्या तैंतीस बतायी गयी है। इनमें से उल्लिखित तीन को छोड़कर शेष तीसों व्यभिचारी भाव श्रृंगार रस में होते हैं।

३. प्राचीन आचार्यों के अनुसार मृत्यु का प्रदर्शन करना चाहिए। अभिनव के मत में जीवन की इस कुत्सित अवस्था में रति भी असम्बद्ध हो जाती है क्योंकि इसका उपयोग देह द्वारा ही होता है। अतः मरण की सम्भावना का या जिसमें शीघ्र पुनर्मिलन हो ऐसे मरण का वर्णन करना चाहिए नहीं तो शोक की अवतारणा हो जायेगी [तादृश्यां दशायां स्वजीवितनिन्दात्मिकायां तद्देहोपभोगसाररत्यात्मकावस्थाबन्धोऽपि विच्छिद्यत एवेति सम्भव एव। मरणमचिरकालप्रत्यापत्तिमयमत्र मन्तव्यम्। येन शोकोऽवस्थानमेव न लभते]। अभिनव ने ऐसे भी व्याख्याकारों का उल्लेख किया है जिनके अनुसार मरण से जीवन की समाप्ति का अभिप्राय न होकर प्राणत्याग कर्तृत्वरूप चैतन्यावस्था का ही ग्रहण किया जाना चाहिए [अन्ये त्वाहुः—मरणमिति न जीवितवियोग उच्यते। अपि तु चैतन्यावस्थैव प्राणत्यागकर्तृतात्मिका]।

श्रृंगार और करुण में भेद—

अत्राह—यद्ययं रतिप्रभवः श्रृङ्गारः, कथमस्य करुणाश्रयिणो भावा भवन्ति ? अत्रोच्यते—पूर्वमेवाभिहितं सम्भोगविप्रलम्भकृतः श्रृङ्गार इति। वैशिकशास्त्रकारैश्च दशावस्थोऽभिहितः। ताश्च सामान्याभिनये वक्ष्यामः।

यहाँ शंका उठती है कि यदि श्रृंगार रति से उत्पन्न होता है तो इसमें करुण रसाश्रयी भाव क्यों होते हैं ? इसका उत्तर यह है कि श्रृङ्गार के संयोग एवं विप्रलम्भ यह दो भेद होते हैं। कामशास्त्र के शास्त्रकारों ने भी काम की दस दशाओं का उल्लेख किया है[1]। इनके विषय में हम सामान्याभिनय के प्रसंग में बतायेंगे।

करुणस्तु शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविभवनाशवधबन्धसमुत्थो निरपेक्षभावः। औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः सापेक्षभावो विप्रलम्भकृतः।

करुण रस में शाप एवं क्लेश में पड़े हुए इष्ट जन, विभवनाश, वध और बन्धन आदि से उत्पन्न होता है तथा निरपेक्षभाव वाला[2] होता है। विप्रलम्भ में उत्सुकता एवं चिन्ता से उत्पन्न सापेक्षभाव [आशामुक्तभाव वाला] रहता है।

एवमन्यः करुणोऽन्यश्च विप्रलम्भ इति। एवमेष सर्वभावसंयुक्तः श्रृंगारो भवति।

इस भाँति करुण रस की अलग सत्ता है और विप्रलम्भ की अलग। इस प्रकार यह श्रृंगार रस सभी भावों[3] से युक्त होता है।

श्रृंगार रस की व्याख्या—

अपि च

सुखप्रायेषु सम्पन्नः ऋतुमाल्यादिसेवकः।
पुरुषः प्रमदायुक्तः श्रृङ्गार इति संज्ञितः॥ ४६॥

---

१. कामशास्त्र में वर्णित दस दशायें यह हैं—१. नयनप्रीति, २. चित्तासंग, ३. संकल्प, ४. निद्राछेद, ५. तनुता, ६. विषयनिवृत्तिः, ७. त्रपानाश, ८. उन्माद, ९. मूर्च्छा और १० मरण।

२. करुण रस को निरपेक्ष भावयुक्त कहने से करुण एवं विप्रलम्भ श्रृङ्गार का भेद स्पष्ट हो जाता है। करुण के निरपेक्ष होने का तात्पर्य यह है कि श्रृङ्गार में इष्टजनादि के विषय में जो पुनर्मिलनादि की आशा रहती है वह करुण में नहीं रहती। अर्थात् श्रृङ्गार रस सापेक्ष भावयुक्त रहता है पर करुण निरपेक्ष भाव या नैराश्य प्रधान भाव होता है।

३. सभी भावों से ३० भावों का तात्पर्य है क्योंकि आलस्य, उग्रता एवं जुगुप्सा इन तीन भावों का पहले ही बहिष्कार कर दिया गया है।

जो रस सुखमय इष्ट से युक्त हो। ऋतुमाला इत्यादि [उद्दीपन पदार्थों] द्वारा रंजन करता हो, स्त्री एवं पुरुष से युक्त हो उसे शृंगार रस कहा जाता है[1] ॥ ४६ ॥

अपि चात्र सूत्रार्थानुविद्धे आर्ये भवतः—

ऋतुमाल्यालङ्कारैः प्रियजनगान्धर्वकाव्यसेवाभिः ।
उपवनगमनविहारैः शृङ्गाररसः समुद्भवति ॥ ४७ ॥

नयनवदनप्रसादैः स्मितमधुरवचोधृतिप्रमोदैश्च ।
मधुरैश्चाङ्गविहारैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥ ४८ ॥

॥ इति शृङ्गाररसप्रकरणम् ॥

——०——

इस विषय में सूत्रभूत दो आर्याएँ भी हैं—

ऋतु, माला, अलंकार, प्रियजन, गायन[2], काव्य के सेवन, उपवन में जाने एवं विहारादि से शृंगार रस की उद्भावना होती है। नेत्र एवं मुख की प्रसन्नता से, मुस्कराहट, मधुरवाणी, धृति, प्रमोद एवं ललित अंग संचालन से उस [शृंगार] का अभिनय प्रयुक्त करना चाहिए ॥ ४७-४८ ॥

॥ इति शृङ्गाररसप्रकरणम् ॥

---

१. आचार्य अभिनवगुप्त का मत है कि भोक्ता ही स्थायीभाव वा संविद् स्वरूप [आस्वाद करने वाला] होता है [भोक्तैव च स्थायी संविद्रूपः]। और यह भोक्ता पुरुष होता है क्योंकि भोक्तृत्व में पुरुष की प्रधानता होती है, स्त्री तो भोग्या मात्र होती है [भोक्तृत्वे पुरुषस्य प्राधान्यं, प्रमदायास्तु भोग्यत्वम्]। प्रधान होने से भोक्ता-पुरुष भोग्या स्त्री के अधीन नहीं होता। अतः अन्य स्त्रियों से पुरुष के सम्बन्ध रहने पर भी शृंगार रस की हानि नहीं होती पर स्त्री के परतन्त्र होने के कारण अन्य पुरुषों से उसका सम्बन्ध रहने पर शृंगार रस का भंग हो जाता है। इस प्रकार कुल मिलाकर स्थायिभाव में भेद होने की शंका निर्मूल है [अतएव न स्थायिभेदः शंकनीयः]। श्लोक में उल्लिखित "सुखप्रायेष्ट" आदि पुरुष के विशेषण हैं जिनसे यह दिखाया गया है कि सबको मिलाकर शृंगार रस होता है। विभावादि के भोक्ता में समाहित होने से भोक्ता का प्राधान्य भी दिखाया गया है।

२. गान्धर्व का अर्थ गायन अभिनवगुप्त को मान्य है [गान्धर्व शब्दो गीतादिहृद्यविषयोपलक्षणम्]।

अथ हस्यरसप्रकरणम्

हास्य रस —

अथ हास्यो नाम हासस्थायिभावात्मकः। स च विकृतपरवेषालङ्कारधार्ष्ट्यलौल्यकुहकासत्प्रलापव्यङ्गदर्शन दोषोदाहरणादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्योष्ठनासाकपोलस्पन्दनदृष्टिव्याकोशाकुञ्चनस्वेदास्यरागपार्श्वग्रहणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिणश्चास्यावहित्थालस्यतन्द्रानिद्रास्वप्नप्रबोधासूयादयः।

"हास" नामक स्थायीभाव वाला हास्य रस होता है। यह हास्य रस किसी दूसरे व्यक्ति के विकृत वेष, अलंकार, धृष्टता लालचीपन, कुहक[1] [कुक्षि या ग्रीवादि के स्पर्श], वृथा संवाद, अंग-राहित्य[2] एवं दुर्गुणों के दर्शन आदि विभावों द्वारा उत्पन्न किया जाता है।

इस [हास्य रस] का अभिनय ओठ, नाक एवं गालों को फड़काने, आँखों को फाड़ने और सिकोड़ने, पसीना, मुख को लाल करने, पार्श्वों को दबाने[3], आदि अनुभावों के द्वारा किया जाना चाहिए। इसके व्यभिचारि भाव अवहित्था, आलस्य, तन्द्रा, निद्रा, स्वप्न, प्रबोध एवं असूया आदि हैं।

हास्य रस के दो प्रकार—

द्विविधश्चायमात्मस्थः परस्थश्च। यदा स्वयं हसति तदाऽऽत्मस्थः। यदा तु परं हासयति तदा परस्थः।

यह हास्य रस दो प्रकार का होता है—१. आत्मस्थ एवं २. परस्थ। जब व्यक्ति स्वयं हंसता है तो उसे आत्मस्थ हास्य कहते हैं और जब दूसरों को हँसाता

---

१. [कुहकं कक्षग्रीवादिस्पर्शनं विस्मापनविधिप्रसिद्धं बालानाम्"] यह अभिनवगुप्त का कथन है। बालकों को हंसाने के लिए उनके कांख व गले में गुदगुदाना 'कुहक' कहलता है।

२. यथा नकटापन, ओष्ठादि का कटा होना, लंगड़ापन आदि।

३. अभिनवगुप्त की व्याख्या [पार्श्वयोर्ग्रहणं पीडनम्" से] पार्श्वों को दबाने का बोध होता है पर आचार्य विश्वेश्वर के मत में इसका अर्थ 'पेट पकड़ना' है। श्री बाबूलाल शुक्ल ने इसका अनुवाद 'बगली झाँकना' किया है जोकि उचित नहीं लगता; क्योंकि हास्य में बगलें झाँकने की कोई संगति नहीं है। पेट पकड़ना एवं पार्श्व दबाना लगभग समानार्थक हैं क्योंकि हास्य के आधिक्य में प्रायः पसलियों के नीचे पेट के दोनों पार्श्व हाथों से दबाकर हास्य के आवेग को सहन किया जाता है'

है तो परस्थ हास्य कहा जाता है ।[1]

अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः—

विपरीतालङ्कारैर्विकृताचाराभिधानवेषैश्च ।
विकृतैरर्थविशेषैर्हसतीति रसः स्मृतो हास्यः ।। ४९ ।।

इस विषय में दो परम्परागत आर्या प्राप्त हैं—

विपरीत [स्थान पर धारण किए गए] अलंकारों, विकृत आचार, नाम तथा परिधानों एवं विकृत अर्थविशेषण के द्वारा जो हँसाता है वह हास्य रस [आत्मस्थ] होता है ।। ४९ ।।

विकृताचारैर्वाक्यैरङ्गविकारैश्च विकृतवेषैश्च ।
हासयति जनं यस्मात्तस्माज्ज्ञेयो रसो हास्यः ।। ५० ।।

विकृत आचार एवं वाक्यों से अङ्गविकारों से, विकृतवेष से जो दूसरों को हँसाता है वह हास्यरस [परस्थ] होता है ।। ५० ।।

हास्य रस के छः भेद—

स्त्रीनीचप्रकृतावेष भूयिष्ठं दृश्यते रसः ।
षड्भेदाश्चास्य विज्ञेयास्तांश्च वक्ष्याम्यहं पुनः ।। ५१ ।।

यह हास्य रस स्त्री एवं नीच प्रकृति के पुरुषों में अधिक पाया जाता है । इसके छः भेद होते हैं जिन्हें मैं आगे पुनः कहूँगा ।। ५१ ।।

हास्य की तीन प्रकृतियाँ—

१. उत्तम, २. मध्यम, और ३. अधम

स्मितमथ हसितं विहसितमुपहसितं चापहसितमतिहसितम् ।
द्वौ द्वौ भेदौ स्यातामुत्तममध्याधमप्रकृतौ ।। ५२ ।।

१. स्मित, २. हसित, ३. विहसित, ४. उपहसित, ५. अपहसित एवं ६. अति-

---

१. अभिनवगुप्त ने शंकुक की इस मान्यता का खण्डन किया है कि अपने विकृत वेष से विदूषक का हँसना आत्मस्थ तथा देवी को हँसाना परस्थ हास्य है । साथ ही उन्हें यह भी मान्य नहीं कि स्वयं जिसमें विभाव है वह हास्य आत्मस्थ व दूसरा जिसमें विभाव हो वह परस्थ हास्य है [तद्विभाव आत्मस्थः, अतोऽन्यविभावकस्त्वन्यः इत्यप्सत् ।] अभिनव की धारणा है कि स्वयं विभावों का दर्शन न करने पर भी दूसरों को देखकर हँसना परस्थ हास्य है [यह संक्रमण उसी भाँति होता है जैसे खट्टे पदार्थ को खाने वाले के दर्शनमात्र से दूसरे व्यक्ति के मुँह में भी पानी आ जाता है] इसके विपरीत जो हास स्वगतरूप है वह आत्मस्थ है ।

हसित[1] हास्यों में से दो दो भेद उत्तम, मध्यम एवं अधम प्रकृति के लोगों में पाए जाते हैं ॥ ५२ ॥

तत्र

स्मितहसिते ज्येष्ठानां मध्यानां विहसितोपहसिते च ।
अधमानामपहसितं ह्यतिहसितं चापि विज्ञेयम् ॥ ५३ ॥

उत्तम जन के [हास्य को] स्मित एवं हसित, मध्यम जन के [हास्य को] विहसित तथा उपहसित, तथा अधमजन के [हास्य को] अपहसित एवं अतिहसित हास्य जानना चाहिए ॥ ५३ ॥

उत्तम प्रकृति गत हास्य—

[१. स्मित, २. हसित]

अत्र श्लोका :—

ईषद्विकसितैर्गण्डैः कटाक्षैः सौष्ठवान्वितैः ।
अलक्षितद्विजं धीरमुत्तमानां स्मितं भवेत् ॥ ५४ ॥
उत्फुल्लाननेत्रं तु गण्डैर्विकसितैरथ ।
किञ्चिल्लक्षितदन्तं च हसितं तद्विधीयते ॥ ५५ ॥

इस विषय में यह श्लोक है—

कुछ खिले हुए से गालों एवं नेत्रों के सुष्ठु कटाक्षों से युक्त एवं जिसमें दाँत दिखाई न पड़े एवं जो गम्भीर हो ऐसी स्मित उत्तम पुरुषों के होते है ।

हसित उसे कहते हैं जो विकसित मुख एवं नेत्रों से एवं खिले हुए गालों से युक्त होता है एवं जिसमें थोड़े थोड़े दाँत दिखाई पड़ते हैं ॥ ५४-५५ ॥

मध्यम प्रकृतिगत हास्य—

[१. विहसित, २. उपहसित]

अथ मध्यमानाम् :—

आकुञ्चिताक्षिगण्डं यत्सस्वनं मधुरं तथा ।
कालागतं सास्यरागं तद्वै विहसितं भवेत् ॥ ५६ ॥
उत्फुल्लनासिकं यत्तु जिह्मदृष्टिनिरीक्षितम् ।
निकुञ्चिताङ्गकशिरस्तच्चोपहसितं भवेत् ॥ ५७ ॥

---

१. हास्य की मन्दता स्मित बढ़ने पर हसित, और अधिक बढ़ने पर विहसित, तथा इनसे भी अधिक बढ़ने पर दूसरों के समीपगत होने पर उपहसित एवं इसी क्रम से अपहसित एवं अतिहसित हास्य कही जाती है ।

मध्यम पुरुषों के हास्य का लक्षण निम्न हैं—

जिसमें आँखे तथा गाल सिकुड़े हुए हों, तथा जो मधुर शब्दमय हो, समय के अनुकूल हो एवं जिसमें मुख लाल हो जाए उसे विहसित हास्य जानना चाहिए।

जिसमें नाक फूल जाए, टेढ़ी दृष्टि से देखा जाए[1] और अङ्ग एवं सिर नीचे की ओर झुक जाए वह उपहसित हास्य होता है ॥ ५६-५७ ॥

अधम प्रकृतिगत हास्य—

[१. अपहसित, २. अतिहसित]

अथाधमानाम् :—

अस्थानहसितं यत्तु साश्रुनेत्रं तथैव च।
उत्कम्पितांसकशिरस्तच्चापहसितं भवेत् ॥ ५८ ॥

जब बिना अवसर के हंसा जाए[2], जब हास्य में आंखों में आसूँ आ जाए एवं कन्धा तथा सिर हिलने लगे तो उसे अपहसित हास्य कहा जाता है ॥ ५८ ॥

संरब्धं साश्रुनेत्रं च विकृष्टस्वरमुद्धतम्।
करोपगूढपार्श्वं च तच्चातिहसितं भवेत् ॥ ५९ ॥

अश्रुपूर्ण नेत्रों से युक्त, श्रवणकटु स्वरयुक्त, उद्धत एवं जिससे (वेग रोकने के लिए) हाथों से पसलियों को दबाना पड़े वह हास्य 'अतिहसित' होता ॥ ५९ ॥

हास्य रस का अभिनय—

हास्यस्थानानि यानि स्युः कार्योत्पन्नानि नाटके।
उत्तमाधममध्यानामेवं तानि प्रयोजयेत् ॥ ६० ॥

नाटक के कार्यवश जो हास्य के अवसर मिले उनमें उत्तम, मध्यम एवं अधम जन के अनुकूल हास्य के भेदों को प्रयुक्त करना चाहिए ॥ ६० ॥

हास्य रस का उपसंहार—

इत्येष स्वसमुत्थस्तथा परसमुत्थश्च विज्ञेयः।
द्विविधस्त्रिप्रकृतिगतस्त्र्यवस्थभावो रसो हास्यः ॥ ६१ ॥

॥ इति हास्यरसप्रकरणम् ॥

इस प्रकार यह हास्य स्वसमुत्थ एवं परसमुत्थ इन दो प्रकारों[3] का एवं तीन

---

१. जिह्म नामक दृष्टि जिसका ना. शा. के आठवें अध्याय में विश्लेषण किया गया है उसका प्रयोग करते हुए, अर्थात् तिरछा देखते हुए।

२. अभिनव के मत में अस्थान में हंसने का तात्पर्य है हास्य के अनुपयुक्त अवसर पर—यथा शोकादि के समय हंसना [अस्थान इत्यकाले शोकाद्यवसरे]।

३. हास्य के स्वसमुत्थ प्रकार से संक्रान्त न होने वाले त्रिविध हास्य [स्मित, हसित एवं विहसित] का बोध होता है तथा परसमुत्थ हास्य से संक्रान्त होने वाल

प्रकार की प्रकृति वाला तथा तीन अवस्थाओं वाला होता है ॥ ६१ ॥

अथ करुणरसप्रकरणम्

करुण रस का लक्षण, स्थायी भाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव—

अथ करुणो नाम शोकस्थायिभावप्रभवः। स च शापक्लेशविनिपतितेष्टजन-विप्रयोगविभवनाश-वधबन्धविद्रवोपघात-व्यसनसंयोगादिभिर्विभावैः समुपजायते। तस्याश्रुपातपरिदेवनमुखशोषणवैवर्ण्यस्रस्तगात्रतानिश्श्वासस्मृतिलोपादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेदग्लानिचिन्तौत्सुक्यावेगभ्रममोहश्रमभयविषाददैन्यव्याधिजडतोन्मादापस्मार-त्रासालस्यमरणस्तम्भवेपथुवैवर्ण्याश्रुस्वरभेदादयः।

शोक स्थायीभाव से उत्पन्न रस का नाम करुण है। वह शाप, क्लेश, दलित प्रियजन के वियोग, सम्पत्ति हानि, वध, बन्धन, विद्रव [देश निकाला], उपघात [चोट, आग आदि] या व्यसनों में लिप्त होने आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय आँसू गिराने, विलाप करने, मुख सूख जाने, रंग फीका पड़ने, अंगों के शिथिल हो जाने, ठंडी साँस भरने, स्मृति के लोप आदि अनुभावों द्वारा किया जाना चाहिए। निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, आवेग, भ्रम, मोह, श्रम, भय, विषाद, दैन्य, व्याधि, जड़ता, उन्माद, अपस्मार, त्रास, आलस्य, मरण, स्तम्भ, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु तथा स्वरभेद[1] इसके व्यभिचारी भाव हैं।

आर्याछन्द में करुण रस का लक्षण, विभाव, अनुभाव—

अत्रार्ये भवत :—

> इष्टवधदर्शनाद्वा विप्रियवचनस्य संश्रवाद्वापि।
> एभिर्भावविशेषैः करुणरसो नाम संभवति ॥ ६२ ॥

इस विषय में आर्यायें इस प्रकार हैं—

प्रियजन का वध देखने से अथवा अप्रिय वचन सुनने से तथा ऐसे ही भावों से

तीन प्रकार के [उपहसित, अपहसित एवं अतिहसित] का बोध होता है। जैसा कि आचार्य अभिनवगुप्त ने स्पष्ट किया है [स्वसमुत्थ इत्यसंक्रान्त स्मितविहसितापहसितलक्षः। परसमुत्थः संक्रान्तो हसितोपहसितातिहसितस्वरूपः]।

१. वैवर्ण्य, अश्रु तथा स्वरभेद की गणना सात्त्विक भावों में की जा चुकी है किन्तु यहाँ वे व्यभिचारी भावों में गिने गये हैं। किन्तु इससे पुनरुक्ति दोष नही आता; क्योंकि यह सात्त्विक चित्तवृत्तिरूप ही है किन्तु बाहर से प्रकाशित होने के कारण [बहिरुद्भिन्नस्वभावश्चित्तवृत्यात्मनो गृह्यन्ते ... तेन न पौनरुक्त्यम्] इनका अनुभावरूप में ग्रहण किया है जैसे कि लोग कहते हैं—इसका गला भर आया है पर आँखें आँसू से सूनी हैं।

करुण रस उत्पन्न होता है ॥ ६२ ॥

सस्वनरुदितैर्मोहागमैश्च परिदेवितैर्विलपितैश्च ।
अभिनेयः करुणरसो देहायासाभिघातैश्च ॥ ६३ ॥
॥ इति करुणरसप्रकरणम् ॥

फूट-फूट कर रोने, मूर्च्छा, पश्चात्ताप, विलाप, देह पटकने एवं [छाती आदि] पीटने के द्वारा[1] करुण रस का अभिनय किया जाना चाहिये ॥ ६३ ॥

अथ रौद्ररसप्रकरणम्

रौद्ररस का लक्षण स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, संचारीभाव—

अथ रौद्रो नाम क्रोधस्थायिभावात्मको रक्षोदानवोद्धतमनुष्यप्रकृतिः संग्रामहेतुकः। स च क्रोधाधर्षणाधिक्षेपानृतवचनोपघातवाक्पारुष्याभिद्रोह-मात्सर्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य च ताडनपाटनपीडनच्छेदनभेदनप्रहरणा-हरणशस्त्रसम्पातसम्प्रहाररुधिराकर्षणाद्यानि कर्माणि। पुनश्च रक्तन-यन-भ्रुकुटीकरणदन्तोष्ठपीडनगण्डस्फुरणहस्ताग्रनिष्पेषादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

रौद्ररस का स्थायीभाव क्रोध है। यह राक्षस, दानव एवं उद्धत प्रकृति के मनुष्यों में युद्ध द्वारा होता है। यह क्रोध, बलपूर्वक खींचने, अधिक्षेप, झूठ बोलने, चोट लगने [उपघात], कठोर वचन, डाह, मात्सर्य, आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसके कार्य [अनुभाव] मारना, फाड़ना, दबाना, छेदना, प्रहार करना[2], शस्त्रपात, शस्त्र-प्रहार[3], खून निकालना आदि हैं। लाल आँखों से, भृकुटि चढ़ाने से, दाँतों व ओठों को दबाने से, गालों को फड़काने से तथा हथेलियों को मसलने आदि अनु-भावों से इसका अभिनय करना चाहिए।

---

१. अभिनवगुप्त का मत है कि यह सब अनुभाव पात्रों की उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति को ध्यान में रखते हुए प्रयुक्त किये जाने चाहिए।

२. आहरण—श्री विश्वेश्वर ने इसका अर्थ शस्त्रपातन [न काटने वाला] किया है। श्री बाबूलाल शास्त्री के अनुसार इसका अर्थ शस्त्रों का लाना है। अर्थात् यह दोनों इसे आगामी पद शस्त्र के साथ अन्वित करते हैं। किन्तु हमारे मत में ऐसा जबर्दस्ती अन्वय किये बिना ही इसका अर्थ 'बलात् उठाना' या 'घसीटना' मानना अधिक तर्कसंगत है।

३. अभिनव के मत में शस्त्रपात से ऐसे प्रहार का बोध होता है जिससे कट जाए व सम्प्रहार से न काटने वाले प्रहार का बोध होता है [शस्त्रस्य सम्पातनम-विदारयतोऽपि। सम्प्रहरणं विदारयतः पातनम्]।

भावाश्चास्यासम्मोहोत्साहावेगामर्षचपलतौग्र्यगर्वस्वेदवेपथुरोमाञ्चगद्-गदादयः।

इसके व्यभिचारिभाव असम्मोह, उत्साह, आवेग, अमर्ष, चपलता, गर्व, स्वेद, कम्पन, रोमांच एवं गद्गद स्वर आदि होते हैं।

अत्राह—यदभिहितं रक्षोदानवादीनां रौद्रो रसः। किमन्येषां नास्ति? उच्यते—अस्त्यन्येषामपि रौद्रो रसः। किन्त्वधिकारोऽत्र गृह्यते। ते हि स्वभावत एव रौद्राः। कस्मात्? बहुबाहवो बहुमुखाः प्रोद्धूतविकीर्ण-पिङ्गलशिरोजाः रक्तोद्वृत्तविलोचना भीमासितरूपिणश्चैव। यच्च किञ्चि-त्समारभन्ते स्वभावचेष्टितं वागङ्गादिकं तत्सर्वं रौद्रमेवैषाम्। शृङ्गारश्च तैः प्रायशः प्रसभं सेव्यते। तेषां चानुकारिणो ये पुरुषास्तेषामपि सङ्ग्रामसम्प्रहारकृतो रौद्रो रसोऽनुमन्तव्यः।

यहाँ शंका की जाती है कि—रौद्र रस यदि दानवादि में होता है तो क्या अन्य व्यक्तियों [मनुष्यों आदि] में नहीं होता? इसका उत्तर है कि इतर जन में भी रौद्र रस होता है। किन्तु यहाँ विशेषतया राक्षसादि को ही इसका अधिकारी माना गया है। इसका कारण यह है कि स्वभावतः वे रौद्रस्वरूप होते हैं क्योंकि वे अनेक बाहुओं वाले, अनेक मुख वाले तथा उड़ते बिखरे पीले केशों से युक्त एवं लाल लाल उद्धत आँखों वाले तथा विशाल एवं काले रंग के होते हैं। वे लोग वाचिक या आंगिक जो भी क्रिया साधारण रूप से भी करते हैं तो वह भी रौद्र ही होती है। अधिकतर वह शृङ्गार का प्रयोग भी बलपूर्वक ही करते हैं। उनके अनुकर्ता जनों में भी युद्ध तथा प्रहार आदि से रौद्ररस उत्पन्न होता है।

आर्या छन्द में रौद्र रस के विभाव अनुभाव—

अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः—

युद्धप्रहारघातनविकृतच्छेदनविदारणैश्चैव।
सङ्ग्रामसम्भ्रमाद्यैरेभिः सञ्जायते रौद्रः॥ ६४॥

एतद्विषयक यह दो परम्परागत आर्याएँ हैं—

युद्धप्रहार, मार डालने, अंगच्छेद करने, फाड़ देने तथा युद्ध के लिए शीघ्रता से शस्त्रादि ग्रहण करने आदि से रौद्ररस उत्पन्न होता है॥ ६४॥

नानाप्रहरणमोक्षैः शिरःकबन्धभुजकर्तनैश्चैव।
एभिश्चार्थविशेषैरस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः॥ ६५॥

विविध प्रकार के अस्त्र प्रहार, सिर, धड़, भुजा आदि के काटने एवं इसी प्रकार के विशेष कार्यों द्वारा रौद्ररस के अभिनय का प्रयोग करना चाहिए॥ ६५॥

इति रौद्ररसो दृष्टो रौद्रवागङ्गचेष्टितः ।
शस्त्रप्रहारभूयिष्ठ उग्रकर्मक्रियात्मकः ॥ ६६ ॥

॥ इति रौद्ररसप्रकरणम् ॥

इस प्रकार उग्र वाचिक एवं आङ्गिक चेष्टाओं से युक्त, शस्त्रप्रहार के आधिक्य से युक्त एवं भयानक कर्मों के सम्पादन से युक्त रौद्ररस देखा गया है ॥ ६६ ॥

अथ वीररसप्रकरणम्

वीर रस का लक्षण स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव, तथा सञ्चारीभाव—

अथ वीरो नामोत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मकः । स चासंमोहाध्यवसायनयविनयबलपराक्रमशक्तिप्रतापप्रभावादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । तस्यस्थैर्यधैर्यशौर्यत्यागवैशारद्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः । भावाश्चास्य धृतिमिति गर्वावेगौग्र्यामर्षस्मृतिरोमाञ्चादयः ।

वीर रस उत्तम-प्रकृति वाला, एवं उत्साहपूर्ण होता है[1] । मतिभ्रम न होने पर, अध्यवसाय, नीति, बल, पराक्रम, शक्ति, प्रताप प्रभाव आदि विभावों से यह उत्पन्न होता है । इसका अभिनय स्थिरता, धैर्य, शौर्य, त्याग, कुशलता आदि अनुभावों द्वारा करना चाहिए । इसके सञ्चारिभाव धृति, मति, गर्व, आवेग, उग्रता, अमर्ष, स्मृति, रोमाँच, आदि हैं ।

आर्याछन्द में वीर रस के स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव—

अत्रार्ये रसविचारमुखे—

उत्साहा[होऽ]ध्यवसायादविषादित्वादविस्मयामोहात् ।
विविधादर्थविशेषाद्वीररसो नाम सम्भवति ॥ ६७ ॥

एतद्विषयक दो परम्परागत आर्याएं इस प्रकार हैं—

उत्साह, परिश्रम, अम्लानता, विस्मयशून्यता एवं विविध प्रकार के विशेष अर्थों से वीररस उत्पन्न होता है ॥ ६७ ॥

स्थितिधैर्यवीर्यगर्वैरुत्साहपराक्रमप्रभावैश्च ।
वाक्यैश्चाक्षेपकृतैर्वीररसः सम्यगभिनेयः ॥ ६८ ॥

॥ इति वीररसप्रकरणम् ॥

——o——

स्थिरता, धैर्य, शौर्य, गर्व, उत्साह, पराक्रम, प्रभाव एवं आक्षेपपूर्ण कथन से वीररस का अभिनय किया जाना चाहिए ॥ ६८ ॥

---

१. उत्साह—उत्तमजन की प्रकृति होने के कारण उत्साह स्थायीभाव युक्त वीररस को भी उत्तम प्रकृति वाला माना जाता है [उत्तमानां प्रकृतिः स्वभावो यत् उत्साहोऽतो वीररसोऽपि तथा]।

अथ भयानकरसप्रकरणम्

भयानक रस का लक्षण, स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव, संचारीभाव—

अथ भयानको नाम भयस्थायिभावात्मकः। स च विकृतरवसत्त्वदर्शनशिवोलूकत्रासोद्वेगशून्यागारारण्यगमनस्वजनवधबन्धदर्शनश्रुतिकथादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य प्रवेपितकरचरणनयनचपलपुलकमुखवैवर्ण्यस्वरभेदादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

भय स्थायीभाव वाला भयानक रस होता है। यह विकृत शब्द[1], पिशाचों आदि के दर्शन, सियार, उल्लू आदि के त्रास से उत्पन्न उद्वेग के कारण, शून्य गृह या वन आदि में जाने से और प्रियजन के बध या बन्धन को देखने सुनने या चर्चा करने से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय कांपते हुए हाथ पैरों, नेत्रों की चंचलता, पुलकित होने से, मुँह फीका पड़ जाने से, आवाज बदले जाने आदि अनुभावों से किया जाना चाहिए।

भावाश्चास्य स्तम्भ-स्वेदगद्गद-रोमाञ्च-वेपथुस्वरभेदवैवर्ण्यशंकामोहदैन्यावेगचापलजडतात्रासापस्मारमरणादयः।

स्तम्भ, स्वेद, गद्गद होना, रोमाञ्च, कम्पन, स्वर भेद, रंग उड़ना, शंका, मोह दैन्य, आवेग, जड़ता, त्रास, अपस्मार तथा मरण आदि इसके व्यभिचारी भाव है।

आर्या छन्द में भयानक रस के विभाव, अनुभाव—

अत्रार्या:—

विकृतरवसत्त्वदर्शनसंग्रामारण्यशून्यगृहगमनात्।
गुरुनृपयोरपराधात्कृतकश्च भयानको ज्ञेयः॥ ६९॥

इस विषय में यह आर्याएँ हैं—

विकृत स्वर, प्रेतादि का दर्शन, युद्ध, वन या सुनसान घर में गमन तथा गुरु एवं राजा के प्रति अपराध हो जाने से बनावटी भयानक रस[2] उत्पन्न होता है॥ ६९॥

---

१. अभिनवगुप्त के अनुसार यह विकट रव अट्टहासादि का होता है (विकृतो रवोऽट्टहासादिः)।

२. अभिनवगुप्त का कथन है कि ऐसी परिस्थिति में पड़ने पर लोक में व्यक्ति इस प्रकार सुसंगत रूप से व्यवहार करता है कि गुरु आदि को प्रतीत होता है कि सचमुच ही डर रहा है। अस्वाभाविक होने से इसे कृतक कहा गया है। काफी समय तक रहने एवं आस्वादन के योग्य होने से उस भय को रस कहा गया है।

गात्रमुखदृष्टिभेदैरूरुस्तम्भाभिवीक्षणोद्वेगैः ।
सन्नमुखशोषहृदयस्पन्दनरोमोद्गमैश्च भयम् ॥ ७० ॥

अङ्गों, मुख एवं नेत्रों के परिवर्तन से, जाँघों के स्तभित हो जाने से, चतुर्दिक देखने से, उद्विग्न होने से, मुँह के झुक जाने एवं सूख जाने से, हृदय के धड़कने तथा रोमांच के द्वारा भय का अभिनय किया जाता है ॥ ७० ॥

एतत्स्वभावजं स्यात्सत्त्वसमुत्थं तथैव कर्त्तव्यम् ।
पुनरेभिरेव भावैः कृतकं मृदुचेष्टितैः कार्यम् ॥ ७१ ॥

स्वाभाविक भय इस प्रकार का होता है। पिशाचादि के देखने से उत्पन्न भय का भी अभिनय करना चाहिए। पुनः इन्हीं भावों से बनावटी भय प्रदर्शित करना चाहिए। किन्तु उसकी चेष्टाएँ मृदु होनी चाहिए ॥ ७१ ॥

करचरणवेपथुस्तम्भगात्रहृदयप्रकम्पेन ।
शुष्कोष्ठतालुकण्ठैर्भयानको नित्यमभिनेयः ॥ ७२ ॥

॥ इति भयानकरसप्रकरणम् ॥

हस्तपाद के कम्पन, शरीर के प्रकम्पन, ओठ, तालु एवं कण्ठ की शुष्कता द्वारा इसका अभिनय किया जाना चाहिए ॥ ७२ ॥

अथ बीभत्सरसप्रकरणम्

बीभत्स रस का लक्षण, स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव, संचारीभाव—

अथ बीभत्सो नामजुगुप्सास्थायिभावात्मकः। स चाहृद्याप्रियाचोष्यानिष्टश्रवणादर्शनकीर्तनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य सर्वाङ्गसंहारमुखविकूणनोल्लेखननिष्ठीवनोद्वेजनादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। भावाश्चास्यापस्मारोद्वेगावेगमोहव्याधिमरणादयः।

इस (भयानक रस) के पश्चात् (जुगुप्सा) स्थायीभाव वाला बीभत्स रस होता है। क्लेशदायी, अप्रिय एवं अनिष्ट पदार्थ को देखने, सुनने एवं कहने आदि विभावों से इसकी उत्पत्ति होती है। समस्त अङ्गों को संकुचित करने, मुँह सिकोड़ने, उबकाई लेने (उल्लेखन)[1] थूकने (निष्ठीवन) एवं शरीर को ताड़ित करने (उद्वेजक) आदि विभावों से उसका अभिनय करना चाहिए। अपस्मार, उद्वेग, आवेग, मोह, व्याधि एवं मरणादि इसके व्याभिचारी भाव होते हैं।

आर्या छन्द में बीभत्स रस के विभाव, अनुभाव—

अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः—

अनभिमतदर्शनेन च गन्धरसस्पर्शशब्ददोषैश्च ।
उद्वेजनैश्च बहुभिर्बीभत्सरसः समुद्भवति ॥ ७३ ॥

---

१. उल्लेखन—"उल्लेखनमुल्लाघः" यह अभिनवगुप्त की व्याख्या है। तदनुसार इस शब्द का तात्पर्य वमनेच्छा या उबकाई मानना उपयुक्त प्रतीत होता है।

एतद्विषयक दो आर्याएँ इस प्रकार प्रचलित हैं—

अवाञ्छित वस्तु के दर्शन, गन्ध, रस, स्पर्श एवं शब्द के दोषों से तथा अनेक प्रकार के उत्तेजित करने वाले पदार्थों से बीभत्स रस की उत्पत्ति होती है ॥ ७३ ॥

मुखनेत्रविकूणनया नासाप्रच्छादनावनमितास्यैः ।
अव्यक्तपादपतनैर्बीभत्सः सम्यगभिनेयः ॥ ७४ ॥

॥ इति बीभत्सरसप्रकरणम् ॥

—*—

मुख एवं नेत्रों को घुमाने, नाक को ढँक लेने, सिर को झुका कर एवं लड़खड़ाते हुए कदमों से[1] बीभत्स रस का अभिनय किया जाना चाहिए ॥ ७४ ॥

अथ अद्भुतरसप्रकरणम्

अद्भुत रस का लक्षण स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव—

अथाद्भुतो नाम विस्मयस्थायिभावात्मकः। स च दिव्यजनदर्शनेप्सितमनोरथावाप्त्युपवनदेवकुलादिगमनसभाविमानमायेन्द्रजालसम्भावनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य नयनविस्तारानिमिषप्रेक्षणरोमाञ्चाश्रुस्वेदहर्षसाधुवाददानप्रबन्धहाहाकारबाहुवदनचेलाङ्गुलिभ्रमणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। भावाश्चास्य स्तम्भाश्रुस्वेदगद्गदरोमाञ्चावेगसम्भ्रमजडताप्रलयादयः ।

विस्मय स्थायीभाव वाला रस अद्भुत रस होता है। दिव्यजनों के दर्शन, इच्छित मनोकामना की प्राप्ति, उपवन देवमन्दिर आदि में जाने, सभा, विमान, माया तथा इन्द्रजाल आदि की अवतारणा आदि विभावों से यह उत्पन्न होता है। आँखें फैलाने, अनिमेष देखने' रोमांच, अश्रु, स्वेद, हर्ष, साधुवाद, दान, हा हा ध्वनिपूर्वक चिल्लाने[2] बाहु, मुख, वस्त्र या अंगुली को घुमाने आदि अनुभावों द्वारा

---

१. अभिनवगुप्त के मत में अव्यक्तपादपतन का तात्पर्य है परस्पर टकराते, उठते गिरते पैरों का पकड़ना या हड्डी एवं कंकालों से युक्त श्मशान में विचरण करते हुए व्यक्ति का कहीं छोटे एवं कहीं बड़े डग भरना (प्रतिघातादव्यक्तानि पादयोः पतनानि। यदि वाऽस्थिकंकालाद्याकुले पितृवने सञ्चरतोऽस्फुटितानि पादपतनानि क्वचिद्दीर्घाणि अन्यत्र ह्रस्वानि इति)।

२. यों तो प्रसन्नता एवं दुःख दोनों में हाहाकार किया जाता है किन्तु यहाँ अद्भुत वस्तु के दर्शन से चकित मन द्वारा किया गया हाहा शब्द अभीष्ट मानना चाहिए।

इसका प्रयोग किया जाना चाहिए। स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, आवेग; सम्भ्रम, प्रहर्ष, चपलता, उन्माद, धृति, जड़ता, मूर्च्छा आदि इसके व्याभिचारी भाव हैं।

आर्याछन्द में अद्भुत रस के विभाव, अनुभाव—

अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः—

यत्त्वतिशयार्थयुक्तं वाक्यं शिल्पं च कर्मरूपं वा।
तत्सर्वमद्भुतरसे विभावरूपं हि विज्ञेयम् ॥ ७५ ॥

इसके विषय में दो आर्याएं प्रचलित हैं—

अतिशयता से युक्त जो भी वाणी, शिल्प क्रिया अथवा कर्मरूप हो उन सभी को अद्भुत रस में विभाव स्थानीय जानना चाहिए ॥ ७५ ॥

स्पर्शग्रहोल्लुकसनैर्हाहाकारैश्च साधुवादैश्च।
वेपथुगद्गदवचनैः स्वेदाद्यैरभिनयस्तस्य ॥ ७६ ॥

स्पर्श[1], ग्रहण, शरीर को ऊपर उछालने, हाहा शब्द करने, साधुवाद, कम्प, गद्गद वाणी एवं स्वेदादि के द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए[2] ॥ ७६ ॥

शृंगार हास्य तथा रौद्र रस के तीन प्रकार—

शृङ्गारं त्रिविधं विद्याद्वाङ्नैपथ्यक्रियात्मकम्।
अङ्गनैपथ्यवाक्यैश्च हास्यरौद्रौ त्रिधा स्मृतौ ॥ ७७ ॥

वाणी, नेपथ्य एवं क्रिया भेद से शृंगार रस के तीन भेद होते हैं। अङ्ग, नेपथ्य एवं वाक्य के भेद से हास्य तथा रौद्ररस के भी तीन प्रकार होते हैं ॥ ७७ ॥

करुण रस के तीन प्रकार—

धर्मोपघातजश्चैव तथार्थापचयोद्भवः।
तथाशोककृतश्चैव करुणस्त्रिविधःस्मृतः ॥ ७८ ॥

धर्मोपघातज, असंचयोद्भव शोककृत के भेद से करुणरस के तीन प्रकार होते

---

१. स्पर्श का अभिनय आँखों को कुञ्चित करके भौहों को आक्षिप्त रखते हुए एवं गालों को कन्धे से सटाकर करना चाहिये।

किञ्चिदाकुञ्चिते नेत्रे कृत्वा भ्रूक्षेपमेव च।
तथांसगण्डयोः स्पर्शात् स्पर्शमेवं विनिर्दिशेत् ॥ (ना. शा. २४.८३)

२. अभिनवगुप्त के कथनानुसार इस सम्पूर्ण आर्या में बहुवचन के प्रयोग द्वारा विभिन्न पुरुषों की प्रकृतिगत भिन्नता को प्रदर्शित किया गया है।

है[1] ॥ ७८ ॥

वीर रस के तीन प्रकार—

दानवीरं धर्मवीरं युद्धवीरं तथैव च।
रसं वीरमपि प्राह ब्रह्मा त्रिविधमेव हि ॥ ७९ ॥

ब्रह्मा ने वीर रस के तीन भेद बताए हैं—दानवीर, धर्मवीर एवं युद्धवीर ॥ ७९ ॥

भयानक रस के तीन प्रकार—

व्याजाच्चैवापराधाच्च वित्रासितकमेव च।
पुनर्भयानकञ्चैव विद्यात् त्रिविधमेव हि ॥ ८० ॥

कृत्रिम, अपराध एवं ज्ञान द्वारा उत्पन्न होने के आधार पर भयानक रस के तीन प्रकार होते हैं ॥ ८० ॥

बीभत्स रस के तीन प्रकार—

बीभत्सः क्षोभजः शुद्ध उद्वेगी स्यात् द्वितीयकः।
विष्ठाकृमिभिरुद्वेगी क्षोभजो रुधिरादिजः ॥ ८१ ॥

बीभत्स रस क्षोभज, शुद्ध तथा उद्वेगी के भेद से तीन प्रकार का होता है। विष्ठा एवं कीड़ों आदि के दर्शन उद्वेगी तथा रुधिरादि दर्शन से क्षोभज वीभत्स होता है[2] ॥ ८१ ॥

---

१. उत्तम जन में धर्मोपघातजकरुण की संभावना होती है। धर्महानि तो श्रेष्ठ नहीं होती पर उसका मूलभाव धर्मरक्षण होता है जो श्रेष्ठभाव होता है अतः धर्मोपधात की गणना उत्तम हेतुओं में की जा सकती है। धर्म से यहाँ अग्निहोत्रादि कार्यों का सम्पादन समझना चाहिए। शोक से स्वजननाश से उत्पन्न करुण समझना चाहिए।

२. रुधिरादि के दर्शन से उत्पन्न होने वाला बीभत्स रस क्षोभ से उत्पन्न होने के कारण क्षोभज एवं शुद्ध कहलाता है (रुधिरान्त्रादिदर्शनाद्यो वीभत्सः क्षोभणत्वाद्बुद्धः)। विष्ठादि के दर्शन से उत्पन्न होने वाला बीभत्स उद्वेगज होने से उद्वेगी कहा जाता है। अशुद्ध भावों से उत्पन्न होने के कारण इसे अशुद्ध कहते हैं। (यस्तु विष्ठादिभ्यः स उद्वेगी हृदयं चलयति सोऽशुद्धः। अशुद्धविभावकत्वात्) इस विषय में भट्टतौत इन दोनों वीभत्सों को अशुद्ध मानते हैं। जो राग द्वेष का विरोधी एवं मोक्ष का साधक हो उसे ही शुद्ध वीभत्स मानना चाहिए। बीभत्स

अद्भुत रस के दो प्रकार—

दिव्यश्चानन्दजश्चैव द्विधा ख्यातोऽद्भुतो रसः ।
दिव्यदर्शनजो दिव्यो हर्षादानन्दजः स्मृतः ॥ ८२ ॥

॥ इत्यद्भुतरसप्रकरणम् ॥

दिव्य एवं आनन्दज के भेद से अद्भुत रस के दो भेद प्रसिद्ध हैं। अलौकिक पदार्थ के दर्शन से 'दिव्य' एवं प्रसन्नता से उत्पन्न 'आनन्दज' अद्भुत रस माना जाता है ॥ ८२ ॥

अथ शान्तरसविचारः

शान्त रस के स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव—

[अथ शान्तो नाम शमस्थायीभावात्मको मोक्षप्रवर्तकः। स तु तत्त्वज्ञान-वैराग्याशयशुद्ध्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तस्य यमनियमाध्यात्मध्यान-धारणोपासनसर्वभूतदयालिङ्गग्रहणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेदस्मृतिधृतिसर्वाश्रमशौचस्तम्भरोमाञ्चादयः। आत्रार्याः श्लोकाश्च भवन्ति—

[शान्तरस¹ का स्थायी भाव 'शम' होता है तथा यह मोक्ष का प्रवर्तक होता है। यह तत्त्व के बोध, वैराग्य, चित्तशुद्धि आदि विभावों से उत्पन्न होता है। यम, नियम, आध्यात्म, ध्यान, धारणा, उपासना; समस्त प्राणियों पर दया, लिंग ग्रहण आदि अनुभावों द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए। निर्वेद, स्मृति, धृति, शौच, स्तम्भ, रोमांच आदि इसके व्यभिचारिभाव हैं।

का स्थायी भाव जुगुप्सा है जो योगांग होने से मोक्ष में उपयोगी है। शौच से सम्बन्ध होने से वीभत्स का स्थायीभाव जुगुप्सा भी मोक्ष साधन है। अतः उक्त दो भेदों के अलावा बीभत्स का यह तीसरा भेद भी हो जाता है। कारिका में जो 'द्वितीयकः' पद आया है इससे मोक्षोपयोगी वीभत्स की दुर्लभता होने से उसकी हीनता का संकेत किया गया है।

१. नव रस वादियों के मत में भरतमुनि ने भी नवम रस को स्वीकार करते हुए उसके लक्षण का प्रतिपादन किया है। शान्त रस की सत्ता न मानने वालों के मत में एक तो शम एवं शान्त शब्द पर्याय हैं। अतः इनमें से एक को स्थायी भाव व दूसरे को रस मानना ठीक नहीं है (शमशान्तयोः पर्यायत्वात्)। दूसरे भावों की संख्या उनचास मानी गयी है। शम को भाव मानने पर संख्या वृद्धि होने लगेगी (एकोनपञ्चाशद् भावा इति संख्या त्यागाच्च)। तीसरा तर्क यह है कि ऋतु माला आदि विभाव शृ-ार रस के कारण रूप प्रतीत होते हैं। किन्तु तप स्वाध्या-

यादि शान्त में कारणरूप नहीं प्रतीत होते (∴ तपोऽध्ययनादयस्तु न शान्तरूप शमस्य हेतवः)।

इस पूर्वपक्ष का उत्तर यह है कि मोक्ष भी चतुर्थ पुरुषार्थ के रूप में प्रसिद्ध है।

चौथी बात यह है कि किसी भी प्रकार की चेष्टा के अभाव का नाम शम है जिसका अभिनय असम्भव है। निद्रा एवं मूर्च्छा को व्यापारहीन माना जाता है किन्तु इसमें भी लेटने, गिरने या श्वास, प्रश्वास रूप चेष्टा तो रहती ही है। पाँचवीं युक्ति है कि शान्तरस में धृति को व्यभिचारिभाव माना गया है। पर धृति का जन्म तो विषयास्वादन के फलस्वरूप होता है तो उसकी शान्तरस में उपस्थिति तर्कसंगत नहीं। छठा तर्क यह है कि शान्तरस में व्यक्ति निस्पृह रहता है तो फिर मोक्षरूप फल की प्राप्ति हेतु उसका प्रयास भी सम्भव नहीं है। सातवाँ तर्क यह है कि यद्यपि शान्तरस को सुख-दुःख से परे माना जाता है पर ऐसा देखा जाता है कि शान्तरस के साधक तत्त्वज्ञान पा लेने पर भी दूसरों के दुःख से दुःखी होते हैं।

इन तर्कों के द्वारा शान्तरस की सत्ता को निर्मूल सिद्ध करने वाले पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए शान्तरसवादियों का कथन है कि धर्मादि पुरुषार्थत्रय के समकक्ष ही चौथे पुरुषार्थ मोक्ष की भी सत्ता है। जिस प्रकार काम आदि उपयुक्त रति आदि चित्तवृत्तियों से शृङ्गार आदि का रसास्वादन किया जाता है उसी प्रकार मोक्ष के उपयुक्त शम चित्तवृत्ति से शान्तरस का आस्वादन किया जाता है। यही शम रूप चित्तवृत्ति शान्तरस का स्थायी भाव है।

शान्त रस का स्थायिभाव तत्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद है (········· तत्वज्ञानोत्थितो निर्वेद इति केचित्)। भरतमुनि ने निर्वेद की गणना व्यभिचारिभावों में की है। पर उसे स्थायी भाव इस प्रकार मान सकते हैं कि भरतमुनि ने बीभत्स रस के स्थायीभाव जुगुप्सा के शृंगार में व्यभिचारीभाव में निषेध करते हुए समस्त स्थायीभावों का अपने रस में स्थायीभावत्व तथा अपने से भिन्न रसों में व्यभिचारिभावत्व स्वीकार करने की अनुमति दी है। यदि कोई भाव स्थायी है तो वही व्यभिचारी भी हो सकता है। अतः तत्त्वज्ञान से उत्पन्न होने वाला निर्वेद भी स्थायी एवं व्यभिचारी होकर भी शान्त रस का स्थायीभाव बन सकता है। अभिनव का मत है कि शान्तरस का स्थायी भाव निर्वेद नहीं (तस्मान्न निर्वेदः स्थायीति)।

प्रश्न उठता है फिर शान्तरस का स्थायी भाव कौन है (कस्तर्ह्यत्र स्थायी)? अभिनव का कथन है कि ज्ञान आनन्द आदि धर्मों से युक्त और परिकल्पित विषयोपभोग आदि से रहित आत्मा ही यहाँ स्थायी है (तेनात्मैव ज्ञानानन्दादि विशुद्ध

मोक्षाध्यात्मसमुत्थस्तत्त्वज्ञानार्थहेतुसंयुक्तः ।
नैःश्रेयसोपदिष्टः शान्तरसो नाम सम्भवति ॥

मोक्ष तथा आत्मा विषयक चिन्तन से उत्पन्न, तत्वज्ञान के विषयरूप हेतुओं से संयुक्त और मोक्ष का उपदेश देने वाला शान्तरस होता है।

बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियसंरोधाध्यात्मसंस्थितोपेतः ।
सर्वप्राणिसुखहितः शान्तरसो नाम विज्ञेयः ॥

ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों की क्रियाओं के संरोध से स्वात्म की अवस्थिति से संयुक्त कराने वाला तथा सभी लोगों के सुख के कारण भूत रस को शान्त रस समझना चाहिए।

धर्मोपयोगी परिकल्पित विषयोपभोगरहितोऽत्र स्थायी)। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि शान्तरस में आत्मा को स्थायी नहीं माना जा सकता ; क्योंकि आत्मा के सत्य स्वरूप का ज्ञान (साक्षात्कार) समधिकाल में ही होता है। अन्य रसों में आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता।

जहाँ तक शान्तरस के पृथक् अस्तित्व का प्रश्न है तो इसकी अलग सत्ता मानना ही उचित है क्योंकि शान्तरस का आस्वाद रत्यादि के आस्वाद से विलक्षण ही होता है।

प्रश्न उठता है कि इस शान्तरस का आस्वादन किस प्रकार होता है ? इसका उत्तर है कि जैसे सूत्र से मणियाँ पिरोई होने पर बीच बीच में सूत्र भासित हो जाता है उसी प्रकार उत्साह एवं रत्यादि से आत्मा के आच्छादित रहने पर भी बीच बीच में आत्मा का स्वरूप भासित होता रहता है। उस समय रत्यादि रूप उपरञ्जकों के उस रूप में रहने पर भी यह आत्मरूप एक बार भी प्रकाशित होकर विषयोन्मुखता आदि दुःखों से रहित एवं परमानन्द की प्राप्ति के साथ अभिन्नरूप से काव्य तथा नाटक आदि के द्वारा समान रूप से प्रतीत होते हुए अन्तर्मुखी अवस्था भेद से लोकोत्तर आनन्द का प्रापक होकर हृदय को भी उस प्रकार का आन्दमय बना देता है।

इस प्रकार रसों की संख्या नौ ही है—

[एवं ते नवैव रसाः] न इससे कम, न इससे अधिक। अर्थात् शान्तरस की असत्ता या वात्सल्य रस अथवा भक्ति रस की सता को अभिनव ने स्वीकार किया है। उनका स्पष्ट कथन है कि आर्द्रता स्थायिभाव से युक्त स्नेह नामक दशम रस को मानना उचित नहीं है [आर्द्रतास्थायिकः स्नेही रस इति त्वसत्]। भक्ति रस की भी अलग सत्ता नहीं। उसका भी रति आदि में अन्तर्भाव सम्भव है [एवं भक्तावपि वाच्यमिति]।

न यत्र दुःखं न सुखं न द्वेषो नापि मत्सरः।
समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः॥

जहाँ दुःख, सुख, ईर्ष्या, मात्सर्य आदि कोई भी भाव नहीं होता, तथा जो सभी भावों में एक रूप होता है वह शान्त रस के नाम से प्रसिद्ध है।

भावा विकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः।
विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते॥

रत्यादि भाव विकार हैं। शान्त रस सबकी प्रकृति है। अन्य सभी भाव विकार होने से प्रकृति से उत्पन्न होते हैं व इसीमें विलीन हो जाते हैं।

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते॥

अपने अपने निमित्त कारणों को पाकर भाव शान्त रस से जन्म लेते हैं और उन उन निमित्तों के न रहने पर वे पुनः शान्त रस में विलीन हो जाते हैं।

उपसंहार—

एवं नव रसा दृष्टा नाट्यज्ञैर्लक्षणान्विताः।]

इस तरह नाट्य के ज्ञाताओं ने लक्षणों से युक्त नौ रसों का अवलोकन किया है।]

एवमेते रसा ज्ञेयास्त्वष्टौ लक्षणलक्षिताः।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भावानामपि लक्षणम्॥ ८३॥
॥ इति भारतीये नाट्यशास्त्रे रसाध्यायः षष्ठः॥

———०———

अतः इस प्रकार के लक्षणों से वर्णित इन आठ रसों को जानना चाहिए। इसके आगे अब हम भावों के लक्षण बतायेंगे।

॥ इस प्रकार भरमुनि प्रणीत नाटचशास्त्र की 'नाटचप्रदीप' नामक हिन्दी व्याख्या का रस विषयक षष्ठ अध्याय पूर्ण हुआ॥ ६॥

———०———

अथ सप्तमोऽध्यायः

भाव का लक्षण—

भावानिदानीं व्याख्यास्यामः। अत्राह—भावा इति कस्मात्? किं भवन्तीति भावाः, किं वा भावयन्तीति भावाः? उच्यते—वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावा इति।

अब हम भावों की व्याख्या करेंगे। यहाँ प्रश्न उठता है कि इन्हें भाव क्यों कहते हैं? ये क्या है? और किसे भावित करते हैं? इसका उत्तर है कि वाणी, अंग एवं सात्विक भावों से युक्त काव्यार्थ को भावित कराने के कारण इन्हें भाव कहा जाता है।

भू इति करणे धातुस्तथा च भवितं वासितं कृतमित्यनर्थान्तरम्। लोकेऽपि च प्रसिद्धम्। अहो ह्यनेन गन्धेन रसेन वा सर्वमेव भावितमिति। तच्च व्याप्त्यर्थम्।

"भू" धातु से करण (हेतु) के अर्थ में "भाव" शब्द की निष्पत्ति होती है। इसके समानार्थक शब्द "भाव" "वासित", एवं 'कृत' हैं। लौकिक प्रयोग में भी ऐसा कहा-सुना जाता है कि इस गन्ध अथवा इससे यह सब भावित हो रहा है। इस स्थान पर "भावन" का तात्पर्य व्याप्त होने से है।

श्लोकाश्चात्र—

विभावेनाहृतो योऽर्थो ह्यनुभावैस्तु गम्यते।
वागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः॥ १॥

इस विषय में निम्न श्लोक प्राप्त हैं—

विभावों द्वारा समुपस्थित होकर जो अर्थ[1] वाणी, अंग एवं सात्विक अभिनय[2]

---

१. प्रस्तुत श्लोक में अर्थ शब्द का शब्दार्थ अभीष्ट नहीं है। प्रधानतः प्रतिपाद्य होकर भावित करवाने वाले को अर्थ कहा गया है। काव्य के अर्थ रूप रस को भावित कराना ही यहाँ अभीष्ट है। यह अलौकिक अर्थरूप आस्वादन स्थायी एवं व्याभिचारि आदि भावों से निष्पन्न किया जाता है।

२. यद्यपि अभिनय का चतुर्थ प्रकार भी होता है जिसे आहार्य अभिनय कहते हैं तथापि चित्तवृत्तिरूप भावों को भावित कराने में वह इतना आवश्यक नहीं है। इसी कारण अभिनय के तीन ही भेदों का यहाँ उल्लेख हुआ है।

के माध्यम से अनुभावों द्वारा बोधगम्य होता है। उसे भाव[1] कहते हैं ॥ १ ॥

वागङ्गमुखरागेण सत्त्वेनाभिनयेन च।
"कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव" उच्यते ॥ २ ॥

वाचिक, आंगिक एवं मुख, के प्रसाधन (आहार्य[2]) एवं सात्विक अभिनय के द्वारा कवि के अव्यक्त भावों को भावित (व्यक्त) करने वाला भाव कहा है ॥ २ ॥

नानाभिनयसंबद्धान् भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ॥ ३ ॥

अनेक प्रकार के अभिनयसम्पन्न रसों को भावित करने के कारण नाट्य-प्रयोक्ताजन इनको भाव मानते हैं ॥ ३ ॥

विभाव का लक्षण—

अथ विभाव इति कस्मात्? उच्यते—"विभावो विज्ञानार्थः।" विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः। विभाव्यन्तेऽनेन वागङ्गसत्त्वाभिनया इत्यतो विभावः। यथा विभावितं विज्ञातमित्यनर्थान्तरम्।

---

१. चित्तवृत्तिरूप होने के कारण भाव की द्विविध व्युत्पत्ति संभव है—भवन्ति इति भावाः, एवं भावयन्ति इति भावाः। पहली व्युत्पत्ति से भाव की स्थिति ज्ञात होती है जिसका उत्कर्ष हो जाता है एवं द्वितीय से यह आशय निकलता है कि भाव स्थित न होकर क्रमशः विकासशील रहता है। यदि द्वितीय निष्पत्ति मानी जाए तो शंका उठती है कि व्याप्त होकर भाव क्या अनुभावन करते हैं? इसका उत्तर भरत मुनि ने प्रस्तुत श्लोक में दिया है। अभिनवगुप्त के मत में चित्तवृत्तियों को ही भाव मानने के पीछे यह तर्क है कि त्रिविध अभिनयप्रक्रिया द्वारा सम्पन्न यह अलौकिक चित्तवृत्तियाँ अपनी आत्मस्थ लौकिक अवस्था का आस्वादन न कराते हुए रसरूप का भावन कराती हैं।

यहाँ भू धातु अंतर्भावित ण्यर्थ है जो प्रकृति में करोति या स्थिति अर्थ की बोधक है। भू धातु से णिच् लगा कर भावित शब्द बना है।

२. अभिनव के मत में मुखराग की गणना यद्यपि सात्विक भाव के अन्तर्गत हो जाती है—(वागङ्गमुखरागात्मनाऽभिनयेन सत्त्वलक्षणेन चाभिनयेन·········) फिर भी महत्त्वपूर्ण होने से विवर्ण भाव वाले मुखराग का यहाँ अभिधान किया गया है। अर्थात् मुखराग से वह अन्तरित उल्लासादि जन्य मुख पर छाई लालिमा का तात्पर्य लेते हैं, किन्तु हमारे मत में यहाँ पर लालिमा से मुख प्रसाधन रूपी अंगरागादि का बोध होता है। इसके अतिरिक्त अभिनय की अन्य तीनों श्रेणियों का इसी स्थल पर उल्लेख होने से हम इसे आहार्य अभिनय का वाचक मानना अधिक सटीक समझते हैं।

विभाव की क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर है कि विभाव का प्रयोग विशेष ज्ञान के हेतु किया जाता है। विभाव, कारण; निमित्त अथवा हेतु यह सब पर्यायवाची शब्द हैं। इसके द्वारा वाचिक, आंगिक एवं सात्त्विक अभिनय का विशेष ज्ञान (विभावन) किया जाता है अतः इसे 'विभाव' कहा जाता है। इसी भाँति विभावित एवं विज्ञात भी एकार्थक पद हैं।

अत्र श्लोकः—

बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गभिनयाश्रयाः।
अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः ॥ ४ ॥

इस विषय में एक श्लोक है—

क्योंकि इसके द्वारा वाक् अंग एवं अभिनय के आश्रित बहुत से अर्थ विभावित होते हैं अतः इसे विभाव[1] कहा जाता है ॥ ४ ॥

अनुभाव का लक्षण —

अथानुभाव इति कस्मात् ? उच्यते—अनुभाव्यतेऽनेन वागङ्गसत्त्वकृतोऽभिनय इति। अत्र श्लोकः—

अनुभाव शब्द का क्या प्रयोजन है ? इसका उत्तर है कि इसके द्वारा वाचिक आङ्गिक एवं सात्त्विक अभिनय का अनुभावन किया जाता है (अतः इन्हें अनुभाव कहा जाता है)।

वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ॥ ५ ॥

इस विषय में एक श्लोक है—

क्योंकि वाचिक एवं आङ्गिक अभिनय के द्वारा यह अर्थ का अनुभावन कराता है अतः शाखा अङ्ग एवं उपयोग से संयुक्त इसको अनुभाव कहा जाता है ॥ ५ ॥

एवं ते विभावानुभावसंयुक्ता भावा इति व्याख्याताः। अतो ह्येषां भावानां सिद्धिर्भवति। तस्मादेषां भावानां विभावानुभावसंयुक्तानां लक्षणनिदर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः। तत्र विभावानुभावौ लोकप्रसिद्धौ। लोक-

---

१. जिसके द्वारा स्थायी एवं व्यभिचारी भावों का विभाजन अर्थात् विशेष ज्ञान कराया जाता है वह विभाव है (वागादयोऽभिनया येषां स्थायिव्यभिचारिणां ते वागाद्यभिनयसहिता विभाव्यन्ते विशिष्टतया ज्ञायन्ते यैस्ते विभावाः)। एक ही भाव के अभिनय के अनेक हेतु सम्भव हैं यथा धूप, धुआँ व रोगादि से अश्रु उत्पन्न होते हैं। कारणस्वरूप विभाव के द्वारा सन्देह न रहकर निश्चय हो जाता है। अतः विभाव को ज्ञापक हेतु माना गया है (घर्मधूमरोगादिभ्यो वाष्पः। तद्वाष्पार्तिक प्रतीयताम्। विभावात्तु झडित्येव निश्चयः। अतएव ......)

स्वाभावानुगतत्वाच्च तयोर्लक्षणं नोच्यतेऽतिप्रसङ्गनिवृत्त्यर्थम्।

इस प्रकार से विभाव एवं अनुभाव से युक्त भावों की व्याख्या की गयी है। इस भाँति इन भावों की सिद्धि होती है। अब हम विभाव एवं अनुभावों से युक्त भावों के लक्षणों एवं उदाहरणों की व्याख्या करेंगे। वहाँ विभाव एवं अनुभाव अत्यन्त प्रसिद्ध है। उन दोनों के लोकमानस के वंशगत होने के कारण, अतिप्रसंग के निराकरण हेतु उन दोनों के लक्षण नहीं बताये गये।

भवति चात्र श्लोकः—

लोकस्वभावसंसिद्धा लोकयात्रानुगामिनः।
अनुभावा विभावाश्च ज्ञेयास्त्वभिनये बुधैः॥ ६॥

इस सम्बन्ध में यह श्लोक है—

लोक स्वभाव से सिद्ध होने वाले एवं लोकव्यवहार का अनुगमन करने वाले इन अनुभावों तथा विभावों को अभिनय के समय विद्वानों को जान लेना चाहिये॥ ६॥

उनचास भाव—

तत्राष्टौ भावाः स्थायिनः। त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणः। अष्टौ सात्त्विका इति भेदाः। एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतव एकोनपञ्चाशद्भावाः प्रत्यवगन्तव्याः। "एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते"।

इनमें से आठ स्थायी भाव होते हैं। तैंतीस संचारी भाव हैं एवं आठ सात्त्विक भाव हैं, यह भावों के प्रकार हैं। इन्हीं उनचास भावों को काव्य में रसाभिव्यक्ति का हेतु जानना चाहिये। इन्हीं के सामान्य गुणों के योग से रसों की निष्पत्ति होती है।

स्थायी भाव का लक्षण—

अत्र श्लोकः—

योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना॥ ७॥

एतत्सम्बन्धी श्लोक यह है—

जो अर्थ मर्मस्पर्शी हो उसका भाव रस से उद्भूत होने वाला होता है। जैसे सूखी लकड़ी में अग्नि फैल जाती है उसी प्रकार यह (भाव) शरीर में तत्काल व्याप्त हो जाता है॥ ७॥

अत्राह—यदि काव्यार्थसंश्रितैर्विभावानुभावव्यञ्जितैरेकोनपञ्चाशद्भावैः सामान्यगुणयोगेनाभिनिष्पद्यन्ते रसास्तत्कथं स्थायिन एव भावा रसत्वमाप्नुवन्ति। उच्यते—यथा हि समानलक्षणास्तुल्यपाणिपादोदरशरीराः समानाङ्गप्रत्यङ्गा अपि पुरुषाः कुलशीलविद्याकर्मशिल्पविचक्षणत्वाद्रा-

जत्वमाप्नुवन्ति तत्रैव चान्येऽल्पबुद्धयस्तेषामेवानुचरा भवन्ति तथा विभावानुभावव्यभिचारिणः स्थायिभावानुपाश्रिता भवन्ति। बह्वाश्रयत्वात्स्वामिभूताः स्थायिनो भावाः। तद्वत्स्थानीयपुरुषगुणभूता अन्ये भावास्तान्गुणतया श्रयन्ते। स्थायिभावा रसत्वमाप्नुवन्ति। परिजनभूता व्याभिचारिणो भावाः। अत्राह—को दृष्टान्त इति। यथा नरेन्द्रो बहुजनपरिवारोऽपि स एव नाम लभते नान्यः सुमहानपि पुरुषः। तथा विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृतः स्थायी भावो रसनाम लभते।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि काव्य के अर्थों पर आश्रित विभावों एवं अनुभावों द्वारा व्यञ्जित उनचास भावों के सामान्यगुणों के संयोग से रस उत्पन्न होते हैं तो फिर स्थायी भाव ही रसत्व को क्यों प्राप्त करते हैं। इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार एक जैसे हाथ, पैर, पेट एवं शरीर और एक जैसे अङ्गोपाङ्ग होने पर भी कुछ व्यक्ति कुल-शील विद्या-कर्म एवं शिल्प के वैशिष्टच से राजत्व को पा लेते हैं तथा दूसरे मन्दबुद्धिजन उन्हीं के सेवक हो जाते हैं उसी प्रकार विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव, स्थायिभाव के आश्रित हो जाते हैं। स्थायी भाव स्वामी होते हैं क्योंकि उनके ऊपर अनेक भाव आश्रित होते हैं। सेवकों की भाँति जो अन्य भाव होते हैं वह सेव्य स्थायिभाव के आश्रित होते हैं। स्थायी भाव रस की अवस्था में पहुँच जाता है। व्यभिचारी भाव उसके परिजनों के समान रहते हैं। प्रश्न उठता है कि क्या इस विषय में कोई उदाहरण है? इसका उत्तर यह है कि जैसे राजा के परिवार में अनेक लोग होने पर भी केवल राजा का ही नाम होता है, उनसे बड़े व्यक्ति का भी नहीं होता, उसी प्रकार विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों से संयुक्त स्थायी को ही रसत्व की प्राप्ति होती है (अन्य किसी भाव को नहीं होती)।

भवति चात्र श्लोकः—

यथा नाराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह ॥ ८ ॥

इस सम्बन्ध में यह श्लोक है—

जिस प्रकार सब मनुष्यों में राजा एवं शिष्यों में गुरु श्रेष्ठ होते हैं उसी प्रकार समस्त भावों में स्थायी भाव सर्वश्रेष्ठ होता है ॥ ८ ॥

लक्षणं खलु पूर्वमभिहितमेषां रससंज्ञकानाम्। इदानीं भावसामान्यलक्षणमभिधास्यामः। तत्र स्थायिभावान्वक्ष्यामः—

इनमें से रस नामक भावों के लक्षण एवं दृष्टान्त पहले ही बताये जा चुके हैं। अब हम सामान्य भावों के लक्षण बतायेंगे। इनमें से पहले स्थायी भावों के विषय में बतायेंगे।

रति स्थायी भाव का लक्षण—

रतिर्नाम प्रमोदात्मिका ऋतुमाल्यानुलेपनाभरणभोजनवरभवनानुभवप्रातिकूल्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तामभिनयेत्स्मितवदनमधुरकथनभ्रूक्षेपकटाक्षादिभिरनुभावैः ।

रति नामक भाव आनन्दात्मक होता है तथा ऋतु माला, अङ्गराग, अलङ्कार, भोजन, सुन्दर भवन, अवैपरीत्य सुखानुभव एवं अप्रतिकूल्य आदि विभावों से उत्पन्न होता है । इसका अभिनय हँसते हुए चेहरे, मीठी बोली, भ्रूक्षेप एवं कटाक्षादि अनुभावों के द्वारा किया जाता है ।

अत्र श्लोकः—

इष्टार्थविषयप्राप्त्या रतिरित्युपजायते ।
सौम्यत्वादभिनेया सा वाङ्माधुर्याङ्गचेष्टितैः ॥ ९ ॥

एतद्विषयक श्लोक यह है—

अभीप्सित अर्थ एवं विषय की प्राप्ति से रति उत्पन्न होती है । यह सौम्य होती है । अतः इसका अभिनय मधुर वाणी एवं ललित आङ्गिक चेष्टाओं द्वारा किया जाना चाहिये ॥ ९ ॥

२—हास स्थायी भाव का लक्षण—

हासो नाम विनोदात्मको भावः स च परचेष्टानुकरणकुहकासम्बद्धप्रलापपौरोभाग्यमौर्ख्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तमभिनयेत्पूर्वोक्तैर्हसितादिभिरनुभावैः ।

दूसरों लोगों की क्रिया की नकल, कुहक (मायावी चेष्टाओं का प्रदर्शन), अनर्गल बातचीत, बुराइयाँ ढूँढने[1] एवं मूर्खता आदि विभावों के द्वारा हास नामक भाव की उत्पत्ति होती है । पहले कहे जा चुके हसितादि अनुभावों द्वारा इसका अभिनय किया जाना चाहिये ।

भवति चात्र श्लोकः—

परचेष्टानुकरणाद्धासः समुपजायते ।
स्मितहासातिहसितैरभिनेयः स पण्डितैः ॥ १० ॥

इस विषय में एक श्लोक है—

दूसरे के कामों की नकल करने से हास उत्पन्न होता है । विद्वानों को

१. पौरोभाग—अमरकोष के अनुसार दूसरे की कमियाँ ढूँढ़ने वाला पुरोभागी होता है (दोषैकदृक् पुरोभागी) । अतः पुरोभाग्य का तात्पर्य दूसरे की कमियाँ या बुराइयाँ निकालना होता है । हास के प्रसंग में यह छींटाकशी या नुक्ताचीनी द्वारा व्यंग उपहास करना हो सकता है ।

चाहिये कि स्मित, हसित एवं अतिहसित के द्वारा इसका अभिनय करें ॥ १० ॥

३—शोक स्थायी भाव का लक्षण—

शोकोनाम—इष्टजनवियोगविभवनाशवधबन्धदुःखानुभवनादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तस्यास्रुपातपरिदेवितविलपितवैवर्ण्यस्वरभेदस्रस्तगात्रताभूमिपतनसस्वनरुदिताक्रन्दितदीर्घनिःश्वसितजडतोन्मादमोहमरणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

प्रियजन के (विरह (मृत्यु आदि जन्य), ऐश्वर्य का नाश, प्रिय के वध, बन्धन एवं कष्टभोगादि विभावों के द्वारा शोक नामक रस की उत्पत्ति होती है। अश्रुपात, पश्चात्ताप, उदासी, विलास, मुँह के फीकेपन, आवाज के रूँधने, शरीर की शिथिलता, जमीन पर गिर जाने, सस्वर रोने चिल्लाने, लम्बी साँस छोड़ने, जडता, उन्माद, मोह एवं मृत्यु आदि अनुभावों द्वारा इसका अभिनय किया जाता है।

रुदन के तीन भेद—

रुदितमत्र त्रिविधम्—आनन्दजमार्तिजमीर्ष्यासमुद्भवं चेति ।

रुदन के तीन भेद होते हैं—१. हर्ष से उत्पन्न, २. कष्ट से उत्पन्न एवं ३. ईर्ष्या से उत्पन्न ।

भवन्ति चात्रार्याः—

[आनन्देर्ष्यार्तिकृतं त्रिविधं रुदितं सदा बुधैर्ज्ञेयम् ।
तस्य त्वभिनययोगान्विभावगतितः प्रवक्ष्यामि ॥]

एतद्विषयक निम्न आर्यायें मिलती है—

[ज्ञानी जन को हर्ष एवं विषादजन्य रुदन के तीन भेद जानने चाहिये। उसका वर्णन मैं आगे अभिनय के प्रसंग में विभावों के संदर्भ में करूँगा।]

आनन्दजन्य शोक के लक्षण—

हर्षोत्फुल्लकपोलं सानुस्मरणादपाङ्गविसृतास्रम् ।
रोमाञ्चगात्रमनिभृतमानन्दसमुद्भवं भवति ॥ ११ ॥

शुद्ध आनन्द से उत्पन्न रुदन में प्रसन्नता से कपोल खिल जाते हैं (बीती घटना का) स्मरण करते हुए आँखों की कोर से आँसू टपकने लगते हैं एवं शरीर पुलकित होता है ॥ ११ ॥

दुःखजन्य शोक के लक्षण—

पर्याप्तविमुक्तास्रं सस्वनमस्वस्थगात्रगतिचेष्टम् ।
भूमिनिपातनिवर्तितविलपितमित्यार्तिजं भवति ॥ १२ ॥

शोकोद्भूत रुदन में अत्यधिक आँसू गिरते हैं, वह सस्वर होता है, उसमें शरीर

की अवस्था एवं क्रियाएं अस्तव्यस्त होती है एवं भूमि पर गिरकर पुनः पुनः रुदन होता है ॥ १२ ॥

ईर्ष्याजन्य शोक के लक्षण—

प्रस्फुरितौष्ठकपोलं सशिरःकम्पं तथा सनिःश्वासम् ।
भ्रुकुटीकटाक्षकुटिलं स्त्रीणामीर्ष्याकृतं भवति ॥ १३ ॥

स्त्रियों का वह रुदन जिसमें अधर एवं कपोल फड़कते रहते हैं, सिर कांपता रहता है, उसांसे भरी जाती है एवं भवें तथा दृष्टि वक्र हो जाती है, ईर्ष्याजन्य रुदन कहा जाता है ॥ १३ ॥

शोक के पात्र—

स्त्रीनीचप्रकृतिष्वेष शोको व्यसनसम्भवः ।
धैर्येणोत्तममध्यानां नीचानां रुदितेन च ॥ १४ ॥

स्त्रियों एवं निम्नकोटि के पात्रों में ही व्यसन से उद्भुत शोक पाया जाता है । उत्तम एवं मध्यम पात्रों में धैर्यपूर्वक तथा अधमपात्र में रुदन के द्वारा (यह शोक व्यक्त किया जाता है) ॥ १४ ॥

क्रोध स्थायी भाव का लक्षण—

क्रोधो नाम—आधर्षणाक्रुष्टकलहविवादप्रतिकूलादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । अस्य विकृष्टनासापुटोद्वृत्तनयनसन्दष्टोष्ठपुटगण्डस्फुरणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

झपटने, गाली देने, कलह करने, लड़ने एवं वैपरीत्य आदि विभावों से क्रोध की उत्पत्ति होती है । नथुने फुलाने, आंखे फाड़ने, ओठ काटने, एवं गाल फड़कने आदि अनुभावों के द्वारा इस (क्रोध) का अभिनय किया जाता है ।

क्रोध के पाँच भेद—

रिपुजो गुरुजश्चैव प्रणयिप्रभवस्तथा ।
भृत्यजः कृतकश्चेति क्रोधः पञ्चविधः स्मृतः ॥ १५ ॥

क्रोध पाँच प्रकार का होता है १—रिपुज—जिसका उत्पादक शत्रु होता है । २.—गुरुज—जिसका कारण अपने से बड़ा व्यक्ति होता है । ३—प्रणयिप्रभव अर्थात् अपने प्रिय पर आने वाला ४—भृत्यज—जिसका कारण अनुचर होता है एवं ५—कृतक अर्थात् जो कृत्रिम होता है ॥ १५ ॥

शत्रु विषयक क्रोध का लक्षण—

अत्रार्या भवन्ति—

भ्रुकुटीकुटिलोत्कटमुखः सन्दष्टोष्ठः स्पृशन्करेण करम् ।
क्रुद्धः स्वभुजप्रेक्षी शत्रौ निर्यन्त्रणं रुष्येत् ॥ १६ ॥

इस विषय में आर्या इस प्रकार हैं—

शत्रु के प्रति प्रदर्शित किए जाने वाले क्रोध में भवें टेढ़ी हो जाती हैं, मुँह भीषण[1] होकर उठ जाता है तथा ओठ चबाने, दोनों हाथ मलने एवं अपनी भुजाओं को परखने की क्रियायें की जाती हैं। शत्रु के प्रति प्रदर्शित क्रोध नियन्त्रणहीन होता है ॥ १६ ॥

गुरु विषयक क्रोध का लक्षण—

किञ्चिदवाङ्मुखदृष्टिः सास्रस्वेदापमार्जनपरश्च ।
अव्यक्तोल्बणचेष्टो गुरौ विनययन्त्रितो रुष्येत् ॥ १७ ॥

गुरुज क्रोध में मुख एवं आँखे कुछ झुक जाती हैं, बार बार आँसू तथा पसीना पोंछा जाता है, उद्धत क्रियायें प्रकट नहीं की जाती एवं क्रोध विनय से संयमित रहता है ॥ १७ ॥

प्रिय विषयक क्रोध का लक्षण—

अल्पतरप्रविचारो विकिरन्नश्रूण्यपाङ्गविक्षेपैः ।
सभ्रूकुटीस्फुरितोष्ठः प्रणयोपगतां प्रियां रुष्येत् ॥ १८ ॥

प्रिय पर किए जाने वाले प्रणयकोप में थोड़ा इधर उधर घूमना, आँसू बहाना, नयन को कोरों से तिरछे देखना, भवें चढ़ाना एवं ओठों का फड़कना[2] शामिल होता है ॥ १८ ॥

भृत्य विषयक क्रोध का लक्षण—

अथ परिजने तु रोषस्तर्जननिर्भर्त्सनाक्षिविस्तारैः ।
विप्रेक्षणैश्च विविधैरभिनेयः क्रूरतारहितः ॥ १९ ॥

अनुचर पर प्रकट किये जाने वाले क्रोध में धमकाना, जलील करना[3], आँखे दिखाना, एवं घूरना आदि क्रियायें होती है ॥ १९ ॥

कृतक (कृत्रिम) क्रोध का लक्षण—

कारणमवेक्षमाणः प्रायेणायासलिङ्गसंयुक्तः ।
वीररसान्तरचारी कार्यः कृतको भवति कोपः ॥ २० ॥

---

१. उत्कट का अर्थ श्रीघोष के अनुसार 'मुख की भयंकरता' है। यही अर्थ उचित है।

२. स्फुरितोष्ठ—बाबूलालशास्त्री इसे ओठों को चबाना मानते हैं। श्रीघोष ने इसका अनुवाद 'ओठ फड़काना' किया है।

३. निर्भत्सना—श्रीघोष ने इसका अनुवाद 'गाली गलौज करना' किया है। भाव की दृष्टि से यह दोनों ही अर्थ सही हैं। किन्तु यहाँ कहने सुनने से भृत्य को नीचा दिखाने अर्थात् जलील करने का भाव अधिक उपयुक्त लगता है।

कृतक क्रोध किसी हेतु से उत्पन्न होता है, तथा प्रायः सप्रयास (क्रोध के) लक्षणों से युक्त होता है और दो रसों के बीच में विद्यमान रहता है ॥ २० ॥

उत्साह स्थायी भाव का लक्षण—

उत्साहो नाम—उत्तमप्रकृतिः। स चाविषादशक्तिधैर्यशौर्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य धैर्यत्यागवैशारद्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

उत्तम स्वभाव के लोगों में उत्साह पाया जाता है। विषाद न होने पर एवं शक्ति, धैर्य, शौर्य आदि विभावों से युक्त होने पर यह उत्पन्न होता है। स्थिरता, धैर्य-त्याग एवं चतुरता आदि अनुभावों द्वारा इसका अभिनय किया जाना चाहिये।

अत्र श्लोकः—

असम्मोहादिभिर्व्यक्तो व्यवसायनयात्मकः।
उत्साहस्त्वभिनेयः स्यादप्रमादोत्थितादिभिः ॥ २१ ॥

एतद्विषयक श्लोक है—

असम्मोह आदि से उत्पन्न व्यवसाय एवं नीति से युक्त उत्साह का अभिनय अप्रमाद एवं, उत्थान आदि क्रियाओं के द्वारा किया जाना चाहिये ॥ २१ ॥

भय स्थायी भाव का लक्षण—

भयं नाम—स्त्रीनीचप्रकृतिकम्। गुरुराजापराधश्वापदशून्यागाराटवीपर्वतगहनगजाहिदर्शननिर्भर्त्सनकान्तारदुर्दिननिशान्धकारोलूकनक्तञ्चरारावश्रवणादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तस्य प्रकम्पितकरचरणहृदयकम्पनस्तम्भमुखशोषजिह्वापरिलेहन-स्वेदवेपथुत्रासपरित्रणान्वेषणधावनोत्क्रुष्टादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

स्त्रियों एवं नीच पात्रों में भय उपस्थित होता है। गुरु तथा राजा के प्रति अपराध करने, जंगली जानवर, सूनसान घर, अरण्य एवं पर्वत में जाने, हाथी या साँप को देखने, तिरस्कृत होने, वन, अतिवृष्टि तथा रात्रि के अंधेरे, उल्लू व राक्षसों के ध्वनियों के सुनने आदि विभावों से यह उत्पन्न होता है। हाथ पैरों के काँपने, हृदय के धड़कने, निश्चेष्ट होने, मुख सूखने, जीभ चाटने, पसीना पोंछने, कम्पन, त्रास, इधर उधर रक्षा हेतु स्थान तलाशने, दौड़ने, और चिल्लाकर रोने आदि अनुभावों द्वारा इसका अभिनय किया जाता है।

अत्र श्लोकाः—

गुरुराजापराधेन रौद्राणां चापि दर्शनात्।
श्रवणादपि घोराणां भयं मोहेन जायते ॥ २२ ॥

गुरुजनों एवं राजा के प्रति अपराध, रौद्रपदार्थ के दर्शन एवं भयंकर आवाज को सुनने से मोह के कारण "भय" उत्पन्न होता है ॥ २२ ॥

गात्रकम्पनवित्रासैर्वक्त्रशोषणसम्भ्रमैः ।
विस्फारितेक्षणैः कार्यमभिनेयक्रियागुणैः ॥ २३ ॥

शरीर के काँपने, त्रास, मुँह सूखने, हड़बड़ाने, आँखे फाड़ कर देखने आदि क्रियाओं से इसका अभिनय किया जाना चाहिऐ।

सत्त्ववित्रासनोद्भूतं भयमुत्पद्यते नृणाम् ।
स्रस्ताङ्गाक्षिनिमेषैस्तदभिनेयं तु नर्तकैः ॥ २४ ॥

सत्त्व (प्रेतादि) से आशंकित होने पर मनुष्यों में भय उत्पन्न होता है। नर्तकों को चाहिये कि अस्तव्यस्त अवयवों तथा पलकों को झपका कर[1] इसका अभिनय करें ॥ २४ ॥

अत्रार्या भवति—

करचरणहृदयकम्पैर्मुखशोषणवदनलेहनस्तम्भैः ।
सम्भ्रान्तवदनवेपथुसन्त्रासकृतैरभिनयोऽस्य ॥ २५ ॥

इस विषय में यह आर्या मिलती—हाथों पैरों एवं हृदय के कम्पन से मुख के के सूखने से जिह्वा से ओठ चाटने (बदन लेहन[2]) से, भौचक्के रह जाने, तथा अस्त-व्यस्त शरीर के कम्पन से भय का अभिनय किया जाना चाहिये ॥ २५ ॥

जुगुप्सा स्थायी भाव का लक्षण—

जुगुप्सा नाम—स्त्रीनीचप्रकृतिका। सा चाहृद्यदर्शनश्रवणादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तस्याः सर्वाङ्गसङ्कोचनिष्ठीवनमुखविकूणनहृल्लेखादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

जुगुप्सा नामक भाव स्त्रियों एवं निम्नकोटि के पात्रों में पाया जाता है। यह अप्रीतिकर वस्तु को देखने, सुनने या कहने आदि विभावों से उत्पन्न होता है। समस्त अङ्गों को सिकोड़ने, थूकने, मुँह बनाने एवं हृदय के संकोच आदि अनुभावों से इसका अभिनय किया जाना चाहिए।

भवति चात्र श्लोकः—

नासाप्रच्छादनेनेह गात्रसङ्कोचनेन च ।
उद्वेजनैः सहृल्लेखैर्जुगुप्सामभिनिर्दिशेत् ॥ २६ ॥

---

१. अक्षिनिमेषैः—शास्त्री के मत में इसका अर्थ शंकित दृष्टि है। घोष ने इसका अनुवाद 'आँखों की अविचलित' गति किया है।

२. बदन लेहन का शाब्दिक अर्थ तो मुख चाटना है किन्तु इससे सूखे हुए ओठों पर बार बार जीभ फिराने की प्रक्रिया उपलक्षित होती है।

इस विषय में यह श्लोक है—

नाक को ढकने, शरीर को सिकोड़ने, उद्विग्नता तथा हृदय के संकोच द्वारा जुगुप्सा का प्रदर्शन किया जाना चाहिए ॥ २६ ॥

विस्मय स्थायी भाव का लक्षण—

विस्मयो नाम– मायेन्द्रजालमानुषकर्मातिशयचित्रपुस्तशिल्पविद्यातिषयादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तस्य नयनविस्तारानिमेषप्रेक्षितभ्रू-क्षेपरोमहर्षणशिरःकम्पसाधुवादादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

माया, इन्द्रजाल, मानवकृत महान कार्य, अत्यन्त विचित्र चित्रयुक्त अथवा शिल्प आदि से अभिभूत होने आदि विभावों से विस्मय की उत्पत्ति होती है। आँखों को फाड़ने, एकटक देखने, भवें चलाने, रोंगटे खड़े होने, सिर काँपने, प्रशंसा करने आदि अनुभावों के द्वारा अभिनय किया जाना चाहिये।

भवति चात्र श्लोकः—

कर्मातिशयनिर्वृत्तो विस्मयो हर्षसम्भवः।
सिद्धिस्थाने त्वसौ साध्यः प्रहर्षपुलकादिभिः ॥ २७ ॥

एतद्विषयक यह श्लोक है—

अद्भुत कार्य के सम्पादन से होने वाले हर्ष से 'विस्मय' उत्पन्न होता है। इसका अभिनय हर्ष एवं सिहरन आदि के द्वारा किया जाना चाहिये ॥ २७ ॥

एवमेते स्थायिनो भावा रससंज्ञाः प्रत्यवगन्तव्याः।

इस प्रकार यह स्थायी भाव हैं जो रस के नाम से ज्ञेय होने अपेक्षित हैं।

संचारी या व्यभिचारी भाव—

व्याभिचारिण इदानीं व्याख्यास्यामः। अत्राह-व्यभिचारिण इति कस्मात्? उच्यते—वि अभि इत्येतावुपसर्गौ। चर इति गत्यर्थो धातुः। विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः। वागङ्गसत्त्वोपेताः प्रयोगे रसान्नयन्तीति व्यभिचारिणः।

अत्राह—कथं नयन्तीति। उच्यते—लोकसिद्धान्त एषः—यथा सूर्य इदं दिनं नक्षत्रं वा नयतीति। न च तेन बाहुभ्यां स्कन्धेन वा नीयते। किं तु लोकप्रसिद्धमेतत्। यथेदं सूर्यो नक्षत्रं दिनं वा नयतीति। एवमेते व्यभिचारिण इत्यवगन्तव्याः। तानिह सङ्ग्रहाभिहितांस्त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिणो भावान् वर्णयिष्यामः।

इसके पश्चात् हम अब व्यभिचारी भावों की व्याख्या करेंगे। प्रश्न उठता है कि इनका नाम व्यभिचारी भाव क्यों है? उत्तर है कि इसमें 'वि' एवं 'अभि' उपसर्ग हैं तथा गत्यर्थक 'चर्' धातु है। अतः व्यभिचारी शब्द का अर्थ

हुआ—विविध प्रकार से जो रसों की ओर गतिशील होते हैं वे व्यभिचारी भाव हैं। दूसरा अर्थ है कि शाब्दिक, आङ्गिक एवं सात्त्विक भावों से युक्त होकर रसों तक पहुँचने के कारण यह व्यभिचारी भाव हैं।

शंका होती है कि यह रस को किस प्रकार धारण करते हैं। इसका समाधान यह है कि इसे उसी भाँति लोक सिद्धान्तानुसारी समझना चाहिए जिस भाँति सूर्य नक्षत्र अथवा दिवस विशेष को प्राप्त करता है। सूर्य वास्तव में किसी (दिन या नक्षत्र) को हाथों से या कन्धे पर उठा कर नहीं ले जाता, किन्तु यह लोकप्रसिद्ध है कि सूर्य ही नक्षत्र या दिन को ले जाता है[1]। यही बात इन व्यभिचारी भावों के सम्बन्ध में समझनी चाहिये। पूर्व संग्रह से निर्दिष्ट इन भावों की संख्या तैंतीस है। अब हम इन्हीं का वर्णन करेंगे।

१. निर्वेद नामक व्यभिचारी भाव का लक्षण—

तत्र निर्वेदो नाम—दारिद्रचव्याध्यवमानाधिक्षेपाक्रुष्टक्रोधताडनेष्टजनवियोगतत्त्वज्ञानादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते स्त्रीनीचकुसत्त्वानाम्। रुदितनिःश्वसितोच्छ्वसितसम्प्रधारणादिभिरनुभावैस्तमभिनयेत्।

गरीबी, अवमानना, गाली गलौज, क्रोधित होकर ताडना देना, प्रिय व्यक्ति से वियोग एवं नित्य ज्ञान के साक्षात्कार आदि विभावों से निर्वेद का जन्म होता है। यह भाव स्त्रियों एवं नीचप्रकृति के पात्रों में पाया जाता है तथा इसका अभिनय रोने निःश्वास छोड़ने, आह भरने एवं चिन्तन (सम्प्रधारण) आदि के द्वारा किया जाता है।

अत्र श्लोकः—

दरिद्रचेष्टवियोगाद्यैः निर्वेदो नाम जायते।
सम्प्रधारणनिःश्वासैस्तस्य त्वभिनयो भवेत्॥ २८॥

एतद्विषयक निम्न श्लोक है—

दरिद्रता एवं प्रियवियोग आदि से निर्वेद की उत्पत्ति होती है। चिन्ता करने तथा आहें भरने आदि से इसका अभिनय किया जाना चाहिए॥ २८॥

अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः—

इष्टजनविप्रयोगाद् दारिद्रचाद् व्याधितस्तथा दुःखात्।
ऋद्धिं परस्य दृष्ट्वा निर्वेदो नाम सम्भवति॥ २९॥

यहाँ दो अनुवंशीय आर्याएँ भी मिलती हैं—

इष्ट व्यक्ति के विरह, दरिद्रता, बीमारी तथा दूसरों की समृद्धि के दर्शन से

---

१. दिवस का उदय सूर्योदय से एवं अवसान सूर्यास्त से माना जाता है। इसी भाँति सूर्य नक्षत्र विशेष में रहने के बाद दूसरे नक्षत्र में संक्रान्त हो जाता है जिस पर आधारित रहता है।

उत्पन्न दुःख से निर्वेद नामक भाव का जन्म होता है ।। २९ ।।

बाष्पपरिप्लुतनयनः पुनश्च निःश्वासदीनमुखनेत्रः ।
योगीव ध्यानपरो भवति हि निर्वेदवान् पुरुषः ।। ३० ।।

निर्वेद युक्त पुरुष के लक्षण यह हैं कि उसके नेत्र अश्रुपूर्ण होते हैं आहें भरने से मुख एवं नेत्र अत्यन्त दीन हो उठते हैं तथा वह योगी की भाँति ध्यानमग्न रहता है ।। ३० ।।

२. ग्लानि नामक व्यभिचारी भाव का लक्षण—

ग्लानिर्नाम—वान्तविरिक्तव्याधितपोनियमोपवासमनस्तापातिशयमदन-मद्यसेवनातिव्यायामाध्वगमनक्षुत्पिपासानिद्राच्छेदादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तस्याः क्षामवाक्यनयनकपोलोदरमन्दपदोत्क्षेपणवेपनानुत्साहतनुगात्रवैवर्ण्य-स्वरभेदादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

उल्टी, जुलाब, बीमारी, तपस्या, नियम, उपवास, मन के दुःख, अत्यधिक काम-परायणता, मदिरा के उपयोग, व्यायाम के आधिक्य, मार्ग पर बहुत देर चलने, भूख, प्यास, नींद टूट जाने आदि विभावों से "ग्लानि" की उत्पत्ति होती है । मन्द स्वर में बोलने, फीकी आंखों, पीले मुख, मन्दगति, कम्पन, उत्साहहीनता, शरीर तथा, मुख के रंग उतरने एवं आवाज में अन्तर पड़ने आदि अनुभावों से इसका अभिनय किया जाना चाहिए ।

अत्रार्ये भवतः—

वान्तविरिक्तव्याधिषु तपसा जरसा च जायते ग्लानिः ।
कार्श्येन साभिनेया मन्द्रभ्रमणेन कम्पेन ।। ३१ ।।

इस विषय में ये आर्याएँ हैं—

उल्टी, जुलाब, बीमारी, तपस्या एवं वार्धक्य आदि से ग्लानि उत्पन्न होती है । कमजोरी, मन्दगति एवं कम्पन आदि से इसका अभिनय किया जाना चाहिए ।। ३१ ।।

गदितैः क्षामक्षामैर्नेत्रविकारैश्च दीनसञ्चारैः ।
श्लथभावेनाङ्गानां मुहुर्मुहुर्निर्दिशेद् ग्लानिम् ।। ३२ ।।

मन्दस्वर में बोलने, दीनदृष्टि से युक्त नेत्रसंचार तथा अंगों की कमजोरी द्वारा ग्लानि का अभिनय किया जाना चाहिए ।। ३२ ।।

३. शंका नामक व्यभिचारी भाव का लक्षण—

शङ्का नाम—सन्देहात्मिका स्त्रीनीचप्रभवा । चौर्याभिग्रहणनृपापराध-पापकर्मकरणादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तस्या मुहुर्मुहुरवलोकनावकुण्ठ-

नमुखशोषणजिह्वापरिलेहनमुखवैवर्ण्यस्वरभेदवेपथुशुष्कोष्ठकण्ठायाससाधर्म्या-दिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

शंका का स्वरूप सन्देहमयात्मक होता है एवं यह स्त्री तथा नीचपात्रों में उत्पन्न होने वाला होता है । चोरी, लूट या उठाईगिरी[1], राजा के प्रति अपराध करने, एवं पाप करने आदि विभावों से इसकी उत्पत्ति होती है । बार बार देखने, ढँकने, मुँह सूखने, जीभ से होठ चाटने, मुँख के फीके पड़ जाने, आवाज बदल जाने, कम्पन, ओठ सूखने, गला भर्राने आदि अनुभावों से इसका अभिनय किया जाना चाहिए ।

चौर्यादिजनिता शङ्का प्रायः कार्या भयानके ।
प्रियव्यलीकजनिता तथा शृंगारिणी मता ॥ ३३ ॥

शंका का उदय प्रायः चोरी आदि के कारण होता है तो इसकी गणना भयानक रस में की जानी चाहिए । जब इसकी उत्पत्ति का कारण नायक का प्रतिकूल आचरण हो तो इसे शृंगार रस की कोटि में रखना चाहिए ॥ ३३ ॥

अत्राकारसंवरणमपि केचिदिच्छन्ति । तच्च कुशलैरुपाधिभिरिङ्गितै-श्चोपलक्ष्यम् ।

कुछ आचार्यों के मत में आकृति को छिपाना भी शंका में सम्मिलित है । उस आकारोपगूहन को यहाँ चतुरतापूर्ण चेष्टाओं के द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए ।

अत्रार्ये भवतः—

द्विविधा शङ्का कार्या ह्यात्मसमुत्था च परसमुत्था च ।
या तत्रात्मसमुत्था सा ज्ञेया दृष्टिचेष्टाभिः ॥ ३४ ॥

एतद्विषयक निम्न आर्याएं है—

शंका के दो प्रकार होते हैं । (१) आत्मसमुत्था (२) परसमुत्था । इनमें से आत्मसमुत्था का ज्ञान दृष्टि एवं क्रियाओं द्वारा हो जाता है ॥ ३४ ॥

किञ्चित्प्रवेपिताङ्गस्त्वधोमुखो वीक्षते च पार्श्वानि ।
गुरुसज्जमानजिह्वः श्यामास्यः शङ्कितः पुरुषः ॥ ३५ ॥

शंका से ग्रस्त व्यक्ति के अंग कुछ कांपते रहते हैं, मुख नीचे की ओर झुका

---

१. चौर्याभिग्रहण—श्री घोष ने केवल चौर्य शब्द का अर्थ दिया है 'चोरी'। शास्त्रीजी ने चौर्य एवं अभिग्रहण दोनों पदों को मिला कर इस पद का अर्थ "चोरी से सम्पत्ति ग्रहण" किया हैं । हमारे विचार से इन दोनों पदों को अलग अलग रखना अधिक उपयुक्त है । तदनुसार हमने इस पद के दो भिन्न अर्थ माने हैं, १. चोरी एवं २. लूट या उठाईगिरी ।

होता है, वह बगलें झाँकता रहता है, जीभ लड़खड़ाती है एवं उसका मुँह काला पड़ जाता है ॥ ३५ ॥

४–असूया नामक व्यभिचारी भाव का लक्षण—

असूया नाम—नानापराधद्वेषपरैश्वर्यसौभाग्यमेधाविद्यालीलादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तस्याश्च परिषदि दोषप्रख्यापनगुणोपघातेर्ष्याचक्षुःप्रदानाधोमुखभ्रुकुटीक्रियावज्ञानकुत्सनादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

असूया नामक व्यभिचारी भाव दूसरे लोगों के अनेक प्रकार के अपराधों का अन्वेषण तथा दूसरों के ऐश्वर्य, सौभाग्य, मेधा, विद्या और लीला आदि में दोषदर्शनादि विभावों से उत्पन्न होता है। सभा के बीच दूसरों के दोषों का वर्णन, गुणों को छिपाना, ईर्ष्यापूर्ण दृष्टि से देखना, नीचे की ओर मुख झुका लेना, भौंहे टेढ़ी करना, अपमान करना एवं निन्दा करना आदि अनुभावों से इनका अभिनय करना चाहिए ।

अत्रार्ये भवतः—

परसौभाग्येश्वरतामेधालीलासमुच्छ्रयान्दृष्ट्वा ।
उत्पद्यते ह्यसूया कृतापराधो भवेद्यश्च ॥ ३६ ॥

एतद्विषयक दो आर्या भी हैं—

दूसरों के सौभाग्य, सामर्थ्य, मेधा तथा लीला आदि की उन्नति देखकर जो व्यक्ति अपराधी होता है उसके हृदय में असूया जलन की भावना उत्पन्न हो जाती है ॥ ३६ ॥

भ्रुकुटिकुटिलोत्कटमुखैः सेर्ष्याक्रोधपरिवृत्तनेत्रैश्च ।
गुणनाशनविद्वेषैस्तत्राभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥ ३७ ॥

भौंहे टेढ़ी करके, मुँह टेढ़ा करके, ईर्ष्या तथा क्रोध युक्त नेत्रों से देखकर गुणों की निन्दा करके एवं विद्वेष प्रकट करके असूया का अभिनय करना चाहिए ॥ ३७ ॥

५–मद नामक व्यभिचारी भाव का लक्षण—

मदो नाम—मद्योपयोगादुत्पद्यते । स च त्रिविधः पञ्चविधभावश्च ।

मद के पीने से मद (नशा) नामक व्यभिचारी भाव की उत्पत्ति होती है। इसके तीन भेद हैं तथा पाँच प्रकार के भाव हैं ।

अत्रार्या भवन्ति—

ज्ञेयस्तु मदस्त्रिविधस्तरुणो मध्यस्तथावकृष्टश्च ।
करणं पञ्चविधं स्यात्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥ ३८ ॥

इस विषय में निम्नलिखित आर्यां हैं—

१-तरुण २-मध्य ३-अवकृष्ट (अधम) भेदों से मद तीन प्रकार का होता है। इसके करण पांच प्रकार के होते हैं उन करणों के द्वारा ही इसका अभिनय करना चाहिए ।। ३८ ।।

कश्चिन्मत्तो गायति रोदिति कश्चित्तथा हसति कश्चित् ।
परुषवचनाभिधायी कश्चित्कश्चित्तथा स्वपिति ।। ३९ ।।

कोई मद मत्त व्यक्ति गाना गाता है, कोई रोता है, कोई हंसता है, कोई कठोर वचन या गालियां बकता है तथा कोई सो जाता है। यही उसके पांच करण (भाव) है ।। ३९ ।।

उत्तमसत्त्वः शेते हसति च गायति च मध्यमप्रकृतिः ।
परुषवचनाभिधायी रोदित्यपि चाधमप्रकृतिः ।। ४० ।।

उत्तम प्रकृति वाला सो जाता है। मध्यम प्रकृति वाला हँसता तथा गाना गाता है तथा अधम प्रकृति वाला कठोर वचन या गालियाँ बकता है और रोता भी है ।। ४० ।।

स्मितवचनमधुररागो हृष्टतनुः किञ्चिदाकुलितवाक्यः ।
सुकुमाराविद्धगतिस्तरुणमदस्तूत्तमप्रकृतिः ।। ४१ ।।

उत्तम प्रकृति वाले व्यक्ति में तरुण मद होता है। उसकी चेष्टायें हैं–मुसकरा कर बोलना, मधुर राग अलापना, प्रसन्न शरीर, कुछ कुछ आकुलता पूर्ण वाक्य बोलना, सुकुमार तथा आविद्ध [लड़खड़ाती हुई] गति ।। ४१ ।।

स्खलिताघूर्णितनयनः स्रस्तव्याकुलितबाहुविक्षेपः ।
कुटिलव्याविद्धगतिर्मध्यमदो मध्यमप्रकृतिः ।। ४२ ।।

मध्यम प्रकृति वाले व्यक्ति में मध्यम मद होता है। चेष्टायें हैं—नेत्रों का मिचमिचाना, पुतलियों का घुमाना, ढ़ीले तथा अस्तव्यस्त हाथों को इधर-उधर फेंकना, टेढ़ी-मेढ़ी तथा लड़खड़ाती हुई गति ।। ४२ ।।

नष्टस्मृतिर्हतगतिश्छर्दितहिक्काकफैः सुबीभत्सः ।
गुरुसज्जमानजिह्वो निष्ठीवति चाधमप्रकृतिः ।। ४३ ।।

अधम प्रकृति वाले व्यक्ति में अधम मद होता है, उसकी चेष्टायें हैं—स्मृति का नष्ट होना, गति का रुक जाना, कफ वृद्धि के कारण हिचकी लेना, वमन करना, बीभत्स रूप हो जाना, जिह्वा का भारी होना तथा तालू में चिपक जाना, एवं बार बार थूकना आदि ।। ४३ ।।

रङ्गे पिबतः कार्या मदवृद्धिर्नाट्चयोगमासाद्य ।
कार्यो मदक्षयो वै यः खलु पीत्वा प्रविष्टः स्यात् ।। ४४ ।।

नाट्य प्रयोग के अनुसार जो रङ्गमंच पर मदिरा पिये उसके मद की वृद्धि दिखलानी चाहिये तथा यदि मदिरा पीकर रङ्गमंच पर प्रवेश करे तो उसके मद का क्षय (उतार) दिखाना चाहिए ॥ ४४ ॥

सन्त्रासाच्छोकाद्वा भयात्प्रहर्षाच्च कारणोपगतात् ।
उत्क्रम्यापि हि कार्यो मदप्रणाशः क्रमात्तज्ज्ञैः ॥ ४५ ॥

नाटयतत्त्वज्ञों को त्रास, शोक, भय, हर्ष आदि कारणों से क्रमशः मद का विनाश दिखलाना चाहिए ॥ ४५ ॥

एभिर्भावविशेषैर्मदो द्रुतं सम्प्रणाशमुपयाति ।
अभ्युदयसुखैर्वाक्यैर्यथैव शोकः क्षयं याति ॥ ४६ ॥

उपर्युक्त भय शोकादि विशेष भावों से मद उसी प्रकार अतिशीघ्र नष्ट हो जाता है जैसे कल्याणकारी सुखमय वाक्यों से शोक नष्ट हो जाता है ॥ ४६ ॥

६–श्रम नामक व्यभिचारी भाव का लक्षण—

श्रमो नाम—अध्वव्यायामसेवनादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तस्य गात्र-परिमर्दनसंवाहननिःश्वसितविजृम्भितमन्दपदोत्क्षेपणनयनवदनविकूणनसीत्कारादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

लम्बा मार्ग पार करने या व्यायाम आदि सेवन विभावों से श्रम की उत्पत्ति होती है । शरीर के मालिश करने, उसे दबाने, निःश्वास लेना, जम्भाई लेना, धीरे-धीरे पैरों का प्रक्षेप, मुँह का सिकोड़ना एवं सीत्कार आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए ।

अत्रार्या—

नृत्ताध्वव्यायामान्नरस्य सञ्जायते श्रमो नाम ।
निःश्वासखेदगमनैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥ ४७ ॥

इस विषय में आर्या में भी कहा गया है—

नृत्य करने, मार्ग चलने, या व्यायाम आदि करने से मनुष्य को श्रम होता है । उस श्रम का अभिनय निःश्वासों तथा थकावटयुक्त चाल आदि चेष्टाओं से करना चाहिए ॥ ४७ ॥

७–आलस्य नामक व्यभिचारी भाव का लक्षण—

आलस्यं नाम–खेदव्याधिगर्भस्वभावश्रमसौहित्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते स्त्रीनीचानाम् । तदभिनयेत्सर्वकर्मानभिलापशयनासननिद्रातन्द्रासेवनादिभिरनुभावैः ।

खेद, व्याधि, गर्भ, स्वभाव, श्रम, तथा अत्यन्त डटकर खा लेने आदि विभावों

से स्त्रियों तथा नीच वर्ग के व्यक्तियों में आलस्य की उत्पत्ति होती है। सभी कार्यों के करने की अनिच्छा, लेट जाना, चुपचाप बैठे रहना, सोना तथा तन्द्रा आदि अनुभावों के द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए।

अत्रार्या—

आलस्यं त्वभिनेयं खेदोपगतं स्वभावजं चापि।
आहारवर्जितानामारम्भाणामनारम्भात् ॥ ४८ ॥

इस विषय में एक आर्या भी है—

अत्यधिक आहार कर लेने से उत्पन्न आलस्य को छोड़ कर श्रम से उत्पन्न अथवा स्वाभाविक दोनों प्रकार के आलस्यों का अभिनय करने योग्य कर्मों को भी न करके करना चाहिए ॥ ४८ ॥

८–दैन्य नाम के व्यभिचारी भाव का लक्षण—

दैन्यं नाम— दौर्गत्यमनस्तापादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तस्याधृति-शिरोरोगगात्रगौरवान्यमनस्कतामृजापरिवर्जनादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

दुर्गति, मनस्ताप आदि विभावों से दैन्य भाव की उत्पत्ति होती है। अधैर्य, सिर का रोग, शरीर का भारीपन, अन्य मनस्कता, सफाई का परित्याग आदि अनुभावों के द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए।

अत्रार्या—

चिन्तौत्सुक्यसमुत्था दुःखाद्या भवति दीनता पुंसाम्।
सर्वमृजापरिहारैर्विविधोऽभिनयो भवेत्तस्य ॥ ४९ ॥

इस विषय में एक आर्या भी है—

चिन्ता, औत्सुक्य तथा दुःख आदि से पुरुषों में 'दैन्य' भाव उत्पन्न[1] होता है। इसका अभिनय सब प्रकार की सफाई का परित्याग करते हुए विविध अनुभावों से करना चाहिए ॥ ४९ ॥

९–चिन्ता नामक व्यभिचारी भाव का लक्षण—

चिन्ता नाम—एश्वर्यभ्रंशेष्टद्रव्यापहारदारिद्र्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तामभिनयेन्निःश्वसितोच्छ्वसितसन्तापध्यानाधोमुखचिन्तनतनुकार्श्यादिभिरनुभावैः।

---

१. इस श्लोक के "चिन्तौत्सुक्य समुत्था" इस पाठ की अपेक्षा पाठान्तर में में प्राप्त "द" 'अ" प्रति का "चित्योद्रेक समुत्थात्" यह पाठ संगत प्रतीत होता है क्योंकि दैन्य भाव की उत्पत्ति में औत्सुक्य का योग नहीं हो सकता। अतः "चित्त के उद्रेक से उत्पन्न दुःख" यह अर्थ अत्यन्त संगत है।

ऐश्वर्य के विनाश, इष्टपदार्थ के अपहरण तथा दरिद्रता आदि विभावों से चिन्ता नामक भाव की उत्पत्ति होती है। इसका अभिनय निःश्वास, उच्छ्वास, सन्ताप, ध्यान, नीचे की ओर मुख करके सोचना तथा शरीर का दुबलापन आदि अनुभावों से करना चाहिए।

अत्रार्ये भवतः—

ऐश्वर्यभ्रंशेष्टद्रव्यक्षयजा बहुप्रकारा तु।
हृदयवितर्कोपगता नृणां चिन्ता समुद्भवति ॥ ५० ॥

इस विषय में दो आर्या हैं—

ऐश्वर्य के विनाश या इष्टपदार्थ के क्षय के कारण मन के विविध वितर्कों से अनेक प्रकार की चिन्ता मनुष्यों के मन में उत्पन्न होती है ॥ ५० ॥

सोच्छ्वासैर्निःश्वसितैः सन्तापैश्चैव हृदयाशून्यतया।
अभिनेतव्या चिन्ता मृजाविहीनैरधृत्या च ॥ ५१ ॥

चिन्ता का अभिनय उच्छ्वास, निःश्वास, सन्ताप, शून्यहृदयता, सफाई-हीनता तथा धैर्य हीनता आदि अनुभावों से करना चाहिए ॥ ५१ ॥

१०—मोह नामक व्यभिचारी भाव का लक्षण—

मोहो नाम—दैवोपघातव्यसनाभिघातव्याधिभयावेगपूर्ववैरानुस्मरणादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तस्य निश्चैतन्यभ्रमणपतनाघूर्णनादर्शनादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

दैवोपघात, (भाग्य की मार), व्यसनाभिघात (विपत्ति की मार), व्याधि, भय, आवेग तथा पुराने वैर का स्मरण आदि विभावों से मोह नामक भाव उत्पन्न होता है। इसका अभिनय चेतना हीनता [मूर्च्छा], सिर घूमना, गिर पड़ना, आँखों से दिखाई न देना, चक्कर आना आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

अत्र श्लोकस्तावदार्या च—

अस्थाने तस्करान्दृष्ट्वा त्रासनैर्विविधैरपि।
तत्प्रतीकारशून्यस्य मोहः समुपजायते ॥ ५२ ॥

इस विषय में एक श्लोक तथा एक आर्या है—

अस्थान अर्थात् अनवसर में (जिस स्थान पर चोरों की संभावना न हो वहाँ) चोरों को देखकर और अन्य विविध त्रासों से भी उनके प्रतीकार करने में असमर्थ मनुष्य को मोह उत्पन्न होता है ॥ ५२ ॥

व्यसनाभिघातभयपूर्ववैरसंस्मरणरोगजो मोहः।
सर्वेन्द्रियसम्मोहात्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥ ५३ ॥

मोह की उत्पत्ति विपत्तियों, आघात, भय, पुराने वैर का स्मरण तथा रोग आदि से होती है। सभी इन्द्रियों की संज्ञाहीनता का प्रदर्शन करके उसका अभिनय करना चाहिए ॥ ५३ ॥

११–स्मृति नामक व्यभिचारी भाव का लक्षण—

स्मृतिर्नाम—सुखदुःखकृतानां भावानामनुस्मरणम्। सा च स्वास्थ्य-जघन्यरात्रिभागनिद्राच्छेदसमानदर्शनोदाहरणचिन्ताभ्यासादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तामभिनयेच्छिरकम्पनावलोकनभ्रूसमुन्नमनादिभिरनुभावैः।

सुख दुःखमय भावों के स्मरण को स्मृति कहते हैं। वह स्वास्थ्य, रात के पिछले पहर में नींद टूटने, समान वस्तु के दर्शन, कथन एवं अभ्यास (बार बार दुहराना) आदि विभावों से उत्पन्न होती है। उस स्मृति का अभिनय सिर को घुमाकर, इधर उधर देखकर तथा भौंहों को ऊपर उठाकर इन अनुभावों से करना चाहिए।

अत्रार्ये भवतः—

सुखदुःखमतिक्रान्तं तथा मतिविभावितं यथावृत्तम्।
चिरविस्मृतं स्मरति यः स्मृतिमानिति वेदितव्योऽसौ ॥ ५४ ॥

इस विषय में दो आर्या हैं—

बीती हुई सुख-दुःखमय चिर विस्मृत बुद्धिस्थ घटनाओं को जो याद करता है, उस स्मृति नामक भाव से युक्त पुरुष को स्मृतिमान् कहा जाता है ॥ ५४ ॥

स्वास्थ्याभ्याससमुत्था श्रुतिदर्शनसम्भवा स्मृतिर्निपुणैः।
शिरउद्वाहनकम्पैर्भ्रूक्षेपैश्चाभिनेतव्या ॥ ५५ ॥

स्मृति की उत्पत्ति स्वास्थ्य, अभ्यास, समानवस्तु के सुनने तथा देखने आदि से होती है। चतुर लोग इसका अभिनय सिर को ऊपर उठा कर या हिला कर तथा भौंहों को चला कर करते हैं ॥ ५५ ॥

१२–धृति नामक व्यभिचारी भाव का लक्षण—

धृतिर्नाम — शौर्यविज्ञानश्रुतिविभवशौचाचारगुरुभक्त्यधिकमनोरथार्थलाभक्रीडादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तामभिनयेत् प्राप्तानां विषयाणामुपभोगादप्राप्तातीतोपहतविनष्टानामननुशोचनादिभिरनुभावैः।

वीरता, विज्ञान, श्रुति (वेदाध्ययन), वैभव (ऐश्वर्य) पवित्र आचार, गुरुभक्ति, अभिलाषा से भी अधिक धन की प्राप्ति, एवं क्रीडा आदि विभावों से धृति नामक भाव की उत्पत्ति होती है। धृति नामक भाव का अभिनय प्राप्त

विषयों का सन्तोषपूर्वक उपभोग तथा अप्राप्त, विगत, अपहृत (अपहरण किये हुए) और विनष्ट विषयों का चिन्तन न करना आदि अनुभावों से करना चाहिए।

अत्रार्ये भवतः—

विज्ञानशौचविभवश्रुतिशक्तिसमुद्भवा धृतिः सद्भिः।
भयशोकविषादाद्यै रहिता तु सदा प्रयोक्तव्या॥ ५६॥

इस विषय में दो आर्या हैं—

धृति नामक भाव की उत्पत्ति विज्ञान, पवित्रता, वैभव, श्रुति (शास्त्राध्ययन) तथा शक्ति इन विभावों से होती है। इसका प्रयोग भय, शोक, विषाद आदि भावों से रहित करना चाहिए॥ ५६॥

प्राप्तानामुपभोगः शब्दरसस्पर्शरूपगन्धानाम्।
अप्राप्तैश्च न शोको यस्यां हि भवेद् धृतिः सा तु॥ ५७॥

प्राप्त शब्द, रस, स्पर्श, रूप तथा गन्ध आदि विषयों का उपभोग करके तथा अप्राप्त विषयों का शोक न करके धृति का अभिनय करना चाहिए॥ ५७॥

१३–व्रीडा नामक व्यभिचारीभाव का लक्षण—

व्रीडा नाम—अकार्यकरणात्मिका। सा च गुरुव्यतिक्रमणावज्ञान-प्रतिज्ञातानिर्वहणपश्चात्तापादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तां निगूढवदनाधोमुख-विचिन्तनोर्वीलेखन-वस्त्राङ्गुलीयकस्पर्शन - नखनिकृन्तनादिभिरनुभावैरभि-नयेत्।

अकर्तव्य कार्य के करने से व्रीडा (लज्जा) होती है। उसकी उत्पत्ति गुरुजनों की आज्ञा का उल्लङ्घन, गुरुजनों का अपमान, स्वीकार की हुई बात का निर्वाह न कर सकना तथा पश्चात्ताप आदि विभावों से होती है। उसका अभिनय मुँह छिपाना, मुख नीचा करके चिन्तन करना, नाखूनों से धरती खोदना, वस्त्रों और अँगूठी आदि को छूना आदि अनुभावों से करना चाहिए।

अत्रार्ये भवतः—

किञ्चिदकार्यं कुर्वन्नेवं यो दृश्यते शुचिभिरन्यैः।
पश्चात्तापेन युतो व्रीडित इति वेदितव्योऽसौ॥ ५८॥

इस विषय में दो आर्या इस प्रकार हैं—

जब पापहीन व्यक्ति किसी को अकार्य करते हुए देख लेते हैं तो अकार्य करने वाले के हृदय में पश्चात्तापयुक्त व्रीडा (लज्जा) नामक भाव की उत्पत्ति होती है॥ ५८॥

लज्जानिगूढवदनो भूमिं विलिखन्नखांश्च विनिकृन्तन्।
वस्त्राङ्गुलीयकानां संस्पर्शं व्रीडितः कुर्यात्॥ ५९॥

व्रीडा (लज्जा) नामक भाव से युक्त व्यक्ति लज्जा से अपना मुख छिपा लेता है, नाखूनों से भूमि खोदने लगता है, नाखूनों को दांतों से कतरने लगता है तथा वस्त्रों और अंगूठी आदि पर हाथ फेरने लगता है ॥ ५९ ॥

१४–चपलता नामक व्यभिचारी भाव का लक्षण—

चपलता नाम—रागद्वेषमात्सर्यामर्षेर्ष्याप्रतिकूलादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तस्याश्च वाक्पारुष्यनिर्भर्त्सनवधबन्धसम्प्रहारताडनादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

चपलता नामक भाव की उत्पत्ति राग, द्वेष, मात्सर्य, अमर्ष, तथा ईर्ष्या आदि प्रतिकूल विभावों से होती है। उसका अभिनय कठोर वाणी बोलना, डाँटना फटकारना, बध करना, बन्धन में डाल देना, प्रहार करना, पीटना आदि अनुभावों से करना चाहिए।

अत्रार्या भवति—

अविमृश्य तु यः कार्यं पुरुषो वधताडनं समारभते।
अविनिश्चितकारित्वात्स तु खलु चपलो बुधैर्ज्ञेयः ॥ ६० ॥

इस विषय में आर्या इस प्रकार है—

जो पुरुष बिना विचारे ही किसी को पीटने लगता है या किसी का बध कर देता है तो बिना विचार किये काम करने वाला वह व्यक्ति चपलता नामक भाव से युक्त होने के कारण चपल कहलाता है ॥ ६० ॥

१५—हर्ष नामक व्यभिचारी भाव का लक्षण—

हर्षो नाम—मनोरथलाभेष्टजनसमागमनमनः परितोषदेवगुरुराजभर्तृप्रसादभोजनाच्छादनलाभोपभोगादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तमभिनयेन्नयनवदनप्रसादप्रियभाषणालिङ्गनकण्टकितपुलकितास्रस्वेदादिभिरनुभावैः।

हर्ष नामक व्यभिचारी भाव की उत्पत्ति मनोरथों का पूरा होना, इष्टजन का आगमन, मानसिक सन्तोष, देवताओं गुरुजनों तथा स्वामी का अनुग्रह, भोजन वस्त्रादि क प्राप्ति तथा उपभोग योग्य पदार्थों की प्राप्ति आदि विभावों से होती है। इसका अभिनय नेत्रों और मुख की प्रसन्नता, प्रियभाषण, प्रियजनों का आलिङ्गन, रोमाञ्च आनन्दज अश्रुपात तथा स्वेद (पसीना निकल आना) आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

अत्रार्ये भवतः—

अप्राप्ये प्राप्ये वा लब्धेऽर्थे प्रियसमागमे वाऽपि।
हृदयमनोरथलाभे हर्षः सञ्जायते पुंसाम् ॥ ६१ ॥

इस विषय में दो आर्या इस प्रकार हैं—

प्राप्त न हो सकने वाले तथा प्राप्त हो सकने वाले दोनों प्रकार के पदार्थों के प्राप्त होने पर, प्रियजनों के मिलने या मनोरथ के पूरा हो जाने पर मनुष्यों के हृदय में 'हर्ष' नामक भाव की उत्पत्ति होती है ॥ ६१ ॥

नयनवदनप्रसादप्रियभाषालिङ्गनैश्च रोमाञ्चै ।
ललितैश्चाङ्गविहारैः स्वेदाद्यैरभिनयस्तस्य ॥ ६२ ॥

हर्ष नामक भाव का अभिनय नेत्रों तथा मुख की प्रसन्नता, प्रिय भाषण, प्रियजनों का आलिङ्गन, रोमाञ्च, ललित शारीरिक चेष्टाओं तथा स्वेद आदि के द्वारा करना चाहिए ॥ ६२ ॥

१६—आवेगनामक व्यभिचारी भाव का लक्षण—

आवेगो नाम—उत्पातवातवर्षाग्निकुञ्जरोद्भ्रमणप्रियाप्रियश्रवणव्यसनाभिघातादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तत्रोत्पातकृतो नाम विद्युदुल्कानिर्घातप्रपतनचन्द्रसूर्योपरागकेतुदर्शनकृतः । तमभिनयेत् सर्वाङ्गस्रस्ततावैमनस्यमुखवैवर्ण्यविषादविस्मयादिभिः । वातकृतं पुनरवगुण्ठनाक्षिपरिमार्जनवस्त्रसङ्गूहनत्वरितगमनादिभिः । वर्षकृतं पुनः सर्वाङ्गसम्पिण्डनप्रधावनच्छन्नाश्रयमार्गणादिभिः । अग्निकृतं तु धूमाकुलनेत्राऽङ्गसङ्कोचनविधूननातिक्रान्तापक्रान्तादिभिः । कुञ्जरोद्भ्रमणकृतं नाम त्वरितापसर्पणचञ्चलगमनभयस्तम्भवेपथुपश्चादवलोकनविस्मयादिभिः । प्रियश्रवणकृतं नामाभ्युत्थानालिङ्गनवस्त्राभरणप्रदानाश्रुपुलकितादिभिः । अप्रियश्रवणकृतं नाम भूमिपतनविषमविवर्तनपरिधावनविलापनाक्रन्दनादिभिः । व्यसनाभिघातजं तु सहसापसर्पणशस्त्रचर्मवर्मधारणगजतुरगरथारोहणसम्प्रधारणादिभिः ।

आवेग नामक व्यभिचारी भाव की उत्पत्ति उत्पात, प्रचण्डवायु, वर्षा, अग्नि लग जाना, मतवाले हाथी के द्वारा पीछा किया जाना, प्रिय सम्वाद का सुनना, अप्रिय संवाद का सुनना एवं व्यसनों का प्रहार आदि विभावों से होती है ।

१—उत्पातकृत आवेग—बिजली गिरना, उल्कापात, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण तथा केतु नामक अमङ्गल सूचक ग्रह के देखने से उत्पन्न आवेग उत्पातकृत आवेग कहलाता है ।

इसका अभिनय सभी अङ्गों की अस्तव्यस्तता, वैमनस्य (मन का दुःखी हो जाना), मुख का रङ्ग बदल जाना, विषाद तथा विस्मय आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ।

२–वातकृत आवेग—वातकृत आवेग का अभिनय वायु से विपरीत दिशा की ओर मुख करना, आंखों को मलना, वस्त्र से मुख या अंगों को छिपाना तथा वायु से बचने के लिये तीव्रगति से दौड़ना आदि अनुभावों से करना चाहिए।

३–वर्षाकृत आवेग—वर्षाकृत आवेग का अभिनय सभी अङ्गों को सिकोड़ना, दौड़ना, तथा आच्छादित आश्रय की खोज आदि अनुभावों से किया जाता है।

४–अग्निकृत आवेग—अग्निकृत आवेग का अभिनय धुएं से आँखों की आकुलता, अङ्गों का संकोचन, कम्पन, अतिक्रमण एवं अपक्रमण आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

५–कुञ्जरोद्भ्रमण कृत आवेग—हाथी द्वारा पीछा किये जाने से उत्पन्न आवेग का अभिनय तेजी से भागना, चंचल गति से चलना, भय, स्तम्भ (अङ्गों की जडता)' कम्पन पीछे की ओर बार बार घूम-घूम कर देखना तथा विस्मय आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

६–प्रियश्रवण कृत आवेग—प्रिय सम्वाद के सुनने से उत्पन्न आवेग का अभिनय प्रसन्नता पूर्वक स्वागत करना, आलिङ्गन, वस्त्रों और आभूषणों का दान, आनन्द के आँसू बहाना तथा रोमांच आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

७–अप्रिय श्रवणकृत आवेग—अप्रिय संवाद के सुनने से उत्पन्न आवेग का अभिनय शोक से पृथ्वी पर गिर पड़ना, विषमस्थल में लोटना-पोटना, दौड़ना, विलाप तथा तीव्र स्वर से क्रन्दन आदि अनुभावों के द्वारा किया जाना चाहिए।

८–विपत्तिकृत आवेग—राज्य की प्रजा पर अचानक महायुद्धादि के आ पड़ने से उत्पन्न व्यसन कृत (विपत्ति की मार रूप) आवेग का अभिनय अचानक भागना, शस्त्रों ढाल, कवच आदि का धारण करना, हाथी घोड़ा रथ आदि पर चढना तथा संप्रधारण (कर्तव्य अकर्तव्य का विचार) आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है।

एवमष्टविकल्पोऽयमावेगः सम्भ्रमात्मकः।
स्थैर्येणोत्तममध्यानां नीचानां चापसर्पणैः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार भय से उत्पन्न आवेग आठ प्रकार का होता है। उत्तम तथा मध्यम प्रकृति वाले व्यक्ति इन आवेगों का सामना धैर्यपूर्वक करते हैं तथा नीच प्रकृति वाले व्यक्ति घबड़ाकर भाग खड़े होते हैं ॥ ६३ ॥

अत्रार्ये भवतः—

अप्रियनिवेदनाद्वा सहसा ह्यवधारितारिवचनस्य।
शस्त्राक्षेपात् त्रासादावेगो नाम सम्भवति ॥ ६४ ॥

इस विषय में दो आर्या इस प्रकार हैं—

अचानक शत्रु के वचन को सुनकर निश्चय कर लेने वाले व्यक्ति को किसी

व्यक्ति के द्वारा अप्रिय सम्वाद को सुनकर शस्त्रों के प्रहार एवं भय आदि से आवेग की उत्पत्ति होती है ॥ ६४ ॥

अप्रियनिवेदनाद्यो विषादभावाश्रयोऽनुभावोऽस्य ।
सहसारिदर्शनाच्चेत्प्रहरणपरिघट्टनैः कार्यः ॥ ६५ ॥

अप्रिय सम्वाद को सुनने से उत्पन्न आवेग का अभिनय विषाद के प्रदर्शन द्वारा करना चाहिये तथा अचानक शत्रु का सामना हो जाने से उत्पन्न आवेग का अभिनय शस्त्रों के संचालन आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ॥ ६५ ॥

१७—जडता नामक व्यभिचारी भाव का लक्षण—

जडता नाम—सर्वकार्याप्रतिपत्तिः। इष्टानिष्टश्रवणदर्शनव्याध्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तामभिनयेदकथनाभिभाषणतूष्णीम्भावाप्रतिभाऽनिमेषनिरीक्षणपरवशत्वादिभिरनुभावैः ।

सभी कार्यों के प्रति कर्तव्य विमूढता को जडता कहते हैं। जडता नामक भाव की उत्पति इष्ट व्यक्ति के अनिष्ट संवाद को सुनने तथा देखने से और व्याधि आदि विभावों से होती है। इसका अभिनय प्रत्युत्तर में कुछ भी न बोलना, बोलना बन्द कर देना, हतप्रभ हो जाना, एकटक देखना तथा अङ्गों की परवशता आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ।

अत्रार्या भवति—

इष्टं वाऽनिष्टं वा सुखदुःखे वा न वेत्ति यो मोहात् ।
तूष्णीकः परवशगो भवति स जडसंज्ञितः पुरुषः ॥ ६६ ॥

इस विषय में एक आर्या है—

जो व्यक्ति मोहवश सुख-दुःख या इष्ट अनिष्ट को नहीं समझ पाता तथा परवश के समान चुप हो जाता है उसे जडता नामक भाव से युक्त जडपुरुष समझना चाहिए ॥ ६६ ॥

१८—गर्व नामक व्यभिचारी भाव का लक्षण—

गर्वो नाम — ऐश्वर्यकुलरूपयौवनविद्याबलधनलाभादिभिर्विभावैः । समुत्पद्यते । तस्यासूयावज्ञाधर्षणानुत्तरदानासम्भाषणाङ्गावलोकनविभ्रमापहसन-वाक्पारुष्य-गुरुव्यतिक्रमणाधिक्षेप · वचनविच्छेदादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

ऐश्वर्य, कुल, रूप, यौवन, विद्या, बल तथा अर्थलाभ आदि विभावों से गर्व नामक भाव की उत्पत्ति होती है। उसका अभिनय असूया, अवज्ञा, आर्धषणा (तिरस्कार),

उत्तर न देना, मौन रहना, अपने अङ्गों को गर्वपूर्वक देखना, शृङ्गार चेष्टा, उपहास करना, कटुवचन कहना, गुरुजनों की आज्ञा का उल्लङ्घन, अधिक्षेप (आक्षेप या गाली-गलौज) तथा बात को बीच में ही काट देना आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

अत्रार्या भवति—

विद्यावाप्ते रूपादैश्वर्यादथ धनागमाद्वापि।
गर्वः खलु नीचानां, दृष्टयङ्गविचारणैः कार्यः ॥ ६७ ॥

विद्या, रूप, ऐश्वर्य तथा धन आदि की प्राप्ति से नीच प्रकृति वाले व्यक्तियों के हृदय में गर्व नामक भाव की उत्पत्ति होती है। उसका अभिनय तिरस्कार या गर्वपूर्ण दृष्टि तथा अङ्गविकारों के द्वारा करना चाहिए ॥ ६७ ॥

१९–विषाद नामक व्यभिचारी भाव का लक्षण—

विषादो नाम—कार्यानिस्तरणदैवव्यापत्तिसमुत्थः। तमभिनयेत्सहायान्वेषणोपायचिन्तनोत्साहविघात-वैमनस्य - निःश्वसितादिभिरनुभावैरुत्तम-मध्यमानाम्। अधमानां तु विपरिधावनालोकनमुखशोषणसृक्वपरिलेहनानिद्रानिःश्वसितध्यानादिभिरनुभावैः।

अभीष्ट कार्य के पूरा न हो सकने पर या दैवी आपत्ति आ पड़ने पर विषाद नामक भाव की उत्पत्ति होती है। इसका अभिनय सहायकों की खोज करना, उपाय सोचना, उत्साह का नष्ट हो जाना, वैमनस्य (मन दुःखी हो जाना), निःश्वासें लेना आदि अनुभावों के द्वारा उत्तम तथा मध्यम प्रकृति वाले व्यक्तियों को करना चाहिए। अधम प्रकृति वाले व्यक्तियों को इसका अभिनय इधर-उधर भागना-दौड़ना, इधर-उधर देखना, मुख सूख जाना, ओष्ठप्रान्त (सृक) पर जीभ फिराना, निद्रा न आना, निश्वासें लेना तथा ध्यानमग्न सा हो जाना आदि अनुभावों द्वारा करना चाहिए।

अत्रार्या श्लोकौ—

कार्यानिस्तरणाद्वा चौर्याभिग्रहणराजदोषाद्वा।
दैवादर्थविपत्तेर्भवति विषादः सदा पुंसाम् ॥ ६८ ॥

इस विषय में एक आर्या तथा एक श्लोक है—

किसी अभीष्ट कार्य के पूरा न हो सकने, चोरी में पकड़े जाने, राजा के प्रति अपराध करने, दैवी आपत्ति पड़ने या धन हानि आदि विभावों से विषाद नामक भाव की उत्पत्ति होती है ॥ ६८ ॥

वैचित्र्योपायचिन्ताभ्यां कार्यं उत्तममध्ययोः।
निद्रानिःश्वसितध्यानैरधमानां तु योजयेत् ॥ ६९ ॥

उत्तम तथा मध्यम प्रकृति वालों को इसका अभिनय वैचित्य (चित्त का अन्य-मनस्क हो जाना) या उपाय चिन्तन आदि अनुभावों के द्वारा तथा अधम प्रकृति वालों को इसका अभिनय निद्रा, निःश्वास तथा ध्यानमग्न सा हो जाना आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ।। ६९ ।।

२०—औत्सुक्य नामक व्यभिचारी भाव का लक्षण—

औत्सुक्यं नाम — इष्टजनवियोगानुस्मरणोद्यानदर्शनादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । यस्य दीर्घनिःश्वसिताधोमुखविचिन्तननिद्रातन्द्राशयनाभिलाषादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

इष्टजनों को वियोग, इष्टजनों का बार-बार स्मरण तथा वाटिका की शोभा का देखना आदि विभावों से औत्सुक्य नामक भाव की उत्पत्ति होती है । इसका अभिनय दीर्घनिःश्वास, नीचामुख करके सोंचना, निद्रा, तन्द्रा तथा सोने की अभिलाषा आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ।

आत्रार्या भवति—

इष्टजनस्य वियोगादौत्सुक्यं जायते ह्यनुस्मृत्या ।
चिन्तानिद्रातन्द्रागात्रगुरुत्वैरभिनयोऽस्य ।। ७० ।।

इस विषय में एक आर्या है—

इष्टजनों के वियोग या इष्टजनों के बार-बार स्मरण करने से औत्सुक्य नामक भाव की उत्पत्ति होती है । इसका अभिनय चिन्ता, निन्द्रा, तन्द्रा तथा शरीर का भारीपन आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ।। ७० ।।

२१—निद्रा नामक व्यभिचारी भाव का लक्षण—

निद्रा नाम—दौर्बल्यश्रमक्लममदालस्यचिन्ताऽत्याहारस्वभावादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तामभिनयेद्वदनगौरवशरीरावलोकननेत्रघूर्णनगात्रविजृम्भणमान्द्योच्छ्वसितसन्नगात्रताऽक्षिनिमीलनादिभिरनुभावैः ।

दुर्बलता, श्रम, क्लान्ति, मद, आलस्य, चिन्ता, अधिक आहार तथा स्वभाव आदि विभावों से निद्रा नामक भाव की उत्पत्ति होती है । इसका अभिनय शरीर का भारीपन, अङ्गों को देखना, आँखों की पुतलियों का घुमाना, अँगड़ाई लेना, मन्द चेष्टा, उच्छ्वास, अङ्गों की शून्यता तथा आँखें बन्द कर लेना आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ।

अत्रार्ये भवतः—

आलस्याद्दौर्बल्यात्क्लमाच्छ्रमाच्चिन्तनात्स्वभावाच्च ।
रात्रौ जागरणादपि निद्रा पुरुषस्य सम्भवति ।। ७१ ।।

इस विषय में दो आर्या हैं—

व्यक्ति में आलस्य, दुर्बलता, क्लान्ति, श्रम, चिन्ता, रात्रिजागरण तथा स्वभावतः निद्रा नामक भाव की उत्पत्ति होती है ॥ ७१ ॥

तां मुखगौरवगात्रप्रतिलोलननयनमीलनजडत्वैः ।
जृम्भणगात्रविमर्दैरनुभावैरभिनयेत् प्राज्ञः ॥ ७२ ॥

प्राज्ञजन को निद्रा नामक भाव का अभिनय मुख गौरव (मुँह लटका लेना) अङ्गों का हिलना-डुलना, आँखें बन्द करना, जडता, जमुहाई तथा शरीर टूटना आदि अनुभावों से करना चाहिये ॥ ७२ ॥

२२—अपस्मार नामक व्यभिचारी भाव का लक्षण—

अपस्मारो नाम—देवयक्षनागब्रह्मराक्षसभूतप्रेतपिशाचग्रहणानुस्मरणोच्छिष्टशून्यागारसेवनाशुचिकालान्तरापरिपतनव्याध्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तस्य स्फुरितनिःश्वसितोत्कम्पितधावनपतनस्वेदस्तम्भनवदनफेनजिह्वापरिलेहनादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

अपस्मार (मिर्गी) नामक भाव की उत्पत्ति देवता यक्ष, नाग, ब्रह्मराक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच आदि के पकड़ लेने, इनके स्मरण करने, जूठा खाने, सूने भवनों में रहने, अपवित्र अवस्था में बहुत समय तक रहने[1] तथा व्याधि आदि विभावों से होती है। अपस्मार नामक भाव का अभिनय अङ्गों का स्फुरण (फड़कना), निःश्वास लेना, काँपना, दौड़ना, गिर पड़ना, पसीना आना, अङ्गों का जड़ हो जाना, (जकड़ जाना), मुख से फेना निकलना, जीभ से ओठों को चाटना आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

अत्रार्ये भवतः—

भूतपिशाचग्रहणानुस्मरणोच्छिष्टशून्यगृहगमनात् ।
कालान्तरातिपातादशुचेश्च भवत्यपस्मारः ॥ ७३ ॥

इस विषय में दो आर्या हैं—

भूत पिशाच आदि के द्वारा पकड़ लेने, उनकी याद करने, जूठा खाने, सूने घर

---

१. उपर्युक्त गद्यभाग में 'कालान्तरापरिपतन' यह शब्द अस्पष्ट तथा भ्रष्ट प्रतीत होता है। श्री मधुसूदन शास्त्री ने इसका अर्थ किया है "अशुचि अवस्था में कालान्तर का परिपतन अर्थात् चिरकाल तक अशुद्धि अवस्था में रहना" किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है क्योंकि शास्त्री जी ने 'परिपतन' शब्द का अर्थ किया है जबकि मूल में 'अपरिपतन' शब्द है।

इसके बाद वाली आर्या संख्या ७३ में 'कालान्तरातिपातादशुचेश्च' यह पाठ प्राप्त होता है। हमने इसी पाठ को प्रामाणिक मानकर उपर्युक्त अर्थ किया है।

में जाने, तथा अपवित्र अवस्था में बहुत समय तक रहने आदि से अपस्मार (मिर्गी) की उत्पत्ति होती है ॥ ७३ ॥

सहसा भूमौ पतनं प्रवेपनं वदनफेनमोक्षश्च ।
नि संज्ञस्योत्थानं रूपाण्येतान्यपस्मारे ॥ ७४ ॥

अचानक भूमि पर गिर पड़ना, काँपना, मुँह से फेन निकलना तथा मूर्च्छित हो जाना इन अनुभावों के द्वारा अपस्मार नामक भाव का अभिनय करना चाहिये ॥ ७४ ॥

२३—सुप्त नामक व्यभिचारी भाव का लक्षण—

सुप्तं नाम — निद्राभिभवविषयोपगमनमोहनक्षितितलशयनप्रसारणानुकर्षणादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। निद्रासमुत्थं तदुच्छ्वसितसन्नगात्राक्षिनिमीलनसर्वेन्द्रियसम्मोहनोत्स्वप्नायितादिभिरनुभावैरभिनयेत् ।

सुप्त (सो जाना) नामक भाव की उत्पत्ति निद्रा के आक्रमण करने, विषयों का सेवन करने, विषयों से मोहित होने, पृथ्वी पर सोने, हाथ पाँव आदि फैला देने तथा इधर उधर लोटने पोटने आदि विभावों के द्वारा होती है ।

निद्रा से उत्पन्न उस (सुप्त नामक भाव) का अभिनय उच्छ्वास लेना, अङ्गों का शिथिल हो जाना, आँखें मूँद लेना, सभी इन्द्रियों का बेसुध हो जाना तथा स्वप्न देखना आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिये ।

इस विषय में दो आर्या है—

अत्रार्ये भवतः—

निद्राभिभवेन्द्रियोपरमणमोहनैर्भवेत् सुप्तम् ।
अक्षिनिमीलोच्छ्वसनैः स्वप्नायितजल्पितैः कार्यः ॥ ७५ ॥

सुप्त नामक भाव की उत्पत्ति निद्रा के आक्रमण करने इन्द्रियों के शिथिल होने तथा इन्द्रियों के संज्ञाहीन हो जाने से होती है। इसका अभिनय आँखें मूँद लेने, गहरी साँसें लेने, स्वप्न देखने तथा निद्रा में बड़बड़ाने के द्वारा करना चाहिये ॥ ७५ ॥

सोच्छ्वासैर्निःश्वासैर्मन्दाक्षिनिमीलनेन निश्चेष्टः ।
सर्वेन्द्रियसम्मोहात्सुप्तं स्वप्नैश्च युञ्जीत ॥ ७६ ॥

सुप्त नामक भाव का अभिनय जोर से उच्छ्वास और निःश्वास लेना, धीरे-धीरे आँखें मूँदना, निश्चेष्ट हो जाना, सभी इन्द्रियों का बेसुध हो जाना तथा स्वप्न देखना आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिये ॥ ७६ ॥

२४—विबोध नामक व्यभिचारी भाव का लक्षण—

विबोधो नाम—आहारपरिणामनिद्राच्छेदस्वप्नान्ततीव्रशब्दश्रवणस्पर्शा-

दिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तमभिनयेज्जृम्भणाक्षिपरिमर्दनशयनमोक्षणादिभिरनुभावैः।

विबोध (जाग पड़ना) नामक भाव की उत्पत्ति आहार का पच जाना, नींद टूट जाना, स्वप्न का समाप्त हो जाना, तीव्र शब्द का सुनना तथा किसी के स्पर्श आदि विभावों से होती है।

विबोध नामक भाव का अभिनय जमुँहाई लेना, आँखें मलना, तथा शय्या त्याग देना आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिये।

अत्रार्या भवति—

आहारविपरिणामाच्छब्दस्पर्शादिभिश्च सम्भूतः।
प्रतिबोधस्त्वभिनेयो जृम्भणवदनाक्षिपरिमर्दैः॥ ७७॥

इस विषय में एक आर्या है—

विबोध नामक भाव की उत्पत्ति आहार के पच जाने, किसी शब्द को सुनने या किसी के स्पर्श करने आदि से होती है। इसका अभिनय जमुँहाई लेना तथा मुख और आँखों के मलने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिये॥ ७७॥

२५–अमर्ष नामक व्यभिचारी भाव का लक्षण—

अमर्षो नाम--विद्यैश्वर्यशौर्यबलाधिकैरधिक्षिप्तस्यावमानितस्य वा समुत्पद्यते। तमभिनयेच्छिरःकम्पनप्रस्वेदनाधोमुखचिन्तनध्यानाध्यवसायोपायसहायान्वेषणादिभिरनुभावैः।

अपने से अधिक विद्या, ऐश्वर्य या बल वाले व्यक्तियों के द्वारा आक्षेप किए हुए या अपमानित व्यक्ति के हृदय में अमर्ष नामक भाव की उत्पत्ति होती है। इसका अभिनय सिर हिलाना, पसीना निकलना, नीचा मुख करके सोंचना, ध्यानावस्थित हो जाना, बदला लेने के लिए किसी शारीरिक चेष्टा या उपाय का प्रयोग करना तथा सहायक व्यक्ति की खोज करना आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

अत्र श्लोकौ—

आक्षिप्तानां सभामध्ये विद्याशौर्यबलाधिकैः।
नृणामुत्साहसंयोगादमर्षो नाम जायते॥ ७८॥

इस विषय में दो श्लोक हैं—

सभा के बीच अधिक विद्या, पराक्रम या बल वाले व्यक्तियों द्वारा आक्षेप किये जाने पर उत्साह युक्त पुरुषों के हृदय में अमर्ष नामक भाव की उत्पत्ति होती है॥ ७८॥

उत्साहाध्यवसायाभ्यामधोमुखविचिन्तनैः ।
शिरःप्रकम्पस्वेदाद्यैस्तं प्रयुञ्जीत पण्डितः ॥ ७९ ॥

अमर्ष नामक भाव का अभिनय नाट्यवेत्ता को उत्साह, अध्यवसाय, नीचा मुख करके सोंचना, सिर हिलाना तथा पसीना निकलना आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिये ॥ ७९ ॥

२६—अवहित्थ नामक व्यभिचारी भाव का लक्षण—

अवहित्थं नाम—आकारप्रच्छादनात्मकम् । तच्च लज्जाभयापजय-गौरवजैह्म्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तस्यान्यथाकथनावलोकितकथाभङ्ग-कृतकधैर्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

मनोभावजनित आकृति परिवर्तन के छिपाने को अवहित्थ भाव कहते हैं। इसकी उत्पत्ति लज्जा, भय, पराजय, गौरव तथा कुटिलता आदि विभावों से होती है ।

इसका अभिनय झूठी बात बनाना, दूसरी ओर देखना, प्रस्तुत वार्तालाप को बीच में ही रोक देना तथा बनावटी धैर्य आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिये ।

अत्र श्लोको भवति—

धाष्टर्यजैह्म्यादि सम्भूतमवहित्थं भयात्मकम् ।
तच्चागणनया कार्यं नातीवोतरभाषणम् ॥ ८० ॥

इस विषय मे एक श्लोक है—

किसी प्रकार के भय के कारण अपनी चेष्टा को छिपाना अवहित्थ नामक भाव कहलाता है, इसकी उत्पत्ति धृष्टता तथा कुटिलता आदि विभावों से होती है । इसका अभिनय प्रस्तुत प्रसंग पर ध्यान न देना या उत्तर स्वरूप कुछ भी न कहना आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ॥ ८० ॥

२७—उग्रता नामक व्यभिचारी भाव का लक्षण—

उग्रता नाम—चौर्याभिग्रहणनृपापराधासत्प्रलापादिभिर्विभावैः समु-त्पद्यते । तां च वधबन्धनताडननिर्भर्त्सनादिभिरनुभावैरभिनयेत् ।

उग्रता नामक भाव की उत्पत्ति चोरी में पकड़े जाने, राजा के प्रति अपराध करने तथा गाली-गलौज बकना आदि विभावों से होती है । इसका अभिनय बध, ताडन (मारना-पीटना), डाँटना-फटकारना आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ।

अत्रार्या भवति—

चौर्याभिग्रहणवशान्नृपापराधादथोग्रता भवति ।
वधबन्धताडनादिभिरनुभावैरभिनयस्तस्याः ॥ ८१ ॥

इस विषय में एक आर्या है—

चोरी में पकड़े जाना, राजा के प्रति अपराध करना, आदि विभावों से उग्रता नामक भाव की उत्पत्ति होती है। इसका अभिनय वध, बन्धन, ताडन आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ॥ ८१ ॥

२८—मति नामक व्यभिचारी भाव का लक्षण—

मतिर्नाम—नानाशास्त्रविचिन्तनोहापोहादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तामभिनयेच्छिष्योपदेशार्थविकल्पनसंशयच्छेदादिभिरनुभावैः।

मति (सुबुद्धि) नामक भाव की उत्पत्ति विविध शास्त्रों के अध्ययन, मनन एवं ऊहापोह आदि विभावों से होती है। इसका अभिनय शिष्यों को उपदेश देना, अनेक प्रकार के अर्थ करना तथा शास्त्र विषयक सन्देहों का निराकरण करना आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

भवति चात्र श्लोकः—

नानाशास्त्रार्थबोधेन मतिः संजायते नृणाम्।
शिष्योपदेशार्थकृतस्तस्यास्त्वभिनयो भवेत् ॥ ८२ ॥

इस विषय में एक श्लोक है—

अनेक शास्त्रों के अर्थों का ज्ञान होने से मनुष्यों के हृदय में मति (सुबुद्धि) नामक भाव की उत्पत्ति होती है। इसका अभिनय शिष्यों को उपदेश देना आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है ॥ ८२ ॥

२९—व्याधि नामक व्यभिचारी भाव का लक्षण—

व्याधिर्नाम—वातपित्तकफसन्निपातप्रभवः। तस्याः ज्वरादयो विशेषाः। ज्वरस्तु द्विविधः सशीतः सदाहश्च। तत्र सशीतो नाम—प्रवेपितसर्वाङ्गोत्कम्पननिकुञ्चनाग्न्यभिलाषरोमाञ्चहनुवलननासाविकूणनमुखशोषणपरिदेवितादिभिरनुभावैरभिनेयः। सदाहो नाम—विक्षिप्ताङ्गकरचरणभूम्यभिलाषानुलेपनशीताभिलाषपरिदेवनमुखशोषोत्क्रुष्टादिभिरनुभावैः। ये चान्ये व्याधयस्तेऽपि खलु मुखविकूणनगात्रस्तम्भस्रस्ताक्षिनिःश्वसनस्तनितोत्क्रुष्टवेपनादिभिरनुभावैरभिनेयाः।

वात, पित्त, कफ तथा सन्निपात से व्याधि की उत्पत्ति होती है। ज्वर आदि उसके विशेष भेद कहे जाते हैं। ज्वर दो प्रकार का है १-शीतयुक्त एवं २-दाहयुक्त। १-शीतयुक्त ज्वर का अभिनय काँपना, सभी अङ्गों का हिलना, सिकुड़ जाना, आग तापने की अभिलाषा करना, ठोढ़ी का घुमाना, नाक सिकोड़ना, मुख सूखना तथा रोना आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए। २-दाहयुक्त ज्वर का अभिनय अङ्गों

तथा हाथ पैरों का इधर उधर फेंकना, भूमि पर सोने की इच्छा करना, शरीर में शीतलतादायक लेप लगाना, शीतल पदार्थों के सेवन की अभिलाषा, रोना, मुंह सूखना तथा चीखना-चिल्लाना आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त जो अन्य व्याधियाँ हैं उनका अभिनय भी मुँह सिकोड़ना, शरीर का स्तम्भित (जड) हो जाना, आँखों को कुञ्चित करना, काँपना चीखना-चिल्लाना तथा रोना आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिये।

अत्र श्लोको भवति--

समासतस्तु व्याधीनां कर्तव्योऽभिनयो बुधैः।
स्रस्ताङ्गगात्रविक्षेपैस्तथा मुखविकूणनैः॥ ८३॥

इस विषय में एक श्लोक है—

विद्वानों को संक्षेप में सभी व्याधियों का अभिनय अङ्गों की शिथिलता, अङ्गों को इधर उधर फेंकना तथा मुँह सिकोड़ना आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिये॥ ८३॥

३०—उन्माद नामक व्यभिचारी भाव का लक्षण—

उन्मादो नाम—इष्टजनवियोगविभवनाशाभिघातवातपित्तश्लेष्मप्रकोपादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तमनिमित्तहसितरुदितोत्क्रुष्टासम्बद्धप्रलापशयितोपविष्टोत्थितप्रधावितनृत्तगीतपठितभस्मपांस्ववधूलनतृणनिर्माल्यकुचेलचीर-घटकपालशरावाभरणधारणोपभोगैरनेकैश्चानवस्थितैश्चेष्टानुकरणादिभिरनुभावैरभिनयेत्।

उन्माद (पागलपन) नामक भाव की उत्पत्ति-इष्टजनों के वियोग, धननाश, सांघातिक चोट तथा वात-पित्त-कफ के प्रकोप आदि विभावों के द्वारा होती है। इसका अभिनय कभी बिना कारण हंसना, कभी रोना, कभी चीखना-चिल्लाना, कभी असम्बद्ध प्रलाप करना, कभी लेट जाना, कभी उठ बैठना, कभी खड़े हो जाना, कभी दौड़ने लगना, कभी नाचने लगना, कभी गाने लगना, कभी पढ़ने लगना, कभी भस्म या धूल सारे शरीर में पोत लेना, घास फूस की माला-फटे पुराने गन्दे कपड़े एवं चीर वल्कल घड़े का खपड़ा-मिट्टी का प्याला आदि को आभूषणों के समान धारण या उपभोग करना तथा अनेक प्रकार अव्यवस्थित (ऊट-पटांग) चेष्टाओं का अनुकरण करना आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

अत्रार्ये भवतः—

इष्टजनविभवनाशादभिघाताद्वातपित्तकफकोपात्।
विविधाच्चित्तविकारादुन्मादो नाम सम्भवति॥ ८४॥

इस विषय में दो आर्या हैं —

उन्माद नामक भाव की उत्पत्ति इष्टजनों या धन का नाश, गहरी चोट, वातपित्त-कफ का प्रकोप तथा अनेक प्रकार के मानसिक विकारों के कारण होती है ॥ ८४ ॥

अनिमित्तरुदितहसितोपविष्टगीतप्रधावितोत्क्रुष्टैः ।
अन्यैश्च विकारकृतैरुन्मादं सम्प्रयुञ्जीत ॥ ८५ ॥

बिना कारण रोना, हंसना, उठबैठना, गाना, दौड़ना, चीखना चिल्लाना तथा इसी प्रकार की दूसरी मानसिक-विकार जन्य चेष्टायें करना आदि अनुभावों के द्वारा उन्माद नामक भाव का अभिनय करना चाहिए ॥ ८५ ॥

३१–मरण नामक व्यभिचारी भाव का लक्षण—

मरणं नाम–व्याधिजमभिघातजञ्च ।

मरण नामक भाव के दो भेद होते हैं । १–व्याधिज मरण, २–अभिघातज मरण ।

व्याधिज मरण का लक्षण—

तत्र यदान्त्रयकृच्छूलदोषवैषम्यगण्डपिटकज्वरविषूचिकादिभिरुत्पद्यते तद्व्याधिप्रभवम् ।

इन दोनों भेदो में—अंत्र (आंत) यकृत् (जिगर), वात-पित्त-कफ इन तीनों दोषों की विषमता, गण्डमाला, ज्वर तथा विषूचिका (हैजा) आदि से होने वाले मरण को व्याधिज-मरण कहते हैं ।

अभिघातज मरण का लक्षण—

अभिघातजन्तु शस्त्राहिदंशविषपानश्वापदगजतुरगरथपशुयानपातविनाशप्रभवम् । एतयोरभिनयविशेषान्वक्ष्यामः—

शास्त्र-प्रहार, सांप का काटना, विष पीना, हिंसक जन्तुओं के प्रहार तथा हाथी, घोड़ा, रथ और अन्य पशुओं की सवारी से गिरना इत्यादि से होने वाले मरण को अभिघातज मरण कहते हैं । अब हम इन दोनों के विशेष अभिनयों का वर्णन करेंगे ।

व्याधिज मरण का मरण अभिनय—

तत्र व्याधिजं विषण्णगात्राव्यायताङ्गविचेष्टितनिमीलितनयनहिक्काश्वासोपेतानवेक्षितपरिजनाव्यक्ताक्षरकथनादिभिरनुभावैरभिनयेत् ।

इन दोनों प्रकार के मरणों में व्याधिज मरण का अभिनय विषादपूर्ण एवं दुर्बलतायुक्त अङ्गों की चेष्टा, आँखों का मूंदना, हिचकियां लेना, ऊर्ध्वश्वास

चलना, अपने परिवार वालों को न पहचानना तथा लड़खड़ाते अक्षरों से युक्त वाणी आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

अत्र श्लोको भवति—

व्याधीनामेकभावो हि मरणाभिनयः स्मृतः।
विषण्णगात्रैर्निश्चेष्टैरिन्द्रियैश्च विवर्जितः॥ ८६ ॥

इस विषय में एक श्लोक है—

सब प्रकार की व्याधियों के एकीभाव (समूह) का कारण मरण (मृत्यु) होता है। इनका अभिनय अङ्गों की विषादपूर्णता (शिथिलता) या इन्द्रियों की व्यापारशून्यता आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए॥ ८६ ॥

अभिघातज मरण का लक्षण—

अभिघातजे तु नानाप्रकारा अभिनयविशेषाः। शस्त्रक्षताहिदष्टविषपीत-गजादिपतितश्वापदहताः।

अभिघातज मरण के अन्तर्गत अनेक प्रकार के अभिनयों का समावेश है, जैसे—शस्त्र का घाव, साँप का काटना, विषपान, हाथी आदि की सवारी से गिर पड़ना, तथा हिंसक जन्तुओं के द्वारा मारा जाना आदि।

अभिघातज मरण का अभिनय—

यथा तत्र शस्त्रक्षते तावत्सहसा भूमिपतनवेपनस्फुरणादिभिरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

जैसे–शस्त्रक्षत मरण का अभिनय अचानक भूमि पर गिर पड़ना, कांपने लगना, छटपटाना, आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

विषवेगों के आठ भेद—

अहिदष्टविषपीतयोर्विषवेगो यथा– कार्श्यवेपथुविदाहहिक्काफेनस्कन्ध-भङ्गजडतामरणानीत्यष्टौ विषवेगाः।

साँप के काटने तथा विषपान के द्वारा उत्पन्न जैसे—(निम्नलिखित) आठ प्रकार के विषवेग है—१-कार्श्य (दुबलापन), २-वेपथु (कांपना), ३-विदाह (जलन), ४-हिक्का (हिचकी), ५-फेन (मुँह से फेना निकलना), ६-स्कन्धभङ्ग, ७-जडता, ८-मरण।

अत्र श्लोकौ भवतः—

कार्श्यं तु प्रथमे वेगे द्वितीये वेपथुर्भवेत्।
दाहं तृतीये हिक्कां च चतुर्थे सम्प्रयोजयेत्॥ ८७ ॥

फेनश्च पञ्चमे कुर्यात्षष्ठे स्कन्धस्य भञ्जनम् ।
जडतां सप्तमे कुर्यादष्टमे मरणं [भवेत् ॥ ८८]॥

इस विषय में दो श्लोक हैं—

विष के पहले वेग में शरीर का दुबलापन या सिकुड़ना, दूसरे में कम्पन, तीसरे में दाह, चौथे में हिचकी, पाँचवे में मुँह से फेना निकालना, छठे में स्कन्धभङ्ग, सातवें में जडता तथा आठवें वेग में मरण हो जाता है ॥ ८७-८८ ॥

अभिघातज मरण का अभिनय—

अत्रार्या भवति—

श्वापदगजतुरगरथोद्भवं तु पशुयानपतनजं वाऽपि ।
शस्त्रक्षतवत्कुर्यादनवेक्षितगात्रसञ्चारम् ॥ ८९ ॥

इस विषय में एक आर्या है—

जिस प्रकार शस्त्रक्षतजन्य मरण में अङ्गों के संचालन का कोई निश्चित नियम नहीं, उसी प्रकार हिंसक जन्तुओं तथा हाथी घोड़ा अथवा रथ आदि से गिरने से उत्पन्न मरण का भी अभिनय करना चाहिए ॥ ८९ ॥

मरण संचारी भाव का उपसंहार—

इत्येवं मरणं ज्ञेयं नानावस्थान्तरात्मकम् ।
प्रयोक्तव्यं बुधैः सम्यग्यथाभावाङ्गचेष्टितैः ॥ ९० ॥

इस प्रकार अनेक प्रकार की अवस्थाओं से युक्त मरण भाव का वर्णन किया गया। विद्वान् लोगों को इसका अभिनय भाव के अनुरूप अङ्गचेष्टाओं द्वारा करना चाहिए ॥ ९० ॥

३२—त्रास नामक व्यभिचारीभाव का लक्षण—

त्रासो नाम—विद्युदुल्काशनिपातनिर्घाताम्बुधरमहासत्त्वपशुरवादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । तमभिनयेत् संक्षिप्ताङ्गोत्कम्पनवेपथुस्तम्भरोमाञ्चगद्गदप्रलापादिभिरनुभावैः ।

बिजली कड़कना, उल्कापात, वज्रपात, भयंकर आघात, बादलों का गर्जन, विशालकाय प्राणी तथा हिंसक पशुओं के शब्द आदि विभावों से त्रास नामक भाव की उत्पत्ति होती है ।

अंगों का सिकोड़ना, कांपना, थर-थराना, स्तम्भ (जड हो जाना), रोमांच तथा गद्गद स्वर में प्रलाप करना आदि अनुभावों के द्वारा त्रास का अभिनय करना चाहिए ।

अत्र श्लोको भवति—

महाभैरवनादाद्यैस्त्रासः समुपजायते ।
स्रस्ताङ्गाक्षिनिमेषैश्च तस्य त्वभिनयो भवेत् ॥ ९१ ॥

इस विषय में एक श्लोक है—

अत्यन्त भीषण शब्द के द्वारा त्रास नामक भाव की उत्पत्ति होती है। उसका अभिनय अङ्गों की शिथिलता तथा आंखों की पलकों को बन्द कर लेना आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ॥ ९१ ॥

३३–वितर्क नामक व्यभिचारी भाव का लक्षण—

वितर्को नाम– सन्देहविमर्शविप्रतिपत्त्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । तमभिनयेद्विविधविचारितप्रश्नसम्प्रधारणमन्त्रसंगूहनादिभिरनुभावैः ।

सन्देह, विमर्श तथा विप्रतिपत्ति (विरोध-प्रकट करना) आदि विभावों से वितर्क नामक भाव की उत्पत्ति होती है। उसका अभिनय अनेक प्रकार के विचार, प्रश्न, सम्प्रधारण (निश्चय) तथा मंत्रणा को गुप्त रखना आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

अत्र श्लोको भवति—

विचारणादिसम्भूतः सन्देहातिशयात्मकः ।
वितर्कः सोऽभिनेयस्तु शिरोभ्रूक्षेपकम्पनैः ॥ ९२ ॥

इस विषय में एक श्लोक है—

सन्देह की अतिशयता को वितर्क कहते हैं। उसकी उत्पत्ति विचार आदि विभावों से होती है। उसका अभिनय सिर हिलाना, भौंहें चढ़ाना तथा कम्पन आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ॥ ९२ ॥

उपसंहार—

एवमेते त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणो भावा देशकालावस्थानुरूप्येणात्मगतपरगतमध्यस्था उत्तममध्यमाधमैः स्त्रीपुंसैः स्वप्रयोगवशादुपपाद्या इति ।

इस प्रकार इन तैंतीस व्यभिचारी भावों का वर्णन किया गया। देश-काल तथा अवस्था के अनुरूप, आत्मगत परगत तथा मध्यस्थगत इन तीन भेदों के सहित, उत्तम, मध्यम तथा अधम इन तीन प्रकार के स्त्री तथा पुरुष पात्रों के द्वारा अवस्था एवं प्रयोग की आवश्यकतानुसार अभिनय किया जाना चाहिए।

सात्त्विक भाव—

त्रयस्त्रिंशदिमे भावा विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
सात्विकांस्तु पुनर्भावान्प्रवक्ष्याम्नुपूर्वशः ॥ ९३ ॥

इस प्रकार इन तैंतीस व्यभिचारी भावों को जानना चाहिये। अब क्रमशः सात्त्विक भावों का वर्णन करेंगे ॥ ९३ ॥

अत्राह—किमन्ये भावाः सत्त्वेन विनाऽभिनीयन्ते यस्मादुच्यन्ते एते सात्त्विका इति।

अत्रोच्यते—

इह हि सत्त्वं नाम मनःप्रभवम्। तच्च समाहितमनस्त्वादुच्यते। मनस समाधौ सत्त्वनिष्पत्तिर्भवति। तस्य च योऽसौ स्वभावो रोमाञ्चाश्रुवैवर्ण्यादिलक्षणो यथाभावोपगतः स न शक्योऽन्यमनसा कर्तुमिति। लोकस्वभावानुकरणत्वाच्च नाट्यस्य सत्त्वमीप्सितम्। को दृष्टान्तः—इह हि नाट्यधर्मीप्रवृत्ताः सुखदुःखकृता भावास्तथा सत्त्वविशुद्धाः कार्याः यथा सरूपा भवन्ति। तत्र दुःखं नाम रोदनात्मकं तत्कथमदुःखितेन सुखं च प्रहर्षात्मकमसुखितेन वाभिनेयम्। एतदेवास्य सत्त्वं यत् दुःखितेन सुखितेन वाऽश्रुरोमाञ्चौ दर्शयितव्यौ इति कृत्वा सात्त्विका भावा इत्यभिव्याख्याताः।

इस विषय में यह शंका होती है कि क्या अन्य भावों का अभिनय बिना सत्त्व के ही किया जाता है जो इन भावों को सात्त्विक कहा गया है।

इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं—मन से उत्पन्न भाव को सत्त्व कहते हैं। सत्त्व की उत्पत्ति मन के समाहित (सावधान एकाग्र, अव्यग्र) होने पर ही होती है। मन की एकाग्रता से ही सत्त्व भाव की उत्पत्ति होती है। उस सत्त्व का अपने भाव के अनुरूप रोमाञ्च, अश्रु, वैवर्ण्य (चेहरे का रंग बदल जाना) आदि लक्षणों से युक्त जो स्वभाव हैं उसका प्रयोग अन्यमनस्क दशा में नहीं किया जा सकता है। नाटकों में लोक के स्वभाव का अनुकरण किया जाता है। इसलिए सत्त्व भाव नाटक के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

उपर्युक्त कथन का उदाहरण क्या है। इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—इन नाटकों में नाट्यधर्मी के द्वारा अभिनीत सुख दुःखमय भाव तथा विशुद्ध सत्त्व प्रधान कार्य लोकधर्मी के ही समान प्रतीत होते हैं।

इस पर शंका करते हैं कि दुःख तो रोदनात्मक भाव है उसका अभिनय दुःखहीन व्यक्ति कैसे कर सकता है? इसी प्रकार सुख एक हर्षात्मक भाव है उसका अभिनय सुखहीन व्यक्ति कैसे करता है?

उपर्युक्त शंका का समाधान करते हुए कहते हैं—सत्त्व भाव की यही विशेषता है कि इसके कारण अभिनेता दुःखी और सुखी दिखलाई पड़ता है तथा वह दुख में अश्रु तथा सुख में रोमाञ्च नामक सात्त्विक भाव का अभिनय प्रदर्शित करता है।

इस प्रकार सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण ही इन भावों को सात्त्विक भाव कहते हैं।

आठ सात्त्विक भाव—

त इमे—

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभेदोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः ॥ ९४ ॥

सात्त्विक भाव ये हैं—

१ स्तम्भ, २-स्वेद ३-रोमांच ४-स्वरभेद, ५-वेपथु ६-वैवर्ण्य ७-अश्रु ८-प्रलय, इन आठ भावों को सात्त्विक भाव कहते हैं ॥ ९४ ॥

सात्त्विक भावों के विभाव—

१—स्वेद के विभाव—

अत्रार्याः। तत्र—

क्रोधभयहर्षलज्जादुःखश्रमरोगतापघातेभ्यः ।
व्यायामक्लमघर्मैः स्वेदः सम्पीडनाच्चैव ॥ ९५ ॥

इस विषय में अनेक आर्या हैं। उनमें—

क्रोध, भय, हर्ष, लज्जा, दुःख, श्रम, रोग, ताप, घात (चोट), व्यायाम, क्लान्ति धूप तथा पीडा इन विभावों से स्वेद नामक सात्त्विक भाव की उत्पत्ति होती है ॥ ९५ ॥

२ —स्तम्भ के विभाव—

हर्षभयशोकविस्मयविषादरोषादिसम्भवः स्तम्भः।

हर्ष, भय, शोक, विस्मय, विषाद तथा रोष आदि विभावों से स्तम्भ नामक सात्त्विक भाव की उत्पत्ति होती है।

३—कम्प के विभाव—

शीतभयहर्षरोषस्पर्शजरारोगजः कम्पः ॥ ९६ ॥

शीत, भय, हर्ष, रोष, स्पर्श, जरा (बुढ़ापा) और रोग आदि विभावों से कम्प नामक सात्त्विक भाव की उत्पत्ति होती है ॥ ९६ ॥

४—अश्रु के विभाव—

आनन्दामर्षाभ्यां धूमाञ्जनजृम्भणाद्भयाच्छोकात्।
अनिमेषप्रेक्षणतः शीताद्रोगाद्भवेदश्रु ॥ ९७ ॥

आनन्द, अमर्ष, धूम (धुआँ), अंजन, जमुँहाई, भय, शोक, अपलक देखना, शीत तथा रोग आदि विभावों से अश्रु नामक सात्त्विक भाव की उत्पत्ति होती है ॥ ९७ ॥

५–वैवर्ण्य के विभाव—

शीतक्रोधभयश्रमरोगक्लमतापजं च वैवर्ण्यम् ।

शीत, क्रोध, भय, श्रम, रोग, क्लान्ति तथा ताप आदि विभावों से वैवर्ण्य नामक सात्त्विक भाव की उत्पत्ति होती है।

६–रोमांच के विभाव—

स्पर्शभयशीतहर्षात् क्रोधाद्रोगाच्च रोमाञ्चः ॥ ९८ ॥

स्पर्श, भय, शीत, हर्ष, क्रोध तथा रोग आदि विभावों से रोमांच नामक सात्त्विक भाव की उत्पत्ति होती है ॥ ९८ ॥

७–स्वर भेद के विभाव—

स्वरभेदो भयहर्षक्रोधजरारौक्ष्यरोगमदजनितः ।

भय, हर्ष, क्रोध, जरा (बुढ़ापा), रुक्षता, रोग तथा मद (नशा) आदि विभावों से स्वरभेद नामक सात्त्विक भाव की उत्पत्ति होती है।

८–प्रलय के विभाव—

श्रममूर्छामदनिद्राभिघातमोहादिभिः प्रलयः ॥ ९९ ॥

श्रम, मूर्च्छा, मद, निद्रा, आघात (चोट) तथा मोह आदि विभावों से प्रलय नामक सात्त्विक भाव की उत्पत्ति होती है ॥ ९९ ॥

उपसंहार—

एवमेते बुधैर्ज्ञेया भावा ह्यष्टौ तु सात्त्विकाः ।
कर्म चैषां प्रवक्ष्यामि रसभावानुभावकम् ॥ १०० ॥

इस प्रकार विद्वान् लोगों को इन आठ सात्त्विक भावों को समझ लेना चाहिये। अब रसों तथा भावों के अनुभव करने वाले इनके कार्यों का वर्णन करेंगे ॥ १०० ॥

१–स्तम्भ के अनुभाव—

निःसंज्ञो निष्प्रकम्पश्च स्थितः शून्यजडाकृतिः ।
स्कन्नगात्रतया चैव स्तम्भं त्वभिनयेद् बुधः ॥ १०१ ॥

संज्ञाहीन होकर, बिना हिले डुले, सभी अङ्गों को जकड़ी हुई स्थिति में करके तथा शून्य एवं जड आकार में स्थित होकर विद्वज्जन को स्तम्भ नामक सात्त्विक भाव का अभिनय करना चाहिए ॥ १०१ ॥

२–स्वेद के अनुभाव—

व्यजनग्रहणाच्चापि स्वेदापनयनेन च ।
स्वेदस्याभिनयो योज्यस्तथा वाताभिलाषतः ॥ १०२ ॥

हाथ में पंखा लेकर, पसीना पोंछते हुए तथा शीतल वायु की प्राप्ति की अभिलाषा प्रकट करके स्वेद नामक सात्त्विक भाव का अभिनय करना

चाहिये ॥ १०२ ॥

३–रोमांच के अनुभाव—

मुहुः कण्टकितत्वेन तथोल्लुकसनेन च ।
पुलकेन च रोमाञ्चं गात्रस्पर्शेन दर्शयेत् ॥ १०३ ॥

बार-बार रोयें खड़ा करके, उल्लास युक्त भाव का प्रदर्शन करके, पुलकित होकर तथा अङ्गों का स्पर्श करके रोमांच नामक सात्त्विक भाव का अभिनय करना चाहिये ॥ १०३ ॥

४–स्वरभेद के अनुभाव—

स्वरभेदोऽभिनेतव्यो भिन्नगद्गदनिस्वनैः ।

टूटे-फूटे लड़खडाते हुए तथा गद्गद कण्ठवाले शब्दों को बोल कर स्वर-भेद नामक सात्त्विक भाव का अभिनय करना चाहिए ।

५—वेपथु के अनुभाव—

वेपनात्स्फुरणात्कम्पाद्वेपथुं सम्प्रदर्शयेत् ॥ १०४ ॥

कँपकँपी, अङ्गों का फड़कना, तथा शरीर का हिलाना इन चेष्टाओं के द्वारा वेपथु (कम्पन) नामक सात्त्विक भाव का अभिनय करना चाहिये ॥ १०४ ॥

६—वैवर्ण्य के अनुभाव—

मुखवर्णपरावृत्त्या नाडीपीडनयोगतः ।
वैवर्ण्यमभिनेतव्यं प्रयत्नात्तद्धि दुष्करम् ॥ १०५ ॥

नाडियों को दबाकर मुँह का रंग बदल कर अत्यन्त दुष्कर प्रयत्न वाले वैवर्ण्य नामक सात्विक भाव का अभिनय करना चाहिए ॥ १०५ ॥

७—अश्रु के अनुभाव—

बाष्पाम्बुप्लुतनेत्रत्वान्नेत्रसम्मार्जनेन च ।
मुहुरश्रुकणापातैरास्रं त्वभिनयेद् बुधः ॥ १०६ ॥

आँखों में आंसू भर कर, अश्रुबिन्दु टपकाते हुए तथा बार बार आँखें पोंछते हुए और बार-बार अश्रुकण गिराते हुए अश्रु नामक सात्त्विक भाव का अभिनय करना चाहिए ॥ १०६ ॥

८—प्रलय के अनुभाव—

निश्चेष्टो निष्प्रकम्पत्वादव्यक्तश्वसितादपि ।
महीनिपातनाच्चापि प्रलयाभिनयो भवेत् ॥ १०७ ॥

चेष्टारहित होकर, बिना हिले डुले, जो प्रकट न हो सकें ऐसी धीमी सांसे लेते हुए तथा पृथ्वी के ऊपर बेहोश के समान गिर कर प्रलय नामक सात्त्विकभाव

का अभिनय करना चाहिये ॥ १०७ ॥

उपसंहार—

एकोनपञ्चाशदिमे यथाव-
द्भावास्त्र्यवस्था गदिता मयेह ।
भूयश्च ये यत्र रसे नियोज्या-
स्तान् श्रोतुमर्हन्ति च विप्रमुख्याः ॥ १०८ ॥

इस प्रकार तीन अवस्थाओं से युक्त उनचास भावों का हमने यथावत् (ठीक प्रकार से) वर्णन किया है । हे श्रेष्ठ ब्रह्मणो ! अब इन भावों को किस किस रस में प्रयोग करना चाहिये इसका वर्णन सुनो ॥ १०८ ॥

उनचास भावों का वर्णन—

[अत्र श्लोकाः—

शङ्काव्याधिस्तथाग्लानिश्चिन्तासूया भयं तथा ।
विस्मयश्च वितर्कश्च स्तम्भश्चपलता तथा ॥
रोमाञ्चहर्षौ निद्रा च तथोन्मादमदावपि ।
स्वेदश्चैवावहित्थं च प्रलयो वेपथुस्तथा ॥
विषादश्रमनिर्वेदा गर्वावेगौ धृतिः स्मृतिः ।
मतिर्मोहो विबोधश्च सुप्तमौत्सुक्यवर्जिते ॥
क्रोधामर्षौ च हासश्च शोकोऽपस्मार एव च ।
दैन्यं च मरणं चैव रतिरुत्साहसंयुता ॥
त्रासवैवर्ण्यरुदितैः स्वरभेदः शमोऽपि च ।
जडता च तथा षट् चत्वारिंशत्प्रकीर्तिताः ॥]

[१. शंका २. व्याधि ३. ग्लानि ४. चिन्ता ५. असूया ६. भय ७. विस्मय ८. वितर्क ९. स्तम्भ १०. चपलता ११. रोमाञ्च १२. हर्ष १३. निद्रा १४. उन्माद १५. मद १६. स्वेद १७. अवहित्थ १८. प्रलय १९. वेपथु २०. विषाद २१. श्रम २२. निर्वेद २३. गर्व २४. आवेग २५. धृति २६. स्मृति २७. मति २८. मोह २९. विबोध ३०. सुप्त ३१. औत्सुक्य ३२. क्रोध ३३. अमर्ष ३४. हास ३५. शोक ३६. अपस्मार ३७. दैन्य ३८. मरण ३९. रति ४०. उत्साह ४१. त्रास ४२. वैवर्ण्य ४३. रुदित ४४. स्वरभेद ४५. शम एवं ४६. जडता—ये छियालिस भाव हैं ।]

१–शृङ्गार रस के छियालिस भाव—

आलस्यौग्र्यजुगुप्साख्यैरेवं भावैस्तु वर्जिताः ।
उद्भावयन्ति शृङ्गारं सर्वे भावाः स्वसंज्ञया ॥ १०९ ॥

आलस्य उग्रता तथा जुगुप्सा इन तीन भावों को छोड़कर उपर्युक्त छियालिस

भाव अपने अपने नाम के अनुसार शृङ्गार रस की उद्भावना करते हैं ॥ १०९ ॥

[यथाऽवसरमेते हि स्थायिसञ्चारिसत्त्वजाः ।
उद्दीपयन्ति शृङ्गारं रसमासाद्य संज्ञितम् ॥]

[अवसर के अनुकूल ये स्थायी संचारी तथा सात्त्विक भाव अपने अनुकूल रस को पाकर शृङ्गार रस को उद्दीप्त करते हैं ।]

२—हास्य रस के आठ भाव—

ग्लानिः शङ्का ह्यसूया च श्रमश्चपलता तथा ।
सुप्तं निद्रावहित्थं च हास्ये भावाः प्रकीर्तिताः ॥ ११० ॥

१. ग्लानि २. शंका ३. असूया ४. श्रम ५. चपलता ६. सुप्त ७. निद्रा ८. अवहित्थ—ये आठ भाव हास्य रस में होते हैं ॥ ११० ॥

३—करुण रस के आठ भाव—

निर्वेदश्चैव चिन्ता च दैन्यं ग्लान्यास्रमेव च ।
जडता मरणं चैव व्याधिश्च करुणे स्मृताः ॥ १११ ॥

१. निर्वेद २. चिन्ता ३. दैन्य ४. ग्लानि ५. अश्रु ६. जडता ७. मरण ८. व्याधि —ये आठ भाव करुण रस में होते हैं ॥ १११ ॥

४–रौद्र रस के नौ भाव—

गर्वोऽसूया मदोत्साहावावेगोऽमर्ष एव च ।
क्रोधश्चपलतौग्रचं च विज्ञेया रौद्रसम्भवाः ॥ ११२ ॥

१. गर्व २. असूया ३. मद ४. उत्साह ५. आवेग ६. अमर्ष ७. क्रोध ८. चपलता ९. उग्रता—ये नौ भाव रौद्र रस में होते हैं ॥ ११२ ॥

५–वीर रस के पन्द्रह भाव–

असम्मोहस्तथोत्साह आवेगो हर्ष एव च ।
मतिश्चैव तथोग्रत्वममर्षो मद एव च ॥ ११३ ॥
रोमाञ्चः स्वरभेदश्च क्रोधोऽसूया धृतिस्तथा ।
गर्वश्चैव वितर्कश्च वीरे भावा भवन्ति हि ॥ ११४ ॥

१. असम्मोह २. उत्साह ३. आवेग ४. हर्ष ५ मति ६. उग्रता ७. अमर्ष ८. मद ९. रोमांच १०. स्वरभेद ११ क्रोध १२. असूया १३. धृति १४. गर्व एवं १५. वितर्क—ये पन्द्रह भाव वीर रस में होते हैं ॥ ११३-११४ ॥

६–भयानक रस के भाव—

वेपथुःस्वरभेदश्च[1] रोमाञ्चो गद्गदस्तथा ।

---

१. 'स्वेदश्च वेपथुश्चैव' इति बड़ौदासंस्करणे पाठः ।

त्रासश्च मरणञ्चैव वैवर्ण्यं च भयानके ॥ ११५ ॥

१-वेपथु २ स्वरभेद ३-रोमांच ४-गद्गद ५-स्तम्भ ६-मरण ७-स्वेद एवं ८-वैवर्ण्य—ये आठ भाव भयानक रस में होते हैं ॥ ११५ ॥

७–बीभत्स रस के सात भाव—

अपस्मारस्तथोन्मादो विषादो मद एव च।
मृत्युर्व्याधिर्भयं चैव भावा बीभत्ससंश्रयाः ॥ ११६ ॥

१-अपस्मार २-उन्माद ३-विषाद ४-मद ५- मरण ६-व्याधि एवं ७-भय—ये सात भाव बीभत्स रस में होते हैं ॥ ११६ ॥

८–अद्भुत रस के नौ भाव—

स्तम्भः स्वेदश्च मोहश्च रोमाञ्चो विस्मयस्तथा।
आवेगो जडता हर्षो मूर्च्छा चैवाद्भुताश्रयाः ॥ ११७ ॥

१-स्तम्भ २-स्वेद ३-मोह ४-रोमांच ५-विस्मय ६-आवेग ७-जडता ८-हर्ष एवं ९-मूर्च्छा—ये नौ भाव अद्भुत रस में होते हैं ॥ ११७ ॥

सात्त्विक भावों के प्रयोग—

ये त्वेते सात्त्विका भावा नानाभिनयसंश्रिताः।
रसेष्वेतेषु सर्वेषु ते ज्ञया नाटचयोक्तृभिः ॥ ११८ ॥

अनेक प्रकार के अभिनयों से सम्बन्धित जिन आठ सात्त्विक भावों का वर्णन किया गया है नाट्य प्रयोक्ताओं को उनका प्रयोग सभी रसों में करना चाहिए ॥ ११८ ॥

न ह्येकरसजं काव्यं किञ्चिदस्ति प्रयोगतः।
भावो वापि रसो वापि प्रवृत्तिर्वृत्तिरेव च ॥ ११९ ॥

प्रयोग के अनुसार ऐसा कोई काव्य, भाव, रस, प्रवृत्ति या वृत्ति नहीं है जिसका केवल एक ही रस से सम्बन्ध हो ॥ ११९ ॥

स्थायी रस—

[बहुनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद्बहु।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः संचारिणो मताः ॥

[जहाँ पर अनेक रस हों, वहाँ जिस रस की प्रधानता हो, उसी को 'स्थायी' रस तथा शेष को 'संचारी' रस मानना चाहिये।

संचारी रस—

दीपयन्तः प्रवर्तन्ते ये पुनः स्थायिनं रसम्।

ते तु संचारिणो ज्ञेयास्ते हि स्थायित्वमागताः ॥

जो रस स्थायी रस को उद्दीप्त करते हुये प्रवृत्त हों, उन्हें स्थायी होने पर भी संचारी रस मानना चाहिए[1]।

स्थायी रस—

विभावानुभावयुतो ह्यङ्गवस्तुसमाश्रयः ।
संचारिभिस्तु संयुक्तः स्थाय्येव तु रसो भवेत् ॥

विभाव, अनुभाव और संचारी आदि अङ्गों से युक्त रस को स्थायी रस कहते हैं।

स्थायी सत्त्वातिरेकेण प्रयोक्तव्यः प्रयोक्तृभिः ।
सञ्चार्याकारमात्रेण स्थायी यस्मादवस्थितः ॥

स्थायी रस का प्रयोग सत्त्व की अधिकता के साथ करना चाहिये तथा संचारी का प्रयोग केवल एक झलक दिखाकर ही करना चाहिये क्योंकि स्थायी रस ही स्थिर रस होता है।

सात्त्विक भावों का प्रयोग—

ये त्वेते सात्त्विका भावा नानाभिनययोजिताः ।
रसेष्वेतेषु सर्वेषु ते ज्ञेया नाट्यकोविदैः ॥

अनेक अभिनयों से युक्त इन सात्त्विक भावों का प्रयोग नाट्यप्रयोक्ताओं को सभी रसों में करना चाहिए।

काव्य में अनेक रसों, भावों तथा वृत्तियों का प्रयोग—

न ह्येकरसजं काव्यं नैकभावैकवृत्तिकम् ।
विमर्दे रागमायाति प्रयुक्तं हि प्रयत्नतः ॥
भावा वाऽपि रसा वाऽपि प्रवृत्तिर्वृत्तिरेव वा ।

एक रस, एक भाव या एक वृत्ति से ही काव्य की पूर्णता नहीं मानी जाती अनेक रसों भावों या वृत्तियों के समन्वय से ही प्रयोग किया हुआ काव्य रागजनक होता है।

---

१. त प्रति में "ते तु सञ्चारिणो ज्ञेयाः" के स्थान पर "तेन सञ्चारिणो ज्ञेयाः" यह पाठान्तर प्राप्त होता है। इसका अर्थ है "उन रसों को संचारी रस नहीं समझना चाहिए।' श्री मधुसूदन शास्त्री ने इसी पाठ को मूल पाठ मानकर अर्थ किया है। किन्तु यह पाठान्तर संगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि स्थायी रस एक ही होता है और स्थायी रस को उद्दीप्त करने वाला संचारी होता है, स्थायी नहीं।

रसों के भेद—

बीभत्साद्भुतशान्तानां त्रैविध्यं नात्र कथ्यते ॥
षण्णां रसानां त्रैविध्यं नानाभावरसान्वितम् ।

इस प्रकरण में बीभत्स अद्भुत तथा शान्त इन तीन रसों के तीन तीन भेद नहीं कहे गये हैं । शेष छः रसों के अनेक भावों और रसों से युक्त तीन तीन भेद कहे गये हैं ।

सात्त्विक भावों का प्रयोग—

सत्त्वप्रयोजितो ह्यर्थः प्रयोगोऽत्र विराजते ॥
विदित्वा हि विराजन्ते लोके चित्रं हि दुर्लभम् ॥]

जिस प्रयोग में सत्त्वमूलक रस का प्रयोग होता है वही प्रयोग सुशोभित माना जाता है । क्योंकि रस विदित हो जाने पर ही सुशोभित होते हैं । लोक में चित्र (अनेक रसों, भावों आदि से मिश्रित) प्रयोग[1] दुर्लभ है ।]

व्यभिचारी भावों का प्रयोग—

नानाभावार्थसम्पन्नाः स्थायिसत्त्वाभिचारिणः ।
पुष्पावकीर्णाः कर्तव्याः काव्येषु हि रसा बुधैः ॥ १२० ॥

विद्वान् नाटच प्रयोक्ताओं को नाटकों में स्थायी सात्त्विक तथा व्यभिचारी

---

१. पूर्वोक्त "ये त्वेते सात्त्विका भावा नानाभिनययोजिताः ।"
रसेष्वेतेषु सर्वेषु ते ज्ञेया नाट्यकोविदैः ॥ पृ० ३२३

इस श्लोक के स्थान पर टिप्पणी में—

"चित्राणि न विरज्यन्ते लोके चित्रं हि दुर्लभम् ।
विमर्दे रागमायाति प्रयुक्तमपि यत्नतः ॥

यह श्लोक प्राप्त होता है ।

इस श्लोक का अर्थ है—

चित्र (अनेक रसों तथा भावों से मिश्रित) दर्शकों के मन में विराग नहीं उत्पन्न करते । अनेक रसों भावों आदि के विमर्द मिश्रण से यत्नपूर्वक प्रयुक्त प्रयोग ही दर्शकों के लिये रागजनक होते हैं ।

वस्तुतः प्रस्तुत श्लोक की यह आधी पंक्ति उपर्युक्त श्लोक का ही पूर्वार्ध है तथा इसमें "विदित्वा हि विराजन्त" के स्थान पर "चित्राणि न विराजन्ते" पाठ होना चाहिए ।

भावों का प्रयोग विविध पुष्पों के समूह के समान अनेक प्रकार के भावों आदि से मिश्रित करना चाहिए ।। १२० ।।

रसों तथा भावों की तीन अवस्थायें —

एवं रसाश्च भावाश्च व्यवस्था नाटके स्मृताः ।
य एवमेताञ्जानाति स गच्छेत्सिद्धिमुत्तमाम् ।। १२१ ।।

इस प्रकार नाटकों में रसों तथा भावों की तीन अवस्थायें (विभाव, अनुभाव और संचारी भाव) बतलाई गई हैं । जो नाट्य प्रयोक्ता इनको जान लेता है उसी को उत्तम (सिद्धि) सफलता प्राप्त होती है ।। १२१ ।।

।। इति श्रीभारतीये नाट्यशास्त्रे भावव्यञ्जको[1] नाम
सप्तमोऽध्यायः ।। ७ ।।

———*———

।। इस प्रकार भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र की 'नाट्यप्रदीप' नामक हिन्दी व्याख्या में भावव्यंजक नामक सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।। ७ ।।

———o———

१- 'भावविकल्पो नाम' इति वा पाठः ।

अथ अष्टमोऽध्यायः

ऋषियों का प्रश्न—

ऋषय ऊचुः —

भावानां च रसानां च समुत्थानं यथाक्रमम्।
त्वत्प्रसादाच्छ्रुतं सर्वमिच्छामो वेदितुं पुनः ॥ १ ॥

ऋषियों ने कहा—

हे मुनि! आपकी अनुकम्पा से हमें भावों एवं रस की उत्पत्ति के विषय में ज्ञान हुआ है। अब हम आपकी कृपा से इस सुने हुए विषय से सम्बन्धित सभी तथ्यों को जानना चाहते हैं ॥ १ ॥

नाट्ये कतिविधः कार्यस्तज्ज्ञैरभिनयक्रमः।
कथं वाभिनयो ह्येष कतिभेदश्च कीर्तितः ॥ २ ॥

नाट्य प्रयोक्ताओं के अनुसार नाट्य में अभिनय का क्या स्थान (क्रम)[1] है? इसका प्रयोग किस भाँति किया जाना चाहिए? एवं इसके कितने भेद हैं? ॥ २ ॥

सर्वमेतद्यथातत्त्वं कथयस्व महामुने।
यो यथाभिनयो यस्मिन् योक्तव्यः सिद्धिमिच्छता ॥ ३ ॥

ऋषिगण भरत मुनि से प्रश्न करते हैं—

हे मुनिश्रेष्ठ! आप कृपया हम लोगों को विस्तार पूर्वक बताइए कि (नाट्य की) सफलता चाहने वाले को किस प्रकार से अभिनय का प्रयोग करना चाहिए ॥ ३ ॥

भरत मुनि का उत्तर—

तेषां तद्वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतो मुनिः।
प्रत्युवाच पुनर्वाक्यं चतुरोभिनयान् प्रति ॥ ४ ॥

---

१. अभिनयक्रम—श्री घोष के अनुवाद में क्रम का तात्पर्य भेद (प्रकार) है। आगे आने वाले भेद शब्द का अनुवाद उन्होंने 'उपभेद' किया है। इस अनुवाद से तात्पर्यार्थ में तो कोई अन्तर नहीं पड़ता। किन्तु हमारा विचार है कि क्रम का तात्पर्य यदि आदेश या उत्तराधिकार माना जाए, एवं तदनुसार नाट्य में 'अभिनय क्रम' का अर्थ 'नाट्य में अभिनय का स्थान' किया जाए तो वह अधिक उपयुक्त होगा।

उन मुनियों के कथन को सुनकर भरत मुनि ने अभिनय के चार भेदों के विषय में बतलाया ॥ ४ ॥

अभिनय की निरुक्ति तथा लक्षण—

अहं वः कथयिष्यामि निखिलेन तपोधनाः ।
यस्मादभिनयो ह्येष विधिवत्समुदाहृतः ॥ ५ ॥

हे मुनियो ! मैं आप लोगों को विस्तारपूर्वक समझाऊँगा जिससे कि (चतुर्विध) अभिनय के विषय में आप अवगत हो सकें ॥ ५ ॥

यदुक्तं चत्वारोऽभिनया इति तान् वर्णयिष्यामः । अत्राह अभिनय इति कस्मात् ? अत्रोच्यते—अभीत्युपसर्गः । 'णीञ्' इति प्रापणार्थको धातुः । अस्याभिनीत्येवं व्यवस्थितस्य एरजित्यच्प्रत्ययान्तस्याभिनय इत्येवं रूपं सिद्धम् । एतच्च धात्वर्थवचनेनावधार्यम्[1] ।

हम चारों प्रकार के अभिनय के विषय में आपको बतायेंगे । यहाँ प्रश्न उठता है कि इसको अभिनय क्यों कहते हैं ? इसका उत्तर है कि इसमें अभि उपसर्ग पूर्वक प्राप्त्यर्थक "नी" धातु का प्रयोग हुआ है तथा इसमें अच् प्रत्यय जुड़ा हुआ है जिससे अभिनय शब्द बनता है । अतः इसका अर्थ बताते समय धातु के अर्थ को ध्यान में रखना होता है ।

अत्र श्लोकौ—

अभिपूर्वस्तु णीञ् धातुराभिमुख्यार्थनिर्णये ।
यस्मात्प्रयोगं[2] नयति तस्मादभिनयः स्मृतः ॥ ६ ॥

एतद्विषयक दो श्लोक हैं—

यहाँ पर अभिमुख्यार्थ निर्णय में अभि उपसर्ग पूर्वक 'नी' धातु का प्रयोग हुआ है । अतः इसे अभिनय की संज्ञा इस कारण कहा जाता है क्योंकि यह (नाट्य) के प्रयोग का वहन करता है ॥ ६ ॥

विभावयति यस्माच्च नानार्थान् हि प्रयोगतः ।
शाखाङ्गोपाङ्ग संयुक्तस्तस्मादभिनयः स्मृतः ॥ ७ ॥

अभिनय नाम की सार्थकता इसमें है कि (नाट्य के) प्रयोग के समय शाखा, अंग एवं उपाङ्ग के साथ वह विभिन्न अर्थों को प्रकाशित करता है ॥ ७ ॥

---

१. 'धात्वनुवचनेनावधार्यं भवति' इति वा पाठः ।

२. 'यस्मात् पदार्थान्नयति' इति वा पाठः ।

अभिनय के चार भेद—

चतुर्विधश्चैष भवेन्नाट्यस्याभिनयो द्विजाः।
अनेकभेदबहुलं नाट्यमस्मिन्प्रतिष्ठितम् ॥ ८ ॥

हे मुनियों! नाट्य के अभिनय के चार भेद होते हैं इसी (अभिनय) पर[1] नाट्य के अनेकों भेद प्रभेद आश्रित हैं ॥ ८ ॥

आङ्गिको वाचिकश्चैव ह्याहार्यः सात्त्विकस्तथा।
ज्ञेयस्त्वभिनयो विप्राश्चतुर्धा परिकीर्तितः ॥ ९ ॥

हे ब्राह्मणो! अभिनय के चार प्रकार माने गये हैं (१) आंगिक (२) वाचिक (३) आहार्य एवं (४) सात्त्विक ॥ ९ ॥

सात्त्विकः पूर्वमुक्तस्तु भावैश्च सहितो मया।
अङ्गाभिनयमेवातो गदतो मे निबोधत ॥ १० ॥

भावों के साथ सात्त्विक अभिनय का वर्णन मैं पहले कर चुका हूँ। अब मैं शारीरिकमुद्राओं से सम्बन्धित आंगिक अभिनय के विषय में कहूँगा ॥ १० ॥

आङ्गिक अभिनय के तीन उपभेद—

त्रिविधस्त्वाङ्गिको ज्ञेयः शारीरो मुखजस्तथा।
तथा चेष्टाकृतश्चैव शाखाङ्गोपाङ्गसंयुतः ॥ ११ ॥

आङ्गिक अभिनय के तीन उपभेद होते हैं (१) शारीरिक (२) मुख से किया जाने वाला एवं (३) चेष्टा से किया जाने वाला अभिनय। शाखा, अंग एवं उपांगों का समावेश इसी के अन्तर्गत होता है ॥ ११ ॥

नाट्य प्रयोग सम्बन्धी छः अंग—

शिरोहस्तकटीवक्षःपार्श्वपादसमन्वितः।
अङ्गप्रत्यङ्गसंयुक्तः षडङ्गो नाट्यसंग्रहः ॥ १२ ॥

नाट्यप्रयोग मूलरूप में छः अङ्गों एवं उपाङ्गों से सम्बन्धित है। जिनके नाम हैं—सिर, हाथ, कटि, वक्षःस्थल, पार्श्व एवं पैर ॥ १२ ॥

---

१. अस्मिन्—श्री घोष के अनुसार इस पद से नाट्य प्रयोग का संकेत है। मेरे विचार में अस्मिन् को अभिनय का बोधक होना चाहिए, क्योंकि प्रथम पंक्ति में नाट्यस्य प्रयोग में षष्ठी विभक्ति तथा अभिनय में प्रथमा विभक्ति है। अभिनय पद के कर्ता कारक में होने से दूसरी पंक्ति में आ रहे सर्वनाम अस्मिन् को अभिनय का ही निर्देशक मानना उचित प्रतीत होता है। आगामी श्लोक में भी अभिनय के भेदों का ही वर्णन किया गया है। इस प्रकार दोनों ओर अभिनय के प्रसंग के मध्य आ रहे 'अस्मिन्' पद को अभिनय का ही वाचक मानना सटीक प्रतीत होता है।

नाट्य प्रयोग सम्बन्धी छः उपाङ्ग—

तस्य शिरोहस्तोरःपार्श्वकटीपादतः षडङ्गानि ।
नेत्रभ्रूनासाधारकपोलचिबुकान्युपाङ्गानि ॥ १३ ॥

सिर, हाथ, वक्ष, पार्श्व, कटि एवं पैर—यह छः मुख्य अंग है एवं नेत्र, भवें, नासिका, ओंठ, गाल एवं ठोढ़ी—यह छः गौण या उपाङ्ग हैं ॥ १३ ॥

नाट्याभिनय सम्बन्धी तीन वस्तुएँ—

अस्य शाखा च नृत्तं च तथैवाङ्कुर एव च ।
वस्तून्यभिनयस्येह विज्ञेयानि प्रयोक्तृभिः ॥ १४ ॥

नाट्य प्रयोक्ताओं को शाखा, वृत्त एवं अंकुर को अभिनय की तीन वस्तुएं[1] मानना चाहिए ॥ १४ ॥

शाखा, अंकुर तथा नृत्त वस्तुओं का लक्षण—

आङ्गिकस्तु भवेच्छाखा ह्यङ्कुरः सूचना भवेत् ।
अङ्गहारविनिष्पन्नं नृत्तं तु करणाश्रयम् ॥ १५ ॥

आंगिक मुद्राओं को 'शाखा' कहते हैं, एवं आङ्गिक मुद्राओं के पश्चात् होने वाली मुद्रा को 'अंकुर' कहते हैं एवं करणों पर आधारित तथा अङ्गहारों से समन्वित अभिनय को 'नृत्त' कहते हैं ॥ १५ ॥

सिर की चेष्टाओं का उपक्रम—

मुखजेऽभिनये विप्रा नानाभावरसाश्रये ।
शिरसः प्रथमं कर्म गदतो मे निबोधत ॥ १६ ॥

हे मुनियो ! सर्व प्रथम आप लोग विविध भावों एवं रसों से युक्त एवं मुख से किए जाने वाले अभिनय से समन्वित सिर की चेष्टाओं के विषय में जानिए ॥ १६ ॥

सिर की चेष्टाओं के तेरह भेदों के नाम—

आकम्पितं कम्पितं च धुतं विधुतमेव च ।
परिवाहितमाधूतमवधूतं तथाञ्चितम् ॥ १७ ॥

---

१. वस्तूनि—यहाँ पर श्री घोष के मत में वस्तु का अर्थ विधाएं है जो उचित भी जान पड़ता है ।

शाखा एवं अकुर सम्बन्धी शार्ङ्गदेव के मत को भी घोष महोदय ने उद्धृत किया है जिसके अनुसार शाखा का तात्पर्य करवर्तना से है एवं अंकुर का अर्थ है—पूर्व वाक्य के आधार पर की गई करवर्तना ।

निहञ्चितं परावृत्तमुत्क्षिप्तं चाप्यधोगतम् ।
लोलितं चेति विज्ञेयं त्रयोदशविधं शिरः ॥ १८ ॥

सिर की चेष्टाओं की संख्या तेरह है—

(१) आकम्पित (२) कम्पित, (३) धुत, (४) विधुत (५) परिवाहित, (६) उद्वाहित (आधूत), (७) अवधूत, (८) अञ्चित, (९) निहञ्चित, (१०) परावृत्त, (११) उत्क्षिप्त, (१२) अधोगत, एवं (१३) लोलित ॥ १७-१८ ॥

आकम्पित तथा कम्पित सिर का लक्षण—

शनैराकम्पनादूर्ध्वमधश्चाकम्पितं भवेत् ।
द्रुतं तदेव बहुशः कम्पितं कम्पितं शिरः ॥ १९ ॥

सिर को धीरे धीरे ऊपर एवं नीचे गतिशील करने को 'आकम्पित' कहते हैं। यही गति जब शीघ्रतापूर्वक एवं अत्यधिक मात्रा में की जाती है तो उसे 'कम्पित' कहते हैं ॥ १९ ॥

[ऋजुस्थितस्य चोर्ध्वाधःक्षेपादाकम्पितं भवेत् ।
बहुशश्चलितं यच्च तत्कम्पितमिहोच्यते ॥]

(सीधे स्थित रहने वाले एवं नीचे ऊपर की ओर हिलने वाले सिर को 'आकम्पित' कहते हैं । जब इसे अधिक मात्रा में गतिशील किया जाता है तो उसे कम्पित कहा जाता है ।)

आकम्पित सिर का विनियोग—

संज्ञोपलम्भप्रश्नेषु स्वभावाभाषणे तथा ।
निर्देशावाहने चैव भवेदाकम्पितं शिरः ॥ २० ॥

परिचय देने, शिकायत करने तथा प्रश्न पूछने तथा साधारण ढंग से बात कहने में एवं आज्ञा देने के समय आकम्पित शिर का प्रयोग किया जाता है ॥ २० ॥

कम्पित सिर का विनियोग—

रोषे वितर्के विज्ञाने प्रतिज्ञानेऽथ तर्जने ।
प्रश्नातिशयवाक्येषु शिरः कम्पितमिष्यते ॥ २१ ॥

क्रोध, तर्क, बात को समझाने, बात पर दृढ़ होने, निवारण करने, अधिक बात चीत के समय प्रश्न पूछने आदि में कम्पित शिर का प्रयोग किया जाता है ॥ २१ ॥

धुत तथा विधुत सिर का लक्षण—

शिरसो रेचनं सम्यक्छनैस्तद्धुतमिष्यते ।
द्रुतमारेचनादेतद्विधुतं तु भवेच्छिरः ॥ २२ ॥

सिर के धीमे धीमे घुमाने की संज्ञा धुत तथा जल्दी जल्दी घुमाने की संज्ञा विधुत है ॥ २२ ॥

धुत सिर का विनियोग—

अनीप्सिते विषादे च विस्मये प्रत्यये तथा।
पार्श्वावलोकने शून्ये प्रतिषेधे धुतं शिरः ॥ २३ ॥

अनिच्छा, दुःख, आश्चर्य, विश्वास, पार्श्व में दृष्टिपात, एकान्त एवं निषेध के प्रसङ्ग में धुत शिर का प्रयोग किया जाता है ॥ २३ ॥

विधुत सिर का विनियोग—

शीतग्रस्ते भयार्त्ते च त्रासिते ज्वरिते तथा।
पीतमात्रे तथा मद्ये विधुतं तु भवेच्छिरः ॥ २४ ॥

सर्दी के प्रकोप, डर, कष्ट, ज्वर एवं मद्यपान की प्रारम्भिक अवस्था का प्रदर्शन करने के लिए विधुत शिर का प्रयोग होता है ॥ २४ ॥

परिवाहित तथा आधूत सिर का लक्षण—

पर्यायशः पार्श्वगतं शिरः स्यात्परिवाहितम्।
आधूतमुच्यते तिर्यक्सकृदुद्वाहितं तु यत् ॥ २५ ॥

जब सिर को क्रम से दोनों पार्श्वों की तरफ ले जाया जाए तो उसे परिवाहित शिर कहते हैं और केवल एक बार ऊपर की तरफ ले जाने पर 'आधत' सिर कहा जाता है ॥ २५ ॥

परिवाहित सिर का विनियोग—

साधने विस्मये हर्षे स्मृते चामर्षिते तथा।
विचारे विहृते चैव लीलायां परिवाहितम् ॥ २६ ॥

कार्य सम्पादन, आश्चर्य, हर्ष, स्मरण, चिढ़, सोचने, विहार एवं विलास के प्रदर्शन के समय परिवाहित सिर का प्रयोग किया जाता है ॥ २६ ॥

आधूत सिर का विनियोग—

गर्वेच्छादर्शने चैव पार्श्वस्थोर्ध्वनिरीक्षणे।[1]
आधूतं तु शिरो ज्ञेयमात्मसम्भावनादिषु ॥ २७ ॥

अभिमान, अभीष्ट प्रदर्शन, उपर की ओर बगल में देखने[1] एवं आत्मपरीक्षणादि के अवसर पर आधूत शिर का प्रयोग होता है ॥ २७ ॥

---

१. पार्श्वस्थोर्ध्वनिरीक्षणे—घोष इसे 'ऊपर ऊँचे देखना' कहते हैं। किन्तु इससे पार्श्व का अर्थ ध्वनित नहीं हो पाता।

अवधूत सिर का लक्षण तथा विनियोग—

यदधः सकृदाक्षिप्तमवधूतं तु तच्छिरः ।
सदेशावाहनालोपसंज्ञादिषु तदिष्यते ॥ २८ ॥

एक बार नीचे की ओर गिराने पर शिर की संज्ञा 'अवधूत' होती है। संदेश देने, इष्ट के आवाहन, एवं प्रकट होने के संकेत के लिए[1] इसका प्रयोग किया जाता है ॥ २८ ॥

अञ्चित सिर का लक्षण तथा विनियोग—

किञ्चित्पार्श्वानतग्रीवं शिरो विज्ञेयमञ्चितम् ।
व्याधिते मूर्छिते मत्ते चिन्तायां हनुधारणे[2] ॥ २९ ॥

गर्दन को एक ओर थोड़ा सा झुकाने से 'अञ्चित' शिर कहा जाता है। बीमारी मूर्च्छा, मदहोशी एवं चिन्ता तथा परिस्थिति विशेष में चिबुक की स्थिति प्रदर्शित करने के लिये इसका प्रयोग किया जाता है ॥ २९ ॥

निहञ्चित सिर का लक्षण तथा विनियोग—

उत्क्षिप्तांसावसक्तं यत्कुञ्चितभ्रूलतं मनाक् ।
निहञ्चितं तु विज्ञेयं स्त्रीणामेतत्प्रयोजयेत् ॥ ३० ॥
गर्वे माने विलासे च विब्बोके किलकिञ्चिते ।
मोट्टायिते कुट्टमिते स्तम्भे माने निहञ्चितम् ॥ ३१ ॥

दोनों कन्धों को उपर की ओर उठाकर गर्दन को एक ओर झुकाने को 'निहञ्चित' शिर कहते हैं। इसका प्रयोग स्त्रियाँ करती हैं तथा प्रयोग के अवसर हैं–अभिमान, प्रणय कोप, लीला, तटस्थता, उन्मत्तता, प्रच्छन्न सुखानुभूति, झूठमूठ का क्रोध एवं जड़ता का प्रदर्शन ॥ ३०-३१ ॥

परावृत्त सिर का लक्षण तथा विनियोग—

परावृत्तानुकरणात् परावृत्तमिहोच्यते ।
तत्स्यान्मुखापहरणे पृष्ठतः प्रेक्षणादिषु ॥ ३२ ॥

---

१. अलोपसंज्ञा—घोष ने इसका अर्थ समीप आना किया है। हमारे मत में अलोपसंज्ञा का तात्पर्य है किसी अप्रकट या छिपे व्यक्ति को प्रकट होने के लिए प्रेरित करना। पाठान्तर के अनुसार यहाँ "आलापे चैव तद्भवेद्" (म) या "आलापसंज्ञादिषु भविष्यति" (द) पाठ होना चाहिए। तब इसका अर्थ "संभाषण के प्रसंग में" होगा ।

२. 'मत्ते सचिन्ते दु:खिते भवेत्' इति वा पाठः ।

सिर को घुमा लेने पर परावृत्त शिर की मुद्रा बनती है। मुँह फेरने एवं देखने आदि के हेतु इसका प्रयोग किया जाता है ॥ ३२ ॥

उत्क्षिप्त सिर का लक्षण तथा विनियोग—

उत्क्षिप्तं चापि विज्ञेयनुन्मुखावस्थितं शिरः।
प्रांशुदिव्यार्थयोगेषु स्यादुक्षिप्तं प्रयोगतः ॥ ३३ ॥

जब मुख को ऊपर की ओर उठाया जाया है तो उसे 'उत्क्षिप्त' शिर कहते हैं। प्रांशु एवं दैवी पदार्थों के सन्दर्भ में इसका प्रयोग किया जाता है ॥ ३३ ॥

अधोगत सिर का लक्षण तथा विनियोग—

अवाङ्मुखस्थितञ्चापि बुधाः प्राहुरधोगतम्।
लज्जायां च प्रणामे च दुःखे चाधोगतं शिरः ॥ ३४ ॥

जब मुख नीचे की तरफ झुका हो तो उसे 'अधोगत' शिर कहते हैं। शर्म, नमस्कार एवं दुःख में इसका प्रयोग होता है ॥ ३४ ॥

लोलित सिर का लक्षण तथा विनियोग—

सर्वतोभ्रमणाच्चैव शिरो लोलितमुच्यते।
मूर्च्छाव्याधिमदावेशग्रहनिद्रादिषु स्मृतम् ॥ ३५ ॥

जब सिर चारों तरफ घूमता रहे तो उसे 'लोलित' शिर कहते हैं। बेहोशी, बीमारी, मदहोशी तथा निद्रा आदि के समय इसका प्रयोग किया जाता है ॥ ३५ ॥

प्राकृत सिर का लक्षण तथा विनियोग—

[ऋजुस्वभावसंस्थानं प्राकृतं तु स्वभावजम्।
मङ्गल्याध्ययनध्यान स्वभावजयकर्मसु ॥]

[सीधे स्वाभाविक रूप में जो शिर रहता है वह 'प्राकृत' सिर होता है। कल्याणप्रद पठन, भगवद्ध्यान एवं मन के दमन आदि क्रियाओं के सन्दर्भ में इसका प्रयोग किया जाता है।]

सिर की चेष्टाओं का उपसंहार—

एभ्योऽन्ये बहवो भेदा लोकाभिनयसंश्रयाः।
ते च लोकस्वभावेन प्रयोक्तव्याः प्रयोक्तृभिः ॥ ३६ ॥

इसके अतिरिक्त भी शिर की अनेकों मुद्राएं होती हैं जो सामान्य अभिनय पर आश्रित होती हैं। अवस्था के अनुरूप उन सबका प्रयोग प्रयोक्तागण को करना चाहिए ॥ ३६ ॥

दृष्टि की चेष्टाओं का उपक्रम—

त्रयोदशविधं ह्येतच्छिरः कर्म मयोदितम्।
अतः परं प्रवक्ष्यामि दृष्टीनामपि लक्षणम् ॥ ३७ ॥

सिर की इन तेरह प्रकार की मुद्राओं को मैंने बतलाया। अब मै दृष्टि के विषय में बताऊँगा ॥ ३७ ॥

रस दृष्टियों के आठ भेद—

कान्ता भयानका हास्या करुणा चाद्भुता तथा।
रौद्री वीरा च बीभत्सा विज्ञेया रसदृष्टयः ॥ ३८ ॥

(१) कान्ता, (२) भयानका, (३) हास्या, (४) करुणा, (५) अद्भुता, (६) रौद्री, (७) वीरा एवं (८) वीभत्सा–इनको रस दृष्टि कहा जाता है ॥ ३८ ॥

स्थायी भाव सम्बन्धी दृष्टियों के आठ भेद—

स्निग्धा हृष्टा च दीना च क्रुद्धा दृप्ता भयान्विता।
जुगुप्सिता विस्मिता च स्थायिभावेषु दृष्टयः ॥ ३९ ॥

स्थायी भावों में प्रयुक्त दृष्टियों के नाम इस प्रकार हैं (१) स्निग्धा, (२) हृष्टा, (३) दीना, (४) क्रुद्धा, (५) दृप्ता, (६) भयान्विता, (७) जुगुप्सिता एवं (८) विस्मिता ॥ ३९ ॥

सञ्चारी भाव सम्बन्धी दृष्टियों के बीस भेद—

शून्या च मलिना चैव श्रान्ता लज्जान्विता तथा।
ग्लाना च शङ्किता चैव विषण्णा मुकुला तथा ॥ ४० ॥
कुञ्चिता चाभितप्ता च जिह्मा सललिता तथा।
वितर्किताऽर्धमुकुला विभ्रान्ता विप्लुता तथा ॥ ४१ ॥
आकेकरा विकोशा च त्रस्ता च मदिरा तथा।
षट्त्रिंशद्दृष्टयो ह्येतास्तासु नाट्यं प्रतिष्ठितम् ॥ ४२ ॥

(१) शून्या, (२) मलिना, (३) श्रान्ता, (४) लज्जान्विता, (५) ग्लाना, (६) शंकिता, (७) विषण्णा, (८) मुक्ता, (९) कुञ्चिता, (१०) अभितप्ता, (११) अर्धमुकुला, (१२) जिह्मा, (१३) ललिता, (१४) वितर्किता, (१५) विभ्रान्ता, (१६) विलुप्ता, (१७) आकेकरा, (१८) विकोशा, (१९) त्रस्ता एवं (२०) मदिरा इन छत्तीस दृष्टियों में नाट्य का नियोजन है[2] ॥ ४०-४२ ॥

रस सम्बन्धी दृष्टियों की चेष्टाओं के वर्णन का उपक्रम—

अस्य दृष्टिविधानस्य नानाभावरसाश्रयम्।
लक्षणं संप्रवक्ष्यामि यथाकर्मप्रयोगतः ॥ ४३ ॥

---

१. भरत मुनि द्वारा उल्लिखित रसों की संख्या आठ होने से तत्तद् रस की दृष्टियों की भी आठ संख्या है।

२. आठ रस दृष्टियाँ आठ भाव दृष्टियाँ एवं बीस सञ्चारी दृष्टियों को मिला कर नाट्य में प्रयुक्त होने वाली दृष्टियों की कुल संख्या छत्तीस सिद्ध होती है।

अब मैं विविध भावों एवं रसों के सन्दर्भ में कर्म तथा प्रयोगों के अनुसार इन दृष्टियों का वर्णन करूँगा ॥ ४३ ॥

कान्ता दृष्टि का लक्षण तथा विनियोग—

हर्षप्रसादजनिता कान्तात्यर्थं समन्यथा ।
सभ्रूक्षेपकटाक्षा च शृङ्गारे दृष्टिरिष्यते ॥ ४४ ॥

(१) शृंगार रस के प्रसङ्ग में प्रसन्नता एवं प्रफुल्लता के समय 'कान्ता' नामक दृष्टि का प्रयोग होता है। इसमें भवें संकुचित की जाती हैं तथा कुटिल दृष्टिपात [कटाक्ष] का प्रयोग किया जाता है ॥ ४४ ॥

भयानक दृष्टि का लक्षण तथा विनियोग—

पोद्वृस्तनिष्टब्धपुटा स्फुरदुद्वृत्ततारका ।
दृष्टिर्भयानकात्यर्थं भीता ज्ञेया भयानके ॥ ४५ ॥

(२) आँखों की पलकें यथासम्भव ऊपर की ओर निष्कम्प रूप से फैली हों[1] तथा पुतलियाँ भी फैली हुई हों और कुछ कुछ इधर-उधर घूम रहीं हों तो उसे 'भयानका' दृष्टि कहते हैं। अत्यधिक भयानुभूति की प्रदर्शिका इस दृष्टि का प्रयोग भयानक रस में किया जाता है ॥ ४५ ॥

हास्या दृष्टि का लक्षण तथा विनियोग—

क्रमादाकुञ्चितपुटा सविभ्रान्ताल्पतारका ।
हास्या दृष्टिस्तु कर्तव्या कुहकाभिनयं प्रति ॥ ४६ ॥

(३) ऊपर एवं नीचे वाली दोनों पलकें जब क्रमशः फड़कें तथा पुतलियाँ कुछ-कुछ डोलती रहें तो उसे हास्या दृष्टि कहा जाता है एवं अभिनय मायावी या विस्मापक (कुहक) के प्रसङ्ग में किया जाता है ॥ ४६ ॥

करुणा दृष्टि का लक्षण तथा विनियोग—

पतितोर्ध्वपुटा सास्त्रा मन्युमन्थरतारका ।
नासाग्रानुगता दृष्टिः करुणा करुणे रसे ॥ ४७ ॥

(४) ऊपरवाली पलक जब नीचे की ओर झुकी हुई हो, आँखों में आँसू भरे हो, ग्लानिवश पुतलियाँ स्थिर हों तथा निगाह नाक के अगले भाग पर टिकी हो तो उसे करुणा दृष्टि कहते हैं। इसका प्रयोग करुणरस में किया जाता है ॥ ४७ ॥

अद्भुता दृष्टि का लक्षण तथा विनियोग—

या त्वाकुञ्चितपक्ष्माग्रा साश्चर्योद्वृत्ततारका ।
सौम्या विकसितान्ता च साद्भुता दृष्टिरद्भुते ॥ ४८ ॥

---

१. यह स्थिति नेत्रों के भयविस्फारित होने पर सम्भव है।

(५) जिस दृष्टि में बरौनियों के अग्रभाग कुछ मुड़े हुए रहें तथा आश्चर्यवश पुतलियाँ फैली-फैली सी हो जाएं तथा जो दृष्टि शान्त होती है एवं जिसमें नयनों की कोरे (आश्चर्य से) खुल जाती हैं उसे 'अद्भुता' दृष्टि कहते हैं। इसका प्रयोग 'अद्भुत' रस में किया जाता है ॥ ४८ ॥

रौद्री दृष्टि का लक्षण तथा विनियोग—

क्रूरा रूक्षारुणोद्वृत्ता निष्टब्धपुटतारका।
भ्रुकुटीकुटिला दृष्टी रौद्री रौद्ररसे स्मृता ॥ ४९ ॥

(६) वह क्रूर एव स्नेहरहित दृष्टि जिसमें आँखें लाल एवं फटी-फटी सी हो उठती हैं, जिसमें पुतलियाँ एकदम स्तब्ध हो उठती हैं एवं भृकुटि टेढ़ी हो जाती है, उसे 'रौद्री' दृष्टि कहते हैं तथा इसका प्रयोग रौद्ररस में करते हैं ॥ ४९ ॥

वीरा दृष्टि का लक्षण तथा विनियोग—

दीप्ता विकसिता क्षुब्धा गम्भीरा समतारका।
उत्फुल्लमध्या दृष्टिस्तु वीरा वीररसाश्रया ॥ ५० ॥

(७) जो दृष्टि (उत्साह से) चमक रही हो जिसमें आँखें पूरी खुली हों और जो आन्दोलित, गम्भीर एवं अकम्पित पुतलियों से युक्त हो तथा जिसमें नेत्रप्रान्त प्रमुदित प्रतीत होता हो उसे 'वीरादृष्टि' कहते हैं। यह वीररस में प्रयुक्त होती है ॥ ५० ॥

बीभत्सा दृष्टि का लक्षण तथा विनियोग—

निकुञ्चितपुटापाङ्गा घूर्णोपप्लुततारका।
संश्लिष्टस्थिरपक्ष्मा च बीभत्सा दृष्टिरिष्यते ॥ ५१ ॥

(८) जिस दृष्टि मे नेत्रों के कोनों की ओर पलकें सिकुड़ी हुई हो, पुतलियाँ ऊपर नीचे घूम रही हो तथा बरौनियाँ परस्पर जुड़कर एकदम निश्चल हों उसे 'बीभत्सा' दृष्टि कहते हैं ॥ ५१ ॥

शान्तादृष्टि का लक्षण—

[नासाग्रसक्तानिमिषा तथाधोभागचारिणी।
आकेकरपुटा चैव शान्ता दृष्टिर्भवेदसौ ॥]

[नाक के अगले भाग को लक्ष्य करने वाली नीचे की ओर झुकी निगाह वाली तथा अर्धनिमीलित पलकों वाली दृष्टि को 'शान्ता' कहा जाता है।]

स्थायीभाव सम्बन्धी दृष्टिचेष्टाओं के वर्णन का उपक्रम—

रसजा दृष्टयो ह्येता विज्ञेया लक्षणान्विताः।
अतः परं लक्षयिष्ये[1] स्थायिभावसमाश्रयाः ॥ ५२ ॥

१. 'प्रवक्ष्यामि' इति बड़ौदासंस्करणे पाठः।

उपर्युक्त जिन दृष्टियों के लक्षण कहे गये हैं उनका नाम 'रसजा' दृष्टि है। अब मैं स्थायिभावों की आश्रित दृष्टियों का विश्लेषण करूँगा ॥ ५२ ॥

स्निग्धा दृष्टि का लक्षण तथा विनियोग—

व्याकोशमध्या मधुरा स्थिततारामिलाषिणी।
सानन्दभ्रूलता दृष्टिः स्निग्धेयं रतिभावजा ॥ ५३ ॥

१. रति नामक स्थायी भाव से उत्पन्न होने वाली दृष्टि का नाम 'स्निग्धा' होता है। उसमें नेत्र न अधिक खुले होते हैं न कम (मध्यम)। वह मधुर पुतलियों वाली तथा आनन्दित भ्रू विलास सम्पन्न होती है ॥ ५३ ॥

हृष्टा दृष्टि का लक्षण तथा विनियोग—

चला हसितगर्भा च विशत्तारानिमेषिणी।
किञ्चिदाकुञ्चिता हृष्टा दृष्टिर्हासे प्रकीर्तिता ॥ ५४ ॥

२. हास संज्ञक भाव में हृष्टा दृष्टि का प्रयोग होता है जो चंचल, हंसी से कुछ भरपूर, (पलकों के संकोचन द्वारा) पुतलियों को छिपा लेने वाली, एवं आंखों को सिकोड़ लेने वाली होती है ॥ ५४ ॥

दीना दृष्टि का लक्षण तथा विनियोग—

अवस्रस्तोत्तरपुटा रुद्धतारा जलाविला।
मन्दसञ्चारिणी दीना सा शोके दृष्टिरुच्यते ॥ ५५ ॥

३. शोक में 'दीना' नामक दृष्टि प्रयुक्त होती है। इस दृष्टि में अश्रुपूर्ण पलकें कुछ ढलकी हुई सी होती हैं, आँखों में आँसू भरे होने से पुतलियाँ अस्पष्ट रहती हैं तथा उनकी गति बहुत ही धीमी होती है ॥ ५५ ॥

क्रुद्धा दृष्टि का लक्षण तथा विनियोग—

रूक्षा स्थिरोद्वृत्तपुटा निष्टब्धोद्वृत्ततारका।
कुटिलभ्रुकुटी दृष्टिः क्रुद्धा क्रोधे विधीयते ॥ ५६ ॥

४. जो दृष्टि रूखी होती है एवं जिनमें पलकें फटी-फटी सी और स्तब्ध रहती है, आँखों की पुतलियों को बाहर की ओर निकालते हुए एकटक देखा जा रहा हो, भवें टेढ़ी हो जाए, उस दृष्टि का नाम 'क्रुद्धा' दृष्टि होता है एवं उसका प्रयोग 'क्रोध' नामक स्थायीभाव में किया जाता है ॥ ५६ ॥

दृप्ता दृष्टि का लक्षण तथा विनियोग—

संस्थिते तारके यस्याः स्थिरा विकसिता तथा।
सत्त्वमुद्गिरती दृप्ता दृष्टिरुत्साहसम्भवा ॥ ५७ ॥

५. जिसमें पुतलियाँ स्थिर रहती हैं तथा जो दृष्टि अचंचल और विस्फारित होती है तथा जिससे ओज का प्रदर्शन हो रहा हो वह दृष्टि 'उत्साह' नामक भाव से उत्पन्न होती है तथा उसका नाम 'दृप्ता' होता है ॥ ५७ ॥

भयान्विता दृष्टि का लक्षण तथा विनियोग—

विस्फारितोभयपुटा भयकम्पिततारका ।
निष्क्रान्तमध्या दृष्टिस्तु भयभावे भयान्विता ॥ ५८ ॥

६. जिसमें दोनों पलकें विस्तृत हों, भय से काँपती हुई पुतलियाँ आँख के मध्य में स्थिर न रहें उसे 'भयान्विता' दृष्टि कहते हैं जिसे 'भय' में प्रयुक्त किया जाता है ॥ ५८ ॥

जुगुप्सिता दृष्टि का लक्षण तथा विनियोग—

संकोचितपुटाध्यामा[1] दृष्टिर्मीलिततारका ।
लक्षोद्देशात्समुद्विग्ना जुगुप्सायां जुगुप्सिता ॥ ५९ ॥

७. जब दोनों पलकें सिकोड़ ली जाएँ, निगाहों (के भटकने) से पुतलियाँ छिपी जा रही हों, अपने लक्ष्य से जो बार बार हटी जा रही हों उस दृष्टि को 'जुगुप्सिता' कहते हैं तथा इसका प्रयोग 'जुगुप्सा' नामक स्थायी भाव में किया जाता है ॥ ५९ ॥

विस्मिता दृष्टि का लक्षण तथा विनियोग—

भृशमुद्वृत्ततारात्र नष्टोभयपुटाञ्चिता ।
समा विकसितादृष्टिर्विस्मिता विस्मये स्मृता ॥ ६० ॥

८. विस्मय नामक स्थायी भाव में जो दृष्टि प्रयुक्त होती है उसमें पुतलियाँ [आश्चर्य से] फैल जाती हैं, दोनों आँखों की पलकें सिकुड़कर स्तब्ध हो उठती हैं, तथा आँखें विस्फारित हो जाती हैं। इस दृष्टि का नाम 'विस्मिता' होता है ॥ ६० ॥

सञ्चारी भाव सम्बन्धी दृष्टियों के वर्णन का उपक्रम—

स्थायिभावाश्रया ह्येता विज्ञेया दृष्टयो बुधैः ।
सञ्चारिणीनां दृष्टीनां संप्रवक्ष्यामि लक्षणम् ॥ ६१ ॥

उपर्युक्त इन दृष्टियों को विद्वान् लोग स्थायीभाव की दृष्टियाँ मानते हैं। अब मैं सञ्चारी भावों की आश्रित दृष्टियों के लक्षण बतलाऊँगा ॥ ६१ ॥

---

१. 'पुटश्यामा' 'पुटन्यासा' इति वा पुस्तकान्तरे ।

शून्या दृष्टि का लक्षण—

समतारा समपुटा निष्कम्पा शून्यदर्शना।
बाह्यार्थाग्राहिणी श्यामा शून्यादृष्टिः प्रकीर्तिता ॥ ६२ ॥

[१] जब पुतलियाँ एवं पलकें सामान्य अवस्था में हों [ऊपर या नीचे न हों] स्पन्दरहित हों, दृष्टि किसी भी कार्य को लक्षित न कर रही हो, भौतिक पदार्थों का प्रत्यक्ष करने में जो असमर्थ हो उसे 'शून्या' दृष्टि कहते हैं ।। ६२ ॥

मलिना दृष्टि का लक्षण—

प्रस्पन्दमानपक्ष्मा या नात्यर्थमुकुलैः पुटैः।
मलिनान्ता च मलिना दृष्टिर्भ्रान्ततारका ॥ ६३ ॥

[२] जिस दृष्टि में बरौनियाँ कम्पित होती है। पलकें अधिक बन्द न हों, आखें की कोरे गंदली सी हों व पुतलियाँ चंचल हों उसे 'मलिना' दृष्टि कहते हैं ॥ ६३ ॥

श्रान्ता दृष्टि का लक्षण—

श्रमात्प्रम्लापितपुटा क्षामान्ताञ्चितलोचना।
सन्ना पतिततारा च श्रान्ता दृष्टिः प्रकीर्तिता ॥ ६४ ॥

[३] उस दृष्टि का नाम 'श्रान्ता' दृष्टि होता है जिसमें थकावट के कारण पलकें झुकी हुई होती हैं, नेत्रों की कोरें कुछ मिची हुई रहती हैं तथा पुतलियाँ भी नीचे की ओर ढलती रहती हैं ॥ ६४ ॥

लज्जान्विता दृष्टि का लक्षण—

किञ्चिदञ्चितपक्ष्माग्रा पतितोर्ध्वपुटा ह्रिया।
त्रपाधोगततारा च दृष्टिर्लज्जान्विता तु सा ॥ ६५ ॥

[४] जब आँखों की बरौनियां कुछ कुछ झुकी हुई हों, शर्म से ऊपरी पलक झुकी जाती हो तथा व्रीडावश पुतलियाँ नीचे की ओर गिरी जाती हों तो उस दृष्टि को 'लज्जान्विता' कहते हैं ॥ ६५ ॥

ग्लाना दृष्टि का लक्षण—

म्लानभ्रूपुटपक्ष्मा या शिथिला मन्दचारिणी।
[१]क्रमप्रविष्टतारा च ग्लाना दृष्टिस्तु सा स्मृता ॥ ६६ ॥

[५] जब भावों, पलकों एवं बरौनियों की गति एकदम धीमी हो, वह ढलती सी हों तथा आँखों की पुतलियाँ शनैः शनैः नीचे की ओर डूबती जाती हों तो उसे 'ग्लाना' दृष्टि कहते हैं ॥ ६६ ॥

---

१. 'क्लम' इति बड़ौदासंस्करणे पाठः।

शंकिता दृष्टि का लक्षण—

किञ्चच्चला स्थिरा किञ्चिदुद्गता तिर्यगायता ।
गूढा चकिततारा च शङ्किता दृष्टिरिष्यते ॥ ६७ ॥

[६] कुछ चंचल सी और कुछ निश्छल सी, कभी बाहर की ओर घूरती हुई सी, कभी तिर्यक् विस्तारित दृष्टि जिसमें पुतलियाँ भौंचक्की तथा चकित लगें, उसे 'शंकिता' दृष्टि कहते हैं ॥ ६७ ॥

विषादिनी दृष्टि का लक्षण—

विषादविस्तीर्णपुटा पर्यस्तान्ता निमेषिणी ।
किञ्चन्निष्टब्धतारा च कार्या दृष्टिर्विषादिनी ॥ ६८ ॥

[७] वह उदास दृष्टि जिसमें पलकें खूब विस्तारित हों, पलकें न झपकती हों तथा पुतलियाँ लगभग स्थिर हों उसे 'विषादिनी' दृष्टि कहते हैं ॥ ६८ ॥

मुकुला दृष्टि का लक्षण—

स्फुरदाश्लिष्टपक्ष्माग्रा मुकुलोर्ध्वपुटाञ्चिता ।
सुखोन्मीलिततारा च मुकुला दृष्टिरिष्यते ॥ ६९ ॥

[८] जब जुड़ी जुड़ी सी बरौनियाँ काँप रही हों, ऊपरी पलक पूरी तरह झुकी हो[1] तथा आनन्द से पुतलियाँ विकसित होती हो उसे 'मुकुला' दृष्टि कहते हैं ॥ ६९ ॥

कुञ्चिता दृष्टि का लक्षण--

आनिकुञ्चितपक्ष्माग्रा पुटैराकुञ्चितैस्तथा ।
सन्निकुञ्चिततारा च कुञ्चिता दृष्टिरिष्यते ॥ ७० ॥

[९] जिस दृष्टि में बरौनियों का अगला भाग कुछ मुड़ा हुआ सा हो, तथा पलकें एवं पुतलियाँ सिकुड़ी हुई हों तो उसे 'कुञ्चिता' कहते हैं ॥ ७० ॥

अभितप्ता दृष्टि का का लक्षण—

मन्दायमानतारा या पुटैः प्रचलितैस्तथा ।
सन्तापोपप्लुता दृष्टिरभितप्ता तु सव्यथा ॥ ७१ ॥

[१०] जब पलकें मन्दगति से फड़कती रहें, पुतलियों की गति अत्यन्त

---

१. मुकुलोर्ध्वपुट—श्री घोष के अनुवाद में इसे मुकुल श्रेणी का कहा गया है। मुकुल का अनुवाद कली है। अतः पलकों के मुकुलित होने का तात्पर्य पलकों को इतना झुकाना प्रतीत होता है कि आँखे बन्द सी लगने लगें।

मन्थर हो, जो दृष्टि दुःख एवं पीड़ा की परिचायक हो उसका नाम 'अभितप्ता' दृष्टि होता है ॥ ७१ ॥

जिह्मा दृष्टि का लक्षण—

लम्बिता कुञ्चितपुटा शनैस्तिर्यङ्निरीक्षणैः ।
निगूढा गूढतारा[1] च जिह्मा दृष्टिरुदाहृता ॥ ७२ ॥

[११] कटाक्षपात के कारण आँखों की पलकें सिकुड़ कर मुद जाएं एवं पुतलियाँ दिखाई न पड़ती हों तो उसे जिह्मा दृष्टि कहा जाता है ॥ ७२ ॥

ललिता दृष्टि का लक्षण—

मधुरा कुञ्चितान्ता च सभ्रूक्षेपा च सस्मिता ।
समन्मथविकारा च दृष्टिः सा ललिता स्मृता ॥ ७३ ॥

[१२] जो दृष्टि मधुर हो, जिसमें नेत्रों के प्रान्त भाग वक्र हों, भ्रूपात से युक्त हो, सहास्य हो, एवं जिसमें कामविकार हो उसका नाम ललिता दृष्टि होता है ॥ ७३ ॥

वितर्किता दृष्टि का लक्षण—

वितर्कोद्वर्तितपुटा तथैवोत्फुल्लतारका ।
अधोमुखविकारा च दृष्टिरेषा वितर्किता ॥ ७४ ॥

[१३] जिस दृष्टि में पलके जिज्ञासावश ऊपर की ओर मुड़ी हो, पुतलियाँ खूब विस्फारित हों तथा नजरें नीचे की ओर झुकी हों, उसे वितर्किता कहते है ॥ ७४ ॥

अर्धमुकुला दृष्टि का लक्षण—

अर्धव्याकोशपक्ष्मा च ह्लादार्धमुकुलैः पुटैः ।
स्मृतार्धमुकुला दृष्टिः किञ्चिल्लुलिततारका ॥ ७५ ॥

[१४] आँखों की बरौनियाँ आधी मुदी हो, प्रसन्नतावश पलकें आधी बन्द हो गई हों तथा पुतलियों की गति मन्द हो तो उस अवस्था का नाम 'अर्धमुकुला' दृष्टि होता है ॥ ७५ ॥

विभ्रान्ता दृष्टि का लक्षण—

अनवस्थिततारा च विभ्रान्ताकुलदर्शना[2] ।
विस्तीर्णोत्फुल्लनेत्रा च विभ्रान्ता दृष्टिरिष्यते ॥ ७६ ॥

---

१. 'गूढाऽचकिततारा च' इति वा पाठः ।

२. 'विभ्रान्ततारका या तु विभ्रान्तपुटदर्शना ।' इति काशीसंस्करणे पाठः ।

[१५] जिस दृष्टि में पुतलियाँ स्थिर न हों, जो देखने में मटकी हुई और व्याकुल सी दिखाई पड़ती हो एवं जिसमें नेत्र विस्फारित तथा उभरे हुए से दिखाई पड़ते हो उसे 'विभ्रान्ता' दृष्टि कहते हैं ॥ ७६ ॥

विप्लुता दृष्टि का लक्षण—

पुटौ प्रस्फुरितौ यस्य निष्टब्धौ पतितौ पुनः ।
विप्लुतोद्वृत्ततारा च दृष्टिरेषा तु विप्लुता ॥ ७७ ॥

[१६] जब दोनों पलकें फड़क कर शान्त हो जाएँ तथा पुतलियाँ गतिशील हों तो उस दृष्टि की संज्ञा 'विप्लुता' होती है ॥ ७७ ॥

आकेकरा दृष्टि का लक्षण—

आकुञ्चितपुटापाङ्गा सङ्गतार्धनिमेषिणी ।
मुहुर्व्यावृत्ततारा च दृष्टिराकेकरा स्मृता ॥ ७८ ॥

[१७] 'आकेकरा' दृष्टि में पलकें एवं अपांग कुछ सिकुड़े हुए तथा मुंदे हुए से होते हैं, आँख आधी झपी रहती है व पुतलियाँ बार बार घूम रही होती हैं ॥ ७८ ॥

विकोशा दृष्टि का लक्षण—

विकोशितोभयपुटा प्रोत्फुल्ला चानिमेषिणी ।
अनवस्थिततारा च विकोशा दृष्टिरिष्यते ॥ ७९ ॥

[१८] जब दोनों पलकें बिल्कुल न झपक रही हों, एवं पुतलियाँ गतिशील हों तो उसे 'विकोशा' दृष्टि कहा जाता है ॥ ७९ ॥

त्रस्ता दृष्टि का लक्षण—

त्रासोद्वृत्तपुटा या तु तथोत्कम्पिततारका ।
संत्रासोत्फुल्लमध्या च त्रस्ता दृष्टिरुदाहृता ॥ ८० ॥

[१९] भयवश पलकें जब ऊपर की ओर उघड़ी हों, पुतलियाँ काँप रही हो एवं पीड़ा के कारण आँखों का मध्यभाग खुल गया हो तो उसे 'त्रस्ता' दृष्टि कहते हैं ॥ ८० ॥

मदिरा दृष्टि का लक्षण—

आघूर्णमानमध्या या क्षामान्ताञ्चितलोचना ।
दृष्टिर्विकसितापाङ्गा मदिरा तरुणे मदे ॥ ८१ ॥

[२०] जब आखों का मध्यभाग चक्कर खा रहा हो, आँखें बिल्कुल सिकुड़ गई हों एवं नेत्रों के कोर बिल्कुल खुले हुए हों तो उसे 'मदिरा' दृष्टि कहते हैं।

इसका उपयोग मद्यपान की प्रारम्भिक अवस्था के प्रदर्शनार्थ किया जाता है ॥ ८१ ॥

मध्यमद वाली मदिरा दृष्टि का लक्षण—

किञ्चिदाकुञ्चितपुटा किञ्चिल्लुलिततारका ।
अनवस्थितसञ्चारा दृष्टिर्मध्यमदे भवेत् ॥ ८२ ॥

मद्यपान की मध्यावस्था का प्रदर्शन करने के लिए पलकें कुछ सिकुड़ी हुई रहती हैं, पुतलियाँ चंचल रहती हैं तथा निगाह भी अस्थिर रहती है ॥ ८२ ॥

अधम मद वाली मदिरा दृष्टि का लक्षण—

सनिमेषाऽनिमेषा च किञ्चिद्दर्शिततारका ।
अधोभागचरी दृष्टिरधमे तु मदे स्मृता ॥ ८३ ॥

मद्यपान की चरमावस्था में या तो पलकें बहुत ही जल्दी झपकती हैं या एकदम स्थिर रहती हैं तथा पुतलियाँ भी बहुत कम दृश्य होती हैं एवं दृष्टि नीचे की ओर झुकी रहती है ॥ ८३ ॥

छत्तीस दृष्टि चेष्टाओं का उपसंहार—

इत्येवं लक्षिता ह्येषा षट्त्रिंशद्दृष्टयो मया ।
रसजा भावजाश्चासां विनियोगं निबोधत ॥ ८४ ॥

इन छत्तीस रसज एवं भावज दृष्टियों का मैंने वर्णन किया । अब इनके प्रयोग प्रसंग के विषय में ज्ञान प्राप्त करें ॥ ८४ ॥

रसजास्तु रसेष्वेव स्थायिषु स्थायिदृष्टयः ।
शृणुत व्यभिचारिण्यः सञ्चारिषु यथास्थिताः ॥ ८५ ॥

रसावस्था में इन रस दृष्टियों का, स्थायीभाव के प्रसंग में स्थायी दृष्टियों का तथा सञ्चारी भावों के प्रसंग में व्यभिचारी दृष्टियों को मैंने बतलाया ॥ ८५ ॥

सञ्चारी भाव सम्बन्धी बीस दृष्टि एवं चेष्टाओं का विनियोग—

शून्या दृष्टिस्तु चिन्तायामभितप्तापि कीर्तिता ।
निर्वेदे चापि मलिना वैवर्ण्ये च विधीयते ॥ ८६ ॥
श्रान्ता श्रमार्त्ते स्वेदे च लज्जायां ललिता तथा ।
अपस्मारे तथा व्याधौ ग्लान्यां ग्लाना विधीयते ॥ ८७ ॥
शङ्कायां शङ्किता ज्ञेया विषादार्थे विषादिनी ।
निद्रास्वप्नसुखार्थेषु मुकुला दृष्टिरिष्यते ॥ ८८ ॥

शून्या दृष्टि का प्रयोग चिन्ता एवं परेशानी में, मलिना दृष्टि का प्रयोग निर्वेद एवं रंग के फीके पड़ने में, श्रान्ता का थकावट एवं पसीना बहने में, लज्जान्विता

दृष्टि का शर्म में, ग्लाना का अपस्मार, बीमारी तथा खिसियाहट में, शंकिता दृष्टि का जिज्ञासा, में विषादिनी का शोक में, मुकुला का नींद, स्वप्न, देखने एवं सुखानुभूति में प्रयोग किया जाता है ॥ ८६-८८ ॥

कुञ्चितासूयितानिष्टदुष्प्रेक्षाक्षिव्यथासु च ।
अभितप्ता च निर्वेदे ह्यभिघाताभितापयोः ॥ ८९ ॥
जिह्मा दृष्टिरसूयायां जडतालस्ययोस्तथा ।
धृतौ हर्षे सललिता स्मृतौ तर्के वितर्किता ॥ ९० ॥
आह्लादिष्वर्धमुकुला गन्धस्पर्शसुखादिषु ।
विभ्रान्ता दृष्टिरावेगे संभ्रमे विभ्रमे तथा ॥ ९१ ॥
विप्लुता चपलोन्माददुःखार्त्तिमरणादिषु ।
आकेकरा दुरालोके विच्छेदप्रोक्षितेषु च ॥ ९२ ॥
विबोधगर्वामर्षौग्रचमतिषु स्याद्विकोशिता ।
त्रस्ता त्रासे भवेद्दृष्टिः मदिरा च मदेष्विति ॥ ९३ ॥

'कुञ्चिता' दृष्टि का प्रयोग डाह, न देखे जा सकने वाले या कठिनता से देखे जाने वाले पदार्थ का दर्शन एवं आँख की पीड़ा में, 'अभितप्ता' का प्रयोग तटस्थता, चोट आदि एवं ज्वरादिजन्य ताप आदि में, 'जिह्मा' दृष्टि का प्रयोग ईर्ष्या एवं जड़ता तथा आलस्य में, 'ललिता' दृष्टि का प्रयोग धैर्य एवं आनन्द में, 'वितर्किता' का स्मरण एवं तर्क में, 'अर्धमुकुला' का सुगन्ध एवं स्पर्शजन्य आनन्दानुभूति में 'विप्लुता' का चंचलता, पागलपन, कष्टाधिक्य एवं मृत्यु आदि के समय, 'आकेकरा' दृष्टि का सूदूरस्थित वस्तु को देखने, वियोग एवं गौर से देखने, 'विकोशिता' का जागने, अभिमान, अमर्ष, एवं क्रोध में, 'त्रस्ता' दृष्टि का भय में एवं 'मदिरा' दृष्टि का प्रयोग मद्यपान के प्रसंग में किया जाता है ॥ ८९-९३ ॥

दृष्टि चेष्टाओं का उपसंहार—

षट्त्रिंशद्दृष्टयो ह्येता यथावत्समुदाहृताः ।
रसजानां तु दृष्टीनां भावजानां तथैव च ॥ ९४ ॥
तारापुटभ्रुवां कर्म गदतो मे निबोधत ।

इस प्रकार मैंने छत्तीस प्रकार की दृष्टियों का वर्णन किया है । अब आप लोग रसों एवं भावों के आधार पर पुतलियों, बरौनियों एवं भवों के संचालन को सुनिए ॥ ९४-९५ ॥

पुतलियों की नौ चेष्टाओं के नाम—

भ्रमणं वलनं पातश्चलनं संप्रवेशनम् ॥ ९५ ॥

विवर्त्तनं समुद्वृत्तं निष्क्रामः प्राकृतं तथा।
[एतानि नवकर्माणि ताराकर्म द्विजोत्तमाः।
श्रृणुध्वं लक्षणं तावत्सांप्रतं प्रीतितः स्फुटम् ॥]

(१) भ्रमण, (२) वलन, (३) पातन, (४) चलन, (५) सम्प्रवेशन, (६) विवर्तन, (७) समुद्वृत्तन, (८) निष्क्राम, (९) प्राकृत, (यह नौ प्रकार पुतलियों के सञ्चालन के हैं। अब उनके एक एक के लक्षण आप लोग सुनिए) ॥ ९५-९६ ॥

पुतलियों की नौ चेष्टाओं के लक्षण—

पुटान्तर्मण्डलावृत्तिस्तारयोर्भ्रमणं स्मृतम् ॥ ९६ ॥
वलनं गमनं त्र्यश्रं पातनं स्रस्तता तथा।
चलनं कम्पनं ज्ञेयः प्रवेशोऽन्तः प्रवेशनम् ॥ ९७ ॥
विवर्तनं कटाक्षस्तु समुद्वृत्तं समुन्नतिः।
निष्क्रामो निर्गमः प्रोक्तः प्राकृतं तु स्वभावजम् ॥ ९८ ॥

दोनों पलकों के मध्यगत भाग में पुतलियों को घुमाने की संज्ञा 'भ्रमण' है। पुतलियों को तिरछे चलाना 'वलन', दलकाना 'पातन', कंपाना 'चलन', पुतलियों को (पलकों के) अन्दर ले जाना 'अन्त:प्रवेशन', तिरछे देखना (कटाक्षपात करना) 'विवर्तन', ऊपर चढ़ाना 'समुद्वर्तन', पुतलियों को बाहर की ओर निकालना 'निष्क्रामण' एवं सामान्य अवस्था में रखना 'प्राकृत' संचालन कहा जाता है ॥ ९६-९८ ॥

पुतलियों की नौ चेष्टाओं का विनियोग—

अथैषां रसभावेषु विनियोगं निबोधत।
भ्रमणं वलनोद्वृत्ते निष्क्रामो वीररौद्रयोः ॥ ९९ ॥
निष्क्रामणं सचलनं कर्तव्यं हि भयानके।
हास्यबीभत्सयोश्चापि प्रवेशनमिहेष्यते ॥ १०० ॥
पातनं करुणे कार्यं निष्क्रामणमथाद्भुते।
प्राकृतं शेषभावेषु श्रृङ्गारे च विवर्त्तितम् ॥ १०१ ॥

अब आप लोग विभिन्न रसों एवं भावों के संन्दर्भ में इनके प्रयोग को जानिए—

भ्रमण, वलन एवं उद्वृत्त [समुद्वर्तन] का प्रयोग वीर एवं रौद्ररस में किया जाता है तथा निष्क्रमण एवं वलन का प्रयोग भयानक रस में किया जाता है। प्रवेशन का प्रयोग हास्य तथा वीभत्स रस के सन्दर्भ में होता है। पातन का प्रयोग करुण रस में, निष्क्रमण का अद्भुत रस में, विवर्तन का श्रृंगार रस में तथा अन्य शेष सभी रसों के सन्दर्भ में 'प्राकृत' तारापुटों का प्रयोग किया जाता है ॥ ९९-१०१ ॥

स्वभावसिद्धमेवैतत्कर्म लोकक्रियाश्रयम् ।
एवं रसेषु भावेषु ताराकर्माणि योजयेत् ॥ १०२ ॥

पुतलियों का यह संचालन स्वाभाविक तथा सामाजिक व्यवहार के ऊपर आश्रित है। इसका प्रयोग रसों तथा भावों के सन्दर्भ में किया जाना चाहिए ॥ १०२ ॥

दृष्टि के आठ प्रकारों के नाम—

अथात्रैव प्रवक्ष्यामि प्रकारान् दर्शनस्य तु ।
समं साच्यनुवृत्ते च ह्यालोकितविलोकिते ॥ १०३ ॥
प्रलोकितोल्लोकिते चाप्यवलोकितमेव च ।

अब मैं दृष्टि के प्रकारों के विषय में बतलाऊँगा जो अष्टविध हैं। इनके नाम हैं (१) सम, (२) साची, (३) अनुवृत्त, (४) आलोकित, (५) विलोकित, (६) प्रलोकित, (७) उल्लोकित, एवं (८) अवलोकित ॥ १०३-१०४ ॥

दृष्टि के आठ प्रकारों के लक्षण—

समतारञ्च सौम्यञ्च यद् दृष्टं तत्समं स्मृतम् ॥ १०४ ॥
पक्ष्मान्तर्गततारं यत्त्र्यश्रं साचीकृतं तु तत् ।
रूपनिर्वर्णनायुक्तमनुवृत्तमिति स्मृतम् ॥ १०५ ॥
सहसादर्शनं यत्स्यात्तदालोकितमुच्यते ।
विलोकितं पृष्ठतस्तु पार्श्वाभ्यां तु प्रलोकितम् ॥ १०६ ॥
ऊर्ध्वमुल्लोकितं ज्ञेयमवलोकितमप्यधः ।
इत्येष दर्शनविधिः सर्वभावरसाश्रयः ॥ १०७ ॥

(१) सम—जब पुतलियाँ समान स्थिति तथा शान्त रूप में हों तो उसे 'सम' दृष्टि कहते हैं ।

(२) साची—जब पुतलियों पर पलकें, बरौनियां झुकी हों तथा नजरें तिरछी हों तो उसे 'साची' दृष्टि कहते हैं ।

(३) अनुवृत्त— किसी वस्तु को गौर से देखने वाली दृष्टि का नाम 'अनुवृत्त' दृष्टि होता है ।

(४) आलोकित—जब अचानक कोई चीज पर दृष्टि पड़ती है तो उसे 'अलोकित' कहते हैं ।

(५) विलोकित—पीछे की ओर देखने को 'विलोकित' दृष्टि कहा जाता है।

(६) प्रलोकित— पार्श्व में देखने [कटाक्षपात] को 'प्रलोकित' दृष्टि कहते हैं।

(७) उल्लोकित-ऊपर की ओर दृष्टिपात करने को 'उल्लोकित' दृष्टि कहते हैं।

(८) अवलोकित—इस दृष्टि में नीचे की ओर देखा जाता है। दृष्टि के यह प्रकार समस्त रसों एवं भावों से सम्बन्धित हैं ॥ १०४-१०७ ॥

पलकों की नौ चेष्टाओं के नाम तथा लक्षण—

तारागतोऽस्यानुगतं पुटकर्म निबोधत।
उन्मेषश्च निमेषश्च प्रसृतं कुञ्चितं समम् ॥ १०८ ॥
विवर्तितं स स्फुरितं पिहितं सविताडितम्।
विश्लेषः पुटयोर्यस्तु स उन्मेषः प्रकीर्तितः ॥ १०९ ॥
समागमो निमेषः स्यादायामः प्रसृतं भवेत्।
आकुञ्चितं कुञ्चितं स्यात्समं स्वाभाविकं स्मृतम् ॥ ११० ॥
विवर्त्तितं समुद्वृत्तं स्फुरितं स्पन्दितं तथा।
स्थगितं पिहितं प्रोक्तमाहतं तु विताडितम् ॥ १११ ॥

आँख की पुतलियों का अनुसरण करने वाली पलकों की गति के विषय में अब आप जानिए। पलकों की विभिन्न गतियों के यह नाम हैं—(१) उन्मेष, (२) निमेष, (३) प्रसृत, (४) कुञ्चित, (५) सम, (६) विवर्तित, (७) स्फुरित, (८) पिहित एवं (९) वितालित।

(१) उन्मेष :– पलकों का खुलना 'उन्मेष' है।

(२) निमेष :—पलकों का जुड़ना [बंद कर लेना] 'निमेष' होता है।

(३) प्रसृत :—पलकों का खूब फैलाना 'प्रसृत' होता है।

(४) कुञ्चित :—पलकों को सिकोड़ने को 'कुञ्चित' कहते हैं।

(५) सम :—पलकों को स्वाभाविक अवस्था में रखना 'सम' है।

(६) विवर्तित :—पलकों का उठाना 'विवर्तित' होता है।

(७) स्फुरित :—पलकों का फड़कना 'स्फुरित' कहा जाता है।

(८) पिहित :—पलकों का निश्चेष्ट हो जाना [पलकें मूँदना] 'पिहित' माना जाता है।

(९) विताලित:—[आघात आदि के भय से] पलकों के अचानक बन्द होने का नाम 'विताලित' होता है ॥ १०८-१११ ॥

पलकों की नौ चेष्टाओं का विनियोग—

अथैषां रसभावेषु विनियोगं निबोधत।
क्रोधे विवर्तितं कार्यं निमेषोन्मेषणैः सह ॥ ११२ ॥
विस्मयार्थे च हर्षे च वीरे च प्रसृतं स्मृतम्।
अनिष्टदर्शने गन्धे रसे स्पर्शे च कुञ्चितम् ॥ ११३ ॥

शृङ्गारे च समं कार्यमीर्ष्यासु स्फुरितं तथा।
सुप्तमूर्छितवातोष्णधूमवर्षाञ्जनार्त्तिषु ॥ ११४ ॥
नेत्ररोगे च पिहितमभिघाते विताडितम्।

अब आप लोग रस तथा भावों के सन्दर्भ में पलकों की गति के विषय में जानिए—

विवर्तित, निमेष एवं उन्मेष का प्रयोग क्रोध में, प्रसृत का प्रयोग विस्मय, हर्ष तथा वीर रस के प्रसंग में, कुञ्चित का प्रयोग अप्रिय वस्तु को देखने, सूँघने, चखने या छूने के समय, सम का प्रयोग रति में, स्फुरित का प्रयोग द्वेष के प्रसंग में, पिहित का प्रयोग सोने, व बेहोशी में एवं लू 'धुआँ, बारिश व अंजन आदि से उत्पन्न कष्ट तथा आँख के रोग के प्रदर्शन में, और विताडित का प्रयोग अकस्मात् चोट लगने के प्रसंग में किया जाता है ॥ ११२-११५ ॥

भौंहों की सात चेष्टाओं के नाम—

इत्येषु रसभावेषु तारकापुटयोर्विधिः ॥ ११५ ॥
कार्यानुगतमस्यैव भ्रुवोः कर्म निबोधत।

रस व भावों के प्रसंग में पुतलियों एवं पलकों की इन गतियों का प्रयोग किया जाता है। इसी का अनुसरण करने वाली भवों की क्रियाओं के विषय में अब जानों ॥ ११५-११६ ॥

भौंहों की सात चेष्टाओं के लक्षण—

उत्क्षेपः पातनं चैव भ्रुकुटी चतुरं तथा ॥ ११६ ॥
कुञ्चितं रेचितं चैव सहजं चेति सप्तधा।

भवों की गति सात प्रकार की होती है-(१) उत्क्षेप, (२) पातन, (३) भ्रुकुटी (४) चतुर, (५) कुञ्चित; (६) रेचित, एवं (७) सहज ॥ ११६-११७ ॥

भ्रुवोरुन्नतिरुत्क्षेपः सममेकैकशोऽपि वा ॥ ११७ ॥
अनेनैव क्रमेणैव पातनं स्यादधोमुखम्।

दोनों भवों को एक साथ अथवा एक एक करके उठाने को 'उत्क्षेप' कहते हैं। भवों को एक साथ या एक एक करके नीचे झुकाना 'पातन' कहा जाता है ॥ ११७-११८ ॥

भ्रुवोर्मूलसमुत्क्षेपाद् भ्रुकुटी परिकीर्तिता ॥ ११८ ॥
चतुरं किञ्चिदुच्छ्वासान्मधुरायतता भ्रुवोः।

भवों के मूलभाग को काफी ऊपर तक उठाने का नाम 'भ्रुकुटी' है। भवों को मृदुलता से ऊपर उठाकर फैलाना 'चतुर' कहा जाता है ॥ ११८-११९ ॥

एकस्या हि द्वयोर्वापि मृदुभङ्गस्तु कुञ्चितम् ।। ११९ ।।
एकस्या एव ललितादुत्क्षेपाद्रेचितं भ्रुवः ।

एक अथवा दोनों भवों को धीरे से नीचे गिराने की संज्ञा 'कुञ्चित' है। एक ही भौं को लीलापूर्वक उठाने को 'रेचित' कहा जाता है ।। ११९-१२० ।।

सहजातं तु सहजं कर्म स्वाभाविकं स्मृतम् ।। १२० ।।
अथैषां संप्रवक्ष्यामि रसभावप्रयोजनम् ।

प्राकृतिक सहज रूप में भवों के रहने पर उन्हें 'सहज' कहा जाता है। अब मैं रस एवं भावों के प्रसंग में इनका प्रयोजन बतलाऊँगा ।। १२०-१२१ ।।

भौंहों की सात चेष्टाओं के विनियोग—

कोपे वितर्के हेलायां लीलादौ सहजे तथा ।। १२१ ।।
दर्शने श्रवणे चैव भ्रुवमेकां समुत्क्षिपेत् ।
उत्क्षेपो विस्मये हर्षे रोषे चैव द्वयोरपि ।। १२२ ।।

(१) उत्क्षेप : क्रोध, तर्क, क्रीडा, विलास एवं स्वाभाविक अवस्था में तथा देखने एवं सुनने के समय भौं को उठाना चाहिए। आश्चर्य प्रसन्नता व क्रोध में दोनों भवों को उठाना चाहिए ।। १२१-१२२ ।।

असूयिते जुगुप्सायां हासे घ्राणे च पातनम् ।
क्रोधस्थानेषु दीप्तेषु योजयेद् भ्रुकुटीं बुधः ।। १२३ ।।

(२) पातन : डाह, जुगुप्सा, हास्य एवं सूँघने का अभिनय करते समय पातन का प्रयोग किया जाता है।

(३) भ्रुकुटी : क्रोध एवं चमक लगने के अवसर पर भ्रुकुटी का प्रयोग किया जाना चाहिए ।। १२३ ।।

शृङ्गारे ललिते सौम्ये सुखस्पर्शे प्रबोधने ।
एवं विधेषु भावेषु चतुरं तु प्रयोजयेत् ।। १२४ ।।
[स्त्रीपुरुषयोश्च संलापे नानावस्थान्तरात्मके ।]

(४) चतुर : रति, लीला, सुख एवं सुखदायी स्पर्श तथा जगाने आदि भावों के सन्दर्भ में चतुर का प्रयोग करना चाहिए ।। १२४ ।।

[विविध परिस्थितियों में नायक नायिका के संवाद में भी इसका प्रयोग करना चाहिए ।]

मोट्टायिते कुट्टमिते तथा च किलकिञ्चिते ।
निकुञ्चितं च कर्तव्यं नृत्ते योज्यं तु रेचितम् ।। १२५ ।।

अनाविद्धेषु भावेषु कुर्यात्स्वाभाविकं तथा ।

(५) कुञ्चित : मोट्टायित एवं कुट्टमित[1] दशाओं में कुञ्चित का प्रयोग होता है ।

(६) रेचित : इसका प्रयोग नृत्य के अवसर पर होता है ॥ १२५ ॥

(७) सहज : साधारण अवस्थाओं में सहज भ्रू क्षेप का प्रयोग किया जाता है ।

इत्येवं तु भ्रुवोः प्रोक्तं नासाकर्म निबोधत ॥ १२६ ॥

भ्रू संचालन के विषय में इस चर्चा के बाद अब आप लोग नासिका के कार्यों के विषय में जानिए ॥ १२६ ॥

नासिका की चेष्टाओं के छः भेदों के नाम—

नता मन्दा विकृष्टा च सोच्छ्वासाथ विकूणिता ।
स्वाभाविका चेति बुधैः षड्विधानासिका स्मृता ॥ १२७ ॥

मुद्रा के भेद से नासिका के छः प्रकार होते हैं, जिनके नाम हैं—(१) नता, (२) मन्दा, (३) विकृष्टा, (४) सोच्छ्वासा, (५) विकूणिता एवं (६) स्वाभाविका ॥ १२७ ॥

नासिका की छः चेष्टाओं के लक्षण—

नता मुहुः श्लिष्टपुटा मन्दा तु निभृता स्मृता ।
विकृष्टा फुल्लितपुटा सोच्छ्वासाकृष्टमारुता ॥ १२८ ॥
विकूणिता संकुचिता समा स्वाभाविकी स्मृता ।
नासिकालक्षणं ह्येतद्विनियोगं निबोधत ॥ १२९ ॥

जब दोनों नथुने चिपके रहते हैं तो 'नता' नासिका होती है। नथुनों के स्वाभाविक मुद्रा में रहने पर 'मन्दा' नासिका एवं नथुने फुला लेने पर 'विकृष्टा' नासिका कही जाती है। साँस अन्दर खींचने पर नासिका को 'सोच्छ्वासा' कहते हैं। नाक सिकोड़ने पर 'विकूणता' एवं स्वाभाविक अवस्था में रहने पर 'समा' नासिका मानी जाती है।

नासिका के यह लक्षण हैं। अब इनके उपयोग के विषय में जानिए ॥ १२८-१२९ ॥

नता नासिका का विनियोग—

मदोत्कम्पसमायुक्ते नारीणामनुरोधने ।
निःश्वासे च नता कार्या नासिका नाट्ययोक्तृभिः ॥ १३० ॥

१. प्रेम प्रदर्शन की विधाओं का एक रूप मोट्टायित एवं कुट्टमित भी है। इसके अन्तर्गत अनुभव के प्रिय लगने पर भी अस्वीकृति प्रदर्शित करना आता है।

मद्यपानजन्य कम्पन एवं स्त्रियों के अनुरोध के समय तथा उच्छ्वास लेते समय नाट्य प्रयोक्ताओं को 'नता' नासिका का प्रयोग करवाना चाहिए ॥ १३० ॥

मन्दा तथा विकृष्टा नासिका का विनियोग—

निर्वेदौत्सुक्यचिन्तासु मन्दा शोके च योजयेत् ।
तीव्रगन्धे विकृष्टां तां रौद्रे वीरे तथैव च[1] ॥ १३१ ॥

निर्वेद, उत्सुकता एवं चिन्ता तथा शोक के अवसर पर मन्दा नासिका का का प्रयोग होना चाहिये । तेज गन्ध के अनुभव तथा रौद्र एवं वीर रस के प्रसंग में विकृष्टा नासिका का प्रयोग करना चाहिए ॥ १३१ ॥

सोच्छ्वासा, विकूणित तथा स्वाभाविकी नासा का विनियोग—

इष्टघ्राणे तथोच्छ्वासे दीर्घोच्छ्वासां प्रयोजयेत्[2] ।
विकूणिता च कर्त्तव्या जुगुप्सासूयितादिषु ॥ १३२ ॥
कार्या शेषेषु भावेषु तज्ज्ञैः स्वाभाविका तथा ।

सुगन्धि की अनुभूति तथा दीर्घश्वास लेते समय 'सोच्छ्वासा' नासिका का प्रयोग होना चाहिये ।[3] जुगुप्सा तथा असूया आदि भावों में 'विकूणिता' नासिका का प्रयोग होता है । बाकी बची समस्त अवस्थाओं में 'स्वाभाविका' नासिका का प्रयोग होना चाहिए ॥ १३२-१३३ ॥

कपोलों की छः चेष्टाओं के नाम—

क्षामं फुल्लं च घूर्णं च कम्पितं कुञ्चितं समम् ॥ १३३ ॥
षड्विधं गण्डमुद्दिष्टमस्य लक्षणमुच्यते ।

(१) क्षाम, (२) फुल्ल, (३) घूर्ण, (४) कम्पित, (५) कुञ्चित एवं (६) सम–यह छः प्रकार के कपोल कहे गये हैं । इनके लक्षण आगे कहे जायेंगे ॥१३३-१३४॥

कपोलों की छः चेष्टाओं के लक्षण—

क्षामं चावनतं ज्ञेयं फुल्लं विकसितं भवेत् ॥ १३४ ॥
विततं घूर्णमत्रोक्तं कम्पितं स्फुरितं भवेत् ।
स्यात्कुञ्चितं संकुचित समं प्राकृतमुच्यते ॥ १३५ ॥

पिचके हुए गालों को 'क्षाम', फूले हुए गालों को 'फुल्ल', फैले हुए गालों को

---

१. 'विकृष्टा तीव्रगन्धे च श्वासरोषभयार्तिषु'—इति काशीसंस्करणे पाठः ।

२. 'सोच्छ्वासा मधुरे गन्धे दीर्घोच्छ्वासकृतेषु च'—काशी संस्करणे पाठः ।

३. पाठान्तर का अर्थ होगा—तीव्रगन्ध, श्वास, रोष, भय, तथा पीड़ा में विकृष्टा की, मीठी सुगन्ध (इष्ट गन्ध) दीर्घश्वास तथा उसाँस में 'सोच्छ्वास' की (योजना करनी चाहिए) ।

'घूर्ण', काँपते हुए गालों को 'कम्पित', सिकुड़े हुए गालों को 'कुञ्चित' एवं नैसर्गिक अवस्था में स्थित गालों को 'सम' कहते हैं ॥ १३४-१३५ ॥

कपोलों की छः चेष्टाओं का विनियोग—

गण्डयोर्लक्षणं प्रोक्तं विनियोगं निबोधत।
क्षामं दुःखेषु कर्त्तव्यं प्रहर्षे फुल्लमेव च ॥ १३६ ॥
घूर्णमुत्साहगर्वेषु रोषहर्षेषु कम्पितम्।
कुञ्चितं च सरोमाञ्चं स्पर्शे शीते भये ज्वरे ॥ १३७ ॥
प्राकृतं शेषभावेषु गण्डकर्म भवेदिति।

यह गालों के लक्षण कहे गये हैं। अब इनके उपयोग के विषय में जानिए—

दुःख में 'क्षाम', प्रसन्नता में 'फुल्ल' उत्साह एवं अभिमान में 'घूर्ण' क्रोध तथा प्रसन्नता में 'कम्पित', रोमाञ्च, स्पर्श, ठंडक, भय एवं ज्वर की अवस्था में 'कुञ्चित' एवं शेष समस्त अवस्थाओं में 'सम' कपोल का प्रयोग करना चाहिए ॥१३६-१३८॥

विवर्तनं कम्पनं च विसर्गो विनिगूहनम् ॥ १३८ ॥
संदष्टकं समुद्गं च षट्कर्माण्यधरस्य तु।

नीचे के ओठ में षड्विध कर्म होते हैं—

(१) विवर्तन, (२) कम्पन, (३) विसर्ग, (४) विनिगूहन, (५) संदष्टक एवं (६) समुद्गक ॥ १३८-१३९ ॥

ओठों की छः चेष्टाओं के नाम—

विकूणनं विवर्त्तस्तु वेपनं कम्पनं स्मृतम् ॥ १३९ ॥
विनिष्क्रामो विसर्गस्तु प्रवेशो विनिगूहनम्।
संदष्टकं द्विजैर्दष्टं समुद्गः सहजोन्नतिः ॥ १४० ॥

ओठों को सिकोड़कर चोंच जैसी बनाना 'विवर्तन', ओठों को कँपाना 'कम्पन', ओठों को फैलाना 'विसर्ग', अन्दर की ओर सिकोड़ना 'विनिगूहन' दाँत से ओठ काटना 'संदष्टक'। ओठों को साधारण ढंग से उन्नत अवस्था में रखना 'समुद्गक' कहा जाता है ॥ १३९-१४० ॥

इत्योष्ठलक्षणं प्रोक्तं विनियोगं निबोधत।

यह अधर के लक्षण बताए गये हैं। अब इनके विनियोग को बताया जायेगा।

ओठों की छः चेष्टाओं के लक्षण—

असूयावेदनावज्ञाहास्यादिषु विवर्तनम् ॥ १४१ ॥
कम्पनं वेदनाशीतभयरोषजवादिषु।
स्त्रीणां विलासे बिब्बोके विसर्गो रंजने तथा ॥ १४२ ॥

विनिगूहनमायासे सन्दष्टं क्रोधकर्मसु।
समुद्गस्त्वनुकम्पायां चुम्बने चाभिनन्दने ॥ १४३ ॥
इत्योष्ठकर्माण्युक्तानि चिबुकस्य निबोधत।

डाह, पीड़ा, तिरस्कार, हास्य आदि भावों में 'विवर्तन' का पीड़ा, सर्दी, भय, क्रोध, वेग आदि में 'कम्पन' का, स्त्रियों के साथ रमण, तटस्थता एवं ओठ रंगते समय 'विसर्ग' का, प्रयास करते समय 'विनिगूहन' का, क्रोध में 'सन्दष्ट' का, दया चुम्बन एवं अभिनन्दन के समय 'समुद्गक' अधर का प्रयोग किया जाता है।

यह अधर की मुद्रायें बताई गयी। अब चिबुक के कर्म बताये जायेंगे। ॥ १४१-१४४ ॥

चिबुक की सात चेष्टाओं के नाम—

कुट्टनं खण्डनं छिन्न चुक्कितं लेहितं समम् ॥ १४४ ॥
दष्टञ्च दन्तक्रियया चिबुकन्त्विह लक्ष्यते।

(१) कुट्टन, (२) खण्डन, (३) छिन्न, (४) चुक्कित, (५) लेहित, (६) सम एवं (७) दष्ट—यह चिबुक के कर्म हैं ॥ १४४-१४५ ॥

चिबुक की सात चेष्टाओं के लक्षण—

कुट्टनं दन्तसंघर्षः संफोटः खण्डनं मुहुः ॥ १४५ ॥
छिन्नं तु गाढसंश्लेषश्चुक्कितं दूरविच्युतिः।
लेहनं जिह्वया लेहः किञ्चिच्छ्लेषः समं भवेत् ॥ १४६ ॥
दन्तैर्दष्टेऽधरे दष्टमित्येषां विनियोजनम्।

ऊपर नीचे के दाँतों के परस्पर भींचने को 'कुट्टन', दाँतों के पुनः पुनः रगड़ने (किटकिटाने) को 'खण्डन'[1], परस्पर बिल्कुल चिपकाने को 'छिन्न', दूर तक फैलने पर 'चुक्कित', जीभ से ओठ चाटने पर 'लेहित', कुछ कुछ अलग होने पर 'सम', दाँतों से निचला ओंठ काटने पर 'दष्ट' चिबुक होता है। अब इनके विनियोग को सुनिए ॥ १४५-१४७ ॥

---

१. श्रीघोष ने अपने अनुवाद में इस पूरे खण्ड को ओष्ठद्वय के सन्दर्भ में माना है। हमारे मत में जब यहाँ दाँतों का प्रसंग पहले ही से चल रहा है तो अन्तिम पद में आने वाले अधर से अन्वय की अधिक सार्थकता नहीं है। अर्थ की दृष्टि से भी ओठों का परस्पर बारम्बार मिलना तो बड़बड़ाने की क्रिया का द्योतक है जो कि यहाँ अधिक उपयुक्त नहीं लगता। इसकी अपेक्षा दाँतों का परस्पर बार-बार मिलना दाँत किटकिटाने का बोधक है और अधिक सटीक प्रतीत होता है। आगे आने वाले इसके विनियोग को देखते हुए भी इसका संयोग ओंठ की अपेक्षा दाँतों से करना अधिक ठीक लगता है।

चिबुक की सात चेष्टाओं का विनियोग—

भयशीतज्वरक्रोधग्रस्तानां कुट्टनं भवेत् ॥ १४७ ॥
जपाध्ययनसल्लापभक्ष्ययोगे च खण्डनम् ।
छिन्नं व्याधौ भये शीते व्यायामे रुदिते मृते ॥ १४८ ॥
जृम्भणे चुक्कितं कार्यं तथा लौल्ये च लेहनम् ।
समं स्वभावभावेषु सन्दष्टं क्रोधकर्मसु ॥ १४९ ॥
इति दन्तोष्ठजिह्वानां करणे चिबुकक्रिया ।

भय, सर्दी, बुखार एवं क्रोध के प्रदर्शन के समय कुट्टन, जप, अध्ययन, सम्वाद एवं खाने के समय खण्डन, बीमारी, भय, सर्दी, कसरत, रुदन तथा मृत्यु के अवसर पर छिन्न, जँभाई लेने में चुक्कित, लालच के प्रदर्शन में लेहित, स्वाभाविक अवस्था में सम तथा क्रोध के प्रदर्शन में सन्दष्ट चिबुक का प्रयोग किया जाना चाहिये ।

दाँत, ओठ एवं जिह्वा के सन्दर्भ में यह चिबुक के कर्म कहे गये हैं ॥ १४७-१५० ॥

मुख की छः चेष्टाओं के नाम—

विनिवृत्तं च विधुतं निर्भुग्नं भुग्नमेव च ॥ १५० ॥
विवृत्तञ्च तथोद्वाहि कर्माण्यत्रास्यजानि तु ।

(१) विनिवृत्त, (२) विधुत, (३) निर्भुग्न, (४) भुग्न, (५) विवृत एवं (६) उद्वाहि—यह छः मुख की क्रियायें होती हैं ॥ १५०-१५१ ॥

मुख की छः चेष्टाओं के लक्षण—

व्यावृत्तं विनिवृत्तं स्याद्विधुतं तिर्यगायतम् ॥ १५१ ॥
अवाङ्मुखत्वं निर्भुग्नं व्याभुग्नं किञ्चिदायतम् ।
विश्लिष्टोष्ठं च विवृत्तमुद्वाह्याक्षिप्तमेव च ॥ १५२ ॥

आयताकार खुले हुए मुख को 'विधुत' कहते है एवं खूब फाड़े हुए मुख का नाम 'विनिवृत्त' होता है । मुख के नीचे की ओर झुके होने को 'निर्भुग्न', कुछ-कुछ आयताकार खुले हुए मुख को 'भुग्न', ओठ खुले रहने पर 'विवृत' तथा आक्षिप्त मुख को 'उद्वाही' मुख कहा जाता है ॥ १५१-१५२ ॥

मुख की छः चेष्टाओं का विनियोग—

विनिवृत्तमसूयायामीर्ष्याकोपकृतेषु च ।
अवज्ञाविहृतादौ च स्त्रीणां कार्यं प्रयोक्तृभिः ॥ १५३ ॥
विधुतं वारणे चैव नैवमित्येवमादिषु ।
निर्भुग्नं चापि विज्ञेयं गम्भीरालोकनादिषु ॥ १५४ ॥

भुग्नं लज्जान्विते योज्यं यतीनां तु स्वभावतः ।
निर्वेदौत्सुक्यचिन्तासु तथा विनयमन्त्रणे ॥ १५५ ॥
विवृतं वापि विज्ञेयं हास्यशोकभयादिषु ।
स्त्रीणामुद्वाहि लीलायां गर्वे गच्छत्यनादरे ॥ १५६ ॥
एवं नामेति कार्यञ्च कोपवाक्ये विचक्षणैः ।

स्त्रियों की परस्पर स्पर्धा, ईर्ष्या, क्रोध, अवमानना आदि में 'विनिवृत्त' मुख का प्रयोग किया जाना चाहिए । निवारण एवं मना करने के संदर्भ में 'विधुत' मुख का, सुदूर अवलोकन के समय 'निर्भुग्न', शर्म, निर्वेद, अधीरता चिन्ता, विनय एवं परामर्श के अवसर पर मुनियों के लिए उचित 'भुग्न' मुख का, हँसी, दुःख एवं भय के अवसर पर 'विवृत' मुख का तथा स्त्रियों के विलास गर्व, चले जाने को कहने, अनादर तथा क्रुद्ध वचनों के सन्दर्भ में 'उद्वाहि' मुख का प्रयोग किया जाना चाहिये ॥ १५३-१५७ ॥

समसाचीकृताद्युक्तं यच्च दृष्टिविकल्पनम् ॥ १५७ ॥
तज्ज्ञैस्तदनुसारेण कार्यं तदनुगं मुखम् ।

सम एवं साची आदि निर्दिष्ट दृष्टियों के अनुकूल तथा उस उस दृष्टि के समन्वयात्मक मुख का ही प्रयोग करना चाहिये ॥ १५७-१५८ ॥

मुखवर्ण के चार भेदों के नाम—

अथातो मुखरागस्तु चतुर्धा संप्रकीर्तितः ॥ १५८ ॥
स्वाभाविकः प्रसन्नश्च रक्तः श्यामोऽर्थसंश्रयः ।

स्थिति के अनुसार मुख के चार प्रकार के वर्ण हो जाते हैं—(१) स्वाभाविक, (२) प्रसन्न, (३) रक्त एवं (४) श्याम ॥ १५८-१५९ ॥

मुख वर्ण के चार भेदों का विनियोग —

स्वाभाविकस्तु कर्तव्यः स्वभावाभिनयाश्रयः ॥ १५९ ॥
मध्यस्थादिषु भावेषु मुखरागः प्रकीर्तितः ।
प्रसन्नस्त्वद्भुते कार्यो हास्यशृङ्गारयोस्तथा ॥ १६० ॥
वीररौद्रमदाद्येषु रक्तः स्यात् करुणे तथा ।
भयानके सबीभत्से श्यामं संजायते मुखम् ॥ १६१ ॥

स्वाभाविक अर्थात् सहज अवस्था का एवं रागशून्यता का अभिनय करते समय मुख का वर्ण स्वाभाविक रखना चाहिए । अद्भुत, हास्य एवं शृंगार रस के अभिनय में प्रसन्न, वीर तथा रौद्र रस एवं मद्यपान आदि के प्रदर्शन और करुण रस के प्रसंग में रक्त वर्ण तथा भयानक व बीभत्स रस के अवसर पर मुख का वर्ण श्याम हो जाता हो ॥ १५९-१६१ ॥

मुख वर्ण के वर्णन का उपसंहार—

एवं भावरसार्थेषु मुखरागं प्रयोजयेत् ।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तः कृतोऽप्यभिनयः शुभः ॥ १६२ ॥
मुखरागविहीनस्तु नैव शोभान्वितो भवेत् ।

इस प्रकार रसों तथा भाव के संदर्भ में मुख के रंग का प्रयोग करना चाहिए, [क्योंकि] शाखा, अङ्ग, अपाङ्गों के साथ किया हुआ अभिनय चाहे कितना भी भव्य क्यों न हो, उसमें मुखराग का योग बिना किए वह पूर्ण नहीं बनता ॥ १६२-१६३ ॥

शारीराभिनयोऽल्पोऽपि मुखरागसमन्वितः ॥ १६३ ॥
द्विगुणां लभते शोभां रात्राविव निशाकरः ।

यदि मुखराग से युक्त थोड़ा-सा भी आङ्गिक अभिनय किया जाए तो उसकी शोभा उसी प्रकार द्विगुणित हो उठती है जैसे कि रात्रि में चन्द्रमा की शोभा बढ़ती है[1] ॥ १६३-१६४ ॥

नयनाभिनयोऽपि स्यान्नानाभावरसस्फुटः ॥ १६४ ॥
मुखरागान्वितो यस्मान्नाट्यमत्र प्रतिष्ठितम् ।

विभिन्न भावों एवं रसों को स्पष्ट करने वाला नेत्र व्यापार भी मुखराग से युक्त होकर अधिक शोभित होता है क्योंकि नाट्य मुख्यतया मुखराग पर ही आधारित होता है ॥ १६४-१६५ ॥

यथा नेत्रं प्रसर्पेत मुखभ्रूदृष्टिसयुतम् ॥ १६५ ॥
तथा भावरसोपेतं मुखरागं प्रयोजयेत् ।

मुख, भ्रू एवं दृष्टि की संयोजना में जिस जिस प्रकार का नेत्र व्यापार हो उसी उसी प्रकार के भाव एवं रसमय मुखराग का प्रयोग किया जाना चाहिए ॥ १६५-१६६ ॥

इत्येवं मुखरागस्तु प्रोक्तो भावरसाश्रयः ॥ १६६ ॥
अतः परं प्रवक्ष्यामि ग्रीवाकर्माणि वै द्विजाः ।

इस भाँति भाव तथा रस के उपजीवी मुखराग की चर्चा की गई। हे विप्रों ! अब मैं इसके पश्चात् ग्रीवा की भँगिमाओं का वर्णन करूँगा ॥ १६६-१६७ ॥

ग्रीवा की चेष्टाओं के नौ भेदों के नाम—

समा नतोन्नता त्र्यश्रा रेचिता कुञ्चिताञ्चिता ॥ १६७ ॥
वलिता च निवृत्ता च ग्रीवा नवविधार्थतः ।

---

१. जैसे कि रात्रि की कालिमा चन्द्रमा के प्रकाश को और भी बढ़ा देती है उसी प्रकार मुखराग अपूर्ण आङ्गिक अभिनय की भी शोभा बढ़ा देता है ।

[१] समा, [२] नता, [३] उन्नता, [४] त्रयस्त्रा, [५] रेचिता, [६] कुञ्चिता, [७] वलिता, [८] अञ्चिता, एवं [९] विवृता, यह नौ ग्रीवा की मुद्राएं हैं ॥ १६७-१६८ ॥

ग्रीवा की चेष्टाओं के लक्षण तथा विनियोग—

समा स्वाभाविकी ध्यानस्वभावजपकर्मसु ॥ १६८ ॥
नता नतास्याऽलङ्कारबन्धे कण्ठावलम्बने ।
उन्नताभ्युन्नतमुखी ग्रीवा चोर्ध्वादिदर्शने ॥ १६९ ॥
त्र्यश्रा पार्श्वगता ज्ञेया स्कन्धभारे च दुःखिते ।
रेचिता विधुता भ्रान्ता भावे मथननृत्तयोः ॥ १७० ॥
कुञ्चिताऽकुञ्चिता मूर्ध्नि भारिते गलरक्षणे ।
अञ्चिताऽपसृतोद्बद्धकेशकर्षोर्ध्वदर्शने ॥ १७१ ॥
पार्श्वोन्मुखी स्याद्वलिता ग्रीवाभङ्गे च वीक्षिते ।
विवृत्ताभिमुखीभूता स्वस्थानाभिमुखादिषु ॥ १७२ ॥

सहज अवस्था में स्थित ग्रीवा का नाम 'समा' है इसका प्रयोग ध्यान, साधारण स्थिति, एवं जप करते समय किया जाता है ।

मुख को झुकाने पर 'नता' ग्रीवा होती है । हार की कटिया बन्द करने एवं दूसरे के गले में बाहें डालने के समय इसका उपयोग होता है ।

ऊपर की ओर मुख करने पर ग्रीवा 'उन्नता' मुद्रा में होती है जैसा कि उपर देखने के समय होता है । पार्श्व की ओर मुड़ी होने पर 'त्रयस्त्रा, ग्रीवा जाननी चाहिए । कन्धे पर भार ले जाने एवं शोक में इसका प्रयोग होता है ।

जब गर्दन जोर से हिलाई जाए या सिर्फ घुमाई भर जाए तो वह 'रेचिता' ग्रीवा कही जाती है । मंथन के प्रदर्शन एवं नृत्त के समय इसका प्रयोग होता है । सिर झुका लेने पर 'कुञ्चिता' ग्रीवा होती है । ऐसी स्थिति बोझ से दबने तथा गले की रक्षा करते समय होती है ।

सिर को पिछे की ओर घुमा लेने पर 'अञ्चिता' ग्रीवा कही जाती है । गले में फाँसी लगाने, बाल संवारने तथा एकदम ऊपर की ओर देखने में इसका प्रयोग किया जाता है ।

मुख को पार्श्व की तरफ घुमा लेने पर 'वलिता' ग्रीवा की स्थिति होती है । गर्दन मोड़कर देखने में इसका प्रयोग होता है ।

सामने की ओर मुख होने पर 'विवृत्ता' ग्रीवा होती है । अपने निवास की ओर जाने का प्रदर्शन करते समय इसका प्रयोग होता है ॥ १६८-१७२ ॥

ग्रीवा चेष्टाओं के वर्णन का उपसंहार—

इत्यादिलोकभावार्था ग्रीवाभेदैरनेकधा ।
ग्रीवाकर्माणि सर्वाणि शिरःकर्मानुगानि हि ।। १७३ ।।
शिरसः कर्मणा कर्म ग्रीवायाः संप्रवर्तते ।
इत्येतल्लक्षणं प्रोक्तं शीर्षोपाङ्गसमाश्रयम् ।। १७४ ।।
अङ्गकर्माणि शेषाणि गदतो मे निबोधत ।। १७५ ।।

।। इति भारतीये नाट्यशास्त्रे उपाङ्गविधानं नाम अष्टमोऽध्यायः ।। ८ ।।

——०——

सर्वसाधारण के यह ग्रीवा कर्म हैं जो सिर के व्यापार के अनुगामी हैं। ग्रीवा के व्यापार सिर के व्यापारों का अनुकरण करते हैं तथा सिर की भंगिमाओं के ही आधार पर ग्रीवा के कर्म प्रवर्तित होते हैं। सिर एवं उपाङ्गों के यह लक्षण हैं। शेष आङ्गिक कर्मों के विषय में मैं आगे बताऊँगा ।। १७३-१७५ ।।

।। इस प्रकार भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र की 'नाट्यप्रदीप' नामक हिन्दी व्याख्या का उपाङ्गविधान नामक आठवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ।। ८ ।।

——०——

अथ नवमोऽध्यायः

अध्याय का उपक्रम—

एवमेतच्छिरोनेत्रभ्रूनासोष्ठकपोलजम् ।
कर्म लक्षणसंयुक्तमुपाङ्गानां मयोदितम् ॥ १ ॥

अभी तक मैंने सिर, आंखे, भवें, नासिका, ओठ एवं गालों से सम्बन्धित क्रियाओं के लक्षण बताए हैं ॥ १ ॥

हस्तादीनां प्रवक्ष्यामि कर्म नाटचप्रयोजकम् ।
यथा येनाभिनेयं च गदतो मे निबोधत ॥ २ ॥

अब मैं नाटच उपयोगी[1] हस्त मुद्राओं आदि के विषय में जो बताऊँगा उसे सुनिए ॥ २ ॥

हस्तोरः पार्श्वंजठरकटीजङ्घोरुपादतः ।
लक्षणं सम्प्रवक्ष्यामि विनियोगं च तत्त्वतः ॥ ३ ॥

मैं अब हाथ, वक्षःस्थल, पार्श्व, उदर, कमर, जंघा एवं चरण सम्बन्धी मुद्राओं के लक्षण तथा विनियोग के विषय में कहूँगा ॥ ३ ॥

---

१. इस प्रसंग में अभिनवगुप्त ने अभिनव की द्विविध इतिकर्तव्यता का उल्लेख किया है—(१) लोकधर्मी एवं (२) नाटयधर्मी। इसमें से प्रथम जीवन की वास्तविकता का चित्रण करती है तथा द्वितीय परम्परा से अनुप्राणित होती है। प्रथम (लोकधर्मी) के पुनः दो भेद हैं (अ) भावों की प्रदर्शिका, यथा—गर्व के अवसर पर पताका हस्त को ललाट तक उठाया जाता है (ना० शा०९-१९)। (ब) बाह्य पदार्थ के आकार का प्रदर्शिका, यथा—कमलादि पुष्पों का प्रदर्शन करने के निमित्त पद्मकोश हस्त का प्रयोग किया जाता है। इसी भाँति नाट्यधर्मी इतिकर्तव्यता के भी दो भेद होते हैं—(१) अलंकारवत् शोभा बढ़ाने वाली यथा हस्त के चतुर्विध करणों का प्रयोग (ना० शा० ९.२०५-२११) (२) जनप्रचलित व्यवहार का आंशिक प्रदर्शन करने वाली, यथा एकान्तकथन (जनान्तिक) के अवसर पर त्रिपताका हस्त का प्रयोग करना। जो केवल नाट्य के अवसर मात्र के समय नट के ही लिए उपयोगी होती है उसे नाट्यधर्मी कहते हैं क्योंकि अन्य किसी अवसर पर उसके प्रयोग का प्रयोजन नहीं होता (नासमयमात्ररूपा नाट्यधर्मी, समस्याकिञ्चित्करस्य कल्पने प्रयोजनाभावात्)।

असंयुत हस्त की चौबीस मुद्राओं के नाम—

पताकस्त्रिपताकश्च तथा वै कर्तरीमुखः ।
अर्धचन्द्रो ह्यरालश्च शुकतुण्डस्तथैव च ॥ ४ ॥
मुष्टिश्च शिखराख्यश्च कपित्थः खटकामुखः ।
सूच्यास्यः पद्मकोशः सर्पशिरा मृगशीर्षकः[1] ॥ ५ ॥
काङ्गूलकोऽलपद्मश्च चतुरो भ्रमरस्तथा ।
हंसस्यो हंसपक्षश्च संदन्शो मुकुलस्तथा ॥ ६ ॥
ऊर्णनाभस्ताम्रचूडश्चतुर्विंशतिरीरिताः ।
असंयुताः संयुताश्च गदतो मे निबोधत ॥ ७ ॥

(१) पताका, (२) त्रिपताका, (३) कर्तरीमुख, (४) अर्धचन्द्र, (५) अराल, (६) शुकतुण्ड, (७) मुष्टि, (८) शिखर, (९) कपित्थ, (१०) कटकामुख, (११) सूच्यास्य, (१२) पद्मकोश, (१३) सर्पशिरा, (१४) मृगशीर्ष, (१५) काङ्गूलक, (१६) अलपद्म, (१७) चतुर, (१८) भ्रमर, (१९) हंसास्य, (२०) हंसपक्ष, (२१) सन्दंश, (२२) मुकुल, (२३) ऊर्णनाभ तथा (२४) ताम्रचूड–यह चौबीस मुद्राएं एक हाथ (असंयुत हस्त) से प्रदर्शित की जाती हैं[2] ॥ ४-७ ॥

संयुत हस्तों की तेरह मुद्राओं के नाम—

अञ्जलिश्च कपोतश्च कर्कटः स्वस्तिकस्तथा ।
खटकावर्धमानश्च ह्युत्सङ्गो निषधस्तथा ॥ ८ ॥
दोलः पुष्पपुटश्चैव तथा मकर एव च ।
गजदन्तोऽवहित्थश्च वर्धमानस्तथैव च ॥ ९ ॥
एते तु संयुता हस्ता मया प्रोक्तास्त्रयोदश ।
नृत्तहस्तानतश्चोर्ध्वं गदतो मे निबोधत ॥ १० ॥

दोनों हाथों को जोड़ने से बनी (संयुक्त हस्त) मुद्राओं की संख्या तेरह कही गई हैं–(१) अंजलि, (२) कपोत, (३) कर्कट, (४) स्वस्तिक, (५) कटकावर्धमानक, (६) उत्संग, (७) निषध, (८) दोल, [९] पुष्पपुट, [१०] मकर, [११] गजदन्त, [१२] अवहित्थ एवं [१३] वर्धमान ॥ ८-१० ॥

---

१. 'सूच्यास्यः पद्मकोशश्च तथा वै सर्पशीर्षकः' इति वा पाठः ।
'मृगशीर्षः परो ज्ञेयो हस्ताभिनययोक्तृभिः'—अधिकोऽयं पाठः क्वचित् पुस्तके ।

२. यद्यपि यह हस्तमुद्राएं प्रायः एक ही हाथ से प्रदर्शित की जाती हैं पर कभी कभी दोनों हाथों से अलग रूप में इन मुद्राओं को दिखाया जाता है । ऐसा होने पर भी इन्हें असंयुक्त हस्त मुद्रा कहा जाता है क्योंकि इनकी मुद्रा एक ही हाथ से बन जाती है, दूसरे हाथ की अपेक्षा इनको नहीं रहती ।

नृत्तहस्त की तीस मुद्राओं के नाम—

चतुरश्रौ तथोद्वृत्तौ तथा तलमुखौ स्मृतौ।
स्वस्तिकौ विप्रकीर्णौ चाप्यरालखटकामुखौ ॥ ११ ॥
आविद्धवक्रौ सूच्यास्यौ रेचितावर्धरेचितौ।
उत्तानवञ्चितौ चैव पल्लवौ च तथा करौ ॥ १२ ॥
नितम्बावपि विज्ञेयौ केशबन्धौ तथैव च।
लताख्यौ च तथा प्रोक्तौ करिहस्तौ तथैव च ॥ १३ ॥
पक्षवञ्चितकौ चैव पक्षप्रद्योतकौ तथा।
ज्ञेयौ गरुडपक्षौ च दण्डपक्षावतः परम्[1] ॥ १४ ॥
ऊर्ध्वमण्डलिनौ चैव पार्श्वमण्डलिनौ तथा।
उरोमण्डलिनौ चैव उरःपार्श्वार्धमण्डलौ ॥ १५ ॥
मुष्टिकस्वस्तिकौ चापि नलिनीपद्मकोशकौ।
अलपल्लवोल्बणौ च ललितौ वलितौ तथा ॥ १६ ॥

अब मैं नृत्त-हस्तों के विषय में बताऊँगा। [इनके नाम हैं–] [१] चतुरस्र [२] उद्वृत्त, [३] तलमुख, [४] स्वस्तिक, [५] विप्रकीर्ण, [६] अरालखटकामुख, [७] अविद्धवक्र, [८] सूच्यास्य, [सूचीयुत्व] [९] रेचित, [१०] अर्धरेचित, [११] उत्तानवञ्चित, [१२] पल्लव, [१३] नितम्ब, [१४] केशबन्ध, [१५] लता, [१६] करिहस्त, [१७] पक्षवञ्चितक, [१८] पक्षप्रद्योतक, [१९] गरुड़पक्ष, [२०] दण्डपक्ष, [२१] ऊर्ध्वमण्डली, [२२] पार्श्वमण्डली, [२३] उरोमण्डली, [२४] उरःपार्श्वार्धमण्डली, [२५] मुष्टिकस्वस्तिक, [२६] नलिनीपद्मकोश, [२७] अलपल्लव, [२८] उल्बण, [२९] ललित एवं [३०] वलित ॥ ११-१६ ॥

चतुष्षष्टिकरा ह्येते नामतोऽभिहिता मया।
यथालक्षणमेतेषां कर्माणि च निबोधत ॥ १७ ॥

मैने चौंसठ हस्तमुद्राओं[2] के नाम बताए हैं। अब इनके लक्षण तथा क्रियाओं के विषय में जानिए ॥ १७ ॥

---

१. 'हंसपक्षौ तथैव च'—इति वा पाठः।

२. यहाँ पर श्रीघोष ने चौसठ संख्या की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए बताया है कि वस्तुतः हस्तमुद्राओं की संख्या चौसठ न होकर सरसठ (६७) हैं क्योंकि चौदह असंयुक्त तेरह संयुत एवं तीस नृत्त हस्त-मुद्राओं का जोड़ सरसठ होता है, न कि चौसठ। उनका यह सुझाव भी है कि मूल पाठ में चतुष्षष्टिः पद के स्थान पर सप्तषष्टिः पद अपेक्षित था।

असंयुत हस्त मुद्राओं के लक्षण—

प्रसारिताः समाः सर्वाः यस्याङ्गुल्यो भवन्ति हि ।
कुञ्चितश्च तथाङ्गुष्ठः स पताक इति स्मृतः ॥ १८ ॥

१–पताक—जब अंगुलियाँ बराबर फैली हुई हों तथा अँगूठा झुका हुआ हो तो उसे पताक 'चेष्टा' कहते हैं ॥ १८ ॥

एष प्रहारपाते प्रतापने नोदने प्रहर्षे च ।
गर्वेऽप्यहमिति तज्ज्ञैर्ललाटदेशोत्थितः कार्यः ॥ १९ ॥
एषोऽग्निवर्षधारानिरूपणे पुष्पवृष्टिपतने च ।
संयुतकरणः कार्यः प्रविरलचलिताङ्गुलिर्हस्तः ॥ २० ॥
स्वस्तिकविच्युतिकरणात्पल्लवपुष्पोपहारशष्पाणि ।
विरचितमुर्वीसंस्थं यद्द्रव्यं तच्च निर्देश्यम् ॥ २१ ॥
स्वस्तिकविच्युतिकरणात्पुनरेवाधोमुखेन कर्त्तव्यम् ।
संवृतविवृतं पाल्यं छन्नं निबिडं च गोप्यं च ॥ २२ ॥
अस्यैव चाङ्गुलीभिस्त्वधोमुखप्रस्थितोत्थितचलाभिः ।
वायूर्मिवेगवेलाक्षोभश्चौघश्च कर्त्तव्यः ॥ २३ ॥
उत्साहनं बहु तथा महाजनप्रांशुपुष्करप्रहतम् ।
पक्षोत्क्षेपाभिनयं रेचककरणेन कुर्वीत ॥ २४ ॥
परिघृष्टतलस्थेन तु धौतं मृदितं प्रमृष्टपिष्टे च ।
पुनरेव शैलधारणमुद्घाटनमेव चाभिनयेत् ॥ २५ ॥

प्रहार करने, भीषण गर्मी, आनन्दित होने तथा अभिमानवश अहंमन्यता के प्रदर्शनार्थ माथे तक उठा कर पताक हस्त का प्रयोग किया जाता है। पताक मुद्रा में ही जब अंगुलियां अलग होकर चंचल रहती हैं एवं दोनों हाथ मिल जाते हैं तो उससे अग्नि-प्रकोप, वर्षा तथा पुष्पवृष्टि का अभिनय किया जाता है। इसी हस्तमुद्रा के स्वस्तिक स्थिति[1] से अलग होने पर छिछले पानी के तालाब (पल्लव), फूलों के उपहार, घास तथा जमीन पर बनी हुई कोई भी वस्तु को संकेतित किया जाता है। इन्हीं पताका हस्तों की अंगुलियों के निम्नाभिमुख होने पर किसी ढँकी, खुली, रक्षित, बन्द, सघन या गुप्त वस्तु को अभिव्यक्त किया जाता है। इसी हस्त-मुद्रा की अंगुलियाँ नीचे की ओर झुकी एवं ऊपर-नीचे चलित होने पर लहरों के आवेग, सागर तट से लहरों के टकराने एवं जलप्लावन को प्रदर्शित किया जाता है। इसी हाथ को रेचक करने से उत्साह, भीड़ का आलोड़न एवं पंखों से

१. ना० शा० के चतुर्थ अध्याय में वर्णित एक करण ।

ऊपर उड़ने का अभिनय होता है। इसी मुद्रा के दोनों हाथों के रगड़ने से किसी वस्तु का धोना, दबाना, गूंथना और पसीना, पर्वत का उठाना या उखाड़ना, प्रदर्शित किया जाता है[1] ॥ १९-२५ ॥

दशाख्याश्च शताख्याश्च सहस्राख्यास्तथैव च।
पताकाभ्यां तु हस्ताभ्यामभिनेयः प्रयोक्तृभिः ॥ २६ ॥
एवमेष प्रयोक्तव्यः स्त्रीपुंसाभिनये करः।
अतः परं प्रवक्ष्यामि त्रिपताकस्य लक्षणम् ॥ २७ ॥

(इस प्रकार प्रयोक्तागण को पताका हाथों से दस, सौ, या बारह हजार प्रकार के अभिनय प्रस्तुत करने चाहिए।) स्त्री एवं पुरुष को अभिव्यक्त करने के लिए भी इसी हस्त का प्रयोग होता है। अब त्रिपताक हस्त का लक्षण बतलाऊँगा ॥ २६-२७ ॥

पताके तु यदा वक्राऽनामिका त्वङ्गुलिर्भवेत्।
त्रिपातकः स विज्ञेयः कर्म चास्य निबोधत ॥ २८ ॥

२–त्रिपताक—पताक हस्त-मुद्रा में ही जब तीसरी अंगुली मुड़ी होती है तो उसे 'त्रिपताक' हस्त कहा जाता ॥ २८ ॥

आवाहनमवतरणं विसर्जनं वारणं प्रवेशश्च।
उन्नामनं प्रणामो निदर्शनं विविधवचनं च ॥ २९ ॥
मङ्गल्यद्रव्याणां स्पर्शः शिरसोऽथ सन्निवेशश्च।
उष्णीषमुकुटधारणनासास्यश्रोत्रसंवरणम् ॥ ३० ॥
अस्यैव चाङ्गुलीभ्यामधोमुखप्रस्थितोत्थितचलाभ्याम्।
लघुखगपतनस्रोतोभुजगभ्रमरादिकान् कुर्यात् ॥ ३१ ॥
अश्रुप्रमार्जनं तिलकविरचनं रोचनालभनकं च।
त्रिपताकानामिकयोः स्पर्शनमलकस्य कर्तव्यम् ॥ ३२ ॥

आवाहन, अवतरण, अलग करने (विसर्जन) निषेध (वारण), आने, किसी वस्तु को उठाने, प्रणाम करने, तुलना करने, विकल्प बताने, मांगलिक वस्तुओं को छूने या सिर पर धारण करने, पगड़ी या मुकुट पहनने एवं नाक, मुख व कान को ढँकने में इस मुद्रा का प्रयोग किया जाता है। इसी स्थिति में यदि अंगुलियाँ निम्नाभिमुख हो एवं ऊपर नीचे चलित हो रही हो तो इससे छोटे पक्षियों के उड़ने, जलस्रोत, सर्प एवं भ्रमर आदि का प्रदर्शन किया जाता है। त्रिपताक

---

१. अभिनवभारती में इन सभी निर्दिष्ट परिस्थितियों में पताक हस्त-मुद्रा के विनियोग का विस्तृत वर्णन दिया गया है।

हस्त की अनामिका अंगुली से आँसू पोंछने, तिलक या रोचना[1] लगाने एवं अलकों को छूने का अभिनय किया जाता है ॥ २९-३२ ॥

स्वस्तिकौ त्रिपताकौ तु गुरूणां पादवन्दने।
परस्पराग्रसंश्लिष्टौ कार्यावुद्वाहदर्शने ॥ ३३ ॥
विच्युतौ चलितावस्थौ कर्तव्यौ नृपदर्शने।
तिर्यक्स्वस्तिकसम्बद्धौ स्यातां तौ ग्रहदर्शने ॥ ३४ ॥
तपस्विदर्शने कार्यावूर्ध्वौ चापि पराङ्मुखौ।
परस्पराभिमुखौ च कर्तव्यौ द्वारदर्शने ॥ ३५ ॥
उत्तानाधोमुखौ कार्यावग्रे वक्त्रस्य संस्थितौ।
बडवानलसङ्ग्रामे मकराणां च दर्शने ॥ ३६ ॥
अभिनेयास्त्वनेनैव वानरप्लवनोर्मयः।
पवनश्च स्त्रियश्चैव नाट्ये नाट्यविचक्षणैः ॥ ३७ ॥
सम्मुखप्रसृताङ्गुष्ठः कार्यो बालेन्दुदर्शने।
पराङ्मुखस्तु कर्तव्यो याने नृणां प्रयोक्तृभिः ॥ ३८ ॥

दोनों त्रिपताक हस्तों को स्वस्तिक करण में अवस्थित करके गुरुजन के चरण स्पर्श का अभिनय किया जाता है। इस प्रकार के दो हाथों के अग्रभाग को परस्पर मिला कर विवाह बन्धन का प्रदर्शन किया जाता है तथा अलग करके स्थिति भेद रखने के द्वारा राजा के दर्शन का अभिनय किया जाता है। इन्हीं हाथों के तिर्यक स्थिति में स्वस्तिक करण में रहने से ग्रहदर्शन दिखाया जाता है। दोनों त्रिपताक हस्तों को उल्टा करके ऊपर उठाने से तपस्वी का अभिनय होता है। इन्हीं को एक दूसरे के सामने रखने से द्वार को प्रदर्शित किया जाता है। बड़वाग्नि, युद्ध एवं मगर का अभिनय करने के लिए दोनों त्रिपताक निम्नाभिमुख हस्तों को मुख के सामने रखते हुए फैलाया जाता है। इसी के द्वारा बानरों के कूदने, वायु एवं लहरों की गति का प्रदर्शन किया जाता है। इसी मुद्रा में स्थित हाथ को सामने की ओर फैला कर बाल चन्द्रमा का प्रदर्शन किया जाता है एवं इसी को पीछे की ओर ले जाकर राजा के प्रयाण को अभिनीत किया जाता है ॥ ३३-३८ ॥

त्रिपताके यदा हस्ते भवेत्पृष्ठावलोकिनी।
तर्जनी मध्यमायाश्च तदासौ कर्तरीमुखः ॥ ३९ ॥

---

१. अभिनवगुप्त के मत में रोचना से चन्दनादि का तात्पर्य है (रोचना चन्दनादिना)। श्री घोष ने रोचना को गोरोचना मानते हुए गोमूत्र से बने एक पीले द्रव्य के रूप में इसका उल्लेख किया।

३—कर्तरीमुख—त्रिपताक हस्त की पहली (तर्जनी) और दूसरी (मध्यमा) अंगुली को पीछे की ओर झुकाने से 'कर्तरीमुख' हस्त होता है ॥ ३९ ॥

पथि चरणरचनरञ्जनरङ्गणकरणान्यधोमुखेनैव।
ऊर्ध्वमुखेन तु कुर्याद्दष्टं शृङ्गं च लेख्यञ्च ॥ ४० ॥
पतनमरणव्यतिक्रमपरिवृत्तवितर्कितं तथा न्यस्तम्।
भिन्नवलितेन कुर्यात् कर्तर्यास्याङ्गुलिमुखेन ॥ ४१ ॥
संयुतकरणो वा स्यादसंयुतो वा प्रयुज्यते तज्ज्ञैः।
रुरुचमरमहिषसुरगजवृषगोपुरशैलशिखरेषु ॥ ४२ ॥

जब यह हाथ निम्नाभिमुख होता है तो इससे मार्ग-प्रदर्शन एवं चरणों के अलंकरण या रंजन को अभिव्यक्त किया जाता है। इसकी अंगुलियों के ऊपर की ओर रखने से काटने, सींग तथा लेख को अभिव्यक्त करते हैं। जब अंगुलियाँ विपरीत दिशा में गतिशील होती हैं तो उससे नीचे गिरने, मरण, व्यतिक्रम, फिर से अपनी जगह वापस लौटने (परिवृत्ति), वितर्क एवं न्यास का प्रदर्शन किया जाता है। इस प्रकार के एक अथवा संयुक्त हस्तों से हिरन, चमर, बारह-सिंहा, भैंसा, ऐरावत, बैल, गोपुर तथा पर्वत की चोटियों का अभिनय किया जाता है ॥ ४०-४२ ॥

यस्याङ्गुल्यस्तु विनताः सहाङ्गुष्ठेन चापवत्।
सोऽर्धचन्द्र इति ख्यातः करः कर्मास्य वक्ष्यते ॥ ४३ ॥
एतेन बालतरवः शशिलेखाकम्बुकलशवलयानि।
निर्घाटनमायस्तं मध्यौपम्यं च पीनं च ॥ ४४ ॥
रशनाजघनकटीनामाननतलपत्रकुण्डलादीनाम्।
कर्तव्यो नारीणामभिनययोगोऽर्धचन्द्रेण ॥ ४५ ॥

४—अर्धचन्द्र—जिस हाथ की अंगुलियाँ अंगूठे के साथ धनुष की तरह झुकी रहती हैं उसे 'अर्धचन्द्र' हस्त कहते हैं। इसके द्वारा प्रदर्शित कर्मों की व्याख्या आगे की गई है।

इस (अर्धचन्द्र हस्त) से छोटे छोटे पेड़, चन्द्रमा की लेखा, शंख, कलश, वलय, जबर्दस्ती निकालना (निर्घाट), प्रयास, कमर की उपमा एवं स्थूलता को अभिव्यक्त किया जाता है। इसी से करधनी, जघन, कटि, मुख, कपोलादि पर आलेखित रचना (तलपत्र) एवं कुण्डल आदि का भी प्रदर्शन किया जाता है ॥ ४३-४५ ॥

आद्या धनुर्नता कार्या कुञ्चितोऽङ्गुष्ठकस्तथा।
शेषाभिन्नोर्ध्ववलिता ह्यरालेऽङ्गुलयः करे ॥ ४६ ॥

५-अराल—जब हाथ की छोटी अंगुली धनुष के समान झुकी हो, अंगूठा मुड़ा हुआ हो तथा शेष सब अंगुलियाँ अलग अलग होकर ऊर्ध्वमुखी रहती हैं तो उसे 'अराल' हस्त कहते हैं ॥ ४६ ॥

एतेन सत्त्वशौण्डीर्यवीर्यकान्तिधृतिदिव्यगाम्भीर्यम् ।
आशीर्वादाश्च तथा भावा हितसंज्ञकाः कार्याः ॥ ४७ ॥
एतेन पुनः स्त्रीणां केशानां सङ्ग्रहस्तथोत्कर्षः ।
सर्वाङ्गिकं तथैव च निर्वर्णनमात्मनः कार्यम् ॥ ४८ ॥
कौतुकविवाहयोगः प्रदक्षिणेनैव सम्प्रयोगं च ।
अङ्गुल्यग्रस्वस्तिकयोगात्परिमण्डलेनैव ॥ ४९ ॥
प्रादक्षिण्यं परिमण्डलं च कुर्यान्महाजनं चैव ।
यच्च महीतलरचितं द्रव्यं तच्चाभिनेयं स्यात् ॥ ५० ॥
आह्वानं च निवारणनिर्माणे चाप्यनेकवचः ।
स्वेदस्य चापनयने गन्धाघ्राणे शुभ्रः शुभे चैष ॥ ५१ ॥
त्रिपताकहस्तजानि तु पूर्वं यान्यभिहितानि कर्माणि ।
तानि त्वरालयोगात्स्त्रीभिः सम्यक्प्रयोज्यानि ॥ ५२ ॥

इससे सत्त्व, शौर्य, वीर्य कान्ति, धैर्य, दिव्यता, गम्भीरता, आशीर्वाद एवं अन्य मंगलकारी भावों को अभिव्यक्त करना चाहिए। अराल हस्त से स्त्रियों के केश बंन्धन एवं अपने शरीर के निरीक्षण का अभिनय किया जाता है। जब दोनों अराल हस्त एक दूसरे के चतुर्दिक घूम रहे हों व उनकी अंगुलियाँ स्वस्तिक रूप में मिल रही हों तो उससे कौतुक[1], पाणिग्रहण, एवं प्रदक्षिणा का अभिनय किया जाता है। इन्हीं मुद्राओं से प्रदक्षिणा करने, चारों ओर से घेरने, जनसमुदाय एवं जमीन पर वस्तुओं के सजाने का प्रदर्शन करते हैं। पुकारने, निषेध करने, उखाड़ने, अनेक बातों को कहने, पसीना पोंछने एवं गंध लेने के प्रसंग में सामान्यतया 'त्रिपताक' हस्त का प्रयोग अपेक्षित होने पर भी इन परिस्थितियों में स्त्रियों को अराल हस्त मुद्रा का प्रयोग करना चाहिए ॥ ४७-५२ ॥

अरालस्य यदा वक्रानामिका त्वङ्गुलिर्भवेत् ।
शुकतुण्डस्तु स करः कर्म चास्य निबोधत ॥ ५३ ॥

६–शुष्कतुण्ड—अराल हस्त मुद्रा में यदि अनामिका को टेढ़ा कर दिया जाए तो उसे 'शुकतुण्ड' हस्त कहते हैं।

---

१. कौतुक– "कौतुकं विवाहात् पूर्वभावी वधूवरयोदाचारः अन्तर्विवाहः प्रसिद्धः"—अभिनवभारती

एतेन त्वभिनेयं नाहं न त्वं न कृत्यमिति चार्थे ।
आवाहने विसर्गे धिगिति च वचने सावज्ञम् ॥ ५४ ॥

इससे "मैं नहीं" "तुम नहीं" "यह करणीय नहीं" हैं, अवाहन विसर्जन एवं, तिरस्कार पूर्वक धिक्कारने के भाव प्रदर्शित किए जाते हैं ॥ ५४ ॥

अङ्गुल्यो यस्य हस्तस्य तलमध्येऽग्रसंस्थिताः ।
तासामुपरि चाङ्गुष्ठः स मुष्टिरिति संज्ञितः ॥ ५५ ॥

७–मुष्टि—जिस हाथ की अंगुलियाँ हथेली के बीच में हों और उनके ऊपर अंगूठा रखा हो तो उसे 'मुष्टि' हस्त कहते हैं ॥ ५५ ॥

एष प्रहारे व्यायामे निर्गमे पीडने तथा ।
संवाहनेऽसियष्टीनां दण्डकुन्तग्रहे तथा ॥ ५६ ॥

मारने, कसरत करने, निकलने, दबाने[1], संवादन[2], तलवार की मूंठ व भाले का डण्डा पकड़ने की क्रियाएं इस मुद्रा से प्रदर्शित की जाती हैं ॥ ५६ ॥

अस्यैव च यदा मुष्टेरूर्ध्वोऽङ्गुष्ठः प्रयुज्यते ।
हस्तः स शिखरो नाम तदा ज्ञेयः प्रयोक्तृभिः ॥ ५७ ॥

८–शिखर—मुष्टि हस्त मुद्रा में ही जब अंगूठा ऊपर की ओर उठा हुआ हो तो इसे शिखर मुद्रा कहते हैं ॥ ५७ ॥

रश्मिकुशाङ्कुशधनुषां तोमरशक्तिप्रमोक्षणे चैव ।
अधरोष्ठपादरञ्जनमलकस्योत्क्षेपणे चैव ॥ ५८ ॥

लगाम, कुश, अंकुश, धनुष लेने, तोमर या शक्ति फेंकने, नीचे या ऊपर ओठ व चरण रंगने तथा केशों को ऊपर की ओर उठाने के भावों का अभिनय करने में इसका प्रयोग होता है ॥ ५८ ॥

अस्यैव शिखराख्यस्य द्व्यङ्गुष्ठकनिपीडिता ।
यदा प्रदेशिनी वक्रा स कपित्थस्तदा स्मृतः ॥ ५९ ॥

---

१. पीडन–अभिनवगुप्त के अनुसार इसका अर्थ दूध दुहने के समय गाय आदि के थनों को दबाना है (स्तनपीडने महिष्यादि दोहने) हमारे विचार में यह शरीर को दबाने का बोधक है। आगामी पद से भी यह विचार पुष्ट होता है।

२. संवाहन—अभिनवभारती में इसे "मृत्पीडन" माना गया है। श्री घोष के मत में यह सिर धोने का वाचक है। किन्तु इसे देह चांपने या मुक्की लगाने में अर्थ में भी ले सकते हैं जैसा कि थके शरीर को आराम देने के लिए किया जाता है।

९—कपित्थ—शिखर हस्त की पहली अंगुली (प्रदेशिनी) को टेढ़ा करके जब अंगूठे से दबाया जाता है तो उसे 'कपित्थ' हस्त कहते हैं ॥ ५९ ॥

असिचापचक्रतोमरकुन्तगदाशक्तिवज्रवर्गाणि ।
शस्त्राण्यभिनेयानि तु कार्यं पथ्यञ्च सत्यञ्च ॥ ६० ॥

तलवार, धनुष, चक्र, तोमर, कुन्त, गदा, शक्ति, वज्र, जैसे शस्त्रों का तथा उचित व सत्य कार्यों के निर्देशन का अभिनय इससे सम्पन्न होता है ॥ ६० ॥

उत्क्षिप्तवक्रा तु यदानामिका सकनीयसी ।
अस्यैव तु कपित्थस्य तदासौ खटकामुखः ॥ ६० ॥

१०—खटकामुख—कपित्थ (हस्त मुद्रा) की तीसरी (अनामिका) और चौथी (कनिष्ठ) अंगुलियाँ जब ऊपर की ओर उठी व झुकी रहती हैं तो उस 'खटकामुख' हस्त कहा जाता है ॥ ६०[1] ॥

होत्रं हव्यं छत्रं प्रग्रहपरिकर्षणं व्यजनकं च ।
आदर्शधारणं खण्डनं तथा पेषणं चैव ॥ ६१ ॥
आयतदण्डग्रहणं मुक्ताप्रालम्बसङ्ग्रहं चैव ।
स्रग्दामपुष्पमालावस्त्रान्तालम्बनं चैव ॥ ६२ ॥
मन्थनशरावकर्षणपुष्पापचयप्रतोदकार्याणि ।
अङ्कुशरज्ज्वाकर्षणस्त्रीदर्शनमेव कार्यं च ॥ ६३ ॥

होत्र एवं हव्य[2], छत्र, लगाम पकड़ने, पंखा हाँकने, आइना पकड़ने, कूटने[3]-पीसने, विपुलाकार दण्ड को धारण करने, मोतियों की माला पिरोने, फूलों आदि के हार पहनने, वस्त्रों के कोने पकड़ने, मन्थन, बाण निकालने, फूल, अंकुश लगाने, लगाम खींचने तथा स्त्री दर्शन आदि इसी हस्त मुद्रा से प्रदर्शित किये जाते हैं ॥ ६१-६३ ॥

खटकाख्ये यदा हस्ते तर्जनी संप्रसारिता ।
हस्तस्सूचीमुखो नाम तदा ज्ञेयः प्रयोक्तृभिः ॥ ६४ ॥

---

१. क्रम के अनुसार इस श्लोक की संख्या ६१ होनी चाहिए किन्तु नाटचशास्त्र के बड़ौदा संस्करण में यहाँ साठ की ही संख्या पुनरावृत्ति की गयी है।

२. अभिनवगुप्त की व्याख्या के अनुसार होत्र स्रुवादि के उठाने को (स्रुगादि-उत्तानेन) तथा हव्य आज्यादि के देने को (हव्यमाज्याद्यामुखेन) कहते हैं।

३. स्थल पर प्रयुक्त खण्डन शब्द का (अभिनवगुप्त के अनुसार) अर्थ ताड़पत्र आदि से पंखा झलना है। इस अर्थ को अनुपयुक्त बताते हुए श्रीघोष ने इसका अर्थ 'अलंकृत चित्र बनाना' किया है। हमने खण्ड् धातु से सम्बन्धित करके इसका अर्थ टुकड़े-टुकड़े करना अर्थात् कूटना किया है।

११—सूचीमुख—खटकामुख हस्त की पहली (तर्जनी) अंगुली तब खूब फैली हुई होती है तो उसे सूचीमुख[1] नामक हस्तमुद्रा कहते हैं ॥ ६४ ॥

अस्य विविधान्प्रयोगान्वक्ष्यामि समासतः प्रदेशिन्याः ।
ऊर्ध्व-नत-लोल-कम्पितविजृम्भितोद्वाहितचलायाः ॥ ६५ ॥

इस मुद्रा में प्रदेशिनी (अंगूठे के पास की) अंगुली के उठी हुई, झुकी हुई, चञ्चल, कांपती हुई, टेढ़ी करके फैलाई हुई[2], ऊपर जाती हुई आदि अनेक स्थितियों में जो प्रयोग किये जाते हैं उन्हें मैं आगे बतलाऊँगा ॥ ६५ ॥

चक्रं तटित्पताकामञ्जर्यः कर्णचूलिकाश्चैव ।
कुटिलगतयश्च सर्वे निर्देश्यास्साधुवादाश्च ॥ ६६ ॥
बालोरगबल्यवधूमदीपवल्लीलताशिखण्डाश्च ।
परिपतनवक्रमण्डलमभिनेयान्यूर्ध्वलोलितया ॥ ६७ ॥
भूयश्चोर्ध्वविरचिता तारा घोणैकदण्डयष्टिषु च ।
विनता च तथा कार्या दंष्ट्रिषु च तथास्ययोगेन ॥ ६८ ॥
पुनरपि मण्डलगतया सर्वग्रहणं तथैव लोकस्य ।
प्रणतोन्नते च कार्ये ह्याद्ये दीर्घे च दिवसे च ॥ ६९ ॥
वदनाभ्याशे कुञ्चितविजृम्भिता वाक्यरूपणे कार्या ।
श्रवणाभ्याशे वक्रा विजृम्भणे वाक्यरूपणावसरे ॥ ७० ॥
मेति वदेति च योज्या प्रसारितोत्कम्पितोत्ताना ।
कार्या प्रकम्पिता रोषदर्शने स्वेदरूपणे चैव ॥ ७१ ॥
कुन्तलकुण्डलाङ्गदगण्डाश्रयसंश्रयेऽभिनये ।
गर्वेऽहमिति ललाटे रिपुनिर्देशे तथैव च क्रोधे ॥ ७२ ॥
कोऽसाविति निर्देशे च कण्डूर्णकयने चैव ।

चक्र, विद्युत, पताका, मंजरी, कर्णपूर, असमगति, एवं वाहवाहीं (साधुवाद) कर प्रदर्शन करने में प्रदेशिनी ऊपर उठी हुई एवं चञ्चल स्थिति में होती है। इसी से बाल सर्प, बल्लरियाँ, धूम्र, दीप, लता, काकपक्ष, नीचे गिरना, वक्रता तथा मण्डल का अभिनय भी होता है। जब प्रदेशिनी ऊपर उठी हो तो उससे तारा-दर्शन नासिका, एक की संख्या, लाठी एवं दण्ड को प्रदर्शित किया जाता है। इस अंगुली

१. "सूच्याकारमेवास्य मुखम्" अभिनवगुप्त की इस व्याख्या के अनुसार सुई के समान आकृति होने से इसका नाम सूचीमुख होता है।

२. यहाँ प्रयुक्त विजृम्भता पद का तात्पर्य अभिनवगुप्त ने 'विजृम्भिता कुञ्चिता प्रसारिता' बताया है जिसका हमने भी अनुसरण किया है। श्रीघोष ने उसका अनुवाद 'ऊपर नीचे चलाना' किया है।

को झुकाकर मुख से मिलाने पर किसी दाँतों वाले जीव का प्रदर्शन किया जाता है। इसी हस्त को गोलाकार घुमाने से किसी का सब कुछ ले लेने का अभिनय किया जाता हैं। प्रदेशिनी अंगुली की बारी-बारी से ऊपर उठाने व नीचे गिराने के द्वारा चिन्ता तथा दिन गिनने का बोध कराया जाता है। इसी अंगुली को मोड़कर मुख के सामने ऊपर नीचे घुमाने से वाक्य तथा वचनों की अभिव्यक्ति की जाती है। 'नहीं' तथा 'कहो' के भाव को प्रदर्शित करने के लिए प्रदेशिनी अंगुली फैली हुई, काँपती तथा ऊपर नीचे हिलती रहती है। क्रोध के प्रदर्शन, पसीना पोंछने, केश कुण्डल तथा अंगद के प्रदर्शन तथा कपोल की सज्जा, अभिमानवश 'मैं हूँ' कहने, 'यह कौन है' ऐसा प्रश्न करने तथा कान खुजलाने के अभिनय में प्रदेशिनी को माथे के समीप ले जाना चाहिये ॥ ६६-७३ ॥

संयुक्ता संयोगे कार्या विश्लेषिता वियोगे च ॥ ७३ ।

संयोग को प्रदर्शित करने के लिए इन (सूचीमुख) हस्तों को संयुक्त एवं वियोग बताने के लिए वियुक्त होना चाहिए ॥ ७३ ॥

कलहे स्वस्तिकयुक्ता परस्परोत्पीडिता बन्धे ।
द्वाभ्यां तु वामपार्श्वे दक्षिणतो दिननिशावसानानि ॥ ७४ ॥
अभिमुखपराङ्मुखीभ्यां विश्लिष्टाभ्यां प्रयुञ्जीत ।

कलह की अभिव्यक्ति के लिए इन हाथों को स्वस्तिक स्थिति में होना चाहिए एवं बन्धन को प्रदर्शित करने के लिए एक दूसरे से दबाना चाहिए। जब परस्पराभिमुख एवं असंयुक्त दोनों मुख हाथ बायीं ओर हो तो वे दिवस के अवसान का तथा दायीं ओर हों तो रात के अन्त का निर्देश करते हैं ॥ ७४-७५ ॥

द्वाभ्यां प्रदर्शयेन्नित्यं सम्पूर्णं चन्द्रमण्डलम् ॥ ७५ ॥
श्लिष्टा ललाटे शक्रस्य कार्या ह्युत्तानसंश्रया ।

(इन दोनों हाथों से सदा सम्पूर्ण चन्द्रमण्डल का अभिनय किया जाना चाहिए। उपर उठा कर ललाट पर रखने से शक्र का प्रदर्शन होता है।)[1] ॥ ७५-७६ ॥

परिमण्डलं भ्रमितया मण्डलमादर्शयेच्च चन्द्रस्य ॥ ७६ ॥
हरनयने च ललाटे शक्रस्य च तिर्यगुत्ताना ।

हाथों को गोलाकार घुमाने से चन्द्रमा के मण्डल का, मस्तक पर रखने से

१. यह श्लोक भी प्रक्षिप्त माने जाने के बावजूद श्लोकों की क्रम संख्या में सम्मिलित है।

शिव के नेत्र का तथा तिरछा उठाने से इन्द्र के नेत्र का प्रदर्शन करना चाहिए ॥ ७६-७७ ॥

पुनरपि च भ्रमिताग्रा रूपशिलावर्तयन्त्रशैलेषु ॥ ७७ ॥
परिवेषणे तथैव हि कार्या चाधोमुखी नित्यम् ।
श्लिष्टा ललाटपट्टेऽवधोमुखी शम्भुरूपणे कार्या ॥ ७८ ॥
शक्रस्याप्युत्ताना तज्ज्ञैस्तिर्यक्स्थिता कार्या ।

(आगे की ओर घुमा कर इस हाथ से किसी वस्तु की आकृति, शिला, भंवर, यान्त्रिक कौशल तथा पर्वत का अभिनय किया जाता है। इसी के निम्नाभिमुख रखने से खाना परसने की अभिव्यक्ति की जाती है। शिव की आकृति बताने के लिए इन हाथों को नीचे की ओर झुके ललाट के पास रखना चाहिए तथा शक्र का अभिनय करने के लिए हाथों को उठाकर तिरछा रखना चाहिए।)[1] ॥ ७७-७९ ॥

यस्याङ्गुल्यस्तु विरलाः सहाङ्गुष्ठेन कुञ्चिताः ॥ ७९ ॥
ऊर्ध्वा ह्यसङ्गताग्राश्च स भवेत्पद्मकोशकः ।

१२–पद्मकोश—जिस हस्त मुद्रा में अंगूठे के साथ सभी अंगुलियाँ अलग-अलग फैली रहती हैं और उनके अलग भाग ऊपर उठ कर मुड़ जाते हैं उसे पद्मकोश कहते हैं ॥ ७९-८० ॥

बिल्वकपित्थफलानां ग्रहणं कुचदर्शनं च नारीणाम् ॥ ८० ॥
ग्रहणे ह्यामिषलाभे भवन्ति ताः कुञ्चिताग्रास्तु ।
बहुजातिबीजपूरकमामिषखण्डं च निर्देश्यम् ॥ ८१ ॥

बेल, कैथे आदि फलों को पकड़ने तथा स्त्रियों के वक्ष को प्रदर्शित करने के लिए इसका प्रयोग होता है। किन्तु इनको लेने या मांस मिलने का प्रदर्शन करने के समय इस हस्त का अग्रभाग कुंचित कर लिया जाता है। (इसी से मांस खण्ड का बोध भी कराया जाता है।)[2] ॥ ८०-८१ ॥

देवार्चनबलिहरणे समुद्गके साग्रपिण्डदाने च ।
कार्यः पुष्पप्रकरश्च पद्मकोशेन हस्तेन ॥ ८२ ॥

हाथ को इस पद्मकोश मुद्रा से ही देवपूजन, बलि देने, पिटारी (समुद्गक), पिण्डदान तथा फूलों के गुच्छे का अभिनय किया जाता है ॥ ८२ ॥

---

१. इन प्रसंगों को भी बड़ौदा संस्करण में प्रक्षिप्त माना गया है किन्तु क्रम संख्या के अन्तर्गत रखा गया है।

२. इन प्रसंगों को भी बड़ौदा संस्करण में प्रक्षिप्त माना गया है किन्तु क्रम संख्या के अन्तर्गत रखा गया है।

मणिबन्धनविश्लिष्टप्रविरलचलिताङ्गुलिकराभ्याम् ।
कार्यो विवर्त्तिताभ्यां विकसितकमलोत्पलाभिनयः ॥ ८३ ॥

यही दोनों पद्मकोश हस्त यदि कलाई से मिले हो और उनकी पीछे की ओर मुड़ी हुई अंगुलियाँ थिरक रही हों तो उससे खिले हुए कमल या नील कमल का बोध कराया जाता है ॥ ८३ ॥

अङ्गुल्यः संहतास्सर्वाः सहाङ्गुष्ठेन यस्य च ।
तथा निम्नतलश्चैव स तु सर्पशिराः करः ॥ ८४ ॥

१३–सर्पशिरा—जब अँगूठे सहित हाथ की सब उँगलियां आपस जुड़ी रहती हैं तथा हथेली गहरी सी होती है, तो उसे सर्पशिरा हस्त कहते हैं ॥ ८४ ॥

एष सलिलप्रदाने भुजगगतौ तोयसेचने चैव ।
आस्फोटने च योज्यः करिकुम्भास्फालनाद्येषु ॥ ८५ ॥

जल प्रदान करने, सर्प की गति को बताने, जल से सींचने, ताली बजाने एवं हाथी के (चलने के समय) कुम्भ आस्फालन[1] का प्रदर्शन इसी मुद्रा से किया जाता है ॥ ८५ ॥

अधोमुखीनां सर्वासामङ्गुलीनां समागमः ।
कनिष्ठाङ्गुष्ठकावूर्ध्वौ स भवेन्मृगशीर्षकः ॥ ८६ ॥

१४– मृगशीर्षक—जब सर्पशिर हस्त की सब अंगुलियाँ निम्नाभिमुख हों पर कनिष्ठा ऊपर की ओर उठी हो तो उसे 'मृगशीर्षक' हस्त कहते हैं ॥ ८६ ॥

इह साम्प्रतमस्त्यद्य च शक्तेश्चोल्लासनेऽक्षपाते च ।
स्वेदापमार्जनेषु च कुट्टमिते प्रचलितस्तु भवेत् ॥ ८७ ॥

'इस समय ऐसा है', 'आज ऐसा है', ऐसा कहने, शक्ति को उठाने[2], पासा फेंकने, पसीना पोंछने आदि के अभिनय में इस हस्त मुद्रा का प्रयोग किया जाता है ॥ ८७ ॥

त्रेताग्निसंस्थिता मध्यातर्जन्यङ्गुष्ठका यदा ।
काङ्गुलेऽनामिका वक्रा तथा चोर्ध्वा कनीयसी ॥ ८८ ॥

---

१. हमने आस्फालन को श्रीघोष के समान हाथी के कुम्भ के साथ अन्वित माना है। किन्तु आचार्य अभिनवगुप्त ने आस्फालन को आस्फोटन या मल्लयुद्ध के समय ताल ठोंकना माना है।

२. शक्तेश्चोल्लासने—इस पद में उल्लासन का भिन्न अर्थ करते हुए श्रीघोष ने इसका अर्थ 'महिमा का प्रदर्शन' किया है। किन्तु हमें अभिनव की व्याख्या अधिक सटीक जान पड़ती है जो उल्लासन को शक्ति से अन्वित करते हैं।

१५—कांगुल—मृगशीर्षक हस्त मुद्रा में बीच की अंगुली, तर्जनी एवं अंगूठा अलग अलग हों, अनामिका वक्र तथा छोटी अंगुली उठी हुई हो तो उसे 'कांगुल हस्त' कहते हैं ॥ ८८ ॥

एतेन तरुणफलरूपणानि नानाविधानि च लघूनि ।
कार्याणि रोषजानि स्त्रीवचनान्यङ्गुलिक्षेपैः ॥ ८९ ॥

इस से नाना प्रकार के कच्चे तथा छोटे फलों का एवं स्त्रियों के कोप का प्रदर्शन किया जाता है ॥ ८९ ॥

मरकतवैडूर्यादेः प्रदर्शनं सुमनसां च कर्तव्यम् ।
ग्राह्यं बिडालपदमिति तज्ज्ञैरेवं प्रयोगेषु ॥ ९० ॥

मरकत, वैडूर्य आदि मणियों, सज्जनों के करने योग्य कार्य के प्रदर्शन के निमित्त प्रयोक्ताओं को विडालपद का अवलम्बन करना चाहिए ॥ ९० ॥

आवर्तिताः करतले यस्याङ्गुल्यो भवन्ति हि ।
पार्श्वागतविकीर्णाश्च स भवेदलपल्लवः ॥ ९१ ॥

१६—अलपल्लव—जब हाथ की सब अंगुलियाँ हथेली की ओर मुड़ कर फैली हों तो उसे 'अलपल्लव' हस्त कहते ॥ ९१ ॥

प्रतिषेधकृते योज्यः कस्य त्वं नास्ति शून्यवचनेषु ।
पुनरात्मोपन्यासः स्त्रीणामेतेन कर्तव्यः ॥ ९२ ॥

निवारण करने, 'तुम कौन हो', 'नहीं है' आदि कथनों के समय, निरर्थक वचनों के उच्चारण तथा स्त्रीजनों के अपने प्रति विस्मय प्रकट करने के समय इस हस्त मुद्रा का प्रयोग किया जाता है ॥ ९२ ॥

तिस्रः प्रसारिता यत्र तथा चोर्ध्वा कनीयसी ।
तासां मध्ये स्थितोऽङ्गुष्ठः स करश्चतुरः स्मृतः ॥ ९३ ॥

१७—चतुर—जब हाथ की तीन अंगुलियाँ फैली हो, कनिष्ठा उठी हों एवं अंगूठा तीनों अंगुलियों के बीच में स्थित हो तो उसे चतुर हस्त मुद्रा कहा जाता है ॥ ९३ ॥

नयविनयनियमसुनिपुणबालातुरसत्त्वकैतवार्थेषु ।
वाक्ये युक्ते पथ्ये सत्ये प्रशमे च विनियोज्यः ॥ ९४ ॥

नीति, विनय, नियम, कौशल का अभिनय करने, बालिका या आर्त व्यक्ति को बहलाने युक्त वचन तथा युक्त पथ्य, सत्य वचन एवं शान्ति स्थापित कराने के अवसर पर इसका प्रयोग किया जाता है ॥ ९४ ॥

एकेन द्वाभ्यां वा किञ्चिन्मण्डलकृतेन हस्तेन।
विवृतविचारितचरितं वितर्कितं लज्जितं चैव ॥ ९५ ॥

ऐसे एक अथवा दोनों (चतुर) हस्तों को कुछ गोलाकार करने से फैलापन, विचारशीलता, गतिशीलता, वितर्क एवं लज्जा का बोध कराया जाता है ॥ ९५ ॥

नयनौपम्यं पद्मदलरूपणं हरिणकर्णनिर्देशः।
संयुतकरणेनैव तु चतुरेणैतानि कुर्वीत ॥ ९६ ॥

इस प्रकार के दोनों हाथ संयुक्त हो तो उनसे नेत्रों की कमलदल से समानता और हिरनों के कानों का संकेत दिया जाता है ॥ ९६ ॥

लीला-रती रुचिं च स्मृतिबुद्धिविभावनाः क्षमां पुष्टिम्।
संज्ञामात्रां प्रणयं विचारणं संङ्गतं शौचम् ॥ ९७ ॥
चातुर्यं माधुर्यं दाक्षिण्यं मार्दवं सुख शीलम्।
प्रश्नं वार्तायुक्तिं वेषं मृदुशाद्वलं स्तोकम् ॥ ९८ ॥
विभवाविभवौ सुरतं गुणागुणौ यौवनं गृहं दारान्।
नानावर्णांश्च तथा चतुरेणैवं प्रयुञ्जीत ॥ ९९ ॥

इसके अतिरिक्त चतुर हस्त से विलास, प्रेम, सोचना, शुचिता, चतुरता, लावण्य, अनुकूलता, मृदुत्व, सुख, शील, प्रश्न, बातचीत में निपुणता, पोशाक, मुलायम घास, थोड़ी मात्रा, जय एवं पराजय, कामक्रीडा, गुण तथा अवगुण, तारुण्य, घर, पत्नी एवं नाना प्रकार के रङ्गों का अभिनय किया जाता है ॥ ९७-९९ ॥

सितमूर्ध्वेन तु कुर्याद्रक्तं पीतं च मण्डलकृतेन।
परिमृदितेन तु नील वर्णांश्चतुरेण हस्तेन ॥ १०० ॥

(सफेद रंग बतलाने के लिए चतुर हस्त को ऊपर उठाना चाहिए, लाल एवं पीले रंग के प्रदर्शन के लिए गोलाकार रखना चाहिए तथा नीले रंग का बोध कराने के लिए एक हाथ को दूसरे से दबाना चाहिए ॥ १०० ॥)

मध्यमाङ्गुष्ठसन्दंशो वक्रा चैव प्रदेशिनी।
ऊर्ध्वमन्ये प्रकीर्णे च द्वयङ्गुल्यौ भ्रमरे करे ॥ १०१ ॥

१८—भ्रमर—भ्रमर हस्त में बीच की अगुली एवं अंगूठे का अगला भाग मिला होता है, तर्जनी (प्रदेशिनी) टेढ़ी होती है तथा शेष दोनों अंगुलियाँ (अनामिका तथा कनिष्ठा) ऊपर की ओर उठी और फैली हुई होती हैं ॥ १०१ ॥

पद्मोत्पलकुमुदानामन्येषां चैव दीर्घवृन्तानाम्।
पुष्पाणां ग्रहणविधिः कर्त्तव्यः कर्णपूरश्च ॥ १०२ ॥

रक्तकमल (पद्म), नीलकमल (उत्पल) एवं कुमुद आदि लम्बी डण्डी वाले पुष्पों को ग्रहण करने तथा कर्णपूर के लिए इस हस्तमुद्रा का प्रयोग होता है ॥ १०२ ॥

विच्युतश्च सशब्दश्च कार्यो निर्भर्त्सनादिषु ।
बालालापे च शीघ्रे च ताले विश्वासने तथा ॥ १०३ ॥

(जब यह भ्रमर हस्त ध्वनि उत्पन्न करते हुए नीचे गिराया जाता है तो इससे भर्त्सना, बालक का चिल्लाना, शीघ्रता, ताल तथा विश्वासोत्पादन का प्रदर्शन किया जाता है ॥ १०३ ॥)

तर्जनीमध्यमाङ्गुष्ठास्त्रेताग्निस्था निरन्तराः ।
भवेयुर्हंसवक्त्रस्य शेषे द्वे सम्प्रसारिते ॥ १०४ ॥

१९—हंसवक्त्र—जब तर्जनी व मध्या अंगुलियाँ तथा अंगूठा एकदम सटे रहते हैं और बाकी दोनों अंगुलियाँ फैली रहती हैं, हाथ की अंगुलियों के अग्रभाग कुछ थिरकते रहते हैं तो उसे 'हंसवक्त्र' हस्तमुद्रा कहते हैं ॥ १०४ ॥

श्लक्ष्णाल्पशिथिललाघवनिस्सारार्थे मृदुत्वयोगे च ।
कार्योऽभिनयविशेषः किञ्चित्प्रस्पन्दिताग्रेण ॥ १०५ ॥

इस मुद्रा से सुन्दरता, न्यूनता, शिथिलता, शीघ्रता, व्यर्थता एवं कोमलता का अभिनय किया जाता है ॥ १०५ ॥

समाः प्रसारितास्तिस्रस्तथा चोर्ध्वा कनीयसी ।
अङ्गुष्ठः कुञ्चितश्चैव हंसपक्ष इति स्मृतः ॥ १०६ ॥

२०—हंसपक्ष—जब तीनों (तर्जनी, मध्यमा व अनामिका) अंगुलियाँ फैली हों, छोटी अंगुली उठी हो तथा अंगूठा झुका हुआ हो तो उसे 'हंसपक्ष' हस्त कहा जाता है ॥ १०६ ॥

एष च निवापसलिले दातव्ये गण्डसंश्रये चैव ।
कार्यः प्रतिग्रहाचमनभोजनार्थेषु विप्राणाम् ॥ १०७ ॥

इसका प्रयोग निवाप जल देने के निमित्त होता है । इसी को कपोल के समीप लाकर दक्षिणा देने, आचमन कराने एवं ब्राह्मणों को भोजन कराने का भी प्रदर्शन किया जाता है ॥ १०७ ॥

आलिङ्गने महास्तम्भदर्शने रोमहर्षणे चैव ।
स्पर्शेऽनुलेपनार्थे योज्यः संवाहने चैव ॥ १०८ ॥

आलिङ्गन, स्तम्भ, दर्शन, रोएँ खड़े होने (रोमहर्षण) स्पर्श, लेप करने एवं दबाने (संवाहन) में भी इसे प्रयुक्त किया जाता है ॥ १०८ ॥

पुनरेव च नारीणां स्तनान्तरस्थेन विभ्रमविशेषाः।
कार्या यथारसं स्युर्दुःखे हनुधारणे चैव ॥ १०९ ॥

यदि इस (हंसपक्ष) चेष्टा में स्त्रियाँ अपने हाथ को वक्ष के मध्य भाग में रखें तो इससे यथारस[1] विशेष विभ्रमों का प्रदर्शन किया जाता है। करुण रस के प्रसंग में चिबुक को उठाने के लिए भी इसका प्रयोग किया जाता है ॥ १०९ ॥

तर्जन्यङ्गुष्ठसन्दंशस्त्वरालस्य यदा भवेत्।
आभुग्नतलमध्यस्थः स सन्दंश इति स्मृतः ॥ ११० ॥

२१—सन्दंश—अराल मुद्रा में स्थित हाथ की तर्जनी व अंगूठा (एक दूसरे को काटते हुए) एक सँड़ासी जैसे बनाते हों तथा हथेली कुछ गहरी सी हो तो उसे 'संदंश' हस्त कहते हैं ॥ ११० ॥

सन्दंशस्त्रिविधो ज्ञेयस्त्वग्रजो मुखजस्तथा।
तथा पार्श्वगतश्चैव रसभावोपबृंहितः ॥ १११ ॥

रस एवं स्थायी भावों के आधार पर सन्दंश तीन प्रकार का होता है—(१) सामने की ओर, (२) मुख के समीप तथा (३) पार्श्व की ओर ॥ १११ ॥

पुष्पापचयग्रथने ग्रहणे तृणपर्णकेशसूत्राणाम्।
शल्यावयवग्रहणे प्रकर्षणे चाग्रसन्दंशः ॥ ११२ ॥

फूल बीनने, माला बनाने, घास, बाल, पत्ती तथा तागे को ग्रहण करने, बाण निकालने ग्रहण करने एवं फेंकने में सामने की तरफ सन्दंश का प्रयोग किया जाता है ॥ ११२ ॥

वृन्तात्पुष्पोद्धरणं वर्तिशलाकादिपूरण चैव।
धिगिति च वचनं रोषे मुखसन्दंशस्य कर्माणि ॥ ११३ ॥
यज्ञोपवीतधारण - वेधन - गुणसूक्ष्मबाणलक्ष्येषु।
योगे ध्याने स्तोके संयुतकरणस्तु कर्तव्यः ॥ ११४ ॥

डंठल से फूल तोड़ने, दिए की बत्ती को खिसकाने, कोई चीज को भरने, क्रोध से धिक्कारने, यज्ञोपवीत पहनने, बाण से सूक्ष्म लक्ष्य भेद करने, योग, ध्यान एवं न्यूनता का प्रदर्शन करने के लिए ऐसे दोनों हाथों को मिलाना चाहिए ॥ ११३-११४ ॥

पेलवकुत्सासूयासदोषवचने च वामहस्तेन।
किञ्चिद्विवर्तिताग्रः प्रयुज्यते पार्श्वसन्दंशः ॥ ११५ ॥

---

१. यथारस—यथारसमिति शृङ्गारहास्याद्भुतादौ करुणादावपि व्यभिचारिविशेष योगाद् संभाव्यत एवायम्।

असंयुत हस्त मुद्राएँ


पताका

(१८-२७)


त्रिपताका

(२८-३८)


कर्तरीमुख

(३९-४२)


अर्धचन्द्र

(४३-४५)


अराल

(४६-५२)


शुकतुंड

(५३-५४)


मुष्टि

(५५-५६)


शिखर

(५७-५८)


कपित्थ

(५९-६०)


कंटकामुख

(६०-६३)


सूचीमुख

(६५-६८)


पद्मकोष

(७९-८३)


सर्पशीर्ष

(८४-८५)



मृग शीर्ष

(८६-८७)



कांगुल

(८८-९०)



अलपद्म

(९१-९२)



चतुर

(९३-१००)



भ्रमर

(१०१-१०३)



हंसवक्त्र

(१०४-१०५)



हंसपक्ष

(१०६-१०९)



संदेश

(११०-११६)



मुकुल

(११७-११९)



ऊर्णनाभ

(१२१)



ताम्रचूड़

(१२२-१२६)

कोमलता, कुत्सा, असूया एवं दोषपूर्ण वचनों का अभिनय करने के लिए सन्दंश हस्त बाएँ पार्श्व में रहता है तथा उसका अग्रभाग कुछ मुड़ा हुआ सा होता है इसे पार्श्व सन्दंश कहते हैं ॥ ११५ ॥

आलेख्यनेत्ररञ्जनवितर्कवृन्तप्रवालरचनं च।
निष्पीडनं तथालक्तकस्य कार्यं च नारीभिः ॥ ११६ ॥

स्त्रियों द्वारा किए जाने वाले आलेखन, नेत्ररंजन, वितर्क, वृन्त व प्रवालों की रचना तथा आलते को निचोड़ने का अभिनय भी इस हस्त से ही किया जाता है ॥ ११६ ॥

समागताग्रास्सहिता यस्याङ्गुल्यो भवन्ति हि।
ऊर्ध्वा हंसमुखस्यैव स भवेन्मुकुलः करः ॥ ११७ ॥

२२–मुकुल—जब हसवक्त्र हस्त की अंगुलियाँ एक दूसरे के निकट आ जाती हैं तथा उनके अग्रभाग झुककर एक साथ मिल जाते हैं तो उस मुद्रा को मुकुल हस्त कहा जाता है ॥ ११७ ॥

देवार्चनबलिकरणे पद्मोत्पलमुकुलरूपणे चैव।
विटचुम्बने च कार्यो विकुत्सिते विप्रकीर्णश्च ॥ ११८ ॥
भोजनहिरण्यगणनामुखसङ्कोचप्रदानशीघ्रेषु ।
मुकुलितकुसुमेषु तथा तज्ज्ञैरेष प्रयोक्तव्यः ॥ ११९ ॥

देवता की पूजा, बलि देने, पद्म एवं उत्पल की कली को प्रदर्शित करने, विट द्वारा कृत चुम्बन[1], जुगुप्सा दिखाने, वस्तुओं के चुनने, भोजन करने, स्वर्ण मुद्राओं को गिनने तथा कली के आकार के फूलों को प्रदर्शित करने के लिए इस हस्त का प्रयोग किया है ॥ ११८-११९ ॥

पद्मकोशस्य हस्तस्य ह्यङ्गुल्यः कुञ्चिता यदा।
ऊर्णनाभः स विज्ञेयः केशचौर्यग्रहादिषु ॥ १२० ॥

२३–ऊर्णनाभ—पद्मकोश हस्त की अंगुलियों को जब और अधिक सिकोड़ लिया जाय तो उसे 'ऊर्णनाभ' हस्त कहते हैं। केशों को संवारने एवं चोरी को पकड़ने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है ॥ १२० ॥

---

१. विटचुम्बन—"विटैर्नारीणां कुचचिबुकादिस्थानेषु अङ्गुलिपञ्चकेन समं सशब्दं नखस्पर्शने कामसूत्रेष्वाच्छुरितकमिति तद्विटचुम्बनम्।" अभिनवगुप्त की इस व्याख्यानुसार अंगुलियों से स्थान विशेष के हल्के से स्पर्श मात्र की संज्ञा विटचुम्बन है।

शिरःकण्डूयने चैव कुष्ठव्याधिनिरूपणे।
सिंहव्याघ्रेष्वभिनयः प्रस्तरग्रहणे तथा ॥ १२१ ॥

सिर खुजलाने, कोढ़ की बीमारी का प्रदर्शन करने, सिंह तथा व्याघ्र आदि का अभिनय करने और पत्थर पकड़ने की दशा में इस हस्त को व्यवहार में लाते हैं ॥ १२१ ॥

मध्यमाङ्गुष्ठसन्दंशो वक्रा चैव प्रदेशिनी।
शेषे तलस्थे कर्तव्ये ताम्रचूलकरेऽङ्गुली ॥ १२२ ॥

२४-ताम्रचूड—मध्यमा अंगुली तथा अंगूठा आदि एक दूसरे को काट रहे हों, प्रदेशिनी अंगुली टेढ़ी हो और बाकी दोनों अंगुलियां हथेली पर स्थिति हो तो उसकी संज्ञा ताम्रचूड हस्त होती है ॥ १२२ ॥

विच्युतश्च सशब्दश्च कार्यो निर्भर्त्सनादिषु।
ताले विश्वासने चैव शीघ्रार्थे संज्ञितेषु च ॥ १२३ ॥

इस हस्तमुद्रा में शब्द के साथ प्रदेशिनी व अंगूठे को विलग करने से भर्त्सना, ताल, विश्वासोत्पादन, शीघ्रता करने तथा संकेत देने का अभिनय किया जाता है ॥ १२३ ॥

तथा कलासु काष्ठासु निमेषे तु क्षणे तथा।
एष एव करः कार्यो बालालापनिमन्त्रणे ॥ १२४ ॥

(कलाओं, काष्ठों, निमेष एवं क्षण का प्रदर्शन करने के हेतु और षोडश-वर्षीया बाला से सम्भाषण एवं उसे निमन्त्रण देने में भी इसी हस्त मुद्रा का प्रयोग करना चाहिये) ॥ १२४ ॥

अथवा—

अङ्गुल्यस्संयुता वक्रा उपर्यङ्गुष्ठपीडिताः।
प्रसारिता कनिष्ठा च ताम्रचूडकरः स्मृतः ॥ १२५ ॥

ताम्रचूड मुद्रा का एक अन्य लक्षण यह है कि अंगुलियाँ मिलकर वक्र हो जाएं तथा उनके ऊपर अंगूठा स्थित हो ॥ १२५ ॥

शतं सहस्रं लक्षं च कनकं चापि दर्शयेत्।
क्षिप्रमुक्ताङ्गुलीभिस्तु स्फुलिङ्गान्विप्रुषस्तथा ॥ १२६ ॥

सौ, हजार, लाख स्वर्ण मुद्राओं का प्रदर्शन इस हस्त मुद्रा से किया जाता है। जब इस हस्त की ही अंगुलियाँ तेजी से चलें तो उनसे बूंदों एवं चिनगारियों का प्रदर्शन किया जाता है ॥ १२६ ॥

असंयुत हस्त मुद्राओं का उपसंहार—

असंयुताः करा ह्येते मया प्रोक्ता द्विजोत्तमाः।

अथ संयुतहस्ताः—

अतश्च संयुतान्हस्तान् गदतो मे निबोधत ॥ १२७ ॥

हे ब्राह्मणों ! यहाँ तक मैने असंयुत हस्त के विषय में विवेचना की है। अब मैं संयुत हस्त चेष्टाओं का निरूपण करूँगा ॥ १२७ ॥

संयुत हस्त मुद्रायें—

पताकाभ्यां तु हस्ताभ्यां संश्लेषादञ्जलिः स्मृतः।
देवतानां गुरूणां च मित्राणां चाभिवादने ॥ १२८ ॥

१–अञ्जलि हस्त—जब पताका मुद्रा में अवस्थित दोनों हाथ एक साथ मिलते हैं तो उसे अञ्जलि हस्त कहते हैं। देवताओं पूज्यजन एवं मित्रों को प्रणाम करने में इसका प्रयोग किया जाता है ॥ १२८ ॥

स्थानान्यस्य पुनस्त्रीणि वक्षो वक्त्रं शिरस्तथा।
देवतानां शिरस्थस्तु गुरूणामास्यसंस्थितः ॥ १२९ ॥
वक्षःस्थश्चैव मित्राणां स्त्रीणामनियतो भवेत्।

इसके तीन स्थान होते हैं—वक्ष, मुख एवं शिर। देवताओं को प्रणाम करने में अञ्जलि शिर पर रहती है, गुरुजनों के प्रणाम में मुख के समीप एवं साथियों के प्रणाम में वक्ष पर रहती हैं। स्त्रियों के प्रणाम में इसकी स्थिति अनिश्चित रहती है ॥ १२९-१३० ॥

उभाभ्यामपि हस्ताभ्यामन्योन्यं पार्श्वसङ्ग्रहात् ॥ १३० ॥
हस्तः कपोतको नाम कर्म चास्य निबोधत।

२–कपोत हस्त—दोनों अजलि हस्तों के पार्श्व भाग को मिलाने से कपोत नामक हस्त की स्थिति होती है ॥ १३०-१३१ ॥

एष विनयाभ्युपगमे प्रणामकरणे गुरोश्च संभाषे ॥ १३१ ॥
शीते भये च कार्यो वक्षस्थः कम्पितः स्त्रीभिः।

विनम्रता का प्रदर्शन करने किसी के आने पर उसको सम्मान देने एवं गुरुजनों से वार्तालाप के अवसर पर इस हस्त का प्रयोग किया जाता है ॥ १३१-१३२ ॥

अयमेवाङ्गुलिपरिधृष्यमाणमुक्तस्तु खिन्नवाक्येषु ॥ १३२ ॥
एतावदिति च कार्यो नेदानीं कृत्यमिति चार्थे।

शीत तथा भय को प्रदर्शित करने में स्त्रियों को कांपते हुए कपोत हस्त को वक्षस्थल पर रखना चाहिए। अंगुलियों के आपस में रगड़ कर अलग हो जाने पर इस हस्त से खेदयुक्त वाक्यों और "इतना ही किया जा सकता है" तथा इससे

अधिक कुछ नहीं किया जा सकता आदि कथनों का प्रदर्शन सिया जाता है ॥ १३२-१३३ ॥

अंगुल्यो यस्य हस्तस्य ह्यन्योन्यान्तरनिस्सृताः ॥ १३३ ॥
स कर्कट इति ज्ञेयः करः कर्म च वक्ष्यते ।
एष मदनाङ्गमर्दे सुप्तोत्थितजृम्भणे बृहद्देहे ॥ १३४ ॥
हनुधारणे च योज्यः शङ्खग्रहणेऽर्थतत्त्वज्ञैः ।

३–कर्कट हस्त—दोनों हाथों की अंगुलियों के एक दूसरे में फंसे होने की संज्ञा कर्कट हस्त[1] होती है । इसके कर्म को आगे कहा जाएगा । इसके द्वारा कामक्रीड़ा के प्रसंग में मर्दन, जाग कर जंभाई लेने, अंगड़ाई लेने अंगुली पर ठोढ़ी टिकाने एवं शंख ग्रहण का अभिनय किया जाता है ॥ १३३-१३५ ॥

मणिबन्धनविन्यस्तावरालौ स्त्रीप्रयोजितौ ॥ १३५ ॥
उत्तानो वामपार्श्वस्थौ स्वस्तिकः परिकीर्तितः ।

४–स्वस्तिक हस्त—दोनों अराल हस्तों को उलट कर कलाई पर मिलाने को स्वस्तिक हस्त कहते हैं । इसका प्रयोग स्त्रियां ही करती हैं ॥ १३५-१३६ ॥

स्वस्तिकविच्युतिकरणाद् दिशो घनाः खं वनं समुद्राश्च ॥ १३६ ॥
ऋतवो मही तथौघं विस्तीर्णं वाभिनेयं स्यात् ।

स्वस्तिक स्थिति से हाथों के अलग होने के द्वारा दिशाओं, आकाश, वन, सागर, ऋतु, पृथ्वी तथा इसी प्रकार की अन्य विस्तृत वस्तुओं का अभिनय किया जाता है ॥ १३६-१३७ ॥

खटकः खटकेन्यस्तः खटकावर्धमानकः ॥ १३७ ॥
श्रृङ्गारार्थेषु योक्तव्यः प्रणामकरणे तथा ।
कुमुदोत्पलवृन्तेषु कर्तव्यश्छत्रधारणे ॥ इति ॥ १३८ ॥

५–खटकावर्धमानक हस्त—जब एकखटका मुख हस्त के ऊपर दूसरा खटकामुख हस्त रखा जाता है तो उसे 'खटकावर्धमानक' हस्त कहते हैं । इसका प्रयोग श्रृङ्गारिक चेष्टाओं एवं प्रणाम के प्रसंग में किया जाता हैं ।

(कुमुद तथा उत्पल की डंठल तथा छत्र को पकड़ने का अभिनय करने में भी इस हस्त का प्रयोग होता है) ॥ १३७-१३८ ॥

---

१. अभिनवगुप्त का कथन है कि एक दूसरे के सम्मुख डंक उठाए हुए कर्कटों की भाँति अंगुलियों की स्थिति होने से इसका नाम कर्कट होता है (अन्योन्यसंम्मुखकर्कटदंष्ट्राद्वयाकारेण अंगुलीनामत्रावस्थानात् कर्कटः) ।

अरालौ तु विपर्यस्तावुत्तानौ वर्धमानकौ।
उत्सङ्ग इति विज्ञेयः स्पर्शस्य ग्रहणे करः ॥ १३९ ॥

६-उत्संगहस्त—जब दो अराल हस्त विपरीत दिशा में उलटे व झुके हों तो उसे 'उत्संग' हस्त कहते हैं। इससे हाथ के स्पर्श का प्रदर्शन किया जाता है ॥ १३९ ॥

सनिष्पेषकृते चैव रोषामर्षकृतेऽपि च।
निष्पीडितः पुनश्चैव स्त्रीणामीर्ष्याकृते भवेत् ॥ १४० ॥

कठिनता से किए जाने वाले कार्य, रोष अमर्ष तथा स्त्रियों की ईर्ष्या का प्रदर्शन तथा निचोड़ने की क्रिया का अभिनय इस हस्त द्वारा किया जाता है ॥ १४० ॥

मुकुलं तु यदा हस्तं कपित्थः परिवेष्टयेत्।
स मन्तव्यस्तदा हस्तो निषधो नाम नामतः ॥ १४१ ॥

७-निषध हस्त—जब कपित्थ के द्वारा मुकुल हस्त को परिवेष्टित कर लिया जाए तो निषध हस्त कहते हैं ॥ १४१ ॥

संग्रहपरिग्रहौ धारणं च समयश्च सत्यवचनं च।
सक्षेपः सक्षिप्तं निपीडितेनाभिनेतव्यम् ॥ १४२ ॥

इसके द्वारा संग्रह,[1] स्वीकार, धारण करना, (नियम), समय, सत्य भाषण, तात्पर्य एवं कहीं रखी चीज आदि का अभिनय किया है ॥ १४२ ॥

[शिखरस्तु यदा हस्तो मृगशीर्षेण पीडितः।
निषधो नाम विज्ञेयः स भयार्ते विधीयते ॥ १४३ ॥
गृहीत्वा वामहस्तेन कूर्पराभ्यन्तरे भुजम्।
दक्षिणं चापि वामस्य कूर्पराभ्यन्तरे न्यसेत् ॥ १४४ ॥
स चापि दक्षिणो हस्तः सम्यङ्मुष्टिकृतो भवेत्।
इत्येष निषधो हस्तः कर्म चास्य निबोधत ॥ १४५ ॥
एतेन धैर्यमदगर्वसौष्ठवौत्सुक्यविक्रमाटोपाः।
अभिमानावष्टम्भस्तम्भस्थैर्यादयः कार्याः ॥ १४६ ॥

---

१. अभिनय के अनुसार शास्त्रार्थ का समुचित ग्रहण संग्रह है (सम्यक् ग्रहां शास्त्रार्थादेः) हमने अन्य अर्थ भी अभिनव की ही मान्यतानुसार किए हैं। यथा परिग्रहः स्वीकारः ······ समयो नियमः ········ सक्षेपस्तात्पर्यम्······संक्षिप्तं तु सम्यक् क्षिप्त क्वचित्स्थातिमित्यर्थः।

अथवा—

ज्ञेयो वै निषधो नाम हंसपक्षौ पराङ्मुखौ।
जालवातायनादीनां प्रयोक्तव्योऽभिघट्टने ॥ १४७ ॥]

(जब शिखर हस्त[1] को मृगशीर्ष हस्त के द्वारा दबाया जाता है तो 'निषध' नामक हस्त कहते हैं जो भयभीत होने पर प्रयुक्त किया जाता है। बायें हाथ से दाहिनी बांह के भुजदण्ड को, तथा बंधी मुट्ठी वाले दाहिने हाथ से बायें भुजदण्ड को पकड़ा जाए तो उसे निषेध हस्त कहा जाता है। इसके द्वारा धैर्य, मद, गर्व, सौष्ठव-उत्सुकता, पराक्रम, अवहेलना, अहंकार, अभिमान, स्तम्भ तथा स्थिरता आदि का अभिनय किया जाता है।

अथवा—

दोनों हंसपक्ष हस्त उलटे होने पर निषध हस्त की अवस्थिति होती है। जाल वातायन आदि के अभिघट्टन के प्रसंग में यह प्रयुक्त होता है।) ॥ १४३-१४७ ॥

अंसौ प्रशिथिलौ मुक्तौ पताकौ तु प्रलम्बितौ।
यदा भवेतां करणे स दोल इति संज्ञितः ॥ १४८ ॥

८-दोल हस्त—दोनों कन्धे जब शिथिल एवं मुक्त हों तथा दोनों पताका हस्त नीचे लटक रहे हों तो उसे 'दोल' हस्त कहते हैं। ॥ १४८ ॥

सम्भ्रमविषादमूर्च्छितमदाभिघाते तथैव चावेगे।
व्याधिप्लुते च शस्त्रक्षते च कार्योऽभिनययोगः ॥ १४९ ॥

इसके द्वारा हड़बड़ाहट (सम्भ्रम) विषाद, मूर्च्छा, मद की स्थिति, आवेग, बीमारी तथा घाव का प्रदर्शन किया जाता है।

यस्तु सर्पशिराः प्रोक्तस्तस्याङ्गुलिनिरन्तरः।
द्वितीयः पार्श्वसंश्लिष्टः स तु पुष्पपुटः स्मृतः ॥ १५० ॥

९-पुष्पपुट हस्त—जब सर्पशिरा हस्त की अंगुलियाँ एक दूसरे से मिली हों एवं एक हाथ दूसरे हाथ के पार्श्व में जुड़ा हुआ हो तो उसे 'पुष्पपुट' हस्त की संज्ञा दी जाती है ॥ १५० ॥

धान्यफलपुष्पसदृशान्यनेन नानाविधानि युक्तानि।
ग्राह्याण्युपनेयानि च तोयानयनापनयने च ॥ १५१ ॥

अनाज, फल, फूल एवं अन्य वस्तुओं को ग्रहण करने एवं देने के लिए तथा जल लाने एवं ले जाने की प्रक्रिया का प्रदर्शन करने के लिए इस मुद्रा का प्रयोग किया जाता है ॥ १५१ ॥

---

१. शिखर हस्त की यह अतिरिक्त परिभाषाएं बड़ौदा संस्करण में मिलती हैं।

पताकौ तु यदा हस्तावूर्ध्वाङ्गुष्ठावधोमुखौ।
उपर्युपरि विन्यस्तौ तदासौ मकरः स्मृतः ॥ १५२ ॥

१०-मकर हस्त—जब दोनों हाथ पताका मुद्रा में ऊपर उठे हों व उनके अँगूठे नीचे की ओर झुके हुए तथा एक दूसरे के ऊपर अवस्थित हों तो उसे मकर हस्त कहते हैं ॥ १५२ ॥

सिंहव्यालद्वीपिप्रदर्शनं नक्रमकरमत्स्यानाम्।
ये चान्ये क्रव्यादा अभिनेयास्तेऽर्थयोगेन ॥ १५३ ॥

इस मुद्रा से सिंह, सर्प, बाघ, घड़ियाल, मगर मछली एवं कच्चा मांस खाने वाले अन्य जन्तुओं का प्रदर्शन किया जाता है[1] ॥ १५३ ॥

कूर्परांसोचितौ हस्तौ यदास्तां सर्पशीर्षकौ।
गजदन्तः स तु करः कर्म चास्य निबोधत ॥ १५४ ॥

११- गजदन्त हस्त—जब दो सर्पशिरा हस्त एक दूसरे को कोहनी एवं कंधे के मध्यभाग पर स्पर्श कर रहे हों तो उसे 'गजदन्त' कहा जाता है। इसके द्वारा परिलक्षित क्रियायें भी जानिए ॥ १५४ ॥

एष च वधूवराणामुद्वाहे चातिभारयोगे च।
स्तम्भग्रहणे च तथा शैलशिलोत्पाटने चैव ॥ १५५ ॥

बधू तथा वर को ले जाने, अत्यधिक भार उठाने, स्तम्भों को पकड़ने एवं पर्वत की शिलाओं को उखाड़ने का प्रदर्शन करने में इस हस्त मुद्रा का प्रयोग किया जाता है ॥ १५५ ॥

शुकतुण्डौ करौ कृत्वा वक्षस्यभिमुखाञ्चितौ।
शनैरधोमुखाविद्धौ सोऽवहित्थ इति स्मृतः ॥ १५६ ॥

१२· अवहित्थ हस्त—जब शुकतुण्ड हाथ एक दूसरे से वक्षप्रदेश पर मिलते हैं और फिर आबद्ध रूप में क्रमशः नीचे की ओर झुकते जाते हैं तो उसे 'अवहित्थ' मुद्रा कहते हैं ॥ १५६ ॥

दौर्बल्ये निःश्वसिते गात्राणां दर्शने तनुत्वे च।
उत्कण्ठिते च तज्ज्ञैरभिनययोगस्तु कर्तव्यः ॥ १५७ ॥

दुर्बलता, निःश्वास, शरीर के प्रदर्शन, [शरीर की] कृशता एवं उत्कण्ठित होने का अभिनय इससे किया जाता है ॥ १५७ ॥

---

१. प्रो० घोष के अनुवाद में सिंह, बाघ, हाथी अर्थ दिया गया है किन्तु कच्चा मांस खाने वाले जन्तुओं की श्रेणी में हाथी की गणना करना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता।

ज्ञेयो वै वर्धमानस्तु हंसपक्षौ पराङ्मुखौ।
जालवातायनादीनां प्रयोक्तव्यो विघाटने ॥ १५८ ॥

१३—**वर्धमानहस्त**—हंसपक्ष हस्तों का मुख एक दूसरे से विपरीत दिशा में (पराङ्मुख) होने पर उत्पन्न हुई स्थिति को 'वर्धमान' कहा जाता है। इसके द्वारा खिड़की, झरोखा आदि के खोलने का अभिनय किया जाता हैं ॥ १५८ ॥

सङ्ग्रहपरिग्रहोद्धारणं च समयं च सत्यवचनं च।
सङ्क्षेपः संक्षिप्तं निपीडितेनाभिनेतव्यम् ॥ १५९ ॥

(एक हाथ से दूसरे हाथ को दबाने पर संग्रहण, परिग्रहण, धारण, प्रतिज्ञा, सत्यवचन एवं संक्षेप का प्रदर्शन किया जाता है ॥ १५९ ॥)

संयुत हस्त मुद्राओं का उपसंहार—

उक्ता ह्येते द्विविधास्त्वसंयुताः संयुताश्च सङ्क्षेपात्।
अभिनयकरास्तु ये त्विह तेऽन्यत्राप्यर्थतः साध्याः ॥ १६० ॥

असंयुत एवं संयुत इन दोनों प्रकारों के अभिनय में उपयुक्त जिन हस्तों का यहाँ संक्षेप में वर्णन किया गया है उनका प्रयोग इन्हीं नियमों के अनुसार अन्यत्र भी किया जाना चाहिए ॥ १६० ॥

अन्यैरप्युक्तम्—

आकृत्या चेष्टया चिह्नैर्जात्या विज्ञाय वस्तुतः।
स्वयं वितर्क्य कर्तव्यं हस्ताभिनयनं बुधैः ॥ १६१ ॥

(आकृति, व्यापार, विशेषता एवं जाति के आधार पर स्वयं विचार करके विद्वानों को यथायोग्य हस्ताभिनय का प्रयोग करना चाहिए ॥ १६१ ॥

नास्ति कश्चिदहस्तस्तु नाट्येऽर्थोऽभिनयं प्रति।
यस्य यद्दृश्यते रूपं बहुशस्तन्मयोदितम् ॥ १६२ ॥

कोई हस्ताभिनय ऐसा नहीं होता जिससे नाट्य[1] में कोई भाव न प्रदर्शित किया जाता हो। अतः जिस भावाभिव्यक्ति के लिए जिस मुद्रा का सामान्यतया प्रयोग किया जाता है उसी को मैंने बताया है ॥ १६२ ॥

हस्त कर्मों का उपक्रम—

अन्ये चाप्यर्थसंयुक्ता लौकिका ये करास्त्विह।
छन्दतस्ते प्रयोक्तव्या रसभावविचेष्टितैः ॥ १६३ ॥

---

१. अभिनव के विचारानुसार नाट्य से यहाँ नाट्य के विभागादि का तात्पर्य है (नाट्यमिह तदुपयोगिनो विभागादयः)।

यहाँ पर वर्णित हस्तमुद्राएँ लोक परम्परा में व्यवहृत होती हैं उनका प्रयोग भी रसों एवं भावों के उपयुक्त चेष्टानुरूप ही किया जाना चाहिए ॥ १६३ ॥

देशं कालं प्रयोगं चाप्यर्थयुक्तिमवेक्ष्य च।
हस्ता ह्येते प्रयोक्तव्या नृणां स्त्रीणां विशेषतः ॥ १६४ ॥

स्थान, समय एवं प्रयोग को ध्यान में रखते हुए स्त्रियों तथा पुरुषों को इन मुद्राओं का प्रयोग करना चाहिए ॥ १६४ ॥

सर्वेषामेव हस्तानां यानि कर्माणि सन्ति वै।
तान्यहं संप्रवक्ष्यामि रसभावकृतानि तु ॥ १६५ ॥

अब मैं (नाटचप्रदर्श के अवसर पर) रस तथा भावों के संदर्भ में हाथ की चेष्टाओं को बतलाऊँगा ॥ १६५ ॥

हस्त कर्मों के बीस भेदों के नाम—

उत्कर्षणं विकर्षणं तथा व्याकर्षणं पुनः।
परिग्रहो निग्रहश्चाह्वानं तोदनमेव च ॥ १६६ ॥
संश्लेषश्च वियोगश्च रक्षणं मोक्षणं तथा।
विक्षेपधूनने चैव विसर्गस्तर्जनं तथा ॥ १६७ ॥
छेदनं भेदनं चैव स्फोटनं मोटनं तथा।
ताडनं चेति विज्ञेयं तज्ज्ञैः कर्म करान्प्रति ॥ १६८ ॥

१. उत्कर्षण (ऊपर खींचना), २. विकर्षण (जोर से खींचना), ३. व्याकर्षण (बाहर निकालना), ४. परिग्रह (किसी वस्तु को लेना), ५. निग्रह, ६. आह्वान (आवाहन), ७. तोदन[1] (व्यथित करना), ८. संश्लेश (मिलना), ९. वियोग (अलग होना), १०. रक्षण बचाना, ११. मोक्षण (छुड़ाना), १२. विक्षेप (फेंकना), १३. धुनन (कँपाना), १४. विसर्ग (छोड़ना) १५. तर्जन (मना करना), १६. छेदन (काटना), १७. भेदन (अन्दर घुसाना), १८. स्फोटन (खोलना), एवं १९. मोटन (मूँदना)[2] तथा २०. ताडन आदि हस्त की क्रियायें मानी गयीं हैं ॥ १६६-१६८ ॥

हाथों की तीन सामान्य प्रक्रियायें —

उत्तानः पार्श्वगश्चैव तथाधोमुख एव च।
हस्तप्रचारस्त्रिविधो नाट्यतत्त्वसमाश्रयः ॥ १६९ ॥

---

१. 'तोदनं ताडनं'—अभिनव भारती।
२. 'स्फोटनं विकासनं, मोटनं सङ्कोचनं'—अभि० भा०।

(हाथ की क्रियायें सामान्यतः तीन प्रकार की होती हैं—ऊपर की ओर, नीचे की ओर तथा पार्श्व की ओर जाने वाली ॥ १६९ ॥)

हस्ताभिनय विधि—

सर्वे हस्तप्रचाराश्च प्रयोगेषु यथाविधि ।
नेत्रभ्रूमुखरागाद्यैः कर्तव्या व्यञ्जिता बुधैः ॥ १७० ॥

इन सभी हस्त प्रयोगों के अभिनय के समय नेत्र, भ्रू एवं मुख की चेष्टाओं का भी प्रयोग करते हुए इन्हें और अधिक अभिव्यक्त करना चाहिए ॥ १७० ॥

करणं कर्म स्थानं प्रचारयुक्तिं क्रियां च समवेक्ष्य ।
हस्ताभिनयः कार्यस्तज्ज्ञैर्लोकोपचारेण ॥ १७१ ॥

अभिनेताओं को यह चाहिए कि करण, कार्य, स्थान एवं क्रिया का भलीभाँति निरीक्षण करके तदनुरूप लोकपरम्परा के अनुसार हस्तक्रिया का प्रयोग करें ॥ १७१ ॥

उत्तमानां कराः कार्या ललाटक्षेत्रचारिणः ।
वक्षस्स्थाश्चैव मध्यानामधमानामधोगताः ॥ १७२ ॥

(समाज के) उत्तम व्यक्तियों की हस्त क्रियाएं प्रायः मस्तक के समीप, मध्य वर्गीय लोगों की वक्षःस्थल के समीप एवं निम्नस्तरीय व्यक्तियों का हस्त संचालन शरीर के अधोभाग में होना चाहिए ॥ १७२ ॥

ज्येष्ठे स्वल्पप्रचाराः स्युर्मध्ये कुर्वीत मध्यमैः ।
अधमेषु प्रकीर्णाश्च हस्ताः कार्याः प्रयोक्तृभिः ॥ १७३ ॥

उच्च वर्गीय पात्रों को हाथ के द्वारा बहुत कम अभिनय करना चाहिए, मध्यम-वर्गीय पात्रों का हस्ताभिनय न अत्यन्त अधिक होना चाहिए न अत्यन्त न्यून एवं निम्नवर्गीय पात्रों को स्वच्छन्दतया हाथों द्वारा अभिनय करना चाहिए[1] ॥ १७३ ॥

---

१. इस सम्पूर्ण श्लोक की व्याख्या अभिनवगुप्त ने भिन्न ढंग से की है। यहां प्रयुक्त ज्येष्ठ, मध्यम एवं अधम विशेषणों को उन्होंने हमारे समान पात्रपरक न मानकर नाट्य परक माना है। तदनुसार ज्येष्ठ शब्द नाटकवाची, मध्यम भाषा आदि वाची एवं अधम नृत्तकाव्यवाची है। ज्येष्ठे नाटकादौ चतुर्वर्गोपायोपदेशिनि प्रत्यक्षताप्राधान्यादल्पो हस्ताभिनयो, मध्यमे तु रञ्जनाफले भाणकादौ मध्यमः प्रत्यक्षे हि तत्राकाशभाषितप्रधान्यात्, अधमे तु नृत्तकाव्ये षिङ्गकादौ च प्रकीर्ण—इति केचित्। पूर्व प्रसंग के अनुसार यहाँ उत्तमादि जनों से किए गए हस्तक्रियाओं का वर्गीकरण किया जा रहा था। अतः इस प्रसंग को भी हमें व्यक्ति अर्थात् पात्रपरक मानना ही समीचीन जान पड़ा।

लक्षणव्यञ्जिता हस्ताः कार्यास्तूत्तममध्यमैः ।
लोकक्रियास्वभावेन नीचैरप्यर्थसंश्रयाः ॥ १७४ ॥

इस प्रकार के लक्षणों द्वारा जो हस्तमुद्राओं का प्रयोग बताया गया है उसे लोकपरम्परा का निर्वाह करते हुए उत्तम मध्यम एवं नीच जनों को व्यवहार में लाना चाहिए ॥ १७४ ॥

अथवान्यादृशं प्राप्य प्रयोगं कालमेव च ।
विपरीताश्रया हस्ताः प्रयोक्तव्या बुधैर्न वा ॥ १७५ ॥

इन हस्त चेष्टाओं का प्रयोग करते समय विद्वानों को चाहिए कि वह अवसर एवं परिस्थिति का सदा ध्यान रखें। कुछ ऐसी परिस्थितियां हैं जिनका अभिनय करते समय हाथ का प्रयोग नहीं किया जाता ॥ १७५ ॥

हस्ताभिनय का निषेध—

विषण्णे मूर्छितेह्रीते जुगुप्साशोकपीडिते ।
ग्लाने स्वप्ने विहस्ते च निश्चेष्टे तन्द्रिते जडे ॥ १७६ ॥

व्याधिग्रस्ते जरार्त्ते च भयार्त्ते शीतविप्लुते ।
मत्ते प्रमत्ते चोन्मत्ते चिन्तायां तपसि स्थिते ॥ १७७ ॥

हिमवर्षहते बद्धे वारिणाप्लवसंश्रिते ।
स्वप्नायिते च सम्भ्रान्ते नतसंस्फोटने तथा ॥ १७८ ॥

न हस्ताभिनयः कार्यः कार्यः सत्त्वसमाश्रयः ।
तथा काकुविशेषश्च नानार्थरसभावकः ॥ १७९ ॥

विषण्णता, मूर्च्छा, लज्जा, जुगुप्सा, शोकाकुलता, ग्लानि, स्वप्न, हस्तहीनता, क्रियाशून्यता, अर्धनिद्रा, जड़ता, बीमारी, बुढ़ापा, भय, सर्दी, मत्त, प्रमत्त एवं उन्मत्त अवस्थाएं, चिन्ता, तपःस्थिति, बर्फ से गलने, बन्धन, बाढ़ से घिरने, स्वप्न देखने, सम्भ्रान्त होने एवं नाखून काटने आदि स्थितियों में हाथ की क्रियाओं का प्रयोग नहीं किया जाता है। (विभिन्न अर्थों तथा भावों को अभिव्यक्त करने में समर्थ काकुविशेष का भी प्रयोग नहीं किया जाता)।

हस्त-अभिनय विधि—

यत्र व्यग्रावुभौ हस्तौ तत्तद्दृष्टिविलोकनैः ।
वाचिकाभिनयं कुर्याद् विरामैरर्थदर्शकैः ॥ १८० ॥

वाचिक अभिनय करते समय अभिनेता को अपनी दृष्टि उसी स्थल पर केन्द्रित करनी चाहिए जिस ओर उसके हाथों की चेष्टाएं केन्द्रित हैं। हाथों से

अभिनय करते समय बीच बीच में विराम भी देना चाहिए जिससे हस्ताभिनय का अर्थ सुबोध हो सके ।। १८० ।।

अङ्गसञ्चालन के तीन भेद—

उत्तानः पार्श्वगश्चैव तथाधोमुख एव च ।
प्रचारस्त्रिविधोऽङ्गनां नाट्यनृत्तसमाश्रयः ।। १८१ ।।

नाट्य एवं नृत्त के अन्तर्गत अङ्गों का संचालन तीन प्रकार का माना जाता है- (१) ऊर्ध्वमुखी (उत्तान), (२) अगल बगल किया जाने वाला (पार्श्वग), एवं (३) निम्नाभिमुखी (अधोमुख) ।। १८१ ।।

हस्तप्रचार के पाँच भेद—

अन्ये तु—

उत्तानो वर्तुलस्त्र्यश्रः स्थितोऽधोमुख एव च ।
पञ्च प्रचारा हस्तस्य नाट्यनृत्तसमाश्रयाः ।। इति ।। १८२ ।।

कुछ अन्य विचारकों के मत में (१) उत्तान, (२) वर्तुल, (३) त्र्यश्र, (४) स्थित एवं (५) अधोमुख यह पाँच प्रकार की हस्तमुद्राएं नाट्य एवं नृत्त में होती हैं ।। १८२ ।।

एवं ज्ञेयाः करा ह्येते नानाभिनयसंश्रयाः ।
अतः ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि करान्नृत्तसमाश्रयान् ।। १८३ ।।

इस प्रकार अनेकों अभिनयों के आधार रूप इन करों को जानना चाहिए । अब इसके बाद में नृत्त समाश्रित हस्तों का वर्णन करूंगा ।। १८३ ।।

नृत्त हस्त—

वक्षसोष्टाङ्गुलस्थौ तु प्राङ्मुखौ खटकामुखौ ।
समानकूर्परांसौ तु चतुरस्रौ प्रकीर्तितौ ।। १८४ ।।

१. चतुरस्र—जब दोनों खटकामुख हस्त वक्ष के आठ अंगुल ऊपर स्थित हों तथा कन्धे व कोहनियाँ समानान्तर हो तो उसे चतुरस्र हस्त कहा जाता है ।। १८४ ।।

हंसपक्षकृतौ हस्तौ व्यावृत्तौ तालवृन्तवत् ।
उद्वृत्ताविति विज्ञेयावथवा तालवृन्तकौ ।। १८५ ।।

२. उद्वृत्त—जब हंसपक्ष मुद्रा में स्थित दोनों हाथों को तालवृन्त की भाँति उलट दिया जाए तो उसे उद्वृत्त अथवा ताल वृत्तक हस्त कहा जाता है ।। १८५ ।।

चतुरस्रस्थितौ हस्तौ हंसपक्षकृतौ तथा ।
तिर्यक्स्थितौ चाभिमुखौ ज्ञेयौ तलमुखाविति ।। १८६ ।।

३. तलमुख—चतुरश्र मुद्रा में तथा हंसपक्ष अवस्थिति में स्थित दोनों हाथ तिरछे तथा एक दूसरे के अभिमुख हो तो उन्हें तलमुख हस्त कहा जाता है ॥ १८६ ॥

तावेव मणिबन्धान्ते स्वस्तिकाकृतिसंस्थितौ।
स्वस्तिकाविति विख्यातौ विच्युतौ विप्रकीर्णकौ ॥ १८७ ॥

४. स्वस्तिक—जब तलमुख मुद्रा में स्थित दोनों हाथ एक दूसरे को कलाई से काटे तो उसे 'स्वस्तिक' हस्त कहते हैं ॥ १८७ ॥

अलपल्लवसंस्थानावूर्ध्वास्यौ पद्मकोशकौ।
अरालखटकाख्यौ चाप्यरालखटकामुखौ ॥ १८८ ॥

५. विप्रकीर्णक—स्वस्तिकमुद्रा में हाथ के रहने के बाद जब वह पुनः वियुक्त हो जाते हैं तो उन्हें विप्रकीर्णक हस्त कहा जाता है।

६. अरालखटकामुख—दोनों अलपल्लव हस्तों की हथेलियाँ ऊपर की ओर उठकर पद्मकोश हस्तमुद्रा में स्थित हो जाएँ तो उसे अरालखटकामुख हस्त कहते हैं ॥ १८८ ॥

अन्ये तु—

तथैव मणिबन्धान्ते ह्यरालौ विच्युतावुभौ।
ज्ञेयौ प्रयोक्तृभिर्नित्यमरालखटकाविति। इति ॥ १८९ ॥

एक दूसरे मतानुसार जब दोनों अराल हस्त कलाई से अलग अलग हो जाएं तो उसे अरालखटक हस्त कहा जाता है ॥ १८९ ॥

भुजांसकूर्परार्ग्रैस्तु कुटिलावर्तितौ करौ।
पराङ्मुखतलाविद्धौ ज्ञेयावाविद्धवक्रकौ ॥ १९० ॥

७. आविद्धवक्रक—दोनों हाथ, भुजा, कन्धे एवं कोहनी से मुड़ कर तिरछे हो जाए तथा हथेलियाँ भी मुड़कर पीछे की ओर घुमी हुई हो तो उसे आविद्धवक्रक हस्त कहते हैं ॥ १९० ॥

हस्तौ तु सर्पशिरसौ मध्यमाङ्गुष्ठकौ यदा।
तिर्यक्प्रसारितास्यौ च सदा सूचीमुखौ स्मृतौ ॥ १९१ ॥

८. सूचीमुख—सर्पशिर मुद्रा में अवस्थित दोनों हाथों की बीच की अङ्गुलियों को जब अंगूठे स्पर्श कर रहे हों एवं उनके अग्रभाग तिरछे फैले हों तो उसे 'सूची-मुख' हस्त की संज्ञा दी जाती है ॥ १९१ ॥

अन्ये—

सर्पशीर्षौ यदा हस्तौ भवेतां स्वस्तिकस्थितौ।

मध्यप्रसारिताङ्गुष्ठौ ज्ञेयौ सूचीमुखौ तदा ॥ १९२ ॥

एक दूसरे मतानुसार जब स्वस्तिक अवस्थिति में दोनों सर्पशीर्ष हस्तों की मध्यमा अंगुली अंगूठे का स्पर्श कर रही हो तो उसे सूचीमुख हस्त कहते हैं ॥ १९२ ॥

रेचितौ चापि विज्ञेयौ हंसपक्षौ द्रुतभ्रमौ ।
प्रसारितोत्तानतलौ रेचिताविति संज्ञितौ ॥ १९३ ॥

९. रेचित— दोनों हंसपक्ष हस्तों की हथेलियाँ ऊर्ध्वमुखी हों तथा उन्हें अत्यन्त शीघ्रता पूर्वकहिलाया जा रहा हो तो उसे रेचित हस्त कहा जाता है ॥ १९३ ॥

चतुरस्रो भवेद्वामः सव्यहस्तश्च रेचितः ।
विज्ञेयौ नृत्ततत्त्वज्ञैरर्धरेचितसंज्ञितौ ॥ १९४ ॥

१०. अर्धरेचित— जब बायाँ हाथ चतुरस्रमुद्रा में एवं दाहिना हाथ रेचित मुद्रा में अवस्थित हो तो वह अर्धरेचित हस्तमुद्रा होती है ॥ १९४ ॥

अञ्चितौ कूर्परांसौ तु त्रिपताकौ करौ कृतौ ।
किञ्चित्तिर्यग्गतावेतौ स्मृतावुत्तानवञ्चितौ ॥ १९५ ॥

११. उत्तानवञ्चित—त्रिपाताक मुद्रा में स्थित दोनों हाथों को थोड़ा सा तिरछा मोड़ दिया जाता है तथा कन्धे एवं कोहनी को घुमाया जाता है तो वह उत्तानवञ्चित हस्त कहा जाता है ॥ १९५ ॥

मणिबन्धनमुक्तौ तु पताकौ पल्लवौ स्मृतौ ।
बाहुशीर्षाद्विनिष्क्रान्तौ नितम्बाविति कीर्तितौ ॥ १९६ ॥

१२. पल्लव—दोनों पताका हस्त के कलाई से जुड़े होने की संज्ञा पल्लव होती है ।

१३. नितम्ब—दोनों पताका हस्तों को कन्धे से (नितम्ब तक[1]) बाहर फैलाने की संज्ञा नितम्ब हस्त है ॥ १९६ ॥

केशदेशाद्विनिष्क्रान्तौ परिपार्श्वोत्थितौ तथा ।
विज्ञेयौ केशबन्धौ तु करावाचार्यसंमतौ ॥ १९७ ॥

---

१. अभिनवभारती के अनुसार कन्धे से बाहों का निष्क्रमण नितम्ब पर्यन्त होता है क्योंकि इस हस्तमुद्रा की संज्ञा से यही ध्वनित होता है–"स्कन्धक्षेत्राद् विचित्रत्वेनोत्तानत्वाधोमुखत्वपर्यायत्वेन निष्क्रान्तौ पताकौ, नाम्ना क्षेत्रस्याक्षेपात् नितम्बक्षेत्रे तथैव पर्यायेण वर्तमानौ नितम्बौ ।

१४. केशबन्ध—केशों से हटाकर दोनों हाथों को जब पार्श्वभाग में स्थापित कर दिया जाए तो उसे केशबन्ध मुद्रा कहते हैं ।। १९७ ।।

तिर्यक्प्रसारितौ चैव पार्श्वसंस्थौ तथैव च ।
लताख्यौ च केरौ ज्ञेयो नृत्ताभिनयनं प्रति ।। १९८ ।।

१५. लता—नृत्त एवं अभिनय के समय दोनों हाथों को पार्श्वों की तरफ तिरछे फैलाने को लता हस्त कहा जाता है ।। १९८ ।।

समुन्नतो लताहस्तः पार्श्वात्पार्श्व विलोलितः ।
त्रिपताकोऽपरः कर्णे करिहस्तः प्रकीर्तितः ।। १९९ ।।

१६. करिहस्त—जब लता हस्त को ऊपर उठा कर एक पार्श्व तक हिलाया जाए एवं दूसरा हाथ त्रिपताका मुद्रा के कान पर स्थित हो तो उसे करिहस्त कहा जाता है ।। १९९ ।।

कटिशीर्षनिविष्ठौ द्वौ त्रिपताकौ यदा करौ ।
पक्षवञ्चितकौ हस्तौ तदा ज्ञेयौ प्रयोक्तृभिः ।। २०० ।।

१७. पक्ष वञ्चितक—एक त्रिपताक हस्त के कटि पर एवं दूसरे के सिर पर स्थित होने को पक्षवञ्चित हस्तक कहा जाता है ।। २०० ।।

तावेव तु परावृतौ पक्षप्रद्योतकौ स्मृतौ ।
अधोमुखतलाविद्धौ ज्ञेयौ गरुडपक्षकौ ।। २०१ ।।

१८. पक्षप्रद्योतक—इन्हीं (पक्षवञ्चितक) हस्तों की स्थिति बदल देने पर[1] पक्षप्रद्योतक हस्त मुद्रा बन जाती है ।

१९. गरुडपक्ष—नीचे की ओर हथेली रखते हुए नितम्ब क्षेत्र से हाथों को झट से ऊपर ले जाने को गरुड पक्ष हस्त कहा जाता है ।। २०१ ।।

हंसपक्षकृतौ हस्तौ व्यावृत्तपरिवर्तितौ ।
तथा प्रसारितभुजौ दण्डपक्षाविति स्मृतौ ।। २०२ ।।

२०. दण्डपक्ष—दोनों हंसपक्ष हस्तों को बारी बारी स घुमा कर दण्ड की भाँति प्रसारित कर देने को दण्डपक्ष हस्त कहते हैं ।। २०२ ।।

ऊर्ध्वमण्डलिनौ हस्तावूर्ध्वदेशविवर्तनात् ।
तावेव पार्श्वविन्यस्तौ पार्श्वमण्डलिनौ स्मृतौ ।। २०३ ।।

२१. ऊर्ध्वमण्डली—शरीर के ऊपरी भाग के समीप दोनों हाथों के चक्राकार

---

१. इसका तात्पर्य यह निकलता है कि कटिस्थित हाथ को शीर्ष पर एवं शीर्षस्थित हाथ को कटि पर रखा जाए ।

घूमने की संज्ञा ऊर्ध्वमण्डलीय हस्त होती है।

२२. पार्श्वमण्डली—इन्हीं हाथों की गति एक पार्श्व में होने पर उसे पार्श्वमण्डली हस्त कहते हैं[1] ॥ २०३ ॥

उद्वेष्टितो भवेदेको द्वितीयश्चापवेष्टितः ।
भ्रामितावुरसः स्थाने ह्युरोमण्डलिनौ स्मृतौ ॥ २०४ ॥

२३. उरोमण्डली—जब एक हाथ को ऊपर व दूसरे हाथ को नीचे रख कर वक्षःस्थल के समीप हाथों को गतिशील किया जाय तो उसे उरोमण्डली हस्त मुद्रा कहते हैं ॥ २०४ ॥

अलपल्लवकारालावुरोऽर्धभ्रमणक्रमात् ।
पार्श्वावर्तश्च विज्ञेयावुरःपार्श्वार्धमण्डलौ ॥ २०५ ॥

२४. उरःपार्श्वार्धमण्डली—अलपल्लव एवं अराल हस्तों को बारी बारी से पक्ष एवं पार्श्व में गतिशील करने को उरःपार्श्वार्धमण्डली हस्त कहा जाता है ॥ २०५ ॥

हस्तौ तु मणिबन्धान्ते कुञ्चितावञ्चितौ यदा ।
खटकाख्यौ कृतौ स्यातां मुष्टिकस्वस्तिकौ तदा ॥ २०६ ॥

२५. मुष्टिकस्वस्तिक—दोनों खटकामुख हस्तों को कलाई से मोड़ कर घुमाने को मुष्टिकस्वस्तिक हस्त कहा जाता है ॥ २०६ ॥

पद्मकोशौ यदा हस्तौ व्यावृत्तपरिवर्तितौ ।
नलिनीपद्मकोशौ तु तदा ज्ञेयौ प्रयोक्तृभिः ॥ २०७ ॥

२६. नलिनीपद्मकोश—जब पद्मकोश हस्तों को क्रमशः व्यावृत्त एवं परिवर्तित करणों में गतिमान किया जाता है तो उसकी संज्ञा नलिनीपद्मकोश होती है ॥ २०७ ॥

---

१. अभिनवगुप्त के विचार में पार्श्वमण्डली हस्त में ऊर्ध्वमण्डल हाथों का पताकाकृत करके एक दूसरे के सम्मुख रखा जाता है। (ऊर्ध्वमण्डलावेव पार्श्वगतौ पताकाकृतौ परस्परम्मुखौ)।

एक दूसरे मतानुसार पार्श्वमण्डल हस्त में हाथों को ऊर्ध्वमण्डल की भाँति ही चक्राकार घुमाया जाता है। केवल उसकी स्थिति ऊर्ध्वभाग में न होकर पार्श्वभाग में होती है—"अन्ये तु निवर्चनसमर्थनाशयेन स्वपार्श्व एवाविद्धभुजभ्रमणवर्तनात्मकमनयो रूपमाहुः"–अभि० भा०। प्रो० घोष भी हाथों की ऊर्ध्वमण्डलवत गति पार्श्व में मानते हैं।

करावुद्वेष्टिताग्रौ च प्रविधायालपल्लवौ ।
ऊर्ध्वप्रसारिताविद्धौ कर्तव्यावुल्बणाविति ॥ २०८ ॥

२७. अलपल्लव—जब दोनों हाथों को उद्वेष्टित करण में गतिशील किया जाता है तो वह अलपल्लव हस्त मुद्रा होती है ।

२८. उल्बण—दोनों हाथों को ऊपर की ओर फैला कर गतिशील करने को उल्बण हस्त कहते हैं ॥ २०८ ॥

पल्लवौ च शिरोदेशं संप्राप्तौ ललितौ स्मृतौ ।
कूर्परस्वस्तिकगतौ लताख्यौ वलिताविति ॥ २०९ ॥

२९. ललित—दोनों अलपल्लव हस्तों को सिर पर ले जाना ललित हस्त कहा जाता है ।

३०. वलित—दोनों लता हस्त एक दूसरे को कोहनी से क्रास करें तो उसे वलित हस्त कहा जाता है ॥ २०९ ॥

नृत्तहस्तों का उपसंहार—

करणे तु प्रयोक्तव्या नृत्तहस्ता विशेषतः ।
तथार्थाभिनये चैव पताकाद्याः प्रयोक्तृभिः ॥ २१० ॥

नृत्त हस्तों का उपयोग विशेषतः करणों के प्रयोग के अवसर पर किया जाता है । यथा अभिनेता द्वारा पताका आदि हस्तों का प्रयोग अर्थ की अभिव्यक्ति के निमित्त किया जाता है ॥ २१० ॥

सङ्करोऽपि भवेत्तेषां प्रयोगोऽर्थवशात्पुनः ।
प्राधान्येन पुनस्संज्ञा नाट्ये नृत्ते करेष्विह ॥ २११ ॥

किन्तु किसी किसी समय अर्थ की सशक्ततर अभिव्यक्ति के लिए उन (हाथों) के प्रयोगों के अवसर आपस में बदल जाते हैं । ऐसे अवसर पर नाट्य एवं नृत्त में उनके प्रयोग की प्रधानता के आधार पर ही उनका नामकरण किया जाता है ॥ २११ ॥

हस्तकरणों का उपक्रम—

वियुतास्संयुताश्चैव नृत्तहस्ताः प्रकीर्तिताः ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि करान्करणसंश्रयान् ॥ २१२ ॥

इस प्रकार अबतक मैंने वियुक्त एवं संयुक्त हस्तों का वर्णन किया है । इसके पश्चात् अब मैं करणों के आश्रित हस्तों का विश्लेषण करूँगा ॥ २१२ ॥

सर्वेषामेव हस्तानां नाट्यहस्तनिदेशिभिः ।
विज्ञातव्यं प्रयत्नेन करणं तु चतुर्विधम् ॥ २१३ ॥

नाट्यहस्तों के निर्देशकों को जानना चाहिये कि इन समस्त हस्तमुद्राओं का वर्गीकरण चार प्रकार के करणों में किया जा सकता है ॥ २१३ ॥

हस्तकरणों के चार भेदों के नाम—

अथावेष्टितमेकं स्यादुद्वेष्टितमथापरम् ।
व्यावर्तितं तृतीयं तु चतुर्थं परिवर्तितम् ॥ २१४ ॥

करणों के चतुर्विध प्रकार यह हैं—(१) आवेष्टित, (२) उद्वेष्टित, (३) व्यावर्तित (४) परिवर्तित ॥ २१४ ॥

आवेष्टयन्ते यदाङ्गुल्यस्तर्जन्याद्या यथाक्रमम् ।
अभ्यन्तरेण करणं तदावेष्टितमुच्यते ॥ २१५ ॥

१—आवेष्टित—तर्जनी से प्रारम्भ करके क्रमशः सभी अंगुलियाँ अन्दर की ओर मुड़ती जाती हैं तो उसे आवेष्टित करण कहते हैं ॥ २१५ ॥

उद्वेष्टयन्ते यदाङ्गुल्यस्तर्जन्याद्या बहिर्मुखम् ।
क्रमशः करणं विप्रास्तदुद्वेष्टितमुच्यते ॥ २१६ ॥

२—उद्वेष्टित—तर्जनी से प्रारम्भ करके क्रमशः सभी अंगुलियाँ जब बाहर की ओर खींचती जाती हैं तो उसे उद्वेष्टित करण कहा जाता है ॥ २१६ ॥

आवर्त्यन्ते कनिष्ठाद्या अङ्गुल्योऽभ्यन्तरेण तु ।
यथाक्रमेण करणं तद्व्यावर्तितमुच्यते ॥ २१७ ॥

३—व्यावर्तित—जब कनिष्ठिका से प्रारम्भ करके क्रमशः सभी अंगुलियाँ अन्दर की ओर मुड़ती हैं तो उसका नाम व्यावर्तित करण होता है ॥ २१७ ॥

उद्वर्त्यन्ते कनिष्ठाद्या बाह्यतः क्रमशो यदा ।
अङ्गुल्यः करणं विप्रास्तदुक्तं परिवर्तितम् ॥ २१८ ॥

४—परिवर्तित—कनिष्ठिका अंगुली से प्रारम्भ करके समस्त अंगुलियों के क्रमशः बाहर की ओर खींचते जाने का नाम परिवर्तित करण कहा जाता है ॥ २१८ ॥

हस्तकरणों का उपसंहार—

नृत्तेऽभिनययोगे च पाणिभिर्वर्तनाश्रयैः ।
मुखभ्रूनेत्रयुक्तानि करणानि प्रयोजयेत् ॥ २१९ ॥

नृत्त एवं नाट्य के अवसर पर विभिन्न प्रकार की हस्त मुद्राओं का प्रयोग करते समय मुख, भावों एवं नेत्रों का तथा भावाभिव्यक्ति पूर्ण करणों का भी प्रयोग करना चाहिए ॥ २१९ ॥

हाथ के दस करणों के नाम—

तिर्यक्तथोर्ध्वसंस्थो ह्यधोमुखश्चाश्चितोऽपविद्धस्तु।
मण्डलगतिस्तथा स्वस्तिकश्च पृष्ठानुसारी च ॥ २२० ॥

उद्वेष्टितः प्रसारित इत्येते वै स्मृताः प्रकारास्तु।
बाह्वोरिति करणगता विज्ञेया नर्तकैर्नित्यम् ॥ २२१ ॥

(१) तिर्यक, (२) ऊर्ध्वसंस्थ, (३) अधोमुख, (४) अश्चित, (५) अपविद्ध, (६) मण्डलगति, (७) स्वस्तिक, (८) पृष्ठानुचारी, (९) उद्वेष्टित, एवं (१०) प्रसारित—इन दस बाहुओं के करणों के विषय में नर्तकों को जानना चाहिये ॥ २२०-२२१ ॥

हृदय उदर तथा पार्श्व की चेष्टाओं के वर्णन का उपक्रम—

हस्तानां करणविधिर्मया समासेन निगदितो विप्राः।
अत ऊर्ध्वं व्याख्यास्ये हृदयोदरपार्श्वकर्माणि ॥ २२२ ॥

हे द्विजों ! इस प्रकार मैंने बाहुओं के करणों के विषय में बताया है। अब मैं हृदय, उदर एवं पार्श्वों की गतियों के विषय में बताऊँगा ॥ २२२ ॥

उरः चेष्टाओं के पाँच भेदों के नाम—

आभुग्नमथ निर्भुग्नं तथा चैव प्रकम्पितम्।
उद्वाहितं समं चैव ह्युरः पञ्चविधं स्मृतम् ॥ २२३ ॥

(१) आभुग्न, (२) निर्भुग्न, (३) प्रकम्पित, (४) उद्वाहित एवं (५) सम, यह पाँच प्रकार की उरःचेष्टाएँ मानी जाती हैं ॥ २२३ ॥

आभुग्न का लक्षण—

निम्नमुन्नतपृष्ठं च व्याभुग्नांसं श्लथं क्वचित्।
आभुग्नं तदुरो ज्ञेयं कर्म चास्य निबोधत ॥ २२४ ॥

जब वक्ष दबा हुआ, पीठ ऊँची तथा कंधे कुछ झुके हुए एवं ढीले हों तो उसे आभुग्न उरः चेष्टा कहते हैं ॥ २२४ ॥

आभुग्न का विनियोग—

सम्भ्रमविषादमूर्च्छाशोकभयव्याधिहृदयशल्येषु।
कार्यं शीतस्पर्शे वर्षे लज्जान्वितेऽर्थवशात् ॥ २२५ ॥

सम्भ्रम, विषाद, मूर्च्छा, शोक, बीमारी, हृदय विदीर्ण होने, ठंडी चीज को छूने, वर्षा तथा किसी के लज्जित होने में इसका प्रयोग किया जाता है ॥ २२५ ॥

निर्भुग्न का लक्षण—

स्तब्धं निम्नपृष्ठं च निर्भुग्नांसं समुन्नतम्।
उरो निर्भुग्नमेतद्धि कर्म चास्य निबोधत ॥ २२६ ॥

निर्भुग्न चेष्टा में वक्षःस्थल सीधा, पीठ पीछे की तरफ झुकी तथा कन्धे बिना झुके हुए तने रहते हैं। अब इसके कर्म को जानिये ॥ २२६ ॥

निर्भुग्न का विनियोग—

स्तम्भे मानग्रहणे विस्मयदृष्टे च सत्यवचने च।
अहमिति च दर्पवचने गर्वोत्सेके च कर्तव्यम् ॥ २२७ ॥

इसका प्रयोग स्तम्भ, मान, आश्चर्य से देखने, सत्य कहने, 'यह मैं हूँ' इस प्रकार की गर्वोक्ति कहने एवं अभिमान की अतिशयता का प्रदर्शन करने में किया जाता है ॥ २२७ ॥

अत्र केचित्—क्षेपकोऽयम्—

दीर्घनिःश्वसिते चैत्र जृम्भणे मोटने तथा।
बिब्बोके च पुनः स्त्रीणां तद्विज्ञेयं प्रयोक्तृभिः ॥ २२८ ॥

(ठंडी साँस छोड़ने, जम्भाई लेने, एवं स्त्रियों के मोटन तथा बिब्बोक नामक विलास लीलाओं के अवसर पर भी नाटचप्रयोक्ताओं के अनुसार निर्भुग्न उर का प्रयोग होता है ॥ २२८ ॥)

प्रकम्पित का लक्षण—

ऊर्ध्वक्षेपैरुरो यत्र निरन्तरकृतैः कृतम्।
प्रकम्पितं च तज्ज्ञेयमुरो नाटचप्रयोक्तृभिः ॥ २२९ ॥

(नाटच प्रयोक्ता गणों के अनुसार) लगातार ऊपर उठने (व नीचे बैठने) वाले वक्ष को प्रकम्पित उर माना जाता है ॥ २२९ ॥

प्रकम्पित का विनियोग—

हसितरुदितेषु कार्यं श्रमे भये श्वासकासयोश्चैव।
हिक्के दुःखे च तथा नाट्यज्ञैरर्थयोगेन ॥ २३० ॥

हँसने, रोने, परिश्रम, भय, साँस के प्रकोप, हिचकी एवं दुःख के अवसर पर इसका प्रयोग किया जाता है ॥ २३० ॥

उद्वाहित का लक्षण तथा विनियोग—

उद्वाहितं तूर्ध्वकृतमुरो ज्ञेयं प्रयोक्तृभिः।
दीर्घोच्छ्वासोन्नतालोके जृम्भणादिषु चेष्यते ॥ २३१ ॥

ऊपर उठे हुए उर को प्रयोक्तागण 'उद्वाहित' नाम से जानते हैं। इसमें लम्बी

साँसें लेने, ऊपर देखने, एवं जम्भाई लेने का अभिनय किया जाता है ।। २३१ ।।

सम का लक्षण तथा विनियोग—

सर्वैरेवाङ्गविन्यासैश्चतुरस्त्रकृतैः कृतम् ।
उरः समं तु विज्ञेयं स्वस्थं सौष्ठवसंयुतम् ।। २३२ ।।

समस्त अङ्ग चतुरस्र स्थिति में हों तथा वक्षःस्थल सामान्य अवस्था में स्वस्थ एवं सौन्दर्यमय स्थिति में रहें तो वह वक्ष की सम अवस्था मानी जाती है ।। २३२ ।।

उदर चेष्टाओं का उपसंहार—

एतदुक्तं मया सम्यगुरसस्तु विकल्पनम् ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि पार्श्वयोरिह लक्षणम् ।। २३३ ।।

इस भाँति मैंने उर की समस्त चेष्टाओं का वर्णन किया। अब मैं पार्श्व की विभिन्न स्थितियों की व्याख्या करूँगा ।। २३३ ।।

पार्श्वचेष्टाओं के पाँच भेदों के नाम—

नतं समुन्नतं चैव प्रसारितविवर्तिते ।
तथापसृतमेवं तु पार्श्वयोः कर्म पञ्चधा ।। २३४ ।।

पाँच प्रकार की पार्श्वचेष्टाएँ होती हैं—(१) नत, (२) समुन्नत, (३) प्रसारित, (४) विवर्तित, (५) अपसृत ।। २३४ ।।

कटी भवेत्तु व्याभुग्ना पार्श्वमाभुग्नमेव च ।
तथैवापसृतांसं च किञ्चित्पार्श्वं नतं स्मृतम् ।। २३५ ।।

१—नत (लक्षण)—जब कटि कुछ झुकी हो, एक पार्श्व कुछ तिरछा हो एवं एक कंधा कुछ चौड़ाया हुआ हो तो वह नत पार्श्व चेष्टा होती है ।। २३३ ।।

नतस्यैवापरं पार्श्वं विपरीतं तु युक्तितः ।
कटिपार्श्वभुजांसैश्चाक्ष्युन्नतैरुन्नतं भवेत् ।। २३६ ।।

२—उन्नत (लक्षण)—नत चेष्टा में जो पार्श्व, झुक जाता है, उसी का विपरीत पार्श्व, कटि एवं कंधा जब ऊपर उठ जाता है तो उसे उन्नत पार्श्व चेष्टा कहते हैं ।। २३६ ।।

आयामनादुभयतः पार्श्वयोः स्यात्प्रसारितम् ।
परिवर्तात् त्रिकस्यापि विवर्तितमिहेष्यते ।। २३७ ।।

३—प्रसारित (लक्षण)—दोनों पार्श्वों को फैलाना प्रसारित चेष्टा होता है।

४—विवर्तित (लक्षण)—त्रिक के घुमाने से विवर्तित पार्श्व की स्थिति उत्पन्न होती है ।। २३७ ।।

विवर्तनापनयाद्भवेदपसृतं पुनः ।
पार्श्वलक्षणमित्युक्तं विनियोगं निबोधत ॥ २३८ ॥

५—अपसृत (लक्षण)—विवर्तित चेष्टा से (त्रिक को घुमा कर) पुनः सामान्य स्थिति में पार्श्वों के आने को अपसृत पार्श्व कहा जाता है। इस प्रकार मैंने पार्श्व की गतियों के विषय में बताया है। अब मैं इनके प्रयोगस्थलों की विवेचना करूँगा ॥ २३८ ॥

पार्श्व चेष्टाओं के विनियोग—

उपसर्पे नतं कार्यमुन्नतं चापसर्पणे ।
प्रसारितं प्रहर्षादौ परिवृत्ते विवर्तितम् ॥ २३९ ॥
विनिवृत्ते त्वपसृतं पार्श्वमर्थवशाद्भवेत् ।
एतानि पार्श्वकर्माणि जठरस्य निबोधत ॥ २४० ॥

किसी के समीप जाने की क्रिया में नत, पीछे हटने के प्रयास में उन्नत, उल्लास के प्रदर्शन में प्रसारित, घूमने की क्रिया में विवर्तित, तथा पूर्व स्थिति में वापस जाने के प्रयास में उपसृत पार्श्व का प्रयोग किया जाता है। इन पार्श्व चेष्टाओं के वर्णन के पश्चात् अब आप लोग जठर अर्थात् पेट की चेष्टाओं के विषय में जानिये ॥ २३९-२४० ॥

उदर चेष्टाओं के तीन भेदों के नाम तथा लक्षण—

क्षामं खल्वं च पूर्णं च सम्प्रोक्तमुदरं त्रिधा ।
तनु क्षामं नतं खल्वं पूर्णमाध्मातमुच्यते ॥ २४१ ॥

उदर तीन प्रकार का कहा जाता है—(१) क्षाम, (२) खल्वं एवं (३) पूर्ण। इनमें से क्षाम दुर्बल पेट को, खल्व धँसे हुए पेट को एवं पूर्ण भरे हुए पेट को कहा जाता है ॥ २४१ ॥

उदर चेष्टाओं के विनियोग—

क्षामं हास्येऽथ रुदिते निःश्वासे जृम्भणे भवेत् ।
व्याधिते तपसि श्रान्ते क्षुधार्ते खल्वमिष्यते ॥ २४२ ॥
पूर्णमुच्छ्वसिते स्थूले व्याधितात्यशनादिषु ।

हास्य, रुदन, निःश्वास एवं जंभाई लेने की स्थिति में क्षाम, उदर, बीमारी, तपस्या, थकावट एवं भूख से व्याकुलता के प्रदर्शन में खल्व जठर तथा उच्छ्वास लेने, मोटेपन, बीमारी और अधिक भोजन का अभिनय करने में पूर्ण जठर का प्रयोग किया जाता है ॥ २४२-२४३ ॥

उदर चेष्टाओं के चार भेदों के नाम—

अन्ये तु--

क्षामं खल्वं समं पूर्णमुदरं स्याच्चतुर्विधम् ।। २४३ ।।
इत्येतदुदरस्योक्तं कर्मकट्या निबोधत ।

एक अन्य मतानुसार उदर के चारों प्रकारों के नाम यह हैं—(१) क्षाम, (२) खल्व, (३) सम तथा (४) पूर्ण ।

अभी तक उदर की चेष्टाओं का वर्णन किया गया । अब आप लोग कटि की चेष्टाओं को जानिए ।। २४३-२४४ ।।

कटिचेष्टाओं के पाँच भेदों के नाम—

छिन्ना चैव निवृत्ता च रेचिता कम्पिता तथा ।। २४४ ।।
उद्वाहिता चेति कटी नाट्ये नृत्ते च पञ्चधा ।

नाट्य एवं नृत्त में पाँच प्रकार की कटि चेष्टाएं मानी गई हैं–(१) छिन्ना, (२) निवृत्ता, (३) रेचित, (४) कम्पिता एवं (५) उद्वाहिता ।। २४४-२४५ ।।

कटि चेष्टाओं के लक्षण—

कटी मध्यस्य वलनाच्छिन्ना सम्परिकीर्तिता ।। २४५ ।।
पराङ्मुखस्याभिमुखी निवृत्ता स्यान्निवर्तिता ।
सर्वतो भ्रमणाच्चापि विज्ञेया रेचिता कटी ।। २४६ ।।
तिर्यग्गतागता क्षिप्र कटी ज्ञेया प्रकम्पिता ।
नितम्बपार्श्वोद्वहनाच्छनैरुद्वाहिता कटी ।। २४७ ।।

बीच से कटि घुमाने को छिन्ना कटि चेष्टा कहा जाता है । पीछे से सामने की ओर कटि को घुमानानिवर्तित, सभी ओर कटि को घुमाना रेचित, तिरछे होकर शीघ्रगति करने पर प्रकम्पिता एवं धीरे धीरे नितम्बों के पार्श्व भागों को उठाने में उद्वाहिता कटि चेष्टा का प्रयोग किया जाता है ।। २४५-२४७ ।।

कटि चेष्टाओं का विनियोग—

पुनश्चासां प्रवक्ष्यामि विनियोगप्रयोजनम् ।
छिन्ना व्यायामसम्भ्रान्तव्यावृत्त प्रेक्षणादिषु ।। २४८ ।।
निवृत्ता वर्तने चैव रेचिता भ्रमणादिषु ।
कुब्ज-वामन-नीचानां गतौ कार्या प्रकम्पिता ।। २४९ ।।
स्थूलेष्वुद्वाहिता योज्या स्त्रीणां लीलागतेषु च ।

अब मैं इन कटिचेष्टाओं को प्रयुक्त करने के उपयुक्त की चर्चा करूंगा ।

१—"छिन्ना" चेष्टा का प्रयोग व्यायाम, शीघ्रता तथा चारों ओर देखने में किया जाता है।

२—"निवृत्ता" चेष्टा द्वारा चारों ओर घूमने का अभिनय किया जाता है।

३—"रेचित" कटि का प्रयोग भ्रमण इत्यादि में किया जाता है।

४—प्रकम्पिता कटि चेष्टा के द्वारा कुबड़ों, बौनों तथा अधम स्तर के लोगों की जाति का प्रदर्शन किया जाता है।

५—"उद्वाहिता" चेष्टा से मोटे लोगों एवं स्त्रियों की विलास गति का अभिनय किया जाता है॥ २४८-२५०॥

ऊरु चेष्टाओं के पांच भेदों के नाम—

कम्पनं वलनं चैव स्तम्भनोद्वर्तने तथा॥ २५०॥
विवर्तनश्च पञ्चैतान्यूरुकर्माणि कारयेत्।

१-कम्पन २-वलन ३-स्तम्भन ४-उद्वर्तन ५-विवर्तन—ये पाँच ऊरु सम्बन्धी चेष्टाओं के नाम हैं॥ २५०-२५१॥

१. कम्पन ऊरुचेष्टा का लक्षण—

नमनोन्नमनात्पार्ष्णेर्मुहुः स्यादूरुकम्पनम्॥ २५१॥

बार बार एड़ी के झुकाने एवं उठाने से ऊरु भाग का "कम्पन" होता है॥ २५१॥

२. बलन ऊरुचेष्टा का लक्षण—

गच्छेदभ्यन्तरं जानु यत्तु तद्वलनं स्मृतम्।

घुटने को भीतर की ओर मोड़ने से उसका "वलन" होता है॥ २५२॥

३. स्तम्भन ऊरुचेष्टा का लक्षण—

स्तम्भनं चात्र विज्ञेयमपविद्धक्रियात्मकम्॥ २५२॥

घुटने को भीतर की ओर मोड़कर फिर बाहर की मोड़ना "उद्वर्तन" कहलाता है॥ २५३॥

४. उद्वर्तन ऊरुचेष्टा का लक्षण—

वलिताविद्धकरणादुद्वर्तनमितीरितम्।

घुटने को भीतर की ओर मोड़कर फिर बाहर की ओर मोड़ना "उद्वर्तन" कहलाता है॥ २५३॥

५. निवर्तन ऊरुचेष्टा का लक्षण—

पार्ष्णिरभ्यन्तरं गच्छेद् यत्र तत्तु निवर्तनम्॥ २५३॥

एड़ी भीतर की ओर मोड़ लेने को "निबर्तन" कहते हैं॥ २५३॥

१. कम्पन उरुचेष्टा का विनियोग—

गतिष्वधमपात्राणां भये चापि हि कम्पनम्।

अधम पात्रों की गति तथा भय में कम्पन नामक ऊरुचेष्टा का अभिनय करना चाहिए।

२. वलन ऊरुचेष्टा का विनियोग—

वलनं चैव कर्त्तव्यं स्त्रीणां स्वैरपरिक्रमे ॥ २५४ ॥

स्त्रियों की स्वच्छन्द गति का प्रदर्शन करते समय वलन नामक ऊरुचेष्टा का अभिनय करना चाहिए ॥ २५४ ॥

३. स्तम्भन ऊरुचेष्टा का विनियोग—

साध्वसे च विषादे च स्तम्भनं सम्प्रयोजयेत्।

भय तथा विषाद भाव के प्रदर्शन के अवसर पर स्तम्भन नाम ऊरुचेष्टा का अभिनय करना चाहिए।

४. उद्वर्तन ऊरुचेष्टा का विनियोग—

व्यायामे ताण्डवे चैव कार्यमुद्वर्तनं बुधैः ॥ २५५ ॥

व्यायाम तथा ताण्डव नृत्य के अवसर पर उद्वर्तन नामक ऊरु चेष्टा का अभिनब करना चाहिए ॥ २५५ ॥

५. विवर्तन उरू चेष्टा का विनियोग—

विवर्तनञ्च कर्तव्यं सम्भ्रमादि परिक्रमे।
यथादर्शनमन्यच्च लोकाद् ग्राह्यं प्रयोक्तृभिः ॥ २५६ ॥

आदर पूर्वक परिक्रमा आदि क्रियाओं के अवसर पर विवर्तन नामक ऊरु चेष्टा का अभिनय करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त अन्य चेष्टाओं को लौकिक व्यवहार के अनुसार नाट्य प्रयोक्ताओं को ग्रहण करना चाहिए ॥ २५६ ॥

६. जंघा की पाँच चेष्टाओं के नाम—

इत्यूर्वोर्लक्षणं प्रोक्तं जङ्घयोस्तु निबोधत।
आवर्तितं नतं क्षिप्तमुद्वाहितमथापि वा ॥ २५७ ॥
परिवृत्तं तथा चैव जङ्घाकर्माणि पञ्चधा।

इस प्रकार ऊरुओं की चेष्टाओं के लक्षणों का वर्णन किया गया अब जंघाओं की चेष्टाओं के लक्षणों का वर्णन करते हैं।

(१) आवर्तित (२) नत (३) क्षिप्त (४) उद्वाहित तथा (५) परिवृत्त—ये जंघाओं की पाँच चेष्टायें हैं ॥ २५७-२५८ ॥

१. आवर्तित जंघा चेष्टा का लक्षण—

वामो दक्षिणपार्श्वेन दक्षिणाच्चापि वामतः ॥ २५८ ॥
पादो यत्र व्रजेद्विप्रास्तदावर्तित मुच्यते ।

बायाँ पैर दाहिने पार्श्व की ओर तथा दाहिना पैर बाएँ पार्श्व की ओर ले जाने को आवर्तित जंघा चेष्टा कहते हैं ॥ २५८-२५९ ॥

जङ्घास्वस्तिकयोगेन क्रमादावर्तितं नयेत् ॥ २५९ ॥

(जंघाओं को स्वस्तिक आकार में करने पर आवर्तित नामक जंघा चेष्टा निष्पन्न होती है ॥ २५९ ॥)

२. नत जंघा चेष्टा का लक्षण—

जानुनः कुञ्चनाच्चैव नतं ज्ञेयं प्रयोक्तृभिः ।

घुटने के भीतर सिकोड़ लेने पर नत नामक जंघा चेष्टा निष्पन्न होती है ।

३. क्षिप्त जंघा चेष्टा का लक्षण—

विक्षेपाच्चापि जङ्घायाः क्षिप्तमित्यभिधीयते ॥ २६० ॥
नतं स्याज्जानुनमनात्क्षिप्तं विक्षेपणाद्बहिः ।

जंघा के विक्षेप (बाहर की ओर फेंकने) से क्षिप्त नामक जंघा चेष्टा निष्पन्न होती है ।

घुटने के भीतर सिकोड़ने से नत तथा बाहर की ओर फेंकने से क्षिप्त नामक जंघा चेष्टा निष्पन्न होती है ॥ २६०-२६१ ॥

४. उद्वाहित जंघा चेष्टा का लक्षण—

उद्वाहितं च विज्ञेयमूर्ध्वमुद्वाहनादिह ॥ २६१ ॥

जंघा को ऊपर की ओर उठाने से उद्वाहित नामक चेष्टा निष्पन्न होती है ॥ २६१ ॥

५. परिवृत्त जंघा चेष्टा का लक्षण—

प्रतीपनयनं यत्तु परिवृत्तं तदुच्यते ।

दोनों जंघाओं को एक दूसरे से विपरीत दिशा में करने से परिवृत्त नामक जंघा चेष्टा निष्पन्न होती है ॥ २६२ ॥

१. आवर्तित जंघा चेष्टा का विनियोग—

आवर्तितं प्रयोक्तव्यं विदूषकपरिक्रमे ॥ २६२ ॥

विदूषक द्वारा परिक्रमा करने के अवसर पर आवर्तित नामक जंघा चेष्टा का प्रयोग करना चाहिये ॥ २६२ ॥

२. नत जंघा चेष्टा का विनियोग—

नतं चापि हि कर्तव्यं स्थानासनगतादिषु ।

उठने, बैठने तथा चलने में नत नामक जंघा चेष्टा का प्रयोग करना चाहिए ।

३. क्षिप्त जंघा चेष्टा का विनियोग—

क्षिप्तं व्यायामयोगेषु ताण्डवे च प्रयुज्यते ॥ २६३ ॥

व्यायाम तथा ताण्डव नृत्य के अवसर पर क्षिप्त नामक जंघा चेष्टा का प्रयोग करना चाहिए ॥ २६३ ॥

४. उद्वाहित जंघा चेष्टा का विनियोग—

तथा चोद्वाहितं कार्यमाविद्धगमनादिषु ।

जिसमें एड़ी को बाहर की ओर फेंक कर भूमि पर रखा जाय ऐसी गति में उद्वाहित नामक जंघा चेष्टा का प्रयोग करना चाहिए ।

५. परिवृत्त जंघा चेष्टा का विनियोग—

ताण्डवादौ प्रयोक्तव्यं परिवृत्तं प्रयोक्तृभिः ॥ २६४ ॥

ताण्डव नृत्य आदि के अवसर पर नाट्य प्रयोक्ताओं को परिवृत्त नामक जंघा चेष्टा का प्रयोग करना चाहिए ॥ २६४ ॥

पाद चेष्टा के पाँच भेदों के नाम—

इत्येयं जङ्घयोः कर्म पादयोस्तु निबोधत ।
उद्घट्टितः समश्चैव तथाग्रतलसञ्चरः ॥ २६५ ॥
अञ्चितः कुञ्चितश्चैव पादः पञ्चविधः स्मृतः ।

इस प्रकार जंघा की पाँचों चेष्टाओं का वर्णन किया गया। अब पैरों की चेष्टाओं का वर्णन किया जाता है ।

(१) उद्घट्टित, (२) सम, (३) अग्रतल संचर, (४) अञ्चित, (५) कुञ्चित— ये पाँच पैरों की चेष्टाएँ हैं ॥ २६५-२६६ ॥

१. उद्घट्टित पाद चेष्टा का लक्षण—

स्थित्वा पादतलाग्रेण पार्ष्णिर्भूमौ निपात्यते ॥ २६६ ॥
यस्य पादस्य करणे भवेदुद्घट्टितस्तु सः ।

पैर के अग्रभाग के सहारे खड़े होकर पृथ्वी पर एड़ी के गिरा देने से उद्घाट्टित नामक पाद चेष्टा सम्पन्न होती है ।। २६६-२६७ ।।

उद्घट्टित पाद चेष्टा का विनियोग—

अयमुद्घट्टितकरणेष्वनुकरणार्थं प्रयोगमासाद्य ।। २६७ ।।
द्रुतमध्यमप्रचारः सकृदसकृद्वा प्रयोक्तव्यः ।

उद्वेष्टित करणों में अनुकरण करने के लिए किये गये प्रयोग के अवसर पर इस उद्घाट्टित पाद चेष्टा का द्रुत या मध्यम गति में एक बार या अनेक बार प्रयोग करना चाहिए ।। २६७-२६८ ।।

२. सम पाद चेष्टा का लक्षण तथा विनियोग—

स्वभावरचितो भूमौ समस्थानश्च यो भवेत् ।। २६८ ।।
समपादः स विज्ञेयः स्वभावाभिनयाश्रयः ।

जब पैर पृथ्वी पर स्वाभाविक रीति से सम स्थिति में रखा जाता है तो उसे सम नामक पाद चेष्टा कहते हैं ।

इसका प्रयोग स्वभाव सम्बन्धी अभिनय के अवसर पर करना चाहिए ।। २६८-२६९ ।।

स्थिर पाद चेष्टा का विनियोग—

स्थिरः स्वभावाभिनये नानाकरणसंश्रये ।। २६९ ।।

अनेक प्रकार के करणों से सम्बन्धित स्वाभाविक अभिनय के अवसर पर स्थिर नामक पाद चेष्टा का प्रयोग करना चाहिए ।। २६९ ।।

चलित पाद चेष्टा का विनियोग—

चलितश्च पुनः कार्यो विधिज्ञैः पादरेचिते ।

नाट्य विधि के ज्ञाताओं को पादरेचक के अवसर पर चलित नामक पाद चेष्टा का प्रयोग करना चाहिए ।। २७० ।।

(प्रक्षिप्त) त्र्यश्रा पाद चेष्टा का लक्षण—

समस्यैव यदा पार्ष्णिः पादस्याभ्यन्तरे भवेत् ।। २७० ।।
बहिः पार्श्वस्थितोऽङ्गुष्ठस्त्र्यश्रपादस्तु स स्मृतः ।

जब सम नामक पाद चेष्टा में पैर की एड़ी भीतर की ओर मोड़ ली जाय तथा अँगूठा बाहर की ओर हो तो उसे त्र्यश्रा नामक पाद चेष्टा कहते हैं ।। २७०-२७१ ।।

(प्रक्षिप्त) त्र्यश्रा पाद चेष्टा का विनियोग—

त्यक्त्वा (कृत्वा ?) समपदं स्थानमश्वक्रान्ते तथैव च ।। २७१ ।।
स्याद् विक्लवादिष्वर्थेषु त्र्यश्रः पादो यथाविधि ।

सम नामक पाद चेष्टा को छोड़ कर घोड़े पर चढ़ने के अवसर पर तथा घबड़ाहट आदि भावनाओं के अवसर पर त्र्यश्रा पाद चेष्टा का प्रयोग करना चाहिए ।। २७१-१७२ ।।

त्र्यश्रा पाद चष्टा का लक्षण तथा विनियोग—

अस्यैव समपादस्य पार्ष्णिरभ्यन्तरे भवेत् ।। २७२ ।।
त्र्यश्रपादः स विज्ञेयः स्थानकादिषु संश्रयः ।

जब सम नामक पाद चेष्टा में पैर की एडी भीतर की ओर मोड़ ली जाय तो उसे त्र्यश्रा नामक पाद चेष्टा कहते हैं ।

इसका प्रयोग स्थानकों आदि में करना चाहिए ।। २७२-२७३ ।।

३. अग्रतल सञ्चर पाद चेष्टा का लक्षण—

उत्क्षिप्ता तु भवेत्पार्ष्णिः प्रसृतोऽङ्गुष्ठकस्तथा ।। २७३ ।।
अङ्गुल्यश्चाञ्चिताः सर्वाः पादेऽग्रतलसञ्चरे ।

अग्रतल संञ्चर नामक पाद चेष्टा में एड़ी ऊपर की ओर उठी होती है, अँगूठा फैला होता है तथा सभी अँगुलियाँ भी फैली होती हैं ।। २७३-२७४ ।।

अग्रतल संचर पाद चेष्टा का विनियोग—

तोदननिकुट्टने स्थितनिशुम्भने भूमिताडने भ्रमणे ।। २७४ ।।
विक्षेपविविधरेचकपार्ष्णिकृतागमनमेतेन ।

तोदन (प्रेरणा), निकुट्टन (प्रेरणा का ग्रहण), स्थित (वैष्णव आदि स्थानक) निशुम्भन (पीडन), भूमिताडन, भ्रमण (मानसिक भ्रान्ति) विक्षेप (प्राणियों को दूर भगाने), अनेक प्रकार के (कर, पाद, ग्रीवा आदि के) रेचकों में एड़ी को उठाकर चलने वाली इस अग्रतल संचर नामक पाद चेष्टा का प्रयोग करना चाहिए ।। २७४-२७५ ।।

४. अञ्चित पाद चेष्टा का लक्षण—

पार्ष्णियस्य स्थिता भूमौ पादमग्रतलं तथा ।। २७५ ।।
अङ्गुल्यश्चाञ्चिताः सर्वाः स पादोऽञ्चित उच्यते ।

जिस पैर की एड़ी पृथ्वी पर स्थित हो, अग्रभाग ऊपर की ओर उठा हो तथा सभी अँगुलियाँ फैली हों उसे अञ्चित नामक पाद चेष्टा कहते हैं ।। २७५-२७६ ।।

५. अञ्चित पाद चेष्टा का विनियोग—

पादाग्रस्थितसञ्चारे वर्तितोद्वर्तिते तथा ॥ २७६ ॥
एष पादाहते कार्यों नाना भ्रमरकेषु च ।

पैर के अग्रभाग के संचालन में, वर्तित तथा उद्वर्तित चेष्टा में अनेक प्रकार की भ्रमरीचारियों के तथा पदाघात में इस अञ्चित पाद चेष्टा का प्रयोग करना चाहिए ॥ २७६-२७७ ॥

६. कुञ्चित पाद चेष्टा का लक्षण—

ऊक्षिप्ता यस्य पार्ष्णिः स्यादङ्गुल्यः कुञ्चितास्तथा ॥ २७७॥
तथाकुञ्चितमध्यश्च स पादः कुञ्चितः स्मृतः ।

पैर की एड़ी ऊपर उठी हुई हो, अँगुलियाँ सिकुड़ी हुई हों तथा पैर का मध्यभाग भी सिकुड़ा हुआ हो तो उसे कुञ्चित नामक पादचेष्टा कहते हैं ॥ २७७-२७८ ॥

कुञ्चित पाद चेष्टा का विनियोग—

उदात्तगमने चैव वर्तितोद्वर्तिते तथा ॥ २७८ ॥
अतिक्रान्तक्रमे चैव पादमेतं प्रयोजयेत् ।

उदात्त (उत्तम लोगों की) गति में, वर्तित तथा उद्वर्तित चेष्टा में तथा अतिक्रमण (लांघने) में इस कुञ्चित पाद चेष्टा का प्रयोग करना चाहिए ॥ २७८-१७९ ॥

(प्रक्षिप्त) सूची पादचेष्टा का लक्षण—

उत्क्षिप्ता तु भवेत्पार्ष्णिरङ्गुष्ठाग्रेण संस्थितः ॥ २७९ ॥
वामश्चैव स्वभावस्थः सूचीपादः प्रकीर्तितः ।

(दाहिने पैर की एड़ी ऊपर उठी हो और उसी पैर के अँगूठे के सहारे खड़ा हो तथा बायाँ पैर अपनी स्वाभाविक अवस्था में हो तो इसे सूची नामक पादचेष्टा कहते हैं ॥ २७९-२८० ॥

सूची पाद चेष्टा का विनियोग--

नृत्ते नूपूरकरणे च प्रयोगस्तस्यकीर्तितः ॥ २८० ॥

नृत्त तथा नूपुर बाँधने के अवसर पर इस सूची नामक पाद चेष्टा का प्रयोग करना चाहिए) ॥ २८० ॥

पादचेष्टाओं के प्रयोग की विधि—

पादजङ्घोरुकरणं समं कार्यं प्रयोक्तृभिः ।

पादस्य करणे सर्वं जङ्घोरुकृतमिष्यते ॥ २८१ ॥

नाट्य प्रयोक्ताओं को पैर, जंघा तथा ऊरु तीनों की चेष्टाओं का एक साथ ही प्रयोग करना चाहिए क्योंकि पादचेष्टाओं के अन्तर्गत जंघा तथा ऊरु की चेष्टाओं का भी समावेश हो जाता है ॥ २८१ ॥

अध्याय का उपसंहार—

यथा पादः प्रवर्तेत तथैवोरुः प्रवर्तते।
तयोः समानकरणात् पादचारीं प्रयोजयेत् ॥ २८२ ॥

जिस प्रकार पैर की चेष्टा होती है उसी प्रकार ऊरु की भी चेष्टा होती है इसलिए पैर तथा ऊरु इन दोनों की चेष्टाओं की समानता के अनुसार पाद चेष्टा का प्रयोग करना चाहिए ॥ २८२ ॥

इत्येतदङ्गजं प्रोक्तं लक्षणं चैव कर्म हि।
अतः परं प्रवक्ष्यामि चारीव्यायामलक्षणम् ॥ २३८ ॥

॥ इति श्रीभारतीये नाट्यशास्त्रे अङ्गाभिनयो[1] नाम नवमोध्यायः ॥

———०———

इस प्रकार सभी अङ्गों की चेष्टाओं के लक्षणों तथा विनियोग का वर्णन किया गया। इनके बाद चारी नामक व्यायाम के लक्षणों का वर्णन करेंगे ॥ २८३ ॥

॥ इस प्रकार श्रीभरतप्रणीत नाट्यशास्त्र की 'नाटचप्रदीप' नामक हिन्दी व्याख्या में "अङ्गाभिनय" नामक नवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

———०———

१. 'शरीराभिनयो नाम' इति वा पाठः काशी०।

अथ दशमोऽध्यायः

चारी का लक्षण—

एवं पादस्य जङ्घाया ऊर्वोः कट्यास्तथैव च ।
समानकरणे चेष्टा सा चारीति परिकीर्तित ॥ १ ॥

इस प्रकार पैर, जंघा, ऊरु तथा कटि (कमर) की समानकरण वाली आङ्गिक चेष्टा 'चारी' कहलाती है[1] ॥ १ ॥

व्यायाम का लक्षण—

विधानोपगताश्चार्यो व्यायच्छन्ते परस्परम् ।
यस्मादङ्गसमायुक्तास्तस्माद्व्यायाम उच्यते ॥ २ ॥

विधान (नियम) पूर्वक प्रयुक्त[2] (अभिनीत) चारियाँ[3] परस्पर एक दूसरे के आश्रित रहती है। इन चारियों को व्यायाम इसलिये कहते है, क्योंकि

---

१. नवम अध्याय के अन्त में कहा जा चुका है कि इसके बाद चारी नामक व्यायाम का लक्षण कहेंगे। उस कथन के "चारी व्यायाम लक्षणम्" इस शब्द के समास तथा व्यायाम शब्द के अर्थ इन दोनों में सन्देह होता है। चर् धातु से करण या भाव अर्थ में उणादि गण का इञ् प्रत्यय करने के बाद "कृदिकारादक्तिन् ङीष्" इस सूत्र से ङीष् प्रत्यय करने पर चारी शब्द सिद्ध होता है।

२. चारियों के विधान का नियम किस प्रकार है यह 'विधानोपगता' शब्द द्वारा स्पष्ट करते हैं। "विधानोपगता' शब्द का अर्थ है एक प्रधान चारी द्वारा बलपूर्वक दूसरी चारियों का अभिनय। ऐसा होने पर क्या ये चारियाँ अन्योन्याश्रित होंगी ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है, ये चारियाँ किसी एक प्रधान अङ्ग द्वारा प्रयुक्त नहीं होतीं।

३. कुछ चारियाँ प्रयत्नपूर्वक की जाती हैं तथा कुछ बिना प्रयत्न के स्वतः ही हो जाती हैं। इसीलिए 'चार्यः' इस बहुवचनान्त शब्द का प्रयोग किया गया है।

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य इस प्रकार समझना चाहिये—चारियों में कुछ अङ्ग प्रधान माने जाते हैं—जैसे अभिनय में हाथ या गति (चलने) में पैर आदि। इन प्रधान अङ्गों की उपयोगी चारी को प्रधान चारी कहते हैं। इस प्रकार जब पूर्व चारी पर चारी (बाद वाली चारी) के आश्रित रहती है तो इन परस्पर नियमबद्ध चारियों की चेष्टा को ही व्यायाम कहा जाता है।

ये किसी प्रधान अङ्ग के आश्रय से प्रयुक्त होती हैं[1] ॥ २ ॥

चारी तथा करण का लक्षण—

एकपादप्रचारो यः सा चारीत्यभिसंज्ञिता ।
द्विपादक्रमणं यत्तु करणं नाम तद्भवेत् ॥ ३ ॥

एक पैर से (श्रोणी आदि) अङ्गों के संचालन को चारी कहते हैं तथा दो पैरों की गति को करण[2] कहते हैं ॥ ३ ॥

खण्ड तथा मण्डल का लक्षण—

करणानां समायोगाः खण्ड इत्यभिधीयते ।
खण्डैस्त्रिभिश्चतुर्भिर्वा संयुक्तैर्मण्डलं भवेत् ॥ ४ ॥

तीन करणों के समायोग को 'खण्ड' कहते हैं तथा तीन-चार खण्डों के समूह को 'मण्डल' कहते हैं[3] ॥ ४ ॥

चारियों की उपयोगिता—

चारीभिः प्रसृतं नृत्तं चारीभिश्चेष्टितं तथा ।
चारीभिः शस्त्रमोक्षश्च चार्यो युद्धे च कीर्तिताः ॥ ५ ॥

---

१. 'चारी व्यायाम के लक्षणम्' इस शब्द खण्ड के दोनों सन्देहों को दूर करने के लिए ही द्वितीय श्लोक में इनका स्पष्टीकरण किया गया है। 'परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा से अभिनीत चारियाँ ही व्यायाम कही जाती हैं।' चारी व्यायाम शब्द में 'चारियाँ ही व्यायाम' इस व्युत्पत्ति के अनुसार कर्मधारय समास है। व्यायच्छन्ते का अर्थ है 'परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा अभिनीत'। परस्परम् यह अभिनय नियम किस अंश में है, इसका स्पष्टीकरण 'परस्परम्' इस शब्द से किया गया है। 'परस्परम्' का अर्थ है पहले वाली चारी बाद वाली चारी पर आश्रित है बाद वाली चारी पहले वाली चारी पर नहीं। इसीलिए अकर्मक होने के कारण आत्मनेपद हो गया है।

२. श्री घोष ने इस स्थल पर ध्यान आकृष्ट किया है कि यहाँ उल्लिखित करण एवं नाट्यशास्त्र के चतुर्थ अध्याय में विवेचित करण एक नहीं, अपितु भिन्न हैं।

३. तीन-चार की संख्या केवल उपलक्षण मात्र है। इससे अधिक संख्या वाले समूह का भी प्रयोग देखा जाता है। जैसे सूचीविद्ध नामक का (११-१२) चौथे मण्डल में अधिक प्रयोग किया जाता है। सातवें अलात नामक मण्डल में ६ या ७ चारियों का प्रयोग होता है (११-१३)।

चारियों के द्वारा ही नृत्त व्याप्त है, चारियों के द्वारा ही विभिन्न चेष्टायें की जाती हैं[१]। चारियों के द्वारा ही शस्त्रों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार चारियों का प्रयोग युद्ध के दृश्यों में भी किया जाता है ॥ ५ ॥

यदेतत्प्रस्तुतं नाट्यं तच्चारीष्वेव संस्थितम् ।
न हि चार्या विना किञ्चिन्नाट्येऽङ्गं संप्रवर्तते ॥ ६ ॥

यह जो नाट्य का वर्णन हो रहा है, वह भी चारियों के ही आश्रित है।[२] चारी के विना नाट्य में किसी भी अङ्ग (हाथ, पैर आदि) का प्रयोग नहीं होता ॥ ६ ॥

तस्माच्चारीविधानस्य सम्प्रवक्ष्यामि लक्षणम् ।
या यस्मिस्तु यथा योज्या नृत्ते युद्धे गतौ तथा ॥ ७ ॥

अतः चारी विधान का लक्षण आगे बतलायेंगे कि कौन चारी नृत्त, युद्ध या गति आदि कर्मों में किस प्रकार प्रयोग की जानी चाहिए ? ॥ ७ ॥

१६ भौमी चारियों के नाम—

समपादा स्थितावर्ता शकटास्या तथैव च ।
अध्यर्धिका चाषगतिर्विच्यवा च तथापरा ॥ ८ ॥
एडकाक्रीडिता बद्धा ऊरूद्वृत्ता तथाड्डिता ।
उत्स्पन्दिताथ जनिता स्यन्दिता चापस्यन्दिता ॥ ९ ॥
समोत्सारितमत्तल्ली मत्तल्ली चापि षोडश ।
एता भौम्यः स्मृताश्चार्यः शृणुताकाशिकीः पुनः ॥ १० ॥

(१) समपादा, (२) स्थितावर्ता, (३) शकटास्या, (४) अध्यर्धिका, (५) चाषगति, (६) विच्यवा, (७) एडकाक्रीडिता, (८) बद्धा, (९) ऊरूद्वृत्ता, (१०) अड्डिता, (११) उत्स्पन्दिता, (१२) जनिता, (१३) स्यन्दिता, (१४) अपस्यन्दिता, (१५) समोत्सारित-मत्तल्ली, (१६) मत्तल्ली—ये १६ भौमी (भूमि से सम्बन्धित) चारियाँ हैं, इसके अनन्तर आकाश सम्बन्धी चारियों का वर्णन

---

१. चारियों की लौकिक व्यवहारोपयोगिता बतलाते हुए अभिनवगुप्त का कथन है–'नृत्तं वाङ्गहारात्मकत्वं च तच्चारीभिः प्रसृतं च व्याप्तमिति प्रत्येकं चेष्टितं गतिः।

२. अभिनवगुप्त के विचार में भरत द्वारा प्रयुक्त यत् शब्द से पूर्वविवेचित एवं एतद् से विवेच्यमान नाट्य की ध्वनि निकलती है—'यच्छब्देन व्याख्यातधर्मपूर्वकं, एतच्छब्देन व्याख्यास्यमानधर्मयोगं परामृश्यत इति विततां नाट्यस्याह।'

करते हैं[1] ॥ ८-१० ॥

१६ आकाशीय (आकाश-सम्बन्धी) चारियां

अतिक्रान्ता ह्यपक्रान्ता पार्श्वक्रान्ता तथैव च।
ऊर्ध्वजानुश्च सूची च तथा नूपुरपादिका ॥ ११ ॥
डोलपादा तथाक्षिप्ता व्याविद्धोद्वृत्तसंज्ञिते।
विद्युद्भ्रान्ता ह्यलाता च भुजङ्गत्रासिता तथा ॥ १२ ॥
मृगप्लुता च दण्डा च भ्रमरी चेति षोडश।
आकाशिक्यः स्मृता ह्येता लक्षणं च निबोधत ॥ १३ ॥

(१) अतिक्रान्ता, (२) अपक्रान्ता, (३) पार्श्वक्रान्ता, (४) ऊर्ध्वजानु, (५) सूची, (६) नूपुरपादिका, (७) डोलापादा, (८) आक्षिप्ता, (९) आविद्धा, (१०) उद्वृत्ता, (११) विद्युद्भ्रान्ता, (१२) अलाता, (१३) भुजङ्गत्रासिता, (१४) मृगप्लुता, (१५) दण्डा, (१६) भ्रमरी—ये १६ आकाश सम्बन्धी चारियाँ है। इनका लक्षण आगे बतलाया जायगा ॥ ११-१३ ॥

१. समपादा चारी का लक्षण—

पादैर्निरन्तरकृतैस्तथा समनखैरपि।
समपादा तु सा चारी विज्ञेया स्थानसंश्रया ॥ १४ ॥

जिसमें गति के समय पैरों तथा नखों की स्थिति एक समान हो तथा प्रत्येक पदक्षेत्र के विन्यास में भी अन्तर न हो, उसे 'समपादा' चारी कहते है।[2] इसका सम्बन्ध स्थान से है ॥ १४ ॥

---

१. 'म' तथा 'न' प्रतियों में समपादा और स्थितावर्ता इन दो चारियों का पदच्छेद इस प्रकार किया गया है—१. समपादस्थिता, २. आवर्ता। अध्यर्धिका का अध्यर्धिका का पाठान्तर 'न' में अभ्यर्धिता तथा 'म' में अध्यर्धगा है।

चाषगति का पाठान्तर 'प' में वासगति है। 'विच्यवा च तथा परा' का पाठान्तर 'म' में 'स्वस्तिकोद्वर्तिता' है तथा एडकाक्रीडिता 'वद्धा' 'ऊरुद्वृत्ता' के स्थान पर एलकाक्रीडिता तथा 'ऊरूवृत्ता' पाठान्तर है। 'फ' में 'अड्डिता' के स्थान पर 'अधिता' पाडान्तर है। 'च' में 'अड्डिता' के स्थान पर 'अंडिता' पाठ है। 'म' में ११ से १६ तक की चारियों की गणना इस प्रकार है—'विच्यवा, जनिता, आस्कन्दिता, अवस्कन्दिता, मत्तल्ली, समोत्सारित मत्तल्ली'।

२. समपादा नाम के औचित्य के विषय में अभिनवगुप्त का कथन है—'ननु समपादा कथं वा चारीत्याह—स्थान संश्रयेति यदा समपाद एव स्थानान्तरं गच्छति तदा चरणश्चारी भवत्येव योग्यतया तथा व्यपदेशादिति भावः।'

श्री घोष ने 'पदैर्निरन्तरकृतैः' का अर्थ आपस में सटे पैर किया है।

२. स्थितावर्ताचारी का लक्षण—

भूमिघृष्टेन पादेन कृत्वाभ्यन्तरमण्डलम् ।
पुनरुत्सारयेदन्यं स्थितावर्त्ता तु सा स्मृता ॥ १५ ॥

जब एक पैर के अग्रभाग से भूमि का स्पर्श करते हुए दूसरी ओर के पार्श्व तथा जानु तक घूम कर पुनः दूसरे पैर से इसी प्रकार किया जाता है तो उसे 'स्थितावर्ता' चारी कहते हैं ॥ १५ ॥

३. शकटास्या चारी का लक्षण —

निषण्णाङ्गस्तु चरणं प्रसार्य तलसञ्चरम् ।
उद्वाहितमुरः कृत्वा शकटास्यां प्रयोजयेत् ॥ १६ ॥

जब प्रयत्नपूर्वक शरीर के ऊपरी भाग को स्थिर करके एक पैर को समानता से स्थापित किया जाय तथा दूसरे पैर की अंगुलियों को सिकोड़ करके उसी ओर के घुटने को मोड़ कर जंघा को फैला दिया जाय, वक्षस्थल को उद्वाहित (९-२३१, उठी हुई) स्थिति में रखे तो इसे 'शकटास्या' चारी कहते हैं ॥ १६ ॥

४. अध्यर्धिका चारी का लक्षण—

सव्यस्य पृष्ठतो वामश्चरणस्तु यदा भवेत् ।
तस्यापसर्पणं चैव ज्ञेया साध्यर्धिका बुधैः ॥ १७ ॥

दाहिने पैर के पीछे की ओर बायाँ पैर स्थापित करे। फिर दाहिने पैर को अपने पार्श्व भाग के अर्धांश तक चलाये तो इसे 'अध्यर्धिका' चारी कहते हैं[1] ॥ १७ ॥

५. चाषगति चारी का लक्षण —

पादः प्रसारितः सव्यः पुनश्चैवापसर्पितः ।
वामः सव्यापसर्पी च चाषगत्यां विधीयते ॥ १८ ॥

चाषगति चारी में दायाँ पैर फैलाकर फिर समेट लिया जाता है, साथ ही बायें पैर को पीछे करके सामने कर दिया जाता है[2] ॥ १८ ॥

---

१. अभिनवगुप्त ने मतान्तर का उल्लेख किया है जिसके अनुसार बायें पैर को पार्श्व भाग के अर्धांश तक चलाना भी कहा गया है—'एकस्य पूर्णता गतिरन्यस्य पादस्य पूर्णार्धकेत्यन्ये । करणप्राधान्याच्चैवमुक्तं वामस्यापि पृष्ठसङ्गतमेव ।'

२. प्रस्तुत स्थल पर शाब्दिक अनुवाद की अपेक्षा श्री घोष कृत अनुवाद अत्यन्त सुबोध है। तदनुसार दाहिना पैर सामने की ओर लाकर पीछे कर दिया जाता है तथा बायाँ पीछे ले जाकर पुनः सामने लाया जाता है ।

६. विच्यवा चारी का लक्षण—

विच्यवात् समपादाया विच्यवां सम्प्रयोजयेत् ।
निकुट्टयंस्तलाग्रेण पादस्य धरणीतलम् ॥ १९ ॥

एक पैर सम भाव से स्थापित करके आगे की ओर सरकाये तथा दूसरे पैर तल भाग[1] से पृथ्वी पर आघात करें। इसे 'विच्यवा' चारी कहते है ॥ १९ ॥

७. एडकाक्रीडिता चारी का लक्षण—

तलसञ्चरपादाभ्यामुत्प्लुत्य पतनं तु यत् ।
पर्यायशश्च क्रियते एडकाक्रीडिता तु सा ॥ २० ॥

दोनों पैरों के तल भाग से पृथ्वी पर थोड़ा आगे सरके फिर उछल कर गुल्फों के सहारे पूर्वावस्था में आ जाय। पुनः गुल्फों या सक्थि के सहारे सरक कर उछले और फिर तल भाग आदि के सहारे पूर्वावस्था में आ जाये। इसे 'एडकाक्रीडिता चारी कहते हैं ॥ २० ॥

८. बद्धाचारी का लक्षण—

अन्योन्यजङ्घासंवेधात् कृत्वा तु स्वस्तिकं ततः ।
ऊरूभ्यां वलनं यस्मात् सा बद्धा चार्युदाहृता ॥ २१ ॥

दाहिने पैर को घुमाकर बायीं ओर ले जाकर दोनों जँघाओं को सटा लेना या बायं पैर को घुमाकर दाहिनी ओर ले जाकर दोनों जँघाओं को सटा लेना इसे 'बद्धा' चारी कहते[2] हैं ॥ २१ ॥

९. ऊरूद्वृत्ता चारी का लक्षण—

तलसञ्चरपादस्य पार्ष्णिर्बाह्योन्मुखी यदा ।
जङ्घाञ्चिता तथोद्वृत्ता ऊरूद्वृत्तेति सा स्मृता ॥ २२ ॥

एक पैर तलुओं के सहारे भूमि पर रखे। दूसरे पैर के पार्णि भाग को ऊपर की ओर रखे तथा उसी पैर की जंघा को सिकोड़ कर सामने की ओर कर दे। यह 'ऊरूद्वृत्ता' चारी है ॥ २२ ॥

१०. अड्डिता चारी का लक्षण—

अग्रतः पृष्ठतो वापि पादोऽग्रतलसञ्चरः ।
द्वितीयपादो निर्घृष्टः यत्र स्यादड्डिता तु सा ॥ २३ ॥

---

१. श्री घोष ने तलभाग का अर्थ पैर का पंजा किया है।

२. अभिनवगुप्त ने मतान्तर का उल्लेख किया है जिसके अनुसार दोनों जंघाओं को एक दूसरे के तिरछे रखना ही 'बद्धा' चारी है।

एक पैर पृथ्वी पर समभाव से स्थापित करे। पुनः दूसरे पैर से पहले वाले पैर का अग्रभाग या पृष्ठ भाग को स्पर्श करे। यह 'अड्डिता' चारी है ॥ २३ ॥

११. उत्स्पन्दिता चारी का लक्षण—

शनैः पादो निवर्तेत बाह्येनाभ्यन्तरेण च।
यद्रेचकानुसारेण सा चार्युत्स्पन्दिता स्मृता ॥ २४ ॥

जब पैर को क्रमशः (अन्दर से बाहर-अँगूठे से कनिष्ठा की ओर एवं बाहर से अन्दर-कनिष्ठा से अँगूठे की ओर) रेचक के अनुसार संचालित किया जाए तो उसे 'उत्स्पन्दिता' चारी कहते हैं ॥ २४ ॥

१२. जनिता चारी का लक्षण—

मुष्टिहस्तश्च वक्षःस्थः करोऽन्यश्च प्रवर्तितः।
तलसञ्चरपादश्च जनिता चार्युदाहृता ॥ २५ ॥

मुष्टि मुद्रा में एक हाथ वक्षःस्थल पर रखे तथा दूसरे हाथ को क्रियाशील रखे एवं पैरों को तलसंचर रखे तो 'जनिता' चारी होती है[१] ॥ २५ ॥

१३. स्यन्दिता चारी का लक्षण—

पञ्चतालान्तरं पादं प्रसार्य स्यन्दितां न्यसेत्।

एक पैर को (दाहिने) दूसरे (बायें) से पाँच ताल[२] तक फैलाना 'स्यान्दिता चारी कहा जाता है[३] ॥ २६ ॥

१४. अपस्यन्दिता चारी का लक्षण—

द्वितीयेन तु पादेन तथापस्यन्दितामपि ॥ २६ ॥

स्यन्दिता चारी के विपरीत बाये पैर से पाँच ताल दूरी तक दाहिना पैर फैलाना) को 'अपस्यन्दित' चारी कहते हैं[४] ॥ २६ ॥

---

१. अभिनवगुप्त के अनुसार यह सभी चारियों का प्रारम्भिक रूप है। अतः सभी चारियों की जननी होने से इसका नाम जनिता' है-'समस्तगतीनामियं जननं करोति प्रारम्भरूपत्वादिति जनिता।

२. अँगूठे से मध्यमा अंगुली तक के अन्तर को ताल कहा जाता है (तालः स्मृतः मध्यमया)।

३. अभिनवगुप्त की व्याख्या को मानने पर दाहिने पैर को फैलाया जाता है।

४. अभिनवगुप्त के मत में यहाँ दूसरे पैर में बायें पैर को फैलाने का तात्पर्य है।

१५. समोत्सारित मत्तल्ली चारी का लक्षण—

तलसञ्चरपादाभ्यां घूर्णमानोपसर्पणैः ।
समोत्सारितमत्तल्ली व्यायामे समुदाहृताः ॥ २७ ॥

दोनों जाँघों को स्वस्तिक आकार के एक दूसरे से सटाये। एक बार दाहिने पैर के तल भाग से तथा दूसरे बार दाहिने पैर के तल भाग से आगे की ओर घूमते हुए सरके। यह 'समोत्सारित मतल्ली' चारी है ॥ २७ ॥

१६. मत्तल्ली चारी का लक्षण—

उभाभ्यामपि पादाभ्यां घूर्णमानोपसर्पणैः ।
उद्वेष्टितापविद्धैश्च हस्तैर्मत्तल्युदाहृता ॥ २८ ॥

दोनों जाँघों को स्वस्तिक आकार में एक दूसरे से सटाकर क्रमशः दाहिने तथा बायें दोनों पैरों से चक्कर लगाते हुए आगे बढ़े। दोनों हाथों को एक दूसरे से लपेट ले। यह 'मत्तल्ली' चारी है ॥ २८ ॥

भौमी चारियों का उपसंहार—

एता भौम्यः स्मृताश्चार्यो नियुद्धकरणाश्रयाः ।
आकाशिकीनां चारीणां सम्प्रवक्ष्यामि लक्षणम् ॥ २९ ॥

समपादा से लेकर मत्तल्ली तक सोलह भौमी (भूमि सम्बन्धी) चारियाँ कही गई हैं। इन चारियों का प्रयोग नियुद्ध (खड्ग युद्ध आदि) तथा करण में होता है। इसके बाद आकाश सम्बन्धी चारियों का लक्षण बतलायेंगे ॥ २९ ॥

१. अतिक्रान्ता चारी का लक्षण—

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य पुरतः सम्प्रसारयेत् ।
उत्क्षिप्य पातयेच्चैनमतिक्रान्ता तु सा स्मृता ॥ ३० ॥

कुञ्चित पैर[1] को ऊपर उठाकर[2] अग्रभाग से भूमि पर गिराना 'अतिक्रान्ता' चारी है ॥ ३० ॥

---

१. कुञ्चित पाद का लक्षण ९।२७७ में इस प्रकार है—पार्ष्णि भाग ऊपर उठा हो, अंगुलियाँ सिकुड़ी हुई हों, पैर का मध्यभाग भी सिकुड़ा हो, इसे कुञ्चित पाद कहते हैं।

२. अभिनवगुप्त ने पैर को ऊपर उठाने की सीमा चार ताल तक मानी है—'कुञ्चितं तद्द्वितीयगुल्फक्षेत्रे कृत्वा किंचित् पुरतः प्रसार्य प्रकृतिभेदेन चतुरतालाद्यन्तरमुत्क्षिप्याग्रेण भूमौ निपात्य इति—'।

२. अपक्रान्ता चारी का लक्षण—

ऊरूभ्यां वलनं कृत्वा कुञ्चितं पादमुद्धरेत् ।
पार्श्वे विनिक्षिपेच्चैनमपक्रान्ता तु सा स्मृता ॥ ३१ ॥

दोनों ऊरुओं को वलित अवस्था में रखे[1] एक पैर को कुञ्चित अवस्था में ऊपर उठावे और पार्श्व भाग में रखे, यह 'अपक्रान्ता' चारी है ॥ ३१ ॥

३. पार्श्वक्रान्ता चारी का लक्षण—

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य जानुस्तनसम न्यसेत् ।
उद्घट्टितेन पादेन पार्श्वक्रान्ता विधीयते ॥ ३२ ॥

कुञ्चित पैर को अपने पार्श्व भाग से उठाकर जानु को स्तन के समीप ले जाये, फिर पार्ष्णि भाग से उद्घट्टित अवस्था[2] में पृथ्वी पर रखे। यह 'पार्श्वक्रान्ता' चारी है ॥ ३२ ॥

४. ऊर्ध्व जानु चारी का लक्षण—

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य जानुस्तनसमं न्यसेत् ।
द्वितीयं च क्रमात् स्तब्धमूर्ध्वजानुः प्रकीर्तिता ॥ ३३ ॥

एक पैर को कुञ्चित अवस्था में रखे। उसी पैर की जानु को उठाकर स्तन के समीप तक ले जावे। दूसरे पैर को क्रमशः स्थिर रखे। यह 'ऊर्ध्वजानु' चारी है ॥ ३३ ॥

५. सूची चारी का लक्षण—

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य जानूर्ध्वं सम्प्रसारयेत् ।
पातयेच्चाग्रयोगेन सा सूची परिकीर्तिता ॥ ३४ ॥

कुञ्चित अवस्था वाले पैर को ऊपर उठा कर घुटने तक जंघा को फैलाये तथा अग्र भाग से पैर को पुनः पृथ्वी पर रखे। यह 'सूची' चारी है ॥ ३४ ॥

६. नूपुरपादिका चारी का लक्षण—

पृष्ठतो ह्यञ्चितं कृत्वा पादमग्रतलेन तु ।
द्रुतं निपातयेद् भूमौ चारी नूपुरपादिका ॥ ३५ ॥

---

१. ऊरू की वलित अवस्था का लक्षण ९।२५१-५२ में इस प्रकार है—जिस अवस्था में जानु भाग भीतर की ओर और ऊरू भाग सामने हो उसे वलित अवस्था कहा गया है।

२. नाट्यशास्त्र (९-२६६-६७) के अनुसार-पहले पैर के अग्रभाग से स्थित हो फिर पार्ष्णिभाग को पृथ्वी पर रखे तो इसे 'उद्घट्टित' अवस्था कहते हैं।

अञ्चित अवस्था वाले एक पैर[1] को पीछे की ओर ले जाये फिर अग्रभाग को शीघ्रता से पृथ्वी पर रखे। यह 'नूपुरपादिका' चारी है ॥ ३५ ॥

७. डोलापादा (दोलपादा) चारी का लक्षण—

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य पार्श्वात्पार्श्वं तु दोलयेत् ।
पातयेदञ्चितं चैव दोलपादा तु सा स्मृता ॥ ३६ ॥

कुञ्चित अवस्था वाले पैर को ऊपर उठाकर एक पार्श्व को दूसरे पार्श्व की ओर झूले की तरह ले जाये, फिर अञ्चित[2] अवस्था में पैर को नीचे रखे, यह 'दोलपादा' चारी है ॥ ३६ ॥

८. आक्षिप्ता चारी का लक्षण—

कुञ्चित पादमुत्क्षिप्य आक्षिप्य त्वञ्चितं न्यसेत् ।
जङ्घा स्वस्तिकसंयुक्ता चाक्षिप्ता नाम सा भवेत् ॥ ३७ ॥

कुञ्चित अवस्था में पैर को ऊपर उठाये तथा अञ्चित अवस्था में नीचे रखे। जाँघों की स्थिति स्वस्तिक के आकार की हो। यह 'आक्षिप्ता' चारी है ॥ ३७ ॥

९. आविद्धा चारी का लक्षण—

स्वस्तिकस्याग्रतः पादः कुञ्चितस्तु प्रसारितः ।
निपतेदञ्चिताविद्धमाविद्धा नाम सा स्मृता ॥ ३८ ॥

स्वस्तिक स्थिति से पैर को कुञ्चित अवस्था में करके पहले फैलाये और फिर अञ्चित अवस्था में नीचे रखे तो यह 'आविद्धा' चारी है ॥ ३८ ॥

१०. उद्वृत्ता चारी का लक्षण—

पादमाविद्धमावेष्टच समुत्प्लुप्य निपातयेत् ।
परिवृत्य द्वितीयं च सोद्वृत्ता चार्युदाहृता ॥ ३९ ॥

उपरिलिखित आविद्ध नामक चारी से सम्बन्धित कुञ्चित अवस्था वाले पैर की पार्ष्णि (एड़ी) को एक दूसरे पैर के ऊरू तक ले जाये, फिर उछल कर उसी पैर को घुमा कर पृथ्वी पर रख दे। यह 'उद्वृता' चारी है ॥ ३९ ॥

---

१. पैर की अञ्चित अवस्था का लक्षण ९।२७५ में इस प्रकार है—पैर का पार्ष्णिभाग भूमि का स्पर्श करे, अग्रभाग ऊपर उठा हो तथा अंगुलियाँ फैली हों, यह पैर की अञ्चित अवस्था कही जाती है।

२. दशम अध्याय की ३० श्लोक की टिप्पणी में कुञ्चित तथा ३५ श्लोक की टिप्पणी में अञ्चित का लक्षण दिया है।

११. विद्युद्भ्रान्ता चारी का लक्षण—

पृष्ठतो वलितं पादं शिरोघृष्टं प्रसारयेत् ।
सर्वतो मण्डलाविद्धं विद्युद्भ्रान्ता तु सा स्मृता ॥ ४० ॥

पैर को पार्श्व भाग की ओर घुमाकर (मोड़कर) शिर को स्पर्श करते हुए ऊपर, नीचे तथा पृष्ठभाग की ओर मण्डलाकार घुमाकर फैला दे । यह 'विद्युद्भ्रान्ता' चारी है ॥ ४० ॥

१२. अलाता चारी का लक्षण—

पृष्ठप्रसारितः पादो वलितोऽभ्यन्तरीकृतः ।
पार्ष्णिप्रपतितश्चैव ह्यलाता सा प्रकीर्त्तिता ॥ ४१ ॥

पैर को पहले पृष्ठभाग की ओर फैला दे फिर मोडकर दूसरे पैर के ऊरू प्रदेश की ओर ले जाये, फिर अपने पार्श्व भाग की एड़ी के सहारे पृथ्वी पर टिका दे । अलातचक्र के समान गतिशील होने के कारण इसे 'अलाता' चारी कहते है ॥ ४१ ॥

१३. भुजङ्गत्रासिता चारी का लक्षण—

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य त्र्यश्रमूरुं विवर्त्तयेत् ।
कटीजानुविवर्त्ताच्च भुजङ्गत्रासिता भवेत् ॥ ४२ ॥

कुञ्चित अवस्था वाले पैर को उठाकर दूसरे पैर के ऊरू मूल तक ले जाय, फिर कटि और जानु तक ले जाकर नितम्ब के सामने ऊरू भाग तक घुमाये । यह 'भुजङ्गत्रासिता' चारी है[1] ॥ ४२ ॥

१४. अतिक्रान्ता चारी का लक्षण—

अतिक्रान्तक्रमं कृत्वा चोत्प्लुत्य विनिपातयेत् ।
जङ्घाञ्चिता परिक्षिप्ता सा ज्ञेया हरिणप्लुता ॥ ४३ ॥

अतिक्रान्ता नामक चारी (१०-३०) में प्रोक्त कुञ्चित पैर को ऊपर उठाये, फिर उछल कर उसे नीचे गिराये, उसके बाद अञ्चित पाद[2] से युक्त दूसरी जंघा

१. जानु को अपने पार्श्व तक ले जाकर पैर के तलवे को ऊपर की ओर कर दिया जाता है, इस प्रकार भुजङ्ग (सर्प) के भय से डरे हुए के समान चेष्टा करने के कारण इसे 'भुजङ्गत्रासिता' चारी कहते है । (भुजङ्गभयभावितगतिसादृश्याद् भुजङ्गत्रासिता—अभि० भा०) ।

२. कुञ्चित पाद का लक्षण १० । ३० की टीका में तथा अञ्चित पाद का लक्षण १०।३५ की टीका में दिया गया है ।

पीछे की ओर करे तो इस चारी को 'हरिणप्लुता कहते हैं'[1] ॥ ४३ ॥

१५. दण्डा (दण्ड पादा) चारी का लक्षण—

नूपुरं चरणं कृत्वा पुरतः सम्प्रसारयेत् ।
क्षिप्रमाविद्धकरणं दण्डपादा तु सा स्मृता ॥ ४४ ॥

नूपुरपादिका नामक चारी में प्रयुक्त कुञ्चित अवस्था वाले पैर को दूसरे पैर की एड़ी की ओर ले जाकर आगे की ओर फैला दे, फिर शीघ्रतापूर्वक आविद्ध नामक चारी (१०-३८) के समान कर ले। इसे 'दण्ड पादा' चारी कहते हैं ॥ ४४ ॥

१६. भ्रमरी चारी का लक्षण—

अतिक्रान्तक्रमं कृत्वा त्रिकं तु परिवर्त्तयेत् ।
द्वितीयपादभ्रमणात्तलेन भ्रमरी स्मृता ॥ ४५ ॥

'अतिक्रान्ता' नामक चारी (१०-३१) में प्रयुक्त कुञ्चित अवस्था वाले पैर को ऊपर उठाकर 'भुजङ्गत्रासिता' (१०-४२) नामक चारी में प्रयुक्त त्र्यश्र अवस्था में ऊरू तक घुमाकर दूसरे पैर के तलवे से तीन बार सारे शरीर को घुमाये यह 'भ्रमरी' चारी है ॥ ४५ ॥

आकाशीय चारियों का उपसंहार—

आकाशिक्यः स्मृता ह्येता ललिताङ्गक्रियात्मिकाः ।
धनुर्वज्रासिशस्त्राणां प्रयोक्तव्या विमोक्षणे ॥ ४६ ॥

'अतिक्रान्ता' (१०।३०) से 'भ्रमरी' (१०।४५) तक ये १६ चारियाँ आकाशिकी (आकाश सम्बन्धी) चारियाँ कही जाती हैं। ये चारियाँ ललित शारीरिक क्रियाओं से युक्त हैं। इन चारियों का प्रयोग धनुष, वज्र, असि (तलवार) आदि शस्त्रों के प्रयोग के समय किया जाता है ॥ ४६ ॥

चारियों की प्रयोग विधि—

अग्रगौ पृष्ठगौ वापि ह्यनुगौ वापि योगतः ।
पादयोस्तु द्विजा ! हस्तौ कर्तव्यौ नाट्ययोक्तृभिः ॥ ४७ ॥

इन चारियों में कभी पैरों की चेष्टा (गति) की प्रधानता होती है और कभी हाथों की चेष्टा की प्रधानता होती है तथा कभी पैरों और हाथों दोनों की

---

१. प्रस्तुत चारी के नाम का आधार इसमें की गई हरिण के उछलने की चेष्टा है।

चेष्टाओं की प्रधानता होती है। जब पैरों की चेष्टा (गति) की प्रधानता हो तो हाथों की चेष्टा पैरों की चेष्टा के अनुसार उनके बाद होनी चाहिए। जब हाथों की चेंष्टाओं की प्रधानता हो तो पैरों की चेष्टा हाथों की चेष्टाओं के अनुसार उनके बाद होनी चाहिए। जब हाथों और पैरों दोनों की चेष्टाओं की प्रधानता हो तो दोनों की चेष्टाओं को साथ-साथ ही करना चाहिए ॥ ४७ ॥

यतः पादस्ततो हस्तो यतो हस्तस्ततस्त्रिकम्।
पादस्य निर्गमं कृत्वा तथोपाङ्गानि योजयेत् ॥ ४८ ॥

पैरों की चेष्टा की ही भाँति हाथ की चेष्टा भी होनी चाहिए तथा जिस प्रकार हाथ की चेष्टा हो, उसी प्रकार भौह, नेत्र आदि उपाङ्गों की भी चेष्टा होनी चाहिए। पहले पैर की चेष्टा करना चाहिए, तदनन्तर उपाङ्गों की चेष्टायें करे ॥ ४८ ॥

पादाचार्यां यथा पादो धरणीमेव गच्छति।
एवं हस्तश्चरित्वा तु कटीदेशं समाश्रयेत् ॥ ४९ ॥

यदि पैरों कीं चेष्टा के अनन्तर पैरों को पुनः पृथ्वी पर रखे। इसी प्रकार हाथों की चेष्टायें करने के बाद हाथों को कमर पर रख ले ॥ ४९ ॥

शस्त्र प्रयोग सम्बन्धी चारियों के स्थानों के नाम—

एताश्चार्यो मया प्रोक्ता ललिताङ्गक्रियात्मिकाः।
स्थानान्यासां प्रवक्ष्यामि सर्वशस्त्रविमोक्षणे ॥ ५० ॥

इस प्रकार ललित शारीरिक क्रियाओं से युक्त चारियों का वर्णन किया गया। अब सभी शस्त्रों के प्रयोग के अवसर पर इनके स्थानों (खड़े होने के विशेष ढंगों) का वर्णन करते है ॥ ५० ॥

वैष्णवं समपादं च वैशाखं मण्डलं तथा।
प्रत्यालीढमथालीढं स्थानान्येतानि षण्णाम् ॥ ५१ ॥

सभी शस्त्रों के प्रयोग के ६ स्थानों के नाम—(१) वैष्णव, (२) समपाद, (३) वैशाख, (४) मण्डल, (५) प्रत्यालीढ तथा (६) आलीढ है ॥ ५१ ॥

१. वैष्णव स्थान का लक्षण—

द्वौ तालावर्धतालश्च पादयोरन्तरं भवेत्।
तयोस्समुत्थितस्त्वेकः त्र्यश्रः पक्षस्थितोऽपरः ॥ ५२ ॥

किञ्चिदञ्चितजङ्घं च सौष्ठवाङ्गपुरस्कृतम्।
वैष्णवं स्थानमेतद्धि विष्णुरत्राधिदैवतम् ॥ ५३ ॥

दोनों पैरों को एक दूसरे से ढाई ताल के अन्तर से स्थापित करे। दोनों पैरों में एक एक पैर सम अवस्था में स्थित हो तथा दूसरा पैर त्र्यश्र अवस्था में हो तथा उसकी उंगुलियां पार्श्व भाग की ओर हों, जानु के झुके होने के कारण जंघा कुछ टेढ़ी हो, इस प्रकार सौष्ठव युक्त अंगों से युक्त इस स्थान (खड़े होने के विशेष ढंग) को वैष्णव स्थान कहते हैं। इसके अधिदेवता विष्णु हैं[1]॥ ५२-५३ ॥

वैष्णव स्थान का विनियोग—

स्थानेनानेन कर्त्तव्यः संलापस्तु स्वभावजः।
नानाकार्यान्तरोपेतै-र्नृभिरुत्तममध्यमैः ॥ ५४ ॥
चक्रस्य मोक्षणे चैव धारणे धनुषस्तथा।
धैर्योदात्ताङ्गलीलासु तथा क्रोधे प्रयोजयेत् ॥ ५५ ॥

इस वैष्णव स्थान का प्रयोग अनेक कार्यों में संलग्न उत्तम तथा मध्यम पात्रों द्वारा स्वाभाविक संलाप वार्तालाप में करना चाहिए ॥ ५४ ॥

चक्र के छोड़ने में, धनुष के धारण करने में, धैर्य में, उदात्त शारीरिक लीलाओं में तथा क्रोध में भी वैष्णव स्थान का प्रयोग करना चाहिए ॥ ५५ ॥

इदमेव विपर्यस्तं प्रणयक्रोध इष्यते।
उपालम्भकृते चैव प्रणयोद्वेगयोस्तथा ॥ ५६ ॥
शङ्कासूयोग्रताचिन्तामतिस्मृतिषु चैव हि।
दैन्ये चपलतायाञ्च गर्वाभीष्टेषु शक्तिषु ॥ ५७ ॥
शृङ्गाराद्भुतबीभत्स वीरप्राधान्ययोजितम् ।

प्रणय सम्बन्धी क्रोध की दशा में प्रणय सम्बन्धी उद्वेग (घबराहट) में,

---

१. प्रति 'म' तथा 'म' दिये हुए पाठान्तर के अनुसार वैष्णव स्थान का लक्षण इस प्रकार है—

एक पैर स्वाभाविक रीति से सम अवस्था में हो, दूसरा पैर त्र्यश्र अवस्था में हो, उसकी अंगुलियां पार्श्व भाग की ओर हों, जंघा कुछ टेढ़ी हो, हृदय समुन्नत हो, हनु ठोढ़ी तथा सिर सम अवस्था में हो तथा कान से आठ अंगुल के अन्तर पर स्थित हो, दाहिना हाथ कटक (९।२०६ खटक) या त्रिपताक (९।१९५) अवस्था में नाभि पर स्थित हो तथा बायां हाथ त्रिपताक या अर्धचन्द्र अवस्था में कमर पर स्थित हो। दोनों पैरों में दो ताल का अन्तर हो। यह वैष्णव नामक स्थान है। इसके अधि देवता विष्णु है।

उपालभ में, शङ्का, असूया, उग्रता, चिन्ता, मति (विचार), स्मृति, दैन्य, चपलता, तथा गर्व आदि मनोभावों की स्थिति में, शृंगार, अद्भुत, बीभत्स तथा वीर प्रधान रसों में भी विपर्यस्त (विपरीत) अवस्था वाले इसी वैष्णव स्थान का प्रयोग करना चाहिए ॥ ५६-५८ ॥

२. समपाद स्थान का लक्षण—

समपादे समौ पादौ तालमात्रान्तरस्थितौ ॥ ५८ ॥
स्वभावसौष्ठवोपेतौ ब्रह्मा चात्राधिदैवतम् ।

एक ताल के अन्तर से सम अवस्था में दोनों पैरों को स्वाभाविकतापूर्वक स्थापित करे, इसे 'समपाद' नामक स्थान कहते हैं। इसके अधिदेवता ब्रह्मा हैं ॥ ५८-५९ ॥

समपाद स्थान का विनियोग —

अनेन कार्यं स्थानेन विप्रमङ्गलधारणम् ॥ ५९ ॥
रूपणं पक्षिणां चैव वरं कौतुकमेव च ।
खस्थानां स्यन्दनस्थानां विमानस्थायिनामपि ॥ ६० ॥
लिङ्गस्थानां व्रतस्थानां स्थानमेतत्तु कारयेत् ।

समपाद स्थान का प्रयोग ब्राह्मणों द्वारा किये हुए मांगलिक आशीर्वाद आदि में पक्षियों के रूपण (अभिनय) में, परम[1] आश्चर्य के प्रदर्शन में तथा आकाश स्थित, रथ स्थित तथा विमान स्थित प्राणियों के प्रदर्शन में करना चाहिये।

(शूल चक्रादि) चिह्नों को धारण करने वाले (शैवों, वैष्णवों आदि को) तथा (ऊर्ध्वकाय आदि) व्रतों को धारण करने वालों को इसी (वैष्णव) स्थान का प्रयोग करना चाहिए ॥ ५९-६१ ॥

३. वैशाख स्थान का लक्षण—

तालास्त्रयोऽर्धतालश्च पादयोरन्तरं भवेत् ॥ ६१ ॥
तालांस्त्रीनर्धतालांश्च निषण्णोरुं प्रकल्पयेद् ।
त्र्यस्रौ पक्षस्थितौ चैव तत्र पादौ प्रयोजयेत् ॥ ६२ ॥
वैशाखस्थानमेतद्धि स्कन्दश्चात्राधिदैवतम् ।

---

१. यहाँ प्रयुक्त 'वरं' को हमने कौतुक का विशेषण मानते हुए इसका अर्थ उत्कृष्ट या परम आश्चर्य किया है। श्री घोष वर का तात्पर्य दूल्हा तथा कौतुक का अर्थ वैवाहिक क्रिया करते हुए वर एवं कौतुक को दो विभिन्न पद मानते हैं। तदनुसार समपाद स्थान का प्रयोग कौतुक में वर का प्रदर्शन करने के लिए होता है।

दोनों पैरों को साढ़े तीन ताल के अन्तर पर स्थापित करे, जंघायें स्थिर हों, दोनों पैर त्र्यश्र अवस्था में हों तथा उनकी उंगलियाँ पार्श्व भाग की ओर हों। इसे वैशाख स्थान कहते हैं। इसके अधिदेवता स्कन्द हैं ॥ ६१-६३ ॥

वैशाख स्थान का विनियोग—

स्थानेनानेन कर्त्तव्यमश्वानां वाहनं बुधैः ॥ ६३ ॥
व्यायामनिर्गमश्चैव स्थूलपक्षिनिरूपणम् ।
शरासनसमुत्कर्षे व्यायामकृतमेव च ॥ ६४ ॥
रेचकेषु च कर्त्तव्यमिदमेव प्रयोक्तृभिः ।

वैशाख स्थान का प्रयोग अश्व संचालन, व्यायाम, निर्गमन, स्थल पक्षियों का निरूपण धनुष की डोरी का खींचना और अभ्यास तथा रेचक आदि कार्यों में करना चाहिए ॥ ६३-६५ ॥

४. मण्डल स्थान का लक्षण—

ऐन्द्रे तु मण्डले पादौ चतुस्तालान्तरस्थितौ ॥ ६५ ॥
त्र्यश्रौ पक्षस्थितौ चैव कटिजानू समौ तथा ।

मण्डल नामक स्थान के अधिदेवता इन्द्र हैं। इसमें दोनों पैरों को चार ताल के अन्तर से स्थापित करे, दोनों पैर त्र्यश्र अवस्था में हों और उनकी उंगलियाँ पार्श्व भाग की ओर हों तथा कमर एवं जानु (घुटने) सम स्थिति में हों ॥ ६५ ६६ ॥

मण्डल स्थान का विनियोग—

धनुर्वज्रासिशस्त्राणि मण्डलेन प्रयोजयेत् ॥ ६६ ॥
वाहनं कुञ्जराणां तु स्थूलपक्षिनिरूपणम् ।

धनुष, वज्र, तलवार आदि शस्त्रों का प्रयोग, हाथी आदि का संचालन तथा गरुड़ आदि विशाल पक्षियों के निरूपण में मण्डल का निरूपण करना चाहिए ॥६६-६७॥

५. आलीढ स्थान का लक्षण—

अस्यैव दक्षिणं पादं पञ्चतालान् प्रसार्य तु ॥ ६७ ॥
आलीढस्थानकं कुर्याद् रुद्रश्चास्याधिदैवतम् ।

उपर्युक्त मण्डल में जब दाहिने पैर को पाँच ताल के अन्तर पर फैला दिया जाता है तो आलीढ नामक स्थान कहलाता है। इसके अधिदेवता रुद्र हैं ॥ ६७-६८ ॥

आलीढ स्थान का विनियोग—

अनेन कार्यं स्थानेन वीररौद्रकृतं तु यत् ॥ ६८ ॥

उत्तरोत्तरसंजल्पो रोषामर्षकृतस्तु यः।
मल्लानाञ्चैव संफेटः शत्रूणां च निरूपणम् ॥ ६९ ॥
तथाभिद्रवणं चैव शस्त्राणां चैव मोक्षणम्।

वीर तथा रौद्र रस सम्बन्धी सभी कार्यों, जैसे क्रोध और अमर्षपूर्वक पारस्परिक उत्तर-प्रत्युत्तर, मल्लों का संघर्ष, शत्रुओं का निरूपण, शत्रुओं का पीछा करना, शस्त्रों का प्रयोग करना आदि में आलीढ़ स्थान का प्रयोग करना चाहिए ॥ ६८-७० ॥

६. प्रत्यालीढ स्थान का लक्षण—

कुञ्चितं दक्षिणं कृत्वा वामं पादं प्रसार्य च ॥ ७० ॥
आलीढपरिवर्तस्तु प्रत्यालीढमिति स्मृतम्।

जब दाहिने पैर को सिकोड़ कर बायें पैर को आगे फैला दिया जाय तो इसे 'आलीढ' स्थान से विपरीत होने के कारण प्रत्यालीढ स्थान कहते हैं ॥ ७०-७१ ॥

प्रत्यालीढ स्थान का विनियोग—

आलीढसंहितं शस्त्रं प्रत्यालीढेन मोक्षयेत् ॥ ७१ ॥
नानाशस्त्रविमोक्षो हि कार्योऽनेन प्रयोक्तृभिः।

शस्त्रों का संधान(चढ़ाना या उठाना) आलीढ स्थान से करे तथा शस्त्रों का मोक्षण (छोडना या प्रयोग) प्रत्यालीढ स्थान से करे। अभिनेता को अन्य अनेक प्रकार के शस्त्रों का प्रयोग भी इसी 'प्रत्यालीढ' स्थान से करना चाहिए ॥ ७१-७२ ॥

शस्त्र मोक्षण सम्बन्धी चार न्यायों के नाम—

न्यायाश्चैव हि विज्ञेयाश्चत्वारः शस्त्रमोक्षणे ॥ ७२ ॥
भारतः सात्वतश्चैव वार्षगण्योऽथ कैशिकः।

शस्त्र मोक्षण (शस्त्रों के प्रयोग) के चार न्याय (रीतियाँ) हैं—१. भारत २. सात्वत, ३. वार्षगण्य और ४. कैशिक ॥ ७२-७३ ॥

चारों न्यायों के विनियोग—

भारते तु कटीच्छेद्यं पादच्छेद्यं तु सात्वते ॥ ७३ ॥
वक्षसो वार्षगण्ये तु शिरश्छेद्यन्तु कैशिके।

भारत न्याय से शत्रु की कटि का छेदन, (काटना), सात्वत न्याय से शत्रु के पैरों का छेदन, वार्षगण्य न्याय से शत्रु के वक्षस्थल (हृदय) का छेदन तथा कैशिक न्याय से शत्रु के शिर का छेदन करना चाहिए ॥ ७३-७४ ॥

न्यायों की प्रयोग विधि—

एभिः प्रयोक्तृभिर्न्यायैर्नानाचारीसमुत्थितैः ॥ ७४ ॥
प्रविचाराः प्रयोक्तव्या नानाशस्त्रविमोक्षणे ।

अनेक प्रकार की चारियों से युक्त इन चारों न्यायों से अनेक प्रकार के शस्त्रों के प्रयोग के समय विविध चेष्टाओं का प्रदर्शन करना चाहिए ॥ ७४-७५ ॥

न्याय शब्द की निरुक्ति—

न्यायाश्रितैरङ्गहारैर्न्यायाच्चैव समुत्थितैः ॥ ७५ ॥
यस्माद् युद्धानि नीयन्ते तस्मान् न्यायाः प्रकीर्तिताः ।

न्यायपूर्वक उठाये हुए तथा न्यायपूर्वक शत्रुओं के अंगों पर प्रयुक्त किये हुए शस्त्रों के द्वारा युद्ध किया जाता है, इसीलिए इन युद्ध चेष्टाओं को 'न्याय' नाम से अभिहित किया जाता है[1] ॥ ७५-७६ ॥

१. भारत न्याय की प्रयोग विधि—

वामहस्ते विनिक्षिप्य खेटकं दक्षिणेन च ॥ ७६ ॥
शस्त्रमादाय हस्तेन प्रविचारमथाचरेत् ।
प्रसार्य च करौ सम्यक् पुनराक्षिप्य चैव हि ॥ ७७ ॥
खेटकं भ्रामयेत् पश्चात् पार्श्वात् पार्श्वमथापि च ।
शिरःपरिगमश्चापि कार्यः शस्त्रेण योक्तृभिः ॥ ७८ ॥
कपोलस्यान्तरे वापि शस्त्रस्योद्घट्टनं तथा ।
पुनश्च खड्गहस्तेन ललितोद्वेष्टितेन च ॥ ७९ ॥
खेटकेन च कर्तव्यः शिरःपरिगमो बुधैः ।
एवं प्रचारः कर्तव्यो भारते शस्त्रमोक्षणे ॥ ८० ॥

बायें हाथ में ढाल तथा दाहिने हाथ में शस्त्र हो, हाथों को भलीभाँति फैलाये तथा फिर समेट ले, एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व की ओर ढाल से घुमाये, शस्त्र को शत्रु के शिर के चारों ओर घुमाये, कपोल के समीप शस्त्र को स्पर्श कराये, फिर खड्ग वाले हाथ को ललित[2] या उद्वेष्टित[3] मुद्रा में करके ढाल को शत्रु के शिर के चारों ओर घुमाना चाहिए। भारत न्याय की यही चेष्टायें कही गई है ॥ ७६-८० ॥

---

१. न्यायशब्दस्यार्थं दर्शयति न्यायेनाङ्गौचित्येन यान्यङ्गोदाहरणादि न्यायादेव च परबन्धनस्वभाविताभिरूपात् प्रवर्तितानि तैः यत् एतयोः क्रिया अतो न्यायाख्याः ।' —अभिनवभारती ।

२. द्रष्टव्य ९.२०६ । ३. द्रष्टव्य ९.२१६ ।

२. सात्वत न्याय की प्रयोग बिधि—

सात्वते तु प्रवक्ष्यामि प्रविचारं यथाविधि ।
स एव प्रविचारस्तु शस्त्रखेटकयोः स्मृतः ॥ ८१ ॥
केवलं पृष्ठतः शस्त्रं कर्तव्यं खलु सात्वते ।

सात्वत न्याय में भी ढाल तथा शस्त्रों की चेष्टायें पूर्वोक्त भारत न्याय के ही समान करनी चाहिये । भेद केवल यह है कि सात्वत न्याय में शस्त्र का प्रयोग शत्रु के शरीर के पीछे की ओर करना चाहिए ॥ ८१-८२ ॥

३. वार्षगण्य न्याय की प्रयोग विधि—

गतिश्च वार्षगण्येऽपि सात्वतेन क्रमेण तु ॥ ८२ ॥
शस्त्रखेटकयोश्चापि भ्रमणं संविधीयते ।
शिरःपरिगमादस्मिस्तस्य शस्त्रस्य केवलम्[1] ॥ ८३ ॥
उरस्युद्वेष्टनं कार्यं तथांसे परितः पुनः ।

वार्षगण्य न्याय में पूर्वोक्त सात्वत न्याय के समान ढाल तथा शस्त्रों को घुमाना चाहिए । किन्तु शस्त्र का प्रयोग शत्रु के वक्षस्थल या कन्धे पर करना चाहिये । ८२-८४ ॥

४. कैशिक न्याय की प्रयोग विधि—

भारते प्रविचारो यः कर्तव्यः स तु कैशिके ॥ ८४ ॥
विभ्रमय्य तथा शस्त्रं केवलं मूर्ध्नि पातयेत् ।

कैशिक न्याय में भी भारत न्याय के ही समान ढाल तथा शस्त्रों का प्रयोग करना चाहिए, अन्तर केवल इतना है कि कैशिक न्याय में शस्त्र का प्रहार सिर पर किया जाता है ॥ ८४-८५ ॥

चारों न्यायों की प्रयोग विधि—

प्रविचाराश्च कर्तव्या ह्येवमेतेऽङ्गलीलया ॥ ८५ ॥
धनुर्वज्रासिशस्त्राणां प्रयोक्तव्या विमोक्षणे ।

इस प्रकार अङ्गों की विविध चेष्टाओं द्वारा शस्त्र प्रयोग सम्बन्धी गतियों का प्रयोग धनुष, वज्र, तलवार आदि शस्त्रों के प्रयोग के समय करना चाहिए ॥ ५५-८६ ॥

रङ्गमंच पर वर्जित अभिनय—

न भेद्यं नापि च च्छेद्यं न चापि रुधिरस्रुतिः ॥ ८६ ॥
रङ्गे प्रहरणे कार्यो न चापि व्यक्तघातनम् ।

---

१. 'शिरःपरिगमस्तद्वच्छस्त्रस्येह भवेत्तथा' इति वा पाठः काशी० ।

रङ्ग स्थल में शत्रु के शरीर का छेदन, भेदन, रक्तपात तथा प्रत्यक्ष हत्या आदि नहीं करना चाहिए ॥ ८६-८७ ॥

संज्ञामात्रेण कर्तव्यं शस्त्राणां मोक्षणं बुधैः ॥ ८७ ॥
अथवाभिनयोपेतं कुर्याच्छेद्यं विधानतः ।

कुशल अभिनेताओं को केवल नाम मात्र के लिए ही शस्त्रों का प्रयोग करना चाहिए अथवा शत्रु के शरीरच्छेद की मुद्राओं में (कृत्रिम रूप से) अभिनीत करना चाहिए ॥ ८७-८८ ।

व्यायाम की प्रयोग विधि—

अङ्गैः सौष्ठवसंयुक्तैरङ्गहारैर्विभूषितम् ॥ ८८ ॥
व्यायामं कारयेत् सम्यक् लयतालसमन्वितम् ।
सौष्ठवे हि प्रयत्नस्तु कार्यो व्यायामवेदिभिः ॥ ८९ ॥

अंग सौष्ठव से युक्त अंगहारों (शारीरिक चेष्टाओं) से तथा लयों और तालों से युक्त व्यायाम भलीभांति करे। व्यायाम की विधि को जानने वालों को चाहिए कि वे अंग सौष्ठव के लिए भलीभांति प्रयत्न करें ॥ ८८-८९ ॥

सौष्ठव का लक्षण तथा उपयोगिता—

सौष्ठवं लक्षणं प्रोक्तं वर्तनाक्रमयोजितम् ।
शोभा सर्वैव नित्यं हि सौष्ठवं समुपाश्रिता ॥ ९० ॥
नहि सौष्ठवहीनाङ्गः शोभते नाटचनृत्तयोः ।

क्रम पूर्वक संयोजित अंगों की उचित स्थिति ही सौष्ठव का लक्षण है। सभी प्रकार की शोभा सौष्ठव के ही आश्रित रहती है। सौष्ठव रहित अङ्गों वाला नाट्य एवं नृत्यकला में सफलता नहीं पाता ॥ ९०-९१ ॥

सौष्ठवाङ्ग प्रयोग विधि—

अचञ्चलमकुब्जं चासन्नगात्रमथापि च ॥ ९१ ॥
नात्युच्चं चलपादञ्च सौष्ठवाङ्गं प्रयोजयेत् ।

सौष्ठवाङ्ग के प्रयोग के लिए निम्नलिखित बातों का पालन करना चाहिए—

(१) शरीर चंचल न हो। (२) शरीर टेढ़ा-मेढ़ा या कुबड़ा न हो। (३) शरीर के अंग परस्पर सटे हुए अथवा संज्ञा शून्य या अचेतन न हों। (४) अंग अत्यन्त ऊपर की ओर न उठे हों। (५) पैर हिलते-डुलते या कांपते न हों ॥ ९१-९२ ॥

सौष्ठवाङ्ग का लक्षण—

कटीकर्णसमा यत्र कूर्परांऽसशिरस्तथा ॥ ९२ ॥

समुन्नतमुरश्चैव सौष्ठवं नाम तद्भवेत् ।

सौष्ठवांग का लक्षण यह है कि कमर, कान, कूर्पर (कुहनी), कन्धा तथा शिर ये सभी समानान्तर हों तथा वक्षःस्थल तना हुआ हो ॥ ९२-९३ ॥

सौष्ठवाङ्ग की उपयोगिता—

अत्र नित्यं प्रयत्नो हि विधेयो मध्यमोत्तमैः ॥ ९३ ॥
नाट्यं नृत्तं च सर्वं हि सौष्ठवे संप्रतिष्ठितम् ।

नाट्य नृत्त आदि सभी सौष्ठव पर ही आधारित हैं, अतः मध्यम तथा उत्तम सभी पात्रों को सौष्ठव के लिए पूर्ण प्रयत्नशील रहना चाहिए ॥ ९३-९४ ॥

सौष्ठव सम्बन्धी चार अङ्ग—

कटिनाभिचरौ हस्तौ वक्षश्चैव समुन्नतम् ॥ ९४ ॥
वैष्णवं स्थानमित्यङ्गं चतुरश्रमुदाहृतम् ।

दोनों हाथ कटि एवं नाभि पर होने चाहिए ।[१] वक्षःस्थल तना हुआ तथा वैष्णव स्थान का प्रयोग होना चाहिए । यह चारों-सौष्ठव के-चार अंग कहे जाते हैं ॥ ९४-९५ ॥

धनुष सम्बन्धी चार करण—

परिमार्जनमादानं सन्धानं मोक्षणं तथा ॥ ९५ ॥
धनुषस्तु प्रयोक्तव्यं करणं तु चतुर्विधम् ।

जनुष के चार करण होते हैं—

१. परिमार्जन, २. आदान, ३. सन्धान, ४. मोक्षण ॥ ९५-९६ ॥

चारों करणों के लक्षण—

प्रमार्जनं परामर्शं आदानं ग्रहणक्रिया ॥ ९६ ॥
सन्धानं शरविन्यासो विक्षेपो मोक्षणं भवेत् ।

१. धनुष के स्पर्श को 'प्रमार्जन' कहते हैं ।[२]

२. तरकश से बाण को निकालना 'आदान' कहलाता है ।

---

१. अभिनवगुप्त के अनुसार हाथों की यह स्थिति क्रमश. या युगपत् दोनों प्रकार से हो सकती है । पहली स्थिति में दोनों हाथ एक एक करके क्रमशः पहले कटि एवं फिर नाभि पर स्थित होंगे तथा दूसरी स्थिति में एक साथ पहले कटि व फिर नाभि पर अवस्थित होंगे ।

२. श्रीघोष ने प्रमार्जन का अर्थ धनुष मोड़ना किया है ।

३. धनुष पर शर सन्धान करना 'सन्धान' होता है।[1]
४. बाण को छोड़ने को 'मोक्षण' कहते हैं ॥ ९६-९७ ॥

व्यायाम करने की विधि—

तैलाभ्यक्तेन गात्रेण यवागूमृदितेन च ॥ ९७ ॥
व्यायामं कारयेत् श्रीमान् भित्तावाकाशिके तथा।
योग्यायां मातृकाभित्तिस्तस्माद्भित्तिं समाश्रयेत् ॥ ९८ ॥
भित्तौ प्रसारिताङ्गं तु व्यायामं कारयेन्नरम्।
बलार्थं च निषेवेत नस्यं बस्तिविधिं तथा ॥ ९९ ॥
स्निग्धान्यन्नानि च तथा रसकं पानकं तथा।

शरीर में तेल लगा कर तथा जौ का आटा मल कर, किसी भित्ति (दीवार) के सहारे या निराधार आकाश में व्यायाम करे[2]। भित्ति के सहारे व्यायाम करने से अत्यन्त कुशलता प्राप्त होती है, इसीलिए भित्ति का ही सहारा लेना चाहिये।

भित्ति के सहारे अङ्गों को फैलाकर व्यायाम करना चाहिये। बल प्राप्त के लिये नस्य (नाक द्वारा नहस सूंघना या घी आदि सुड़कना) तथा बस्तिविधि (गुदा द्वारा जल, घी आदि चढ़ा कर अशुद्ध मलादि का निकालना) का सेवन करना चाहिए। स्निग्ध (चिकने) अन्नों, रसक (मांस आदि) तथा पानक (पीने योग्य बलकारक तरल पदार्थों) का भी बल प्राप्ति के लिए सेवन करना चाहिए ॥ ९७-१०० ॥

आहार की उपादेयता—

आहारेऽधिष्ठिताः प्राणाः प्राणे योग्याः प्रतिष्ठिताः ॥ १०० ॥
तस्माद्योग्यप्रसिध्यर्थमाहारे यत्नवान् भवेत्।

आहार के सहारे ही प्राण स्थित हैं। प्राणों की ही शक्ति से विविध प्रकार की योग्यतायें विकसित होती हैं, इसलिए विविध योग्यताओं की वृद्धि के लिए, बलदायक आहार का ही सेवन करना चाहिए ॥ १००-१०१ ॥

व्यायाम के अनधिकारी पुरुष—

अशुद्धकायं प्रक्लान्तमतीवक्षुत्पिपासितम् ॥ १०१ ॥
अतिपीतं तथा भुक्तं व्यायामं नैव कारयेत्।

---

१. श्रीघोष के अनुसार यहाँ लक्ष्य का सन्धान अपेक्षित है।

२. यह व्यायाम अङ्गहारों तथा चारियों के प्रसङ्ग में किया जाता है।

जिसका शरीर अशुद्ध (दूषित) हो, जो थका हुआ हो, जो भूखा-प्यासा हो, जिसने भरपेट खा-पी लिया हो, ऐसे व्यक्ति को व्यायाम नहीं करना चाहिए ॥ १०१-१०२ ॥

व्यायाम के अधिकारी पुरुष—

अचलैर्मधुरैर्गात्रैश्चतुरस्रेण वक्षसा ॥ १०२ ॥
व्यायामं कारयेद्धीमान् वरमङ्गक्रियात्मकम् ।

जिसके अङ्ग स्थिर (अडिग, बलवान्) तथा मधुर (सुन्दर, सुडौल) हों जिसका वक्षस्थल चौड़ा, ऐसे व्यक्ति को शरीर को पुष्ट बनाने के लिए व्यायाम करना चाहिए ॥ १०२-१०३ ॥

व्यायाम की उपयोगिता—

एवं व्यायामसंयोगे कार्यश्चारीकृतो विधिः ।। १०३ ॥

इस प्रकार व्यायाम में कुशल हो जाने के बाद ही विविध चारियों का अभ्यास करना चाहिए ॥ १०३ ॥

अध्याय का उपसंहार—

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि मण्डलानां विकल्पनम् ॥ १०४ ॥

॥ इति भारतीये नाट्यशास्त्रे चारीविधानो नाम दशमोध्यायः ॥

---o---

इसके बाद मण्डलों के विविध भेदों का वर्णन किया जायेगा ॥ १०४ ॥

॥ इस प्रकार भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र की 'नाट्यप्रदीप' नामक व्याख्या में चारीविधान नामक दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

---o---

परिशिष्ट खण्ड

एक सौ आठ करणों की सूची

(नाट्यशास्त्र चतुर्थ अध्याय)

	करण नाम	करण की वास्तविक क्रम संख्या	श्लोक	पृष्ठ
	१	२	३	४
अ	अञ्चित	२३	८४	१०५
	अतिक्रान्त	६६	१२७	११८
	अपक्रान्त	७९	१४०	१२२
	अपविद्ध	४	६४	९९
	अर्गल	५७	११८	११४
	अर्धनिकुट्टक	१०	७०	१०१
	अर्धमत्तल्लि	२८	८९	१०६
	अर्धरेचितक	१२	७३	१०२
	अर्धसूची	७७	१३८	१२९
	अर्धस्वस्तिक	२२	८३	१०५
	अलातक	१८	७९	१०४
	अवहित्थक	९५	१५६	१२७
आ	आक्षिप्त	५५	११६	११४
	आक्षिप्तरेचितक	२०	८१	१०५
	आवर्त	५९	१२०	११५
उ	उद्घट्टित	१०३	१६४	१३०
	उद्वृत्त	९१	१५२	१२५
	उन्मत्त	१४	७५	१०३
	उपसृत	९२	१५३	१२६
	उरोमण्डल	५४	११५	११४
ऊ	ऊरूद्वृत्त	९८	१५९	१२८
	ऊर्ध्वजानु	२५	८५	१०६
	एएलकाक्रीडिता	९७	१५८	१२८

	१	२	३	४
क	कटिछिन्न	११	७१	१०२
	कटिभ्रान्त	४३	१०४	१११
	कटीसम	१९	८०	१०४
	करिहस्तक	८७	१४८	१२४
	कुञ्चित	५२	११३	१२३
	क्रान्तक	५१	११२	११३
ग	गङ्गावतरण	१०८	१६९	१३१
	गजक्रीडितक	६८	१२९	११९
	गण्डसूची	७१	१३२	१२०
	गरुडप्लुतक	७०	१३१	११९
	गृध्रावलीनक	७४	१३५	१२१
घ	घूर्णित	३२	९३	१०८
च	चक्रमण्डल	५३	११४	११३
	चतुर	३९	१००	११०
छ	छिन्न	४५	१०६	११२
ज	जनित	९४	१५५	१२७
ड	डोलपाद	६०	१२१	११५
त	तलपुष्पपुट	१	६१	९८
	तलविलसित	५६	११७	११४
	तलसङ्घट्टित	९३	१५४	१२६
	तलसंस्फोटित	६९	१३०	११९
द	दण्डपक्ष	३४	९५	१०८
	दण्डपाद	८२	१४३	१२३
	दण्डकरेचित	४१	१०२	११०
	दिक्स्वस्तिक	१७	७८	१०४
न	नागापसर्पित	१०६	१६७	१३१
	निकुञ्चित	२६	८६	१०६
	निकुट्टन	९	६९	१०१
	नितम्ब	८५	१४६	१२३
	निवेश	९६	१५७	१२७

	१	२	३	४
	निशुम्भित	६४	१२५	११७
	नूपुर	३६	९७	१०९
प	परिवृत्त	७२	१३३	१२०
	पादापविद्धक	३०	९१	१०७
	पार्श्वक्रान्त	६३	१२४	११६
	पार्श्वजानु	७३	१३४	१२०
	पार्श्वनिकुट्टक	४९	११०	११३
	पृष्ठस्वस्तिक	१६	७७	१०३
	प्रसर्पितक	८८	१४९	१२५
	प्रेङ्खोल्लित	८४	१४५	१२३
भ	भुजङ्गत्रस्तरेचित	३५	९६	१०९
	भुजङ्गत्रासित	२४	८५	१०५
	भुजङ्गाञ्चित	४०	१०१	११०
	भ्रमरक	३८	८९	१०९
	मण्डलस्वस्तिक	८	६८	१११
	मत्तल्लि	२७	८८	१०६
	मदस्खलित	९९	१६०	१२८
	मयूरललित	८०	१४१	१२२
र	रेचकनिकुट्टित	२९	९०	१०७
ल	लतावृश्चिक	४४	१०५	११२
	ललाटतिलक	५०	१११	११३
	ललित	३३	९४	१०८
	लोलित	१०५	१६६	१३०
	लीन	६	६६	१००
व	वक्षःस्वस्तिक	१३	७४	१०३
	वर्तित	२	६२	९८
	वलित	३१	९२	१०७
	बलितोरु	३	६३	९९
	विक्षिप्त	५८	११९	११४
	विक्षिप्ताक्षिप्तक	२१	८२	१०५

	१	२	३	४
	विद्युद्भ्रान्त	६५	१२६	११८
	विनिवृत्त	६२	१२३	११६
	विवर्तितक	६७	१२८	११८
	विवृत्त	६१	१२२	११६
	विष्कम्भ	१०२	१६३	१३०
	विष्णुक्रान्त	१००	१६१	१२९
	वृश्चिक	४७	१०८	११२
	वृश्चिककुट्टित	४२	१०३	१११
	वृश्चिकरेचित	४६	१०७	११२
	वृषभक्रीडित	१०४	१६५	१३०
	वैशाखरेचित	३७	९८	१०९
	व्यंसित	४८	१०९	११२
श	शकटास्य	१०७	१६८	१३१
स	सन्नत	७५	१३६	१२१
	समनख	५	६५	९९
	सम्भ्रान्त	१०१	१६२	१२९
	सर्पित	८१	१४२	१२२
	सिंहविक्रीडित	८९	१५०	१२५
	सिंहाकर्षितक	९०	१५१	१२५
	सूची	७६	१३७	१२१
	सूचीविद्ध	७८	१३९	१२१
	स्खलित	८६	१४७	१२४
	स्वस्तिक	१५	७६	१०३
	स्वस्तिकरेचित	७	६७	१००
ह	हरिणप्लुत	८३	१४४	१२३

——०——

२. बत्तीस अङ्गहारों की सूची

(नाट्यशास्त्र चतुर्थ अध्याय)

	अङ्गहार का नाम	क्रम संख्या	श्लोक	पृष्ठ
	१	२	३	४
अ	अपराजित	८	१९०-९२	१३६
	अपविद्ध	४	१८१-८३	१३४
	अपसर्पित	३१	२४३-४५	१४६
	अर्धनिकुट्टक	३२	२४५-४७	१४७
	अलातक	२२	२२३-२५	१४३
आ	आक्षिप्तक	५	१८३-८५	१३५
	आक्षिप्तरेचित	२९	२३७-४०	१४५
	आच्छुरित	२८	२३५-३७	१४५
	आलीढ	२६	२३१-३३	१४४
उ	उद्घट्टित	६	१८५-८७	१३५
	उद्वृत्तक	२५	२२९-३१	१४३
ग	गतिमण्डल	१७	२१०-२१२	१४०
प	परावृत्त	२१	२२१-२३	१४२
	परिच्छिन्न	१८	२१२-२१४	१४१
	परिवृत्तरेचित	१९	२१४ २१८	१४१
	पर्यस्तक	२	१७७-७९	३३४
	पार्श्वच्छेद	२३	२२५-२७	१४३
	पार्श्वस्वस्तिक	१२	१९९-२०२	१३८
भ	भ्रमर	१४	२०४ २०६	१३९
म	मत्तस्खलित	१५	२०६ २०८	१३९
	मत्ताक्रीड	१०	१९४ ९७	१३७
	मदविलसित	१६	२०८ २१०	१४
	रेचित	२७	२३३ २३५	१४४
व	विद्युद्भ्रान्त	२४	२२७-२९	१४३

	१	२	३	४
	विष्कम्भ	७	१८७-९०	१३५
	विष्कम्भापसृत	९	१९२-९६	१३७
	वृश्चिकापसृत	१३	२०४ २०६	१३८
	वैशाखरेचित	२०	२१८-२१	१४२
स	सूचीविद्ध	३	१७९-८१	१३४
	स्वस्तिकरेचित	११	१९७-९९	१३८
	स्थिरहस्त	१	१७४-७७	१३२
	सम्भ्रान्त	३०	२४०-४३	१४६

——०——

३. रसों के भेद, वर्ण, देवता तथा तद्गतभावों की सूची

(नाट्यशास्त्र छठा एवं सातवां अध्याय)

	नाम	विवरण	श्लोक	पृष्ठ
अ	आत्मस्थ	हास्यरसभेद	६·४९	२६१
	अतिहसित	हास्यभेद	६।५३, ५९	२६२
	अर्थापचयोद्भव	करुणभेद	६।७८	२७२
	अद्भुतरस के स्थायीभावादि			२७१
	अद्भुतरस के नौ भाव		७।११७	३३२
	आनन्दज	अद्भुतरस भेद	६।८२	२७४
	अपहसित	हास्यभेद	६।५२, ५८	२६४
	अपराधोत्पन्न	भयानकरस भेद	६।६९	२३९
उ	उद्वेगी	बीभत्सरस भेद	६।८१	२७३
	उपहसित	हास्यभेद	६।५२,५७	२६३
क	करुणरस के स्थायीभावादि			२६५
	कपोत	रसवर्ण	६।४२	२५६
	कृष्ण	रसवर्ण	६।४३	२५६
	काल	रसदेवता	६।४५	२५६
ग	गौर	रसवर्ण	६।४३	,,
द	दानवीर	वीररसभेद	६।७९	२७३
	दिव्य	अद्भुतरस भेद	६।८२	२७४
घ	धर्मोपघातज	करुणरसभेद	६।७८	२७२
	धर्मवीर	वीररसभेद	६।७९	२७३
न	नील	रसवर्ण	६।४३	२५६
प	परस्थ	हास्यरस भेद	६।५०	२६२
	प्रमथ	रसदेवता	६।४४	२५६
	पीत	रसवर्ण	६।४३	,,
ब	ब्रह्मा	रसदेवता	६।४५	,,
भ	भयानक रस के स्थायीभावादि			२९६

	नाम	विवरण	श्लोक	पृष्ठ
	संचारीरस		......	३२२
	स्थायीरस		......	३२३
	स्मित	हास्यभेद	६।५३, ५४	२६३
ह	हसित	हास्यभेद	६।५३,५५	२६३
	हास्यरस के स्थायीभावादि			२६१
	हास्य रस के छः भेद			२६२
	हास्य रस के आठ भाव		७ ११०	३२१
क्ष	क्षोभज	वीभत्सरस भेद	६।८१	२७३
त्र	त्रासोत्पन्न	भयानकरस भेद	६।८०	२७३

——०——

४. भावों को सूची

(नाट्यशास्त्र छठा एवं सातवाँ अध्याय)

——०——

५. उपांग कर्मों की सूची

शिर, नेत्र, भ्रू, नासा, गण्ड, अधर, चिबुक, मुख, मुखवर्ण तथा ग्रीवाकर्म

(नाट्यशास्त्र अष्टम अध्याय)

	नाम	विवरण	श्लोक	पृष्ठ
	सम (प्राकृत)	ग्रीवाकर्म	१७२	३५७
	समुद्गक	अधर कर्म	१४०	३५२
	समुद्वर्तन	नेत्रतारा कर्म	९८	३४५
	सम्प्रवेश (अन्तःप्रवेशन)	नेत्रतारा कर्म	९७	३४५
	सहज	भ्रू कर्म	१२०	न४९
	साचीकृत	दर्शन प्रकार	१०५	३४६
	सोच्छ्वासा	नासाकर्म	१३२	३५१
	स्निग्धा	स्थायिभाव दृष्टि	५३	३३७
	स्फुरित	गण्डकर्म	१३५	३५१
	स्फुरित	नेत्रपुट कर्म	१११	३४७
	स्वाभाविक	नासाकर्म	१२९	३५०
	स्वाभाविक	मुखराग	१५९	३५५
ह	हास्या	रसदृष्टि	४६	३३५
	हृष्टा	स्थायिभाव दृष्टि	५४	३३७
क्ष	क्षाम	गण्डकर्म	१३४	३५१
त्र	त्रस्ता	संचारिभाव दृष्टि	८०	३४२
	त्र्यश्रा	ग्रीवाकर्म	१६०	३५७

———०———

६. हस्तकर्मों की सूची

(नाटचशास्त्र नवम अध्याय)

	हस्तकर्म	विवरण	श्लोक	पृष्ठ
अ	अंजलि	संयुक्त हस्त	१२८-१३०	३७९
	अंचित	बाहुकरण	२२०	३९५
	अधोमुख	बाहुकरण	२२०	"
	अधोमुख	हस्तप्रचार	१८२	३८८
	अपविद्ध	बाहुकरण	२२०	३९५
	अराल	असंयुतहस्त	४६-५२	३६६
	अरालखटकामुख	नृत्तहस्त	१८८-१८९	३८९
	अर्धचन्द्र	असंयुक्तहस्त	४३ ४५	३६५
	अर्धरेचित	नृत्तहस्त	१९४	३९०
	अलपल्लव (अलपद्म)	असंयुतहस्त	९१ ९२	३७३
	अलपल्लव	नृत्तहस्त	२०८	३९३
	अवहित्थ	संयुतकर	१५६-१५७	३८३
	असंयुक्त हस्त	२८ मुद्रायें	४-७	३६०
आ	आविद्धवक्रक	नृत्तहस्त	१९०	३८९
	आवेष्टित	हस्तकरण	२१५	३९४
	आह्वान	हस्तकर्म	१६६	३८५
उ	उत्कर्षण	हस्तकर्म	१६६	"
	उत्तान	हस्तप्रचार	१८२	३८८
	उत्तानवञ्चित	नृत्तहस्त	१९५	३९०
	उत्संग	संयुतहस्त	१३९ १४०	३८१
	उद्वृत्त	नृत्तहस्त	१८५	३८८
	उद्वेष्टित	हस्तकरण	२१६	३९४
	उर:पार्श्वार्धमण्डली	नृत्तहस्त	२०५	३९२
	उरोमण्डल	नृत्तहस्त	२०४	३९२
	उल्वण	नृत्तहस्त	२०८	३९३
ऊ	ऊर्णनाभ	असंयुतहस्त	१२१-१२१	३७७

	नाम	विवरण	श्लोक	पृष्ठ
प	पक्षप्रद्योतक	नृत्तहस्त	२०१	३९१
	पक्षवंचितक	नृत्तहस्त	२००	३९१
	पताक	असंयुतहस्त	१८-२७	३६२
	पद्मकोश	असंयुतहस्त	७९-८३	३७१
	परिग्रह	हस्तकर्म	६५	३६९
	परिवर्तित	हस्तकरण	२१८	३९४
	पल्लव	नृत्तहस्त	१९६	३९०
	पार्श्वग	हस्तप्रचार	१६९	३८५
	पार्श्वमण्डली	नृत्तहस्त	२०३	३९१
	पुष्पपुट	संयुतहस्त	१५१-१५२	३८२
	पृष्ठानुसारी	हस्तकरण	२२०	३९५
	प्रसारित	हस्तकरण	२२१	३९५
भ	भेदन	हस्तकर्म	१६८	३८५
	भ्रमर	असंयुतहस्त	१०१-१०३	३७४
म	मकर	संयुतहस्त	१५२-१५३	३८३
	मुकुल	असंयुतहस्त	११७-११९	३७७
	मुष्टि	असंयुतहस्त	५५-५६	३६७
	मुष्टिक-स्वस्तिक	नृत्तहस्त	२०६	३९२
	मृगशीर्षक	असंयुतहस्त	८६-८७	३७२
	मोक्षण	हस्तकर्म	१६७	३८५
	मोटन	हस्तकर्म	१६८	३८५
र	रक्षण	हस्तकर्म	१६७	३८५
	रेचित	नृत्तहस्त	१९३	३९०
ल	लताख्य	नृत्तहस्त	१९८	३९१
	ललित	नृत्तहस्त	२०९	३९३
व	वर्तुल	हस्तप्रचार	१८२	३८८
	वर्धमान	संयुतहस्त	१५८-१५९	३८४
	वलित	नृत्तहस्त	२०९	३९३
	विकर्षण	हस्तकर्म	१६६	३८५
	विक्षेप	हस्तकर्म	१६७	"
	विप्रकीर्ण (विप्रकीर्णक)	नृत्तहस्त	१८७	३८९

---o---

७. उर, पाश्व, उदर, कटि ऊरू, जंघा, पाद कर्मों की सूची

(नाटयशास्त्र नवम अध्याय)

	कर्म का नाम	विवरण	श्लोक	पृष्ठ
अ	अग्रतल संचर	पाद कर्म	२७३-२७५	४०५
	अञ्चित	पाद कर्म	२७५-२७७	४०५
	अपसृत	पार्श्व कर्म	२३८	३९८
आ	आभुग्न	उर: कर्म	२२४	३९५
	आवर्तित	जंघाकर्म	२५८-२५९	४०२
उ	उदरकर्म के ३ भेद		२४१	३९८
	उदरकर्म के ४ भेद		२४३	३९९
	उदरकर्म के विनियोग		२४२-२४३	३९८
	उद्घट्टित	पादकर्म	२६६-२६८	४०३
	उद्वर्तन	ऊरुकर्म	२५३	४००
	उद्वाहित	ऊरुकर्म	२३१	३९६
	उद्वाहित	कटिकर्म	२४७	३९९
	उद्वाहित	जंघाकर्म	२६१	४०२
	उन्नत	पार्श्व कर्म	२३६	३९७
	उर:कर्म के ५ भेद		२२३	३९५
	ऊरुकर्म के ५ भेद		२५०-२५१	४००
	ऊरुकर्म के विनियोग		२५४-२५६	४०१
क	कटि चेष्टा के ५ भेद		२४४ २४५	३९९
	कटि कर्म के विनियोग		२४८-२५०	३९९
	कम्पन	उरुकर्म	२५१	४००
	कम्पिता	कटिचेष्टा	२४४	३९९
	कुंचित	पादकर्म	२७७-२७९	४०६
ख	खल्व	उदरकर्म	२४१	३९८
च	चलित	पादकर्म	२७०	४०४
छ	छिन्न	कटिकर्म	२४५	३९९

——०——

८. चारियों, स्थानकों तथा न्यायों की सूची

(नाटचशास्त्र दशम अध्याय)

	नाम	विवरण	श्लोक	पृष्ठ
अ	अड्डिता	भौमीचारी	२३	४१३
	अतिक्रान्ता	आकाशीयचारी	३०	४१५
	अध्यर्धिका	भौमीचारी	१७	४१२
	अपक्रान्ता	आकाशीयचारी	३१	४१६
	अपस्यन्दिता	भौमी चारी	२६	४१४
	अलाता	आकाशीयचारी	४१	४१८
आ	आकाशिकी चारियों का विनियोग		४६	४१९
	आक्षिप्ता	आकाशीयचारी	३७	४१७
	आदान का लक्षण	धनु:करण चतुर्थकरण	९६	४२८
	आलीढस्थानक का लक्षण	स्थानक	६८-६७	४३३
	आलीढ स्थानक का विनियोग		६८-७०	४२३
	आविद्धा	आकाशीयचारी	३८	४१७
उ	उद्वृत्ता	आकाशीयचारी	३९	४१७
	उत्स्पन्दिता	भौमीचारी	२४	४१४
ऊ	ऊर्ध्वजानु	आकाशीयचारी	३३	४१६
	ऊरूद्वृत्ता	भौमीचारी	२२	४१३
ए	एडकाक्रीडिता	भौमीभारी	२०	४१३
क	करण का लक्षण		३ उत्तरार्ध	४०९
	कैशिक न्याय का प्रविचार		८४-८५	४२६
	कैशिक न्याय का लक्षण		७४ द्वितीयचरण	४२४
ख	खण्ड का लक्षण		४ पूर्वार्ध	४०९
च	चाषगति	भौमीचारी	१८	४१२

——०——

मृदुललितपदार्थं गूढशब्दार्थहीनं
बुधजनसुखभोग्यं युक्तिमन्नृत्तयोग्यम् ।
बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम् ।। १२९ ।।

जगत् में वही नाटक दर्शकों के देखने के योग्य होता है जिसमें कोमल एवं ललित पदार्थ हों, जो शब्द के गूढ़ अर्थों से हीन हों, जो जिले के एवं प्रान्त के और राष्ट्र के निवासियों के सुख से भोग्य हो । युक्तियों के साथ जिसमें नृत्त की योजना की गई हो तथा रस के मार्ग जिसमें बहुत हों और जो सन्धियों के सन्धान से युक्त हो ।।

—ना० शा० १६.१२९ ।

श्लोकार्धानुक्रमणिका

—०—

वर्णक्रमगत विषयानुपूर्वी

———o———

सटिप्पण सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

मूल सामग्री

१. भारतीय नाट्यशास्त्रम्, भरत, ६/४१४ क्रमसंख्या ४०७६७, पत्र-संख्या १-९०, पञ्चमाध्यायान्तम्, सरस्वतीभवन, संस्कृत विश्व-विद्यालय, बाराणसी।

२. नाट्यशास्त्र (काव्यमाला, प्रथम संस्करण), निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १८९०।

(नाट्यशास्त्र का सर्वाधिक प्राचीन मुद्रित संस्करण है। यह "क" एवं "ख" नामांकित जिन पाण्डुलिपियों पर आधारित है उनका कोई विवरण ग्रन्थारम्भ में उपलब्ध नहीं है। केवल ग्रन्थ के अन्त में पृ० ४४७ में ५-६ पंक्तियों की संक्षिप्त पादटिप्पणी में पाण्डुलिपियों की अशुद्धि का उल्लेख है।)

३. नाट्यशास्त्र (काव्यमाला, द्वितीय संस्करण, अध्यय १-३७) सं० केदारनाथ, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९४३।

(काशी से प्रकाशित मूल एवं बड़ौदा से प्रकाशित अभिनवभारतीयुक्त संस्करण के आधार पर यह संस्करण प्रकाशित हुआ है। इसके लिए प्रयुक्त पाण्डुलिपि उज्जैन से ली गई है। भूमिका (पृ० २) के अनुसार इस पाण्डुलिपि की परम्परा का बहुत गहरा प्रभाव धनंजय रचित दशरूपक पर पड़ा है। इसमें ३७ अध्याय हैं।)

४. नाट्यशास्त्र (काशी संस्करण १-३७) सं०, बलदेव उपाध्याय चौखम्बा संस्कृत सीरोज, बनारस, १९२९।

(वाराणसेय संस्कृतविश्वविद्यालय के सरस्वती भवन में सुरक्षित पाण्डु-लिपि इस संस्करण का आधार है। इस पाण्डुलिपि पर शंकुक एवं लोल्लट का प्रभाव है। भोज भी इसी पाठ-परम्परा से प्रभावित थे। श्री मनमोहन घोष ने इसी संस्करण की पाण्डुलिपि का मुख्यतः अनुसरण किया है।)

५. नाट्यशास्त्र, अभिनवभारती सहित, अध्याय १-७, प्रथमसंस्करण, रामकृष्ण कवि, बड़ौदा, १९२६।

(इस संस्करण में आचार्य अभिनवगुप्त की अभिनवभारती भी समाविष्ट होने से इसका महत्त्व बहुत बढ़ गया है; लगभग ४० पाण्डुलिपियों का प्रयोग

किया गया हैं जिन्हें दक्षिण-भारतीय एवं उत्तरभारतीय इन दो भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम को "अ" श्रेणी एवं द्वितीय को "ब" श्रेणी के नाम से उल्लिखित किया गया है। चिदम्बरम् मन्दिर में प्राप्य नृत्य की विभिन्न मुद्राओं का रेखांकन भी इस संस्करण में प्रकाशित किया है।)

६. **नाट्यशास्त्र (अभिनवभारतीसहित, अध्याय १-७, द्वितीय संस्करण) संशोधक-सं० रामस्वामी शास्त्री, बड़ौदा, १९५६।**

(प्रथम संस्करण में यत्र तत्र संशोधन एवं पाठ परिवर्तन दिए गए हैं। संस्करण के लिए प्रयुक्त पाण्डुलिपियों का वर्णन भी दिया है। परिशिष्ट के रूप में बड़ौदा विश्वविद्यालय के डीन, श्री सुब्बाराव द्वारा लिखित नाट्य-शास्त्र के द्वितीय अध्याय पर अत्यन्त विश्लेषणात्मक एवं वैज्ञानिक लेख दिया गया है।)

७. **नाट्यशास्त्र (अभिनवभारती सहित, अध्याय ८-१८) सं० रामकृष्ण कवि, बड़ौदा, १९३४।**

(छन्द एवं वृत्त विधान, काव्यमाला संस्करण की भाँति, १४ वें एवं १५ वें अध्याय में मिलता है जब कि काशी संस्करण में इसे १५ एवं १६ अध्याय में विवेचित किया गया है।)

८. **नाट्यशास्त्र (अभिनवभारती सहित, अध्याय १९-२७) सं० रामकृष्ण कवि, बड़ौदा, १९५४।**

९. **नाट्यशास्त्र (अभिनवभारती सहित, अध्याय २८-३७) सं० एम० रामकृष्ण कवि, बड़ौदा, १९६४।**

(काव्यमाला संस्करण की भाँति ३६ अध्याय न मानकर इसमें नाट्य-शास्त्र के ३७ अध्याय ही स्वीकार किए गए हैं।)

10. Bharata-Natya-Manjari
G. K. Bhat, B. O. R. I., Poona, 1975.

(पाँच शीर्षकों में निबद्ध गवेषणात्मक भूमिका के उपरान्त नाट्यशास्त्र के चुने हुए अंशों के मूल पाठ एवं उसके अंग्रेजी अनुवाद का संकलन किया गया है। भरतकृत विस्तृत नाट्यशास्त्र के आलोचनात्मक संग्रह और सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप में यह अप्रतिम है।)

11. The Natyashastra
(A Treatise on Hindu Dramaturgy and Histrionics Ascribed to Bharata Muni.)
Translation in English by Manomohan Ghosh, Vol. I (Chaps.

I–XXVII), The Royal Asiatic Society of Bengal, Calcutta, 1950; (Chaps. XXVIII–XXXVI), The Asiatic Society, Calcutta, 1961.

(भरत के नाट्यशास्त्र की परम्परा पर अत्यन्त गवेषणात्मक भूमिका पूर्वपीठिका के रूप में देते हुए प्रथम अध्याय से लेकर सत्ताइस अध्यायों का अंग्रेजी में सरल एवं सुबोध अनुवाद किया गया है। अनुवाद की पादटिप्पणी में यथास्थान कई पाण्डुलिपियों एवं प्रकाशित संस्करणों के आधार पर पाठभेद के संकेत दिए गए हैं। यत्र-तत्र आचार्य अभिनवगुप्त एवं अन्य नाट्याचार्यों के मतों का भी समावेश किया गया है।)

१२. भरत का नाट्यशास्त्र, भाग १ (अध्याद १–७) (मूल, पाठान्तर, अनुवाद तथा व्याख्या) डा० रघुवंश, दिल्ली, १९६४।

(अनुवाद के साथ टिप्पणियाँ भी हैं जिनमें अभिनवगुप्त, कपिल, वात्स्यायन, घोष आदि के विचारों का उपयोग हुआ है। प्रथम दो अध्यायों की टिप्पणियाँ संक्षिप्त हैं पर बाद में विस्तृत हैं। छठे अध्याय में अभिनवगुप्त का मूल एवं अनुवाद भी दिया गया है।)

१३. नाट्यशास्त्रम् (हिन्दी अनुवाद, अध्याय १-२) अनु० रामगोविन्द शुक्ल, द्वितीय संस्करण, चौखम्बा संस्कृत सीरोज, बनारस, १९५७।

१४. नाट्यशास्त्रम् (हिन्दी अनुवाद,) अनु० कृष्णदत्त बाजपेयी, लखनऊ, १९५९।

१५. भरतनाट्यशास्त्रम् (हिन्दी अनुवाद, अध्याय १-२) (अनु० डा० वृजमोहन चतुर्वेदी एवं हरिहर झा, नई दिल्ली, १९६७।

भूमिका के अन्तर्गत भरत मुनि एवं उनकी कृति नाट्यशास्त्र की विवेचना की गई है। प्रथम दो अध्यायों का अनुवाद एवं कठिन शब्दों की व्याख्या दी गई है। परिशिष्ट के अन्तर्गत कुछ दुरूह शब्दों की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की गई है।)

१६. भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र (हिन्दी अनुवाद, अध्याय १-३) अनु० भोलानाथ शर्मा, कानपुर, १९५४।

(४६ पृष्ठों की भूमिका में नाट्यशास्त्र एवं उसके कर्ता के सामान्य परिचय के अनन्तर प्रथम तीन अध्यायों का अनुवाद दिया गया है। इस अनुवाद में पहले तो स्वीकृत पाठ का अर्थ दिया गया है, तदनन्तर सभी पाठभेदों को अर्थ सहित दिया गया है।)

१७. हिन्दी अभिनवभारती (अध्याय १-२, ६) सं० डॉ० नगेन्द्र, भाष्यकार आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, दिल्ली, १९६०।

(नाट्य शास्त्र के तीन प्रमुख अध्याय—प्रथम(नाट्योत्पत्ति), द्वितीय (नाट्यमण्डप), षष्ठ (रसाध्याय) एवं उस पर उपलब्ध अभिनवभारती का संपादन एवं अनुवाद किया गया है। यत्र तत्र विचारों की संगति हेतु मूलग्रन्थ एवं अभिनवभारती में नवीन पाठभेदों की भी परिकल्पना की गई है।)

१८. नाट्यशास्त्र (मराठी अनुवाद) अनु० गोदावरी केलकर, पूना, १९२८।

१९. नाट्यशास्त्रम् अभिनवगुप्तप्रणीताभिनवभारतीसहितम्-(प्रथम भाग), सं०, अनु० मधुसूदन शास्त्री, वाराणसी, सं० २०२८।

(विस्तृत भूमिका के पश्चात् नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय से लेकर सप्तम अध्याय तक के मूल का अभिनव कृत अभिनव भारती एवं मधुसूदनी-संस्कृत एवं बालक्रीडा नामक हिन्दी अनुवाद सहित प्रस्तुतीकरण किया गया है।)

२०. नाट्यशास्त्रम् (द्वितीय भाग), विवरण पूर्वोक्त, सं० २०३५।

(पूर्वोक्त टीकाओं सहित नाट्यशास्त्र के आठवें अध्याय से अठारह अध्याय का प्रस्तुतिकरण है।)

२१. नाट्यशास्त्रसंग्रह (सरस्वती-महल लाइब्रेरी), तंजौर, १९५३।

२२. नान्यदेवकृत भरतभाष्य, मं० प्रा० ग्रं० में संगृहीत हस्तलिखित ग्रन्थ।

२३. अशोकमल्लविरचित नृत्याध्याय, सं० वाचस्पति गैरोला, इलाहाबाद, १९६७।

(सम्पूर्ण मूलभाग को पन्द्रह प्रकरणों में विभाजित किया गया है। हस्तप्रकरण, अंग प्रकरण, चारी प्रकरण आदि नाट्यशास्त्र के सन्दर्भ में विशेषतः पाठ्य हैं।)

24. The Natya-Darpana of Ramachandra and Gunachandra. A Critical Study, K. H. Trivedi, L. D. Institute of Indology, Ahmedabad, 1966.

(लाल भाई दलपत भाई सीरीज (९) के अन्तर्गत यह पुस्तक दो भागों में विभाजित है। प्रथम भाग नाट्यदर्पण के सभी विषयों की व्याख्या प्रस्तुत करता है एवं द्वितीय भाग में संस्कृत के अन्य काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के संदर्भ में नाट्यदर्पण का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। प्रथम भाग के अध्यायों के नाम नाट्यदर्पण के शीर्षकों के आधार पर हैं यथा (१) नाटक-निर्णय, (२) प्रकरणादि रूपकभेद, (३) वृत्त, रस, भाव एवं अभिनय तथा (४) विविध विषय। प्रत्येक अध्यय नाट्यदर्पण के चार विवेकों से संबन्धित

हैं। पहले नाट्यदर्पणकार के मत को पूर्णतया प्रस्तुत किया गया है एवं तत्पश्चात् उसकी समालोचना की गई है। द्वितीय भाग के अन्तर्गत पंचम अध्याय में रामचन्द्र गुणचन्द्र का जीवन परिचय है। षष्ठ अध्याय के तीन उपभाग हैं। प्रथम नाट्यशास्त्रादि का नाट्यदर्पण पर ऋण, द्वितीय में ध्वन्यालोकादि ग्रन्थों का नाट्यदर्पण पर प्रभाव एवं तृतीय में उत्तरवर्ती ग्रन्थों पर नाट्यदर्पण के प्रभाव की परिचर्चा हुई है। सप्तम में नाट्यदर्पण का मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है।)

25. Nataka-Lakshana-Ratnakosha of Sagaranandin.
Ed. Myles Dillon, Oxford University, Press, London, 1937.

26. Nataka-Lakshna-Ratna-Kosha.
In the perspective of Ancient Indian Drama and Dramaturgy.
Sidheswar Chattopadhyaya, Calcutta, 1974.

२७. भरतकोष, सं० एम० रामकृष्ण कवि, पूना, १९६१।

२८. भारतीय नाट्यपरम्परा और अभिनयदर्पण, वाचस्पति गैरौला, इलाहाबाद, १९६७।

(पुस्तक की सामग्री को मोटे तौर पर तीन भागों में बाँटा जा सकता है। मूलग्रन्थ से पहले की सामग्री पूर्वपीठिका के रूप में छह अध्यायों में प्रस्तुत की गई है। फिर मूलग्रन्थ व उसका हिन्दी अनुवाद दिया गया है। इसके बाद उत्तरपीठिका के रूप में नृत्तमूर्तियों एवं हस्ताभिनयों की रेखानुकृतियाँ दी गई हैं।)

२९. भावप्रकाशन, शारदातनय, बड़ौदा, १९३०।

30. The Mirror of Gesture,
(A Translation of Nandikeshvara's Abhinayadarpana)
A. Coomarswamy & G. K. Duggirala, Harward Oriental Press. Cambridge, 1917

३१. वृत्तप्रकाश, विप्रदास, बम्बई, १९२२।

३२. हिन्दी नाट्यदर्पण, श्री रामचन्द्र-गुणचन्द्र विरचित, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर, दिल्ली, १९६१।

(पुस्तक के परिचय के रूप में लिखा गया डॉ० दशरथ ओझा का "नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में नाट्यदर्पण का स्थान" शीर्षक संपादकीय लेख विशेषतः पाठ्य है)

सहायक सामग्री

१. अभिनवनाट्यशास्त्र, भाग १, सं० सीताराम चतुर्वेदी, इलाहाबाद, १९६४।

पहले संस्कृत में सूत्र देकर फिर प्रायः पद्यबद्ध हिन्दी रूपान्तर एवं फिर हिन्दी में उसकी व्याख्या की गई है। नाट्य रचना से संबन्धित सभी भारतीय एवं अभारतीय वाद, सिद्धान्त, मत या प्रयोगों का यथास्थान समावेश है। कुल १७ अध्याय है जिसमें एक नवीन नाट्यशास्त्र के प्रतिपादन का प्रयास किया गया है।)

२. अरस्तू का काव्यशास्त्र, अनु० डॉ० नगेन्द्र और महेश चतुर्वेदी, दिल्ली वि० सं० २०२३।

३. आचार्यभरत, डॉ० शिवशरण शर्मा, भोपाल, १९७१।

(तेरह परिच्छेदों में ग्रन्थ को विभक्त करके उसमें नाट्यशास्त्र में वर्णित सभी विषयों का विवरण दिया गया है। नाट्य रचना सम्बन्धी बिषयों की अपेक्षा नाट्य प्रयोग सम्बन्धी विषयों पर अधिक बल दिया गया है। इस भाँति नाट्यगृह, पात्र, रस, पूर्वरंग एवं अभिनय को अलग-अलग अध्यायों में प्रतिपादित किया गया है।)

4. Introduction to Bharata's Natyashastra
Adya Rangacharya, Bombay, 1960.

(कृति को दस अध्यायों में विभाजित किया गया है। नाटक के उद्भव, प्रथम अवतरण, नाट्यमण्डप, पूर्वरंग, अभिनय, रंगमंच विधान, नाटक के दस रूपों, गान और रससिद्धान्त का प्रतिपादन अलग-अलग अध्ययों में किया गया है।)

5. The Indian Theatre, C. B. Gupta, Delhi, 1954.

6. Indian Theatre : Its Origin and Development Under a European Influence ; R. K. Yajnik, London, 1933.

7. Indian Stage (Vol. IV); Dr. Harendra Nath Dasgupta, Calcutta, 1934.

8. Ancient Indian Theatre ; D. R. Mankad, Poona, 1956.

9. Indian Aesthetics and Science of Language ; Tarapada Chakrabarti, Calcutta, 1971.

(यह पुस्तक जादवपुर विश्वविद्यालय से पी०एच०डी० के लिए स्वीकृत शोधप्रबन्ध का परिष्कृत एवं मुद्रित रूप है। कुल मिलाकर आठ अध्याय हैं जिनके द्वारा काव्यशास्त्र पर व्याकरण के प्रभाव को परखने का प्रयास किया गया है। विशेषत: दृष्टव्य अध्यायों में से प्रथम अध्याय काव्यकला पर चिन्तन से सम्बन्धित है। चतुर्थ अध्याय में वाच्यवाचक सम्बन्ध की व्याख्या की गई है। लक्षण के सम्बन्ध में भरत की आदिमान्यता का वर्णन करते हुए परिचर्चा की गई है।)

10. The Aesthetic Experience according to Abhinavagupta (2nd Edn.) ; Raniero Gnoli, Varanasi, 1968,

11. On the Dramatic System of the Hindus ; H. H. Wilson, Calcutta, 1971,

12. Contributions to the History of the Hindu Drama ; M. M. Ghosh, Calcutta, 1958.

13. Classical Sanskrit Literature ; A. B. Keith, Calcutta, 1947

१४. काव्यसमीक्षा, विक्रमादित्य राय, वाराणसी, १९६७।

15. A Critical Survey of the Ancient Indian Theatre. Prof. D. Subba Rao, Included as Appendix 6 of the Natya Shastra, Vol. I (Second Edition), Baroda, 1956.

(पृ० ४२३-४५४ में भरतकृत नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय के आधार पर तीन प्रकार की नाट्यशालाओं का परिचय दिया गया है। सात रेखा चित्रों द्वारा तीन प्रकार के नाट्यगृहों की स्थिति, आकार एवं समायोजना पर प्रकाश डाला गया है। पृ० ४२५–४२५ में कुछ बहुचर्चित परन्तु क्लिष्ट परिभाषिक शब्दों की व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं।)

16. Comparative Aesthetics Vol. I ; (Indian Aesthetics), Dr. K. C. Pandey, 1959.

(लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा डी०लिट्० की उपाधि हेतु स्वीकृत शोध-प्रबन्ध होने के साथ-साथ यह पुस्तक भारतीय स्वतन्त्रकलाशास्त्र का प्राय: सर्वांगीण ज्ञान कराने वाला ग्रन्थ है। इसे सात अध्यायों में बाँटा गया है। प्रथम अध्याय में भारतीय स्वतन्त्रकलाशास्त्र के इतिहास का वर्णन है।

द्वितीय अध्याय में शैवदर्शन के उन सिद्धान्तों को प्रकाश में लाया गया है जिनके आधार पर अभिनवगुप्त की सौन्दर्य की सौन्दर्य-शास्त्रीय धारणाएँ प्रस्तुत की गई हैं। चतुर्थ अध्याय में अभिनवगुप्त की मान्यताएँ दी गई हैं। पाँचवे अध्याय में महिम भट्ट के सिद्धान्त का प्रतिपादन एवं खण्डन किया गया है। छठे अध्याय में संस्कृत नाट्य की विधाओं का अनुशीलन एवं सातवें तथा अन्तिम अध्याय में सौन्दर्यशास्त्र, जिसे स्वतन्त्रकला शास्त्र कहा गया है, की काव्यशास्त्रीय परम्परा का समालोचन किया गया है।)

17. Types of Sanskrit Drama; D. R. Mankad, D. Karavadu, 1930;
18. Drama in Sanskrit Literature; R. V. Jagirdar M. A., Bombay, 1947;
19. The Theatre of Hindu; H. H. Wilson, V. Raghavan, K. R. Pishasoroti and A. C. Vidyabhushana, Calcutta, 1955.
20. Theories of Rasa and Dhvani, A. Sankaran, Madras, 1920.

२१. नाट्यकला, रघुवंश, दिल्ली, १९६१।

२२. नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक (धनिक की वृत्ति सहित) हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा पृथ्वीनाथ द्विवेदी, दिल्ली, १९६३।

(भूमिका मूल एवं अनुवाद। भूमिका में नाट्यवेद एवं नाट्य तथा नाट्यशास्त्र की चर्चा करते हुए नाट्यवेद के दोनों अंगों—विधि एवं शास्त्र की विवेचना की गई है तथा नाट्यशास्त्र के अधिकारी एवं रूढ़ियों का निरूपण किया गया है। नाट्यशास्त्र के विभिन्न अंगों यथा रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान एवं रंग का उल्लेख हुआ है। वर्तमान नाट्यशास्त्र के स्वरूप एवं परवर्ती नाट्यग्रन्थों की परिचर्चा की गई है। अन्त में नाट्यशास्त्र के सन्दर्भ में यावनी परम्परा का उल्लेख हुआ है।)

२३. नाट्यसमीक्षा, दशरथ ओझा, दिल्ली, सं० २०१६।

२४. नाट्यनिबन्ध, दशरथ ओझा, दिल्ली, १९७२।

२५. नाट्य दर्शन, शान्तिगोपाल पुरोहित, जयपुर, १९७०।

26. Natya, Nritta and Nritya: Their Meaning and Relation; K. M. Varma, Calcutta, 1957.

(पृ० २३ पर नाट्य के उद्गम, एवं पृ० ४५ पर तत्सम्बन्धी धारणाओं पर प्रकाश डाला गया है। इसी भाँति पृ० २२ पर नृत्त के उद्गम एवं पृ० ५३ में तत्सम्बन्धी धारणाओं व पृ० ३० पर नृत्तके उद्गम तथा पृ० ६७

पर नृत्य की धारणाओं का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इन तीनों के पारस्परिक सम्बन्ध की भी परिचर्चा की गई है।)

२७. प्राचीन भारतीय लोकधर्म वासुदेवशरण अग्रवाल, अहमदाबाद, १९६४।

२८. प्राचीनभारतेर नाट्यकला (बांगला), मनमोहन घोष, कलकत्ता, १९४५।

२९. प्राचीन भारत में संगीत, धर्मावती श्रीवास्तव, वाराणसी, १९६७।

30. Bibliography of the Sanskrit Drama, Schular, New York, 1906.

३१. भरत और भारतीय नाट्यकला, सुरेन्द्रनाथ दीक्षित, दिल्ली, १९७०

(यह विहार विश्वविद्यालय द्वारा पी०एच०डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध है। सम्पूर्ण प्रबन्ध ग्यारह अध्यायों में विभाजित है। प्रथम में भरत का व्यक्तित्व एवं नाट्यशास्त्र का सामान्य परिचय है। द्वितीय नाट्योत्पत्ति से सम्बन्धित है। तृतीम में नाट्यमण्डप का परिचय है। चतुर्थ में नाट्य सिद्धान्त की व्याख्या एवं पंचम में रस एवं भाव की विवेचना करते हुए भरत एवं परवर्ती आचार्यों के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। छठा अध्याय अभिनय विज्ञान से सम्बन्धित है एवं सातवां नाटक के प्रस्तुतीकरण से। आठवें में नाट्यप्रयोगविज्ञान का विश्लेषण हुआ है। नवें में नाट्य की रूढ़ियों का और दसवें में नृत्य की अनुरंजक कलाओं, यथा गीत, वाद्य एवं नृत्य, का आनुषंगिक रूप से विवेचना हुआ है। अन्तिम अध्याय में आधुनिक भारतीय रंगमंच की आलोचना की गई है।)

३२. भरतनाट्यशालाओं के रूप, राय गोविन्दचन्द्र, वाराणसी, १९५८।

३३. भारतीय पाश्चात्य रंगमंच, पं०सीताराम चतुर्वेदी, लखनऊ, १९६४।

३४. भारतीय संगीत का इतिहास, डा० शरच्चन्द्र श्रीधर परांजपे, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९६९।

(पृ० २७३-४७५ विशेषत: दृष्टव्य है। यहाँ "सा", "रि" "ग" इन भागों में विभक्त करके भरतकालीन संगीत का विश्लेषण किया गया है। "सा" में नाट्यशास्त्र के संगीतपक्ष का विस्तृत दर्शन है। "र" के अन्तर्गत नाट्यशाष्त्र के टीकाकारों के संगीत विषयक योगदान की चर्चा की गई है। "ग" के अन्तर्गत नाट्यशास्त्र में उल्लिखित एवं कुछ अनुल्लिखित संगीताचार्यों का मूल्यांकन किया गया है। मुख्य विषय हैं :- संगीत के स्वर एवं श्रुति-

व्यवस्था, ग्राम, मूर्च्छना, वीणादि, वाद्य, तालपद्धति, नृत्यकला एवं संगीत के प्रवर्तक आदि।)

35. Mansara, an Encyclopaedia of Hindu Architecture; P. K. Acharya, Mansara Secries Vol. VII, London, 1946.

(द्रष्टव्य—पृ०२७३-२७७ नाट्यगृह का सामान्य परिचय देते हुए भरत द्वारा उल्लिखित तीनों प्रकार के नाट्यगृहों का सुरुचिपूर्ण रेखांकन किया गया है।)

36. A Monograph on Bharata's Natyashastra; Indian Dramatology, P.S.R. Appa Rao and P. Sri Ram Sastry, N. M P., 1967.

(पुस्तक में १६ अध्याय हैं जिनमें नाट्यशास्त्र एवं भरत के परिचय से लेकर नाट्यशास्त्र के सभी सामान्य विषय यथा रस, भाव नाटक के रूप, नृत्य, गीत, वाद्य, रंगमंच, गति, चारी आदि सभी की विवेचना की गई है। विशेषत: परिशिष्ट काफी महत्त्वपूर्ण है जिनमें (१) में सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र की विषय सामग्री का अध्यायपरक विस्तृत वर्णन है। (२) में नाटक के विभिन्न तत्त्वों से रसों के सम्बन्ध की सारणी दी गयी है। (३) में नाटक के दसों रूपों की विशिष्टता की प्रदर्शक सारणी दी गयी है। (४) में केशबन्ध, शिरस्त्राण एवं वेशभूषाओं के रेखा चित्र दिए गए हैं। (५) में नाट्यशास्त्र में वर्णित हस्त मुद्राओं के रेखाचित्र है। (६) में रामप्पा मन्दिर से उद्धृत नृत्य की मुद्राओं के रेखांकन है। भारत की पाँच मुख्य नृत्य शैलियों की भी मुद्राएं प्रदर्शित की गई हैं तथा [७] में तीनों प्रकार के नाट्यगृहों के रेखाचित्र दिए गए हैं।]

37. Universal History of Music; S. M. Tagore, The Chowkhamba Sanskrit Series Office, Benaras, 1963.

३८. रूपक रहस्य, श्यामसुन्दर दास, प्रयाग, सं० १९८७।

३९. रंगमंच और नाटक की भूमिका, लक्ष्मीनारायण लाल, दिल्ली, १९६५।

40. The Laws and Practice of Sanskrit Drama, Vol. I; S. N. Shastri, Chowkhamba Sanskrit Series Varanasi, 1961.

(आठ अध्यायों में पुस्तक विभक्त है जिसमें नाटक के सभी अंगोंपांग विवेचित हैं। विशेषत: परिशिष्ट में दी गयी सारणियाँ बहुत ही विश्लेषणात्मक हैं।)

४१. लोकधर्मी नाट्यपरम्परा, श्याम परमार; काशी, १९५९।

४२. शृंगाररस का शास्त्रीय विवेचन, डा० इन्द्रपालसिंह, चौखम्भा वाराणसी, १९६७।

(सम्पूर्ण पुस्तक में संस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थों से शृङ्गार रस सम्बन्धी अंशों का आकलन किया गया है एवं यथावसर व्याख्या भी की गई है। कुल मिलाकर छह अध्याय हैं। प्रथम अध्याय रस की अभिव्यक्ति से संबन्धित है। द्वितीय में भोजकृत शृंगाररस का विवेचन है। तृतीय में नाट्यशास्त्रगत, चतुर्थ में दशरूपक गत, पंचम में साहित्यदर्पण गत एवं छठे में भावप्रकाश गत शृंङ्गार रस का विवेचन किया गया है।)

43. Seven Words in Bharata—What Do They Signify, K. M. Verma, Bombay, 1958.

भरत के नाट्यशास्त्र में पाठ लेखन से संबंधित सात शब्द (१) सूत्र, (२) भाष्य, (३) संग्रह, (४) कारिका, (५) निरुक्त, (६) आनुवंश्य एवं (७) निदर्शन की व्याख्या त्रिविध रूपेण की गई है। (अ) अभिनवगुप्तादि पूर्वाचार्यों के निरूपण दिए गए हैं, (ब) लेखक की अपनी व्याख्या प्रस्तुत की गई है, (स) नाट्यशास्त्र की विविध समस्याओं के संदर्भ में नई व्याख्या की उपयोगिता प्रदर्शित की गई है।)

44. The Sanskrit Drama in its Origin, Development, Theory and Practice, A. B. Keith, London, 1954.

45. Sanskrit Drama, S. K. De, (Cultural Heritage of India Series, Vol. III), Sri Ramkrishna Birth Centenary Committee, Calcutta, 1937.

४६— संस्कृत नाट्यशास्त्र ना विकास नो रूपरेखा (गुजराती), डी० आर० मनकद, अहमदाबाद, १९४३।

४७—संस्कृतनाट्यकला, रामलखन शुक्ल, १९७०।

(सम्पूर्ण पुस्तक को नौ अध्यायों में विभक्त करके नाट्य के उद्भव, प्रकार, भाव, रस, रंगमंच आदि पर चर्चा की गई है। संस्कृत के नाट्याचार्यों के ही मत नहीं दिए गए हैं; अपितु विल्सन, मनकद, कीथ प्रभृति विदेशी विद्वानों के भी मतों की समीक्षा की गयी है।)

४८—संस्कृत नाट्यविद्धान्त, रमाकान्त त्रिपाठी, वाराणसी, १९६७।

(प्रथम अध्यायों में रूपक के बारह भेदों के अतिरिक्त अन्य प्रभेदों की भी विवेचना की गई है। द्वितीय अध्याय में नाटकीय तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया है। तृतीय में नायक-नायिका भेद एवं अलङ्कारों की चर्चा की गई है। चौथे

में वृत्ति एवं अभिनय की परिचर्चा हुई है। पांचवे में रस का विवेचन किया गया है एवं अन्तिम अध्याय में रसभेद प्रस्तुत किए गए हैं।)

49 Some Concepts of Alamkara Shastra, V. Raghavan, Adyar, 1942.
50. History of Sanskrit Poetics (two volumes) S. K. De, Calcutta, 1960.
51. A History of Sanskrit Poetics, P. V. Kane, Delhi, 1961.
52. History and Culture of Indian People: Vol. II, The Age of Imperial Unity), Ed. R. C. Majumdar, Bombay, 1953, (2nd edition).
53. History of Indian Literature, A. M. Winternitz, (English Translation by Subhadra Jha), Calcutta, Vol. I (1927), Vol. II (1933).
54. Hindu Music, S. M. Tagore, Benaras, 1965.

(मुख्यत: द्रष्टव्य सामग्री में पृ० १७५-१८५ तक गानविषयक लेख हैं। पृ० १९४-१९७ में वीणा का परिचय दिया गया है। पृ० २९७-३०७ में विभिन्न विद्वानों के संगीत एवं नृत्य विषयक लेख संकलित किए गए हैं।)

लेख व निबन्ध

1. Alamkara and Aesthetic Realisation—A Critical Review, R. Mukherjee, Anv., III-2.1,4, March, 1969.
2. Abhinayam, K. V. Srinivasa Iyengar, AIOC, III, Summaries, pp. XXX-XXXII.
3. Adibharata, Dr. Mankad, ABORI, Vol XXIII
4. Adibharata and the Natyasarvasvadipika, Manomohan Ghosh, ABORI, XV.
5. Indian Aesthetics, M. Hiriyanna, AIOC, I Proceedings—Vol. II, pp. 229-50.
6. Indian Aesthetics: a Critical Study; P. B. Adhikari, Acharya-Pushpanjali Volume (Commorative Volume prensented to D. Bhandarkar), Calcutta, 1940, pp. 63-67.
7. Indian drama-a bird's eye view, V. Raghvan, Mah-Raval Rajat Jayanti Abhinandana Granth, Durgapur-1950, pp. 132-37.
8. Uprupakas; V. Raghavan, Drama Seminar, Sangit Nataka Academy, New Delhi.
9. Aesthetic Experience in the light of the Abhasavada; AIOC, XI, Summar:es, pp. 110-11.

10. The Ancient Indian Theatre; K. R. Pisharoti, Raja Sir Annamalai Chattiyar Coom. Vol. Annamalainagar–1941, pp. 338-349.

11. The Origin of the drama; T Appanna, Raja Sir Annamalai Chettiar Comm. Vol., Annamalainagar—1941, pp. 107-117.

12. Curtain in Ancient India; S.K. De, Bharti Vidya, Vol. IX.

13. Concepts of Lakshana Vrittis, V. Raghavan, J. O. R., Madras Vol. vii.

14. The Concept of Sthayibhava in Indian Poetics; D. D. Vadekara ABORI, XXIV.

15. The Concept of Suggestion in Hindu Aesthetics; P. S. Naidu, A Volume of Studies in Indology presented to Prof. P. V. Kane, Poona—1941, pp. 294-301.

16. The curtain in ancient Indian theatre, S. K. De, K.M. Munshi Diamond Jubilee Volume (Bhartiya Vidya, Vols 9) Bombay—1948, pp. 125-131.

17. Gleanings from the Abhinavabharati of Abhinavagupta; P V. Kane, Commemorative Essays Presented to Prof K. B. Pathak, Poona—1934, pp. 385-400.

18. Date of Bharata's Natyashastra; M.M. Ghosh, J.O.L. Parts 23/25, Calcutta.

19. Theatre Architecture in Ancient India; V. Raghvan, Triveni IV-VI, 1931-1933

20. Thoughts on Indian Music; R. Srinivasan, Har Bilas Sarda Comm, Vol., Ajmer, 1937, pp. 519–521.

२१—नाट्यशास्त्र को भारतीय परम्परा, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, आलोचना, अक्तूबर ५७।

22. Nandi in Theory; Urmilla Dave, I,H. Q., xvii, 1941.

23. Natya, who first introduced on earth? H.R. Divekar, ABORI, Vol. V.

24. Natyashastra and its influence on Indian life and Art; C Krishnaswami Rao, AIOC-III Summaries p. 74.

25. Natyashastra, the expression of emotion; P. S. Naidu—AIOC X, Summaries pp. 144-45.

26. Spuren griechischen Einflusses im Schauspiel buch (Natya-shastra) dos Bharata Muni, M. Lindenau: Festschri t Ernst Windisch—Leipzing–1914 pp. 38-42.

27 (a). Problems of Natyashastra ; M. Ghosh—I.H.Q. vi—1932.

(b) Criticism of M. Ghos's article (Problems of Natyashastra) H. V. Trivedi, I.H.Q. vii—1931.

28. Prakrit verses in Bharata's Natyashastra; M,M. Ghosh—I.H.Q: VIII–1932.

29. Playhouse of the Hindu Period; P.K. Acharya—Modern Review April 1935.

30. The problem of Nandi (and purvaranga)—A.B. Athavale—AIOC–XVII Summaries pp. 24-25.

31. Flute; P. Sambamoorthy; AIOC—iii Summaries, p. 27.

३२—भरत का रंगमंचविधान, सुरेन्द्रनाथ दीक्षित, नई धारा, अप्रैल-मई १९५२ (रंगमंच अंक), पटना ।

33: Bharat Muni ; M.M. Ghosh–I.H.Q. viii, 1932,

३४—भारतीय नाट्यपरम्परा पर पाश्चात्य नाट्यकला का प्रभाव, सुरेश अवस्थी-कल्पना, जून ६२ ।

३५—भारतीयकला का जन्म, जयशंकर त्रिपाठी, सम्मेलन पत्रिका, चैत्र-ज्येष्ठ, शक सं० १९८५ ।

36. Bharata—Adibharata Problem and the MS of Adibharata in the Goverment Oriental Library, Mysore; P. K. Gode, ABORI—xiii

37. Bharata's experiment with the two Vinas–A.A, Bake, In Honour of Sir Ralph Turner (Butt. Sch: Or. and Afr. Studies–xx) London–1957 pp 61-67.

38: Mutual Impacts of Indian and other Oriental Theatres) Reports of Seminar held on 21.9.70) B:I.T.C. 1970 July–Dec. 1970

39, Writers Quoted in Abhinavabharati ; V. Raghavan, J.O.R Madras, Vol. vi.

४०—रससिद्धान्त की भरतपूर्ववर्ती रूपरेखा, प्रेम स्वरूप गुप्त, हिन्दी अनुशीलन, वर्ष १३, अंक ३ ।

41. Lok Dhaımi and Natyadharmi ; V. Raghavan J. O. R. Vols. vii and viii.

42. Vina in Ancient times ; N. B. Divetia, ABORI xii.

४३—संगीत, अभिनय और नृत्य, सद्गुरुशरण अवस्थी, आजकल, फरवरी ५७।

४४—संस्कृत नाट्य परम्परा, श्री कृष्णानन्द, साहित्यकार, अप्रैल ५६।

45. The Psychology of the Rasa Theory ; K. N. Watave, ABORI xxiii.

46. A study of the contemporary theories of beauty ; K.C. Vardachari, Ramalinga Reddy Sastyabhapurti Comm. Vol., Part ii, Waltair, 1940, pp- 293-309.

47. Hindu Theatre ; M. M: Ghosh, Indian Historical Quarterly (IHQ) ix, 1933.

48. Hindu Theatre, A: Coomarswamy, I.H.Q. Vol. ix; 1933.

49. Hindu Theatre ; B. R. Mankad; IHQ ; viii ; 1932 ix; 1933

50. Hindu Theatre; V. Raghavan; IHQ; ix, 1933.

51. Who killed Cock Krauhca Abhinavagupta's Reflections ou the Origin of Aesthetic Experience; J.L. Masson; JOI; xviii; No 3; 1969.

52. Historical dramas in Indian literature; M. Winternitz; Dr. S.K. Aiyangar Comm- Vol; Madras; 1939 pp. 359-362.

——o——